त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण १

जनवरी-मार्च १९७६

परामर्श-मण्डल :
डा० प्रेमसागर जैन,
श्री यशपाल जैन

सम्पादक :
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम. ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

विश्वधर्म के प्रेरक उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २९ किरण १ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर-निर्वाण संवत् २५०२, वि० सं० २०३२ { जनवरी-मार्च १९७६

परमात्मा का स्वरूप

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणि-पत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसाय-विसएहिं सप्पुरिसो ॥

—भावपाहुड, १५४.

जैसे कमलिनीपत्र जल में रहता हुआ भी पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को प्राप्त करनेवाला विषय-वासनाओं में तथा भावों में लिप्त नहीं होता। वह अपने वीतराग-स्वभाव को प्राप्त करता है।

णिस्सेस-दोस-रहिओ केवलणाणाइ-परमविभव-जुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥

—नियमसार, ७.

जो सभी प्रकार के दोषों रहित शुद्ध, निर्मल आत्मा है और केवल-ज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है, वह परमात्मा कहा जाता है। उससे विपरीत परमात्मा नही है।

स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय सयलत्था ।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता ॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १९८.

केवल ज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानने वाले, शरीर सहित अर्हन्त और सर्वोत्तम सुख को प्राप्त करनेवाले तथा ज्ञानमय शरीरवाले सिद्ध परमात्मा है।

जैन रास साहित्य का दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ विक्रम-लीलावती चौपाई

□ डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य, उज्जैन

उज्जयिनी के प्राचीन-रचित काव्य, नाटक एवं कथा-साहित्य में उदयन, वासवदत्ता और विक्रमादित्य ऐसे पात्र हैं जिन पर शताब्दियों तक साहित्य सृजन चलता रहा। चंडप्रद्योत (ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी) के काल से लेकर कवि कालिदास तक उदयन-वासवदत्ता की कथाएँ, उन पर अभिनीत नाटक और काव्य अवंतिका के ग्राम वृद्ध सुना और देखा करते थे। इसी प्रकार, बैताल, भर्तृहरी, पिंगला और विक्रमादित्य की कथाएँ यहां लोकप्रिय रही।

विक्रमादित्य से सम्बद्ध साहित्य उज्जैन के सिंधिया प्राच्य-विद्या शोध प्रतिष्ठान में इन दुर्लभ प्रतियों में सुरक्षित है : (१) विक्रमसेन चरित (२) सिंहासन बत्तीसी (३) सिंहासन बत्तीसी कथानक (४) सिंहासन-बत्तीसी बखर (५) बैताल पंचविंशति बखर (६) विक्रम लीलावती चौपाई। अंतिम ग्रन्थ मालवा और विक्रम पर अनेक सूचनायें देता है। प्रतिष्ठान मे इस कथानक की दो प्रतियाँ हैं जिनके नाम क्रमशः विक्रम-लीलावती चौपाई (ग्रंथ क्रमांक ५३२) तथा विक्रमाचरित्र लीला चौपाई (ग्रन्थ अंक ५२८६) हैं।

यह एक जैन रास है जिसकी रचना गुजराती मूलक हिन्दी भाषा में श्री अभय सोम ने संवत् १७२४ में की थी। इस ग्रंथ में विक्रमादित्य को परमार वंशीय माना गया है। रास का मुख्य कथानक यह है कि एक बार जब विक्रमादित्य रात्रि में नगर-भ्रमण कर रहे थे, उन्हें किसी नागरिक के घर से शुकसारिका का यह संवाद सुनाई दिया कि दक्षिण देश के स्त्री राज्य में पुरुषों से द्वेष करने वाली अत्यन्त लावण्यमयी राजकुमारी रहती है। यह वार्ता सुनकर विक्रमादित्य उस राज्य में पहुंचे तथा उस राजकुमारी से विवाह कर स्वदेश लौट आये।

ग्रन्थ के प्रारंभ मे सरस्वती की वंदना है और यह महत्वपूर्ण सूचना दी गई है कि जैन मूर्त्तिशिल्प में सरस्वती की प्रतिमा किन लक्षणों पर निर्मित होती थी। "वीणा पुस्तक धारणी, हंसासन कवि माय प्रात समये नित नमु सारद तोरा पाँय।" कह कर स्तुति की गई है। तत्पश्चात् मालव देश और उज्जैन का वर्णन है। जम्बूद्वीप में भरत-खण्ड और उसमें तीर्थ-स्थान उज्जैन और वहां के गढ़, मठ, मन्दिरों के वैभव का काव्यात्मक भाषा मे वर्णन है :—

"जंबू द्वीपे भरत बिशाला, मालव देश सदा सुकाला।
उज्जेणी नगरी गणे भरी, गढ़, मठ, मन्दिर देवल करी॥
सात भूमि प्रसाद उत्तंग, तोरण मँडप सोहे संग।
ठामें ठामें साहुकार, इतर पान जिहां जय जयकार॥
चार वर्ण बसे तिण पुरं, पवन बत्तीस बसे बऊपरे।
राजा विक्रम देव प्रकार, बंक्षस त्रिस ऊपर सार॥
राजा नित पाले राजान, न्याय समंत्रणों उपमान।
सबल सौभाग बहुगुण मिलो, सूर बीर उपकारी भलो॥"

ग्रन्थ के अंत में कहा गया है कि श्रीचंद सूरि के शिष्य अभय सोम खरतर गच्छ के श्रावक थे। ग्रन्थ से मालवा की भोगोलिक स्थिति, प्रतिमा-लक्षण और विक्रमादित्य का परमार काल से सबन्ध ज्ञात होता है। यह प्रति दुर्लभ है और प्रायः मेरे देखने में और कहीं नहीं आई है।

४, धन्वन्तरि मार्ग, गली न० ४,
माधव नगर उज्जैन

(म० प्र०)

देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोकराज कौन था ?

☐ डा० सत्यपाल गुप्त, एम. ए., पी-एच. डी. लखनऊ

सम्पूर्ण भारतवर्ष मे बिखरे हुए बहुत से स्तम्भ-लेख तथा शिलालेख मिले है जिनमे देवानाप्रिय प्रियदर्शी राजा का उल्लेख है। गुजर्रा तथा मास्की से प्राप्त लघु शिलालेखों में देवानां प्रिय अशोकराज नाम देखकर विद्वानों ने इन समस्त अभिलेखों को चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक मौर्य का मान लिया है। इन अभिलेखों में ऐसी कोई सामग्री नही मिलती जिसके आधार पर इनका सम्बन्ध मौर्य वंश से जोड़ा जा सके। ये लेख बहुत दिनो तक नही पढे जा सके थे, परन्तु सबसे पहले १८३८ ई० में प्रिसेप ने गिरनार के द्वितीय शिलालेख को पढ़ा और प्रकाशित किया। प्रारम्भ मे उसका मत यह था कि ये लेख लंका के देवानांप्रिय तिष्य के है। परन्तु बाद मे नागार्जुन पहाड़ियो मे (गया से १५ मील उत्तर) दशरथ मौर्य के गुहालेखों को देखकर तथा दीपवश में अशोक नाम के साथ प्रियदर्शन लगा देखकर उसने उनको अशोक मौर्य का माना। इन गुहाओं का दान राजा दशरथ द्वारा आजीवक सम्प्रदाय के लिए किया गया था। गत १४० वर्षों में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक खोजपूर्ण लेख तथा ग्रन्थ लिखे है, स्थान-स्थान पर खुदाइयां हुई है, सस्कृत के अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है; अतएव १८३८ ई० की तुलना में आज बहुत अधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, जिससे इन स्तम्भ-लेखों तथा शिलालेखों के वास्तविक निर्माता का पता चल सकता है। सन् १९४७ ई० में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् अनुसन्धान क्षेत्र में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ है और आजकल इतिहासकार उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारत का वास्तविक नवीन इतिहास तैयार करने में सलग्न है।

भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि भारतवर्ष मे एक नाम वाले अनेक राजा हुए हैं। सर विलियम जोन्स ने २८ फरवरी, १९७३ ई० के अपने अभिभाषण में मेगास्थनीज के सैंड्राकोटस को चन्द्रगुप्त मौर्य से अभिन्न माना था। इस अद्भुत खोज के एक वर्ष बाद अप्रैल, १९७४ मे उनका देहावसान हो गया। उन्होंने जिसको एक सम्भावना माना था, आज लगभग १७० वर्ष बाद भी इतिहासकार उसी निराधार सम्भावना को दोहराते आ रहे है। उस समय तक यह ज्ञात नहीं था कि गुप्तवंश में भी कोई चन्द्रगुप्त नाम का राजा हुआ था। सैंड्राकोटस चन्द्रगुप्त का द्योतक तो अवश्य है परन्तु वह चन्द्रगुप्त मौर्य न होकर गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त प्रथम है। भारतीय इतिहास की खोज अत्यन्त कष्टसाध्य है और जल्दबाजी में किसी सत्य निष्कर्ष पर नही पहुंचा जा सकता।

रुद्रदामा के जूनागढ़ लेख से इतना तो स्पष्ट है कि मौर्य वंश मे अशोक नाम का राजा हुआ था (अशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराज तुषास्फेनाधिष्ठाय…) और काठियावाड़ उसके राज्य के अन्तर्गत था, परन्तु अन्य कोई ऐसे प्रमाण अभिलेख आदि के रुप में नहीं मिले है जिनसे उसके कार्यकलापों पर प्रकाश पड़े। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से तथा फाहियान और ह्वेनसांग आदि चीनी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि भारतीय इतिहास मे दो अशोक राजा हुए है। ह्वेनसांग ने लिखा है: "तथागत के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् एक अशोक नामक राजा हुआ जो बिम्बसार का प्रपौत्र था। उसने राजगृहसे लाकर पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया था।" उसने पाटलिपुत्र के निर्माण के सम्बन्ध में बुद्ध की भविष्यवाणी का भी उल्लेख किया है। इससे इतना स्पष्ट है कि ह्वेनसाग के काल में भारतवासी बौद्ध यह मानते थे कि सबसे पहले अशोक ने पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया था। वह बिम्बसार का प्रपौत्र था, अजातशत्रु का पौत्र और गौतम बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् राजा बना था। वायु पुराण में उदायी द्वारा अपने शासनकाल के चतुर्थ वर्ष मे गंगा

के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर नामक श्रेष्ठपुर बनवाने का उल्लेख है। 'पाटल' शब्द शाश्वत कोश के अनुसार 'कुसुम' का पर्याय है। अतएव कुसुमपुर कालान्तर मे पाटलपुत्र या पाटलिपुत्र कहलाया। अश्वघोष के बुद्धचरित (सर्ग २२/३) मे अजातशत्रु के मंत्री वर्षकार द्वारा पाटलि ग्राम मे एक किले के निर्माण करवाने का उल्लेख है। अजातशत्रु ने बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् १५ वर्ष राज्य किया था। तत्पश्चात् दर्शक (अजात शत्रु के भ्राता) ने २५ वर्ष और उदायी ने २३ वर्ष राज्य किया। उदायी के बाद बौद्ध ग्रथो के अनुसार अनिरुद्ध तथा मुण्ड ने क्रमश. ९ वर्ष तथा ८ वर्ष राज्य किया। पुराणो मे केवल मुख्य मुख्य राजाओ के नाम तथा शासन-काल दिए हुए है। काल-गणना सही रखने के लिए महत्त्व-हीन राजाओ के शासन-काल बाद वाले राजा के काल मे जोड़ दिए गए है (देखिए डा० मनकड कृत पौराणिक क्रोनोलाजी)। इस प्रकार बुद्ध के ६० वर्ष बाद नन्दिवर्धन राजा बना। गिलगिट से प्राप्त विनयपिटक के हस्तलेख मे लिखा है

"बोधिसत्त्वस्य जन्मकालसमये चतुर्महानगरेषु चत्वारो महाराजा अभवन्। तद्यथा राजगृहे महापद्मस्य पुत्र, श्रावस्त्या ब्रह्मदत्तस्य पुत्र। उज्जयन्या राज्ञो अनन्तनेमे पुत्र:। कौशाम्ब्या राज्ञ: शतानीकस्य पुत्र।"

इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के जन्म-काल के समय मगध मे महापद्म प्रथम (क्षत्रौजा, क्षेमजित्, हेमजित) और महारानी बिम्बा से उत्पन्न पुत्र बिम्बसार राजा था। बिम्बसार बुद्धचरित (११/२) के अनुसार हर्यंक कुल का था। इसको इतिहास मे श्रेण्य या श्रेणिक कहा गया है। मज्झिमनिकाय (पृ० १३१) मे इसको 'सेनिय' लिखा है। "रञ्जा मागधेन सेनियेन 'बिम्बिसारे नाति'। इसका पुत्र अजातशत्रु था जिसको कुणिक, देवानाप्रिय, अशोकचन्द्र आदि नामो से औपपत्तिक-सूत्र (प्रकरण १८,१६), कथाकोश, विविधतीर्थ कल्प (पृ० २२,६५) और आवश्यक-चूर्णि मे स्मरण किया गया है। महावंश के अनुसार, अजातशत्रु ने प्रथम बौद्ध संगीति का प्रबन्ध किया था (अ०३/१५-१६), परन्तु अजातशत्रु बौद्ध नही था, वह जैन था। बिगौडेट महोदय ने बर्मा में प्रचलित बौद्ध दन्त-कथाओ के आधार पर लिखा है कि अजातशत्रु ने गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् एक नया सम्वत् चलाया था और उसकी मृत्यु बुद्ध सं० २५ मे हुई थी (लीजेन्ड्स आफ दी बर्मीज बुद्ध, पृ० ११३)। इन बौद्ध दन्तकथाओ की प्रामाणिकता की पुष्टि कुणिक की अभिलेखयुक्त मूर्ति मे होती है। यह मूर्ति मथुरा के पास परखम मे मिली थी और आजकल मथुरा सग्रहालय मे है। भास ने 'प्रतिमा' नाटक में यह सकेत दिया है कि प्राचीन काल मे नगर के बाहर देवकुलो मे राजा की मृत्यु हो जाने पर उसकी प्रतिमा बनवाकर खड़ी कर दी जाती थी। इस प्रतिमा में नीचे की ओर यह अभिलेख है:—

'निभादप्रसेनि अजातशत्रु राजश्री कुणिक सेवासिनागो मागधानां राजा" अर्थात् मगध देश का राजा अजात-शत्रु, श्री कुणिक, जो निर्वाण को प्राप्त हो गया।

श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने बिहार-उड़ीसा के रिसर्च जरनल, खण्ड ५ (१९१९) मे शिशुनागवशीय राजाओ की प्रतिमाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत लेख लिखा है। उदायी तथा नन्दिवर्धन की प्रतिमाए भी पटना मे मिल गयी है। एक प्रतिमा गगा मे से निकाली गयी थी, दूसरी प्रतिमा अगमकुआँ के पास मिली थी। ये अब पटना के सग्रहालय मे है। डा० जायसवाल ने इन पर खुदे अस्पष्ट लेखो का पढ़कर यह निश्चय किया कि एक मूर्ति अज उदायी की है और दूसरी सिररहित मूर्ति व्रात्य नन्दिवर्धन की है (जे० बी० ओ० आर० एस०, खण्ड ५)। अजातशत्रु ने अग, वज्जि, काशी और मल्ल महाजनपदो को जीतकर मगध मे मिला लिया था। उदायी ने पालक तथा कुमार (अवन्तिवर्धन) के मरने के बाद अवन्ति को मगध राज्य मे मिला लिया था। विविध तीर्थकल्प मे भी पालक का राज्य ६० वर्ष माना गया है। उदायी के पुत्र नन्दिवर्धन ने पाटलिपुत्र के अतिरिक्त वैशाली को भी अपनी दूसरी राजधानी बना रखा था। सुत्त-निपात मे इसका उल्लेख मिलता है। नन्दिवर्धन मूलत: जैन था, अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों मे उसकी प्रशसा नही मिली। वस्तुत: नन्दिवर्धन (नन्दराजा) धर्मसहिष्णु राजा था। उसने अपने पितामह की तरह देवानाप्रिय तथा अशोकविरुद अपने नाम के साथ जोड़ा था। सम्पूर्ण भारत मे पाए गए स्तम्भ-लेख, शिलालेख, पचमार्क सिक्के (नन्दी चिह्नयुक्त) इसी राजा के

है। यह दुख का विषय है कि इतने प्रतापी, धर्मसहिष्णु, चक्रवर्ती राजा को भारतीयों ने पूर्णत: भुला दिया।

लौरिय नवन्दगढ़ की खुदाइयों मे ३ फुट से १२ फुट की गहराई पर मानव अस्थियों तथा कोयलो के साथ पृथिवी की एक सोने की पत्तर पर बनी प्रतिमा पायी गयी थी (ए० एम० आर० १६०६-७)। इस स्थल पर टीले मे गड़ा एक लकड़ी का स्तम्भ भी मिला था। ऊपरी भाग दीमक ने खा लिया था, परन्तु निचला भाग ठीक था। इस स्तम्भ की ऊचाई ४० फीट रही होगी। प्राचीन काल मे राजाओ के मरने के पश्चात् उनकी अवशिष्ट अस्थियो पर स्तूप तथा स्तम्भ बनवाने की वैदिक प्रथा थी। ऋग्वेद (म० १०,१८/१०) 'मे उपसर्प मातरं पृथिवीमेतां उरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्' मंत्र मिलता है। दूसरे मंत्र (१३) मे भी मृतक के प्रति कहा गया है :"अपनी माता पृथ्वी के पास जाओ। यह म जो ऊन सदृश कोमल है, तुम्हारी विनाश से रक्षा करे।" श्री टी० ब्लाख का मत है कि लौरिय अरराज और लौरिय नवन्दगढ के स्तूप प्राक् मौर्यकाल के है। नवन्दगढ शब्द स्वय नव (नवीन) नन्दो की स्मृति दिलाता है। नवन्दगढ मूल नाम था और अब भ्रम से उसी को नन्दनगढ कहा जा रहा है जो मूल शब्द नवनन्दगढ का अपभ्रंश रूपान्तर है। लौरिय अरराज तथा लौरिय नवन्दगढ मे प्रियदर्शी ने प्रस्तर स्तम्भ क्यो खड़े करवाए ? इसका स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि ये स्थल नन्द राजाओ के श्मशान-स्थल थे और प्राचीन युग मे यहाँ पर वज्जि गणराज्य की राजधानी थी। लौरिय नवन्दगढ के स्तम्भ का शीर्ष कमलाकार है जिस पर सिंह उत्तर को मुख किए खडा हुआ है। इस स्तम्भ पर भी टोपरा स्तम्भ सदृश छः स्तम्भ लेख उत्कीर्ण है।

खारवेल का हाथी-गुम्फा लेख प्रियदर्शी के सन्दर्भ मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह प्राचीन अभिलेख भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी की हाथी-गुंफा (चित्र पृ० ७ पर) नामक गुफा मे खुदा हुआ है। इस प्रशस्ति मे खारवेल के वंश, जीवन और शासन की घटनाओ का सिलसिलेवार वर्णन दिया हुआ है। खारवेल ने अपने शासन-काल के पाँचवे वर्ष मे तनसुली से अपनी राजधानी तक, ३०० वर्ष पूर्व नन्द राजा द्वारा बनवायी गयी नहर का जीर्णोद्धार
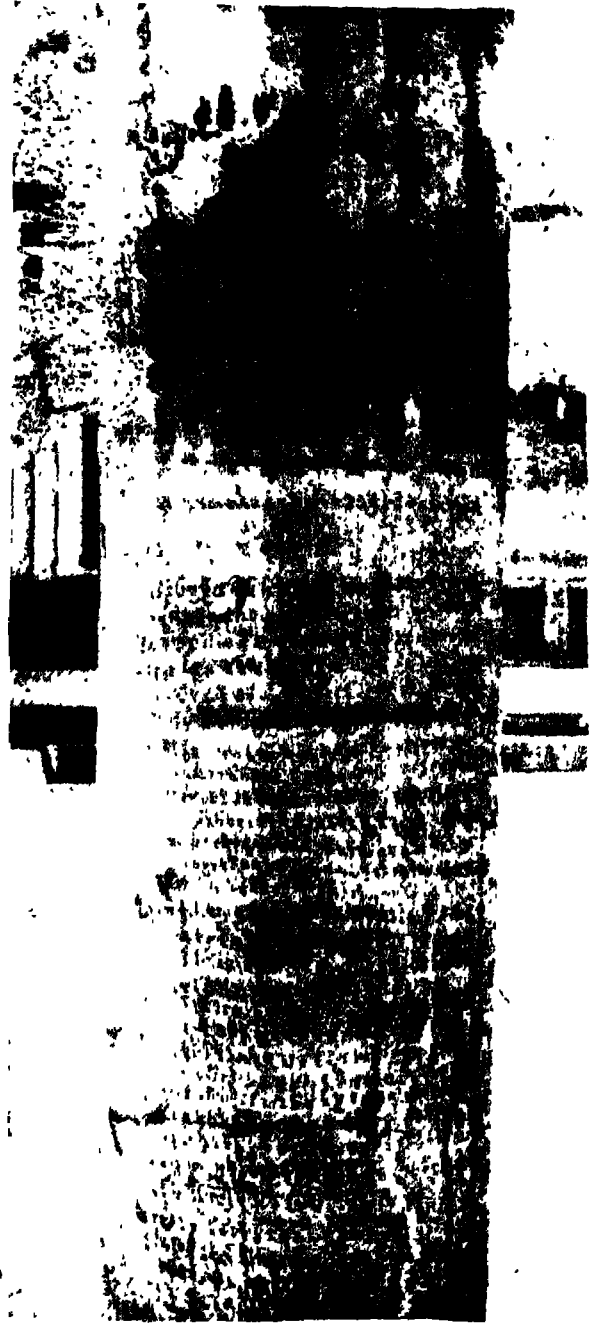
इलाहाबाद के किले मे विद्यमान नन्दिवर्धन का स्तम्भ जिस पर उसके अभिलेख खुदे हुए हैं। इस स्तम्भ पर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी संस्कृत भाषा में खुदी हुई है (भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से)।

करवाया (पच्चमे च दानी वसे नन्दराज तिवसमत ओघाटितं तनसुलिय वाटापनादीं नगरं पवेसयति)। खारवेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष मे राजगृह पर आक्रमण किया और यवनराज दिमित को मथुरा भगा दिया। अगली बार अपने शासन के १२वें वर्ष मे खारवेल ने पुनः मगध पर आक्रमण किया और राजा बृहस्पति मित्र को अपने चरणो में गिरने को बाध्य किया। खारवेल मगध से काफी सामान लूट कर ले गया। इसमें भगवान् की वह मूर्ति भी थी जो नन्द राजा कलिग से छीनकर ले गया था। इस प्रशस्ति मे मौर्य संवत् १६५ का उल्लेख भी मिलता है : मुरिय काल वोछिनं अगम निकंतरिय उपादायाति'। इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि कलिग देश पर किसी नन्द राजा ने आक्रमण किया था, वह 'जिन भगवान की मूर्ति उठा ले गया' और प्रजा के सुख के लिए नहर भी खुदवायी थी। इतिहास मे कलिग पर प्रियदर्शी के आक्रमण का ज्ञान तो उसके तेरहवें शिलालेख से होता है। यह युद्ध प्रियदर्शी के अभिषेकके आठवे वर्ष मे हुआ था। इस युद्ध से ही उसका चित्त अनुतप्त हो गया और उसने युद्ध-विजय के स्थान मे धर्म-विजय प्रारम्भ की। यदि यह अशोक मौर्य वश का था, तो बौद्ध ग्रंथों मे उसके इस आक्रमण का उल्लेख क्यों नही है। दिव्यावदान में अशोक के बुद्ध-जीवन से सम्बन्धित स्थलो की यात्रा का वर्णन मिलता है। यह यात्रा उसने उपगुप्त स्थविर के साथ की थी। ह्वेनसाग के अनुसार, कपिलवस्तु, सारनाथ आदि स्थलो पर अशोक ने स्तूप बनवाए थे (बील पृ० २४)। फाहियान ने तथा बुद्ध-चरित मे अश्वघोष ने चौरासी सहस्त्र स्तूप बनवाने का उल्लेख किया है। यदि सहस्त्र का अर्थ 'लगभग' भी हे तो कम से कम चौरासी स्तूप तो अशोक मौर्य ने बनवाए ही थे, फिर उनका अभिलेखो मे कोई उल्लेख क्यो नही है। निगली सागर स्तम्भ लेख से यह स्पष्ट है कि प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के १४ वर्ष बाद कनकमुनि स्तूप को दुगना करवाया था। २० वर्ष बाद उसने इस स्थान पर एक प्रस्तर स्तम्भ बनवाया जिस पर लेख खुदा हुआ है। आधुनिक रुम्मिन देई ही प्राचीन लुम्बिनी वन है जहा पर गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। प्रियदर्शी ने 'बलि' सज्ञक धर्मकर हटा दिया और लुम्बिनी ग्राम को उद्बलिक (जिससे बलि न ली जाए) और अष्टभागी कर दिया, अर्थात् उपज का आठवां भाग कर के रुप मे लिया जायेगा। क्या इससे यह स्पष्ट नही है कि प्रियदर्शी राजा अशोक मौर्य नही था, नही तो स्तूप बनवाने का उल्लेख अवश्य करता।

प्रियदर्शी के अभिलेखो मे कही भी कौटिल्य या उसके अर्थशास्त्र का कोई उल्लेख नही मिलता। अभिलेखों मे रज्जुक, प्रादेशिक तथा युक्त अधिकारियों का उल्लेख है। तृतीय लेख मे स्पष्ट कहा गया है कि मेरे विजित राज्य मे युत, रज्जुक, प्रादेशिक प्रति पाच वर्ष पर दौरे पर निकला करे। प्रियदर्शी ने इस प्रकार अपने शासको मे धर्मानुशासन का कार्य भी लिया था। धर्म महामात्रो की नियुक्ति प्रियदर्शीने अपने राज्याभिषेक के तेरहवे वर्ष मे की थी। इसके अतिरिक्त, स्त्रीधर्मगात्र, और व्रजभूमिक भी धर्म-विजय के लिए नियुक्त किए गए थे। इनका उल्लेख अर्थशास्त्र मे नही है। बी.सी. लॉ वाल्यूम २ मे कीथ ने एक विस्तृत लेख लिखकर अर्थशास्त्र और प्रियदर्शी के अभिलेखो की विसगतियाँ दर्शायी हे। रुद्रदामा के जूनागढ अभिलेख से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक मौर्य के काल मे प्रान्तीय शासक को 'प्रादेशिक' न कहकर 'राष्ट्रिय' कहा जाता था। पुष्यगुप्त तथा तुषास्प चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक मौर्य के काल मे सौराष्ट्र राष्ट्रिय थे। प्रियदर्शी को मोर का मास पसद था। सरक्षित पक्षियो की सूची मे मोर का नाम नही दिया हुआ है। परिशिष्ट पर्व (५।२२६) तथा उत्तराध्ययन-सूत्र पर सुखबोधा टीका से स्पष्ट है कि मौर्य लोग मयूर पोषक थे और मोरो के देश से आए थे। प्रियदर्शी की पत्नी कारुवाकी और पुत्र तीवर का सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य मे उल्लेख नही है। अभिलेखो मे महेन्द्र तथा सघमित्रा का कोई सकेत नही मिलता। इसी प्रकार, तिष्य की अध्यक्षता मे हुई तृतीय बौद्ध संगीति तथा विदेशो मे भेजे जाने वाले प्रचारको का ही कोई उल्लेख है। महावंश और दीपवश मे इन प्रचारको की विस्तृत सूची मिलती है (महा० १२।१-८, दीप० ८।१-११)।

द्वितीय अभिलेख मे लिखा है कि अशोक ने अपने विजित प्रदेश मे ही नही, अपितु सीमावर्ती राज्यो मे भी मनुष्यों तथा पशुओ की चिकित्सा का प्रबन्ध करवाया था। औषध, फल तथा फूलों के वृक्ष लगवाए थे। सीमान्त

राज्यों में चोळ, पांड्य सातियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अंतिओक राज्य गिनाए हैं। अंतिओक अफगानिस्तान के पास यूनानियों की एक छोटी-सी बस्ती का राजा था। इस अंतिओक के सामन्त कतिपय अन्य छोटी-छोटी बस्तियो के राजा थे जिनके नाम तुरमय, अन्तकिनि, मक तथा अलिक सुन्दर थे। यह मत कि ये नाम सीरिया, मिश्र, मैसी-डोनिया, साइरीनी और इपाइरस के शासको के थे, नितान्त भ्रामक है। क्या इन देशो के इतिहास मे भी यह उल्लेख मिला है कि भारत के किसी राजा ने उसके देश मे चिकित्सा, वृक्षारोपण आदि करवाया था ? प्रियदर्शी के राज्य की जो सीमाएं अभिलेखो के आधार पर निश्चित की गयी है, वे उसको सम्पूर्ण भारत का एकछत्र राजा दर्शाती है। मेगास्थनीज़ के वर्णन से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त

विद्वानों का ध्यान क्यों नही गया। जहां तक प्रियदर्शी नन्दिवर्धन का सम्बन्ध है, उसके राज्य का वर्णन ऊपर किया ही जा चुका है। मैसूर के उत्कीर्ण लेखों के अनुसार, कुन्तला प्रदेश नन्दों के शासन मे था। ये लेख १२वी सदी के है, परन्तु इनकी प्रामाणिकता विवादग्रस्त नही है (राइस. कृत मैसूर एण्ड कुर्ग इन्शक्रिप्शन्स, पृ० ३)। कवि मामूल-नार ने संगम साहित्य मे नन्द राजा द्वारा दक्षिण-विजय का स्पष्ट उल्लेख किया है।

कल्हण ने राजतरंगिणी मे लिखा है कि राजा अशोक जैन था। इसने श्रीनगर बसाया था। अनेक बिहार और स्तूप बनवाए थे। राजतरंगिणी एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। मुद्राराक्षस मे राक्षस की ओर से युद्ध करने वाले राजा का नाम पुष्कराक्ष (मुद्रा० १/२०) था। राज-

भुवनेश्वर के पास उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुम्फा नामक गुहा। इसमे कलिंग के महाराजाधिराज खारवेल की प्रशस्ति है जिसमे नन्द राजा का दो बार उल्लेख किया गया है। (भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से)

केवल मगध का राजा था और उसके काल मे दक्षिण मे आन्ध्र अत्यन्त शक्तिशाली थे। अशोक ने केवल कलिंग देश जीता था। बिन्दुसार ने राष्ट्रव्यापी अभियान चलाया था। इसका वर्णन बौद्ध, जैन ग्रन्थों या कथासारित्सागर आदि मे कही नहीं मिलता। फिर इतने बड़े तथ्य की ओर

तरंगिणी मे यह नाम उत्पलाक्ष दिया हुआ है। संस्कृत मे पर्यायो के प्रयोगकी परिपाटी थी। पुष्कर तथा उत्पल दोनो कमल के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। उत्पलाक्ष ने ३० वर्ष ३ मास काश्मीर मे शासन किया था। कल्हण की काल गणना पूर्णत. पुराण सदृश है। उसमे कल्हण ने केवल एक यह

भूल की है कि महाभारत युद्ध ६५३ कलि स० में हुआ था।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व 'अशोक का लोक सुखयन धर्म' लेख लिखा था। इसमें उन्होंने अभिलेखों के विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न किया था कि प्रियदर्शी का धर्म हिन्दू धर्म था : 'ऐसा पोराण पक्ति'। यही सनातन धर्म है। लघु शिलालेख २ मे दिए हुए शब्दो की तुलना तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावली के 'सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' से की जा सकती है। "धर्म अच्छा है, लेकिन धर्म है क्या ? पाप रहित होना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सत्य और पवित्रता, ये धर्म है।" मनु ने धर्म के दस लक्षण माने है : धृति, क्षमा, दया, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, ध्यान, विद्या, सत्य और अक्रोध। प्रियदर्शी की व्याख्या मनु सदृश है। चडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या ये आसानिब या पाप के गर्त मे मनुष्य को गिराते है (स्तम्भ-लेख ३)। मनु के ध्यान को प्रियदर्शी ने 'निझति' कहा है। लेख ७ में निझति के महत्व पर बल दिया गया है। ध्यान द्वारा मानसिक परिवर्तन ही निझति है। यह जैन धर्म का विशिष्ट शब्द है। वस्तुतः प्रियदर्शी ने जीवन का सत्य पा लिया था। प्रियदर्शी और व्यास की धर्म विषयक वाणी एक है—भेरी घोष को हटाकर मैंने धर्म घोष चलाया है (लेख ४)। लेख २ मे प्रियदर्शी ने शील और सदाचार-प्रधान धर्म को 'दीघावुस' या दीर्घजीवी माना है।

शतपथ ब्राह्मण मे 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' लिखा है (१/७/१/५)। तैत्तिरीय ब्राह्मण म भी 'यज्ञो हि श्रेष्ठतम कर्म' कहा गया है (३/२/१/४)। परन्तु कालान्तर मे परम्परा विकृत हो गयी और यज्ञो मे पशु हिंसा होने लगी। इसी का वर्णन प्रियदर्शी ने अपने चतुर्थ शिलालेख मे किया है—'अतिकति अतर बहूनि वासस तानि वढि तो एव प्रणारभा विहिसा न भूतान' अर्थात् पूर्वकाल मे बहुत समय तक पशुओ की हिसा और समस्त प्राणियो के प्रति हिंसात्मक व्यवहार बढता रहा। इसलिए प्रियदर्शी ने घोषणा की . 'एसहि ऐस्टे कमं या धर्मानुसारसन' अर्थात् वही श्रेष्ठ कर्म है जो धर्म का अनुशासन है। परन्तु धर्माचरण के लिए शील आवश्यक है। शील-प्रधान जीवन मे भावशुद्धि के बिना सब आडम्बर बन जाता है। मनु ने (२/९७ मे) 'न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छति कर्हिचित्' कहा है। गीता भी मन के सयम के बिना धार्मिक जीवन को मिथ्याचार मानती है। सच्चे धर्म के लिए आत्म-पर्यवेक्षण आवश्यक है। प्रियदर्शी ने सब धर्मों के सार-तत्त्व की वृद्धि पर और सब सम्प्रदायो के दृष्टिकोण को उदार बनाने पर बल दिया है (लेख १२)।

इन शिलालेखों मे बुद्ध-धर्म का कही उल्लेख नही है। श्रमण शब्द का अर्थ जैन साधु होता है जिसने अपनी वासनाओ का शमन कर लिया हो। जैन ग्रन्थो मे भी ब्राह्मण-श्रमण शब्दो का साथ-साथ प्रयोग मिलता है। प्रियदर्शी के काल मे बौद्ध धर्म का बहुत अधिक प्रचार नही था। जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था और इसलिए जनता भी इसी मत की अनुयायी थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य आचार्य कौटिल्य न शाक्यप्रव्रजितो को देवकार्यों एव पितृकार्यो मे निमत्रित करने का निषेध किया था। 'शाक्यप्रव्रजित' स तात्पर्य 'बौद्ध भिक्षुओ' स है। जिन-शासन शब्द का अर्थ 'जैन' था। 'जिन' शब्द महावीर स्वामी के लिए प्रयुक्त किया गया है। श्रमण, श्रावक, उपासक, सघ शब्द जैन धर्म से सम्बन्धित है : 'सः सम्प्रति नामा राजावन्तीपतिः श्रमणाना श्रावकः उपासकः पचाणुव्रतधारी अभवदिति शेष.'—बृहत्कल्प सूत्र टीका। विद्वानो न शिलालेखो की शब्दावली का भली प्रकार अध्ययन नही किया, नही तो प्रियदर्शी राजा जैन था इसमे कोई सन्देह का अवकाश नही है।

प्रियदर्शी की लाट पर नन्दी की मूर्त्ति मिली है (देखिए रामपुरवा की नन्दी को मूर्त्ति)। यह नन्दी की मूर्त्ति नन्दिवधन का प्रतीक है।

इस युग मे श्रमण-ब्राह्मणो का विरोध था, ऐसा महाभाष्यकार के 'एषा च विरोधः शाश्वतिकः'(२।४।१२) पर भाष्य से प्रकट होता है। उन्होंने 'अहिनकुलम्' के साथ-साथ 'श्रमण-ब्राह्मणम्' का उल्लख किया है। सम्भवतः प्रियदर्शी के काल मे भी श्रमण-ब्राह्मणो म विरोध था, इसलिए प्रियदर्शी ने दोनो धर्मों के अनुयायियो को धर्मो का सार ग्रहण करन का आदेश दिया था।

उपर्युक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि प्रियदर्शी राजा, अशोक मौर्य से कम से कम १९२ वर्ष पूर्व हुआ था और जैन था, न कि बौद्ध। अशोक मौर्य बौद्ध था। भ्रम से इतिहास-वेत्ताओ ने दो भिन्न कालो के दो भिन्नधर्मी राजाओ को मिला दिया है।

मत्री, नेहरू शोध सस्थान,
४६ माडल हाउस, लखनऊ

हस्तिमल्ल के विक्रान्तकौरव में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव

□ श्री बापूलाल आंजना, उदयपुर

१३ वी शती मे जैन कवियों ने सस्कृत नाट्य-साहित्य का पर्याप्त सवर्धन किया है। उनमे महाकवि हस्तिमल्ल का नाम अग्रणी है। उनके लिखे चार रूपक विक्रान्त कौरव[1], मैथिलिकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय और सुभद्रानाटिका है[2]। हस्तिमल्ल को पाण्ड्यमहीश्वर का समाश्रय प्राप्त था। ये पाण्ड्यमहीश्वर अपने भुजबल से कर्नाटक प्रदेश पर शासन करते थे।[3] डा० ए० एन० उपाध्ये ने अजनापवनजय की दो प्रतियो मे 'श्रीमत्पाण्यमहीश्वरे' श्लोक में 'सततगमे' 'सन्तगमे'—पाठ में से 'संततगमे' पाठ को उचित बतलाया है। सभवत हस्तिमल्ल 'सततगम, में ही कुटुम्बसहित निवास कर रहे थे, और यही पाण्ड्यमहीश्वर की राजधानी भी थी। कर्नाटकविरचित के कर्ता आर० नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १३४७ वि० सं० निश्चित किया है।[4] डा० रामजी उपाध्याय का भी यही मत है कि कवि ने अपनी कुछ रचनाएं ई० १३ वी श० के अन्तिम भाग मे और कुछ १४वी श० के प्रारम्भ मे लिखी होंगी।[5]

हस्तिमल्ल के उपलब्ध चार रूपकों[6] मे से तीन का कथानक जैन पुराणों पर आधारित है। विक्रान्तकौरव की कथावस्तु का आधार जिनसेन का महापुराण है: विक्रान्तकौरव मे जयकुमार व सुलोचना के स्वयवर की कथा प्रस्तुत की गई है। जयकुमार एव सुलोचना का विस्तृत जीवन चरित जिनसेन के महापुराण मे उपलब्ध है। ये जयकुमार दिग्विजय के समय ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के सेनापति रहे है। इन्होने जीवन की अन्तिम अवस्था मे विरक्त होकर मुनि-दीक्षा धारण की थी, और ये ऋषभदेव के ८४ गणधरो मे हुए।[7]

यद्यपि हस्तिमल्ल ने 'विक्रान्तकौरव' नाटक मे जयकुमार एव सुलोचना के स्वयंवर का कथानक निबद्ध किया है, तथापि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के प्रति अगाध भक्तिभावना के दर्शन हमे इस नाटक मे प्राप्त होते है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी। कल्पवृक्षो से ही लोगों का साराकार्य चलता था। उनके समय भोगभूमि नष्ट होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ था। भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन ६ कर्मों का उपदेश देकर सबको आजीविका की शिक्षा दी। उन्होने नगर ग्रामादि का विभाग कराया, वर्णव्यवस्था की और राज्यवशो की स्थापना की। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने भरतक्षेत्र के चार राजाओं का अभिषेक किया था, वाराणसी के राजा अकम्पन और हस्तिनापुर के राजा

---

१. विक्रान्तकौरव का अपर नाम सुलोचना है।

२ सभवत कवि ने उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर आदि चार नाटक भी लिखे थे। मि० आफ्रेरव के केटेलागस् केटलाग्रोरम्' (सन् १८९१ लिपजिग) में इन सब नाटकों का उल्लेख आपर्ट साहब की लिस्ट आफ संस्कृत मेनु० इन सदर्न इण्डिया' (जिल्द १-२, सन् १८८०-८५) के आधार से किया गया है। सभवतः दक्षिण के भण्डारो मे विद्यमान हो, भरतराज सुभद्रा का ही अपर नाम जान पड़ा है।

३. श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरे निजभुजदण्डावलम्बी कृतम्— माणिकचन्द्र जैं० ग्रं० मा० से प्रकाशित अजनापवनजय की भूमिका, पृ० ६६.

४. प्रथपरीक्षा, तृतीय भाग, पृ० ८

५ मध्यकालीन सस्कृत नाटक, पृ० २२८.

६ ये चारों रूपक माणिकचन्द्र जैन ग्रथमाला, बंबई से मूलरूप मे प्रकाशित हुए है।

७. पन्नालाल जैन सं० 'विक्रान्तकौरव' की भूमिका, पृ० ११ व १२.

सोमप्रभ भी इनमे थे। (प्रस्तुत नाटक की नायिका सुलोचना राजा अकम्पन की पुत्री थी। नायक जयकुमार महाराज सोमप्रभ का पुत्र था।) जब भगवान् ऋषभदेव ससार से विरक्त होकर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुए थे और उनके बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती राज्य सिंहासनारूढ़ थे तब सुलोचना का स्वयंवर हुआ। महाकवि हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव के मगलाचरण में आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव की वन्दना में इसी रूप में उनका स्मरण करके जगत् के कल्याण की कामना की है : "जिन भगवान् ऋषभदेव ने पृथ्वी पर असि, मसि आदि की वृत्ति प्रकट की (कर्मभूमि के प्रारम्भ मे कल्पवृक्षो के नष्ट होने पर विद्या, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर आजीविका का साधन बतलाया), जिनके पुत्र भरत लोक मे सर्वश्रेष्ठ सम्राट् हुए हैं और इन्द्रो के मुकुटो की मणियों (कलगियो) से जिनके चरणकमलों की आरती उतारी गई थी, वे प्रथम जिनेन्द्र हर्षपूर्वक सदा भारी कल्याण करें"।[१]

हरिवश पुराण मे भी ऋषभदेव के प्रति की गई स्तुतियों में कहा गया है कि वे मति, श्रुति एव अवधि इन तीनों सर्वोत्तम ज्ञान रूपी नेत्रों से सुशोभित है। भरतक्षेत्र में उत्पन्न होकर उन्होने तीनो लोको को प्रकाशित कर दिया।[२]

महाकवि हस्तिमल्ल उनके जगत्पूज्य, जगत्कल्याणकर्ता, पापनाशक, दानादि के महात्म्य के प्रतिष्ठापक एव मोक्षदायी स्वरूप का पुन पुन स्मरण करते है। सपूर्ण नाटक मे काशीराज अकम्पन, प्रतीहार कञ्चुकी और रत्नमाली, मन्थरक एवं मन्दर आदि तीनों विद्याधरों ने भगवान् ऋषभदेव के प्रति अपनी भक्तिभावना प्रकट की है। वस्तुत. यहां महाराज अकम्पन, प्रतिहार, कञ्चुकी और रत्नमाली आदि की दृष्टि स्वयं नाटककार की ही है। इस प्रकार, नाटककार ने ऋषभदेव के विविध रूपों की स्तुति करते हुए उनके प्रति अपनी उत्कृष्ट भक्तिभावना प्रकट की है।

उन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के चरणकमल समस्त देवो के द्वारा पूज्य है।[३] वे तीनों ज्ञान के धारक है। उन्होंने युग के प्रारम्भ मे अभिषेक कर, 'तुम राज्य करो' इस प्रकार जिन्हे प्रबोधित किया था, इसीलिए जो 'कुरुराज' नाम से प्रसिद्ध हुए थे तथा जिन्होने प्रजा मे कुशल-मगल की प्रवृत्ति की थी।[४] भगवान् ऋषभदेव ने पहले असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य इन छह वृत्तियों को और अन्त में मोक्षपद के मार्ग को दिखाकर जिस युग को अन्धकार-रहित किया, वह युग कृतयुग कहलाता है।[५] आत्मशुद्धि के लिए लोग उनका स्मरण करते है।[६] अभिषेक, स्थापन, पूजन, शाति एव विसर्जन इन ५ प्रकार के उपचारो मे निपुण भव्य जीव जगत् के कल्याण के लिए उनकी पूजा करते है।[७] उन परमेश्वर की पूजा सब प्रकार से कल्याण करने वाली है एवं शुभदायी है।[८] कैलास के शिखरों को पवित्र करने वाली एव सावधान गणधरो से युक्त भगवान् ऋषभदेव की समवसरणाभूमि पापो का नाश करने वाली है।[९] युग के प्रारम्भ मे जब लोग दानादि के माहात्म्य से अनभिज्ञ थे, तब आदि तीर्थंकर ने दानादि के माहात्म्य की प्रतिष्ठा की

१. असिमषिमुखा वृत्तिर्येन क्षितौ प्रकटीकृता,
भरतमहिपसम्राड् यस्यात्मजो भुवनोत्तर।
सुरपमुकुटीकोटी नीराजिताघ्रिसरोरुह,
प्रथमजिनपः श्रेयो भूयो ददातु मुदा सदा॥
– विक्रान्त कौरव, १-१.

२. हरिवशपुराण, पृ. १२२, ८, १६६।

३. समस्तदेवार्चितपादपकज पितामहश्चास्य पुनः पितामह विक्रान्त कौरव, ३ ५५।

४. अभिषिच्य युगोद्यमे त्रिधाम्ना कुरुराज्य त्वमितिप्रबोधितो यः।
कुरुराज इति प्रतीतनामा कुशलादानमवर्तयत् प्रजानाम्॥
वही, ३ ७१।

५. असिमषिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्यवृत्तीः।
शिवपदपदवीमप्यन्ततो दर्शयित्वा। वही, ४.१७।

६. वही, ५.१५।

७. पचोपचारचतुराः परमेश्वरस्य
कुर्वंति सर्वजगदभ्युदयाय पूजाम्। वही ६ ६।

८. हेमागद – सर्वं शुभोदर्कं भगवदभ्यर्हणपुरःसरतया।
चौखम्बा से प्रकाशित, वही, पृ २५२।

९. समवसरणभूमि पूनकैलाशमौलि प्रणिहितगणनाथापस्थिता भूतमर्तु॥ वही, ४–१०६।

थी। दानादि के माहात्म्य से अनभिज्ञ और तपश्चर्या को प्रकट करने मे पराधीनता से हतबुद्धि श्रेयान् ने घर आए हुए ऋषभदेव को दान दिया था।[१]

महाकवि हस्तिमल्ल का यह विवेचन पौराणिक वर्णनों से अत्यधिक मेल रखता है। हरिवंश-पुराण मे कहा गया है—"मनुष्य भव मे आते ही आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने समस्त प्राणियों को कृतार्थ किया।[२] इस भव मे ऋषभदेव तीनो ज्ञान के धारक उत्पन्न हुए है, अत उनको 'स्वयभू' कहा जाता है।[३] भागवत मे आदि तीर्थंकर के प्रगट होने के दो प्रयोजन बताए गए है—मुनियों के लिए धर्म प्रकट करना[४] और मोक्षमार्ग की शिक्षा देना।[५] तिलोयपण्णत्ति मे सभी तीर्थंकर मोक्षमार्ग के नेता कहे गए है।[६] महापुराण के अनुसार, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव नृत्य करती हुई एक अप्सरा की मृत्यु द्वारा इन्द्र को जीवन की क्षणिकता से परिचय करवाते है।[७] तीर्थंकरो के अवतार लेने के कई प्रयोजन पौराणिक ग्रथो मे वर्णित है। जैन मुनियो के लिए आचार का आदर्श प्रस्तुत करना, आचार एव नियम पालन की शिक्षा देना और जैनधर्म का प्रचार करना आदि मुख्य प्रयोजन है। साथ ही तीर्थंकरो मे भव्य जीवो को ससार-समुद्र से तारने की सामर्थ्य भी है।[८] महाकवि हस्तिमल्ल ने भी विक्रान्तकौरव मे ये ही प्रयोजन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के अवतरित होने के बताए है।

नाटकान्त मे महाकवि ने ऋषभदेव को भूतनाथ विरुद से अलंकृत करते हुए इस प्रकार वन्दना की है—

(महाराज अकम्पन) यस्य स्वयभुवो नाभेर्ब्रह्मणो विरुद्धवम्।
विश्वोत्पादलयध्रौव्यसाक्षी चास्तु शिवाय वः ॥[९]

अर्थात् जिन स्वयंभू ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि-नाभिराज नामक कुलकर से हुई है तथा जो समस्त पदार्थों से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का साक्षात् करने वाले है, वे भगवान् ऋषभदेव तुम्हारे कल्याण के लिए हों।

(प्रतीहार) आकाशं मूर्त्यभावादघकुलदहनादग्निरुर्वी क्षमातो, नैस्सङ्ग्याद्वायुरापः प्रगुणशमतया स्वात्मनिष्ठः सुयज्वा। सोमः सौम्यत्वयोगाद्रविरिति च विदुस्तेजसां सन्निधाना-द्विश्वात्मा तीतविश्व स भवतु भवतां भूतये भूतनाथः॥[१०]

अर्थात् जो मूर्ति के अभाव मे आकाश है, पाप-समूहों को जलाने से अग्नि है, क्षमा से पृथ्वी है, निष्परिग्रह होने से वायु है, अत्यधिक शाति से युक्त होने से जल है, स्वकीय आत्मा मे स्थिर होने से सुयज्वायाजक है, सौम्यता के सयोग से चन्द्रमा है, तेज के सन्निधान से सूर्य है, विश्व-रूप है तथा विश्व से परे है, वे भूतनाथ-प्राणिमात्र के स्वामी भगवान् जितेन्द्र आप सब को भूति (ऐश्वर्य) के लिए हों।" यह वर्णन महाकवि कालिदास के द्वारा की हुई अष्टमूर्ति शिव की वन्दना से एकदम समता रखता है[११]। उपनिषदो में भी ऋषियो ने परब्रह्म परमात्मा का ठीक ऐसा ही वर्णन किया है। परमात्मप्रकाश के अनुसार, जो जिनेन्द्र देव है, वे परमात्मप्रकाश भी है।[१३] केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त चतुष्टय से युक्त होने के कारण वही जिनदेव है। वही परम मुनि (अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी) है।[१४] जिस परमात्मा को मुनि परमपद हरि, महादेव, ब्रह्म तथा परमप्रकाश नाम से कहते है, वह रागादि से रहित जिनदेव ही है।[१५]

(शेष पृ० १६ पर)

१. वही, ३ ७२।
२. हरिवशपुराण, पृ १२३, ८, २०५-२०६।
३. वही, पृ. १२३, ८, २०७।
४. भागवत, ५-३-२०।
५. वही, ५-६-१२।
६. तिलोयपण्णत्ति ४, ६२८।
७. महापुराण ६, ४।
८. प्रवचनसार (८१ से १६५ ई० के बीच), पृ. ३, ४।
९. विक्रान्तकौरव, ६-५१।
१०. वही, ६.५२।
११. वही, ६-५२।
१२. अभिज्ञानशाकुन्तल, १.१।
१३. परमात्मप्रकाश, पृ. ३३६, २, १९८।
१४. वही, पृ. ३३७, २, १९९।
१५. वही, ३३७-३८, २, २००।
जो परमप्पउ परम पउ हरि हरू बम्भु वि बुद्ध परम पयासु भणति मुणि सो जिण देउ विसुद्ध। द्र० डा० कपिलदेव पांडेय विरचित : मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद; पृ. ८७ से ९३।

महावीर का धर्म-दर्शन : आज के सन्दर्भ में

□ श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, बम्बई

यह केवल संयोग नहीं, बल्कि एक बुनियादी तथ्य है कि महावीर का धर्म-दर्शन आज के सन्दर्भ मे शत-प्रतिशत घटित होता है। इसका कारण यह है कि जैन द्रष्टाओ ने सत्ता की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमे वस्तुओ की प्रतिक्षण की गतिविधि और प्रगति अत्यन्त अद्यतन तरीके से समाहित हो जाती है। उन्होने कहा है : "उत्पाद-व्यय-धौव्य-युक्त सत्वं।" सत्ता एकबारगी ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, अर्थात् उसमे प्रतिक्षण कुछ उत्पन्न हो रहा है, कुछ मिट रहा है, और कुछ है जो सदा एकसा कायम रहता है। प्रतिक्षण जो उठ और मिट रहा है, वह पर्याय है, यानी चीजो का रूप है, और जो सदा एक-सा कायम यानी ध्रुव है, वह चीजों का सत्य है, अर्थात् साराश है। मतलब यह हुआ कि गति और स्थिति के सयुक्त रूप को ही सत्ता कहते है।

इस तरह हम देखते है कि जैन-दर्शन ने वस्तु की प्रतिक्षण की नित नई गति-प्रगति को सत्य के रूप मे स्वीकृति दी है। उसे महज मिथ्या, माया या प्रपंच कह कर टाला नही है। ठीक विज्ञान की तरह ही जैन-दर्शन ने इस विश्व की तद्गत वास्तविकता यानी "आब्जेक्टिव रियलिटी" को स्वीकार किया है। नतीजे मे यह हाथ आता है कि जैनधर्म यथार्थवादी है, वास्तविकता-वादी है, वह कोरा आदर्शवादी नही है। जीवन से कटे हुए कोरे ऊर्ध्वमुख आदर्शवाद की अस्वीकृति और ठोस यथार्थवादी जीवन-जगत् की स्वीकृति, आज के युग की एक लाक्षणिक विशेषता है और यह विशेषता जैन-धर्म मे, सत्ता की मूल परिभाषा में ही उपलब्ध हो जाती है।

दूसरी आधुनिक विशेषता, जो जैनधर्म मे मिलती है, वह है वस्तु के साथ व्यक्ति का एक यथार्थवादी संबंध। चीजें ठीक जैसी है, उन्हे ठीक वैसी ही देखने-जानने को जैन द्रष्टाओ ने सम्यक् दर्शन कहा है। मतलब यह हुआ कि चीजों के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण ही सम्यक् दर्शन है। जैनी मानता है कि वस्तुओ या व्यक्तियो को देखकर, या उनसे सम्बन्धित हो कर जो रागात्मक भाव हमारे मन मे उदय होता है, उसी मे चीजो का मूल्य नही आकना चाहिए। वस्तुओं पर अपने भाव या राग को आरोपित करके उन्हे न देखो। वे यथार्थ मे, अपने आप मे जैसी है, वैसी ही उन्हे वीतराग भाव मे देखो। चीजो पर अपने को लादो नही। तुम स्वय अपने मे रहो, चीजो को स्वयं अपने मे रहनो दो। स्वयं अपने स्वभाव में रहो, चीजों को अपने स्वभाव मे रहने दो। इसी तरह उनसे सरोकार करो, इसी तरह उनसे बर्ताव करो। हमारा दृष्टिकोण चीजो के प्रति वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' हो, आत्म-लक्ष्यी या 'सब्जेक्टिव' न हो। इस प्रकार हमने यह देखा कि आज के युग की एक और सबसे बडी विशेषता वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण है और वही जैन तत्वज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। आधुनिक बुद्धिवाद और विज्ञान इसी दृष्टिकोण के ज्वलन्त परिणाम है।

जैन तत्वज्ञान को सावधानीपूर्वक समझने पर पता चलता है कि उसमें जीवन-जगत् का इनकार नहीं, बल्कि महज स्वीकार है। जीवन-जगत् जैनी के लिए एक ठोस वास्तविकता है, और उसमे जीने वाले मनुष्य या प्राणी की आत्मा भी एक ठोस वास्तविकता है। सो उनके बीच का सम्बन्ध भी एक ठोस वास्तविकता है। इस वास्तविकता को सही-सही देख कर, सही-सही जानना होगा, यानी जैन शब्दों मे कहे तो हमें जगत् का सम्यक् दर्शन करते हुए उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना होगा। वस्तुओं और व्यक्तियो का सही दर्शन और सही ज्ञान होने पर ही, उनके साथ का हमारा सम्बन्ध-व्यवहार, सलूक-सरोकार सही हो सकता है। इस सही सम्बन्ध-व्यवहार को ही जैन तत्वज्ञो ने सम्यक् चारित्र्य कहा है।

जैन धर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति है। यह मुक्ति कैसे पायी जा सकती है? तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति के शब्दों मे, "सम्यक्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग"। जीवन-जगत्, वस्तु-व्यक्ति को सही देखना, सही जानना, और तदनुसार उनके साथ सही व्यवहार करना— यही मोक्षमार्ग है, यानी विश्व के साथ व्यक्ति आत्मा का सम्बन्ध जब अन्तिम रूप मे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय हो जाता है, तो अनायास ही आत्मा की मुक्ति घटित हो जाती है।

चीजों और व्यक्तियो के साथ जब हमारा सम्बन्ध वस्तु लक्ष्यी और वीतरागी न होकर, आत्मलक्ष्यी और सरागी होता है, तो वह रागात्मक तीव्रता विश्व मे सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्म भौतिक पुद्गल-परमाणुओ को आकृष्ट करके, हमारी चेतना को उनके पाश मे बाध देती है। इसी को कर्म-बन्धन कहते है, यानी राग और उसकी परिणति द्वेष, इन दोनो के आत्मा मे घटित होने पर वस्तुओ के साथ आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध भग हो जाता है, और उनके बीच कर्मावरण की ओट खडी हो जाती है। जगत् के साथ जब मनुष्य का सम्बन्ध विशुद्ध वस्तु-लक्ष्यी यानी "आब्जेक्टिव" या वीतरागी हो जाता है, इसी को जैन द्रष्टाओ ने मोक्ष कहा है।

आत्मा के इस तरह मुक्त होने पर, उसके भीतर का जो मूलगत पूर्ण ज्ञान है, अर्थात् सर्व का सर्वकाल मे सपूर्ण जानने की जो क्षमता या शक्ति है, वह प्रकट हो जाती है। इसी को केवल ज्ञान कहते है, अर्थात् एकमेव शुद्ध, अखड प्रत्यक्ष ज्ञान। केवलज्ञान होने पर लोक के साथ मनुष्य का एक अमर, अबोध, अविनाशी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन को गहराई से समझने पर पता चलता है कि वह जगत्-जीवन से मनुष्य का तोडने या अलग करने वाला धर्म नही है बल्कि जगत् के साथ जीव का सच्चा और स्थायी नाता स्थापित करने की शिक्षा ही जैनधर्म देता है।

× × ×

महावीर के १००० वर्ष बाद जिनवाणी के ग्रन्थ-बद्ध होने पर उसमे जो जैन धर्म का उपदेश मिलता है, उसमें प्रकटत: कठोर संयम, वैराग्य और तप की प्रधानता है। ऐसा स्पष्ट लगता है, कि जैनधर्म जीवन का विरोधी है, और उसका मोक्ष जगत से पलायन है। इस प्रतिवाद को नकारा नही जा सकता।

यह भी स्पष्ट है कि स्वय महावीर दीर्घ तपस्वी थे, और उन्होने निदारुण तपस्या का जीवन बिताया था। पर वे तो तीर्थंकर यानी युगतीर्थ के प्रवर्तक और परित्राता होकर जन्मे थे। इसी कारण चरम तपस्या के द्वारा त्रिलोक और त्रिकाल के कण-कण और जन-जन के साथ तादात्म्य स्थापित करना उनके लिए अनिवार्य था। वे स्वय ऐसी मृत्युजयी तपस्या करके, औरो के लिए, अपने युगतीर्थ के प्राणियो के लिए, मुक्ति-मार्ग को सुगम बना गये है और सबको अमरत्व प्राप्ति का सहज ज्ञान-मन्त्र दे गये है।

लेकिन वस्तुत उत्तरकालीन जिन-शासन मे जो अति निवृत्तिवाद का बोलबाला रहा, वह वैदिक धर्म के अति प्रवृत्तिवाद और भ्रष्टाचारी कर्म-काण्डो की प्रति-क्रिया के रूप मे ही घटित हुआ है। फलतः वैराग्य, तप और जीवन-विमुखता पर बेहद जोर दिया गया है। नतीजा यह हुआ कि अल्पज्ञ साधारण जैन श्रावक और श्रमण इस तप-संयम के बाह्याचार को ही सब कुछ मान कर उसी मे चिपट गये। इस प्रवृत्ति के कारण जैन द्रष्टाओ की असली, मौलिक विश्व-दृष्टि लुप्त हो गयी।

यह दृष्टि हमे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के दृष्टि-प्रधान ग्रन्थ 'समयसार' मे यथार्थ रूप मे उपलब्ध होती है। यह कहना शायद अत्युक्ति न होगी कि महावीर के बाद भगवान् कुन्दकुन्ददेव ही जिन-शासन के मूर्धन्य और मौलिक प्रवक्ता हुए है। उनकी वाणी मे आत्मानुभूति का रूपान्तरकारी रसायन प्रकट हुआ है। उन्होने 'समयसार' मे स्पष्ट सिखाया है कि वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। तुम अपने स्वभाव मे रहो, वस्तु को अपने स्वभाव में रहने दो। अपने स्वभाव को ठीक-ठीक जानो और उसी मे सदा अवस्थित रहकर सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान पूर्वक इस जगत् जीवन का उपयोग करो, यानी भोग का इनकार उनके यहा कतई नही है। मगर सम्यक्दृष्टि और सम्यक्ज्ञानी होकर भोगो। तब तुम्हारा भोग बन्धन और कष्ट का कारण न होगा, बल्कि मोक्षदायक और आनन्द-

दायक होगा।

जो चीजों का सम्यक्‌दर्शी और सम्यक्‌ज्ञानी है, वही उनका सच्चा, सम्पूर्ण या निर्बाध भोक्ता हो सकता है। ऐसा भोग क्षणिक और खंडित नहीं होता। वह नित्य और अखण्ड भोग होता है। उसमें वियोग नहीं, पूर्ण योग है, पूर्ण मिलन है। उसमें कभी कुछ खोता नहीं, सब सदा को पा लिया जाता है, सबके साथ हम सदा योग और भोग मे एक साथ रहते हैं। जो चीजों का मिथ्यादर्शी और मिथ्याज्ञानी है, वह उनका सच्चा और पूर्ण भोक्ता नहीं हो सकता। ज्ञानी वस्तुओं का स्वामी होकर उन्हें भोगता है। अज्ञानी उनका दास हो कर उन्हें भोगता है। स्वामी का भोग मुक्तिदायक और आनन्ददायक होता है, दास का भोग बन्धनकारक और कष्टदायक होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनधर्म जीवन-जगत् के भोग का विरोधी नहीं। वह केवल सच्चे और अखण्ड भोग की कला सिखाता है। आज का मनुष्य ऐसे अखण्ड और नित्य भोग के लिए ही तो छटपटा रहा है। अति-मोहवादी पश्चिमी जगत् अब क्षणिक और खण्ड भोग से ऊब गया है, थक गया है, विरक्त तक हो गया है। वह भोग छोडने को तैयार नहीं, मगर उसे अचूक और पूर्ण तृप्तिदायक, नित-नव्य भोग की तलाश है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' मे उसी सच्चे, सार्थक और पूर्ण तृप्तिदायक भोग की शिक्षा दी है। आज के भोग से ऊबे हुए, फिर भी परम भोग के अभिलाषी मनुष्य के लिए 'समयसार' एक चिन्तामणि जीवन-कुंजी है।

परा पूर्वकाल मे राजर्षि भरत चक्रवर्ती और जनक ऐसे ही परम भोक्ता योगीश्वर हुए है। वे जगत् के विषयानन्द में भी बेहिचक उन्मुक्त तैरते हुए पूर्ण आत्मा-नन्द मे मगन रहते थे। जैनधर्म में ही नहीं, प्रथमतः और अन्ततः पूरे भारतीय प्राक्तन् धर्म ने यही शिक्षा दी है। बीच के ऐतिहासिक चक्रावर्त्तनो के कारण जो अतिवादी और प्रतिक्रियाग्रस्त वैराग्यवाद का प्रभुत्व हुआ है, उससे भारतीय धर्म का मर्म ही लुप्त हो गया। आज के भारतीय जैन योगियों, चिन्तकों और मनीषियो का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हमारे धर्म के मर्म की सच्ची पहचान वे आज के जगत् के समक्ष प्रकट करें और इस युग की भटकी हुई विपथगामी मानवता को सही दिशा-दर्शन प्रदान करें।

+ + +

महावीर ने कहा है कि वस्तु मात्र अनेकान्तिक है, यानी उसमें अनन्त गुण, धर्म, पर्याय एक साथ विद्यमान है। इसलिए वस्तु के अलग-अलग पहलुओं को अनेकान्तिक दृष्टि से देखना चाहिए। वस्तु प्रतिक्षण गतिमान, प्रगति-मान और परिणमनशील है। उसमें प्रतिपल नये रूप, भाव और परिणाम पैदा हो रहे है। इसलिए कभी भी वस्तु के बारे में अन्तिम कथन नहीं करना चाहिए। अपेक्षा के साथ ही, वस्तु के एक गुण, धर्म, भाव-रूप विशेष का कथन करना चाहिए। वस्तु अनेकान्तिक है, तो उसका सच्चा दर्शन-ज्ञान भी एकान्तिक नहीं, अनेकान्तिक ही हो सकता है। इस तरह हम देखते है कि अनेकान्त दृष्टि ही जैनधर्म की आधारभूत चट्टान है।

आज का मनुष्य भी किसी अन्तिम कथन या अन्तिम धर्मादेश का कायल नहीं। वह हर तरह की धार्मिक कट्टरवादिता से नफरत करता है। वह 'डायनेमिक' यानी गतिशील है, और जीवन-जगत के गति-प्रगतिशील दृष्टि-कोण को ही पसन्द करता है। जैनधर्म का अनेकान्त आधु-निक मानव-चेतना के उस 'डायनेमिज्म' यानी गत्या-त्मकता का सर्वोपरि दिग्दर्शक और समर्थक है।

अनेकान्तिक वस्तु-स्वभाव का सही दर्शन-ज्ञान पाकर, वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ सही सम्बन्ध मे जीवन जीने की कला सिखाने के लिए ही जैन द्रष्टाओं ने सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के आचार धर्म का विधान किया है: सत्य यानी यह कि हम चीजों को सत्य देखें, जाने और सत्य ही कहे, अहिंसा यानी यह कि हर चीज को अस्तित्व मे निर्बाध और सुरक्षित रहने का अधिकार है। हम परस्पर एक दूसरे को बाधा या हानि न पहुँचायें। हम खुद जिस तरह सुख-शान्ति से जीना चाहते है उसी तरह औरों को भी सुख-शान्ति से जीने दें, यानी सह-अस्तित्व जीवन की शर्त है। अचौर्य यानी यह कि सब वस्तुओं पर सबका समान अधिकार है और वस्तु-मात्र अपने आप में स्वतन्त्र है। परस्पर एक दूसरे के कल्याणार्थ हम वस्तुओं पर व्यक्तियों के साथ विनियोग-

व्यवहार करें। वस्तु-सम्पदा पर अधिकार करना ही चोरी है। जीवन-जगत् की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, कि वस्तुमात्र सर्वकी सम्पत्ति रहे और आवश्यकतानुसार सबको सब कुछ प्राप्त हो। सम्पत्तिवाद, पूंजीवाद, अधिनायकवाद आदि आज की सारी व्यवस्थाएं चोरी पर टिकी हुई है। अचौर्य की व्यवस्था लाने के लिए ही आज की सारी प्रजाएं समाजवाद की पुकार उठा रही है। जैनधर्म के सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त मे आगामी सच्चे और स्थायी समाजवाद की कुंजी छिपी है।

अपरिग्रह का अर्थ है कि मोह-मूर्च्छा मे पडकर, वस्तुओं और व्यक्तियों पर अधिकार न जमाया जाए। मनुष्य, मनुष्य और वस्तुओं के स्वभावगत स्वतन्त्र परिणमन को पहचाने और स्वय भी स्वतन्त्र रहे तथा औरो की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। परिग्रह यानी प्रमादवश चीजो के अधीन होना और उन्हे अपने अधीन रखना। यह बन्धक और कष्टदायक है। परिग्रही-वृत्ति से ही सम्पत्तिवाद, पूंजीवाद, सत्तावाद जन्मे है। परिग्रह को ही जिनेश्वरो ने बहुत बडा पाप कहा है। जिनेश्वरो के धर्म-शासन मे पूंजीवाद और अधिनायकवाद को स्थान नही। स्वतन्त्र मानववाद और सर्वकल्याणकारी समाजवाद ही जिनेश्वरो के अनुसार सच्ची और मोक्षदायक जीवन-व्यवस्था हो सकती है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी आत्मा मे ही निरन्तर रमण करने और भोग करने की स्वाधीन सत्ता प्राप्त कर लेना। नर-नारी के यौन-भोग और काम-भोग तन, मन, प्राण, इन्द्रियो के स्तर पर सर्वथा स्वाभाविक है और उचित है पर आत्मा परम स्वतन्त्र है। बाहर के भोग-रमण मे रहते हुए भी, वह अपनी तृप्ति के लिए, इनकी गुलाम नही। हर नर-नारी के भीतर नर और नारी दोनो है। अपने ही भीतर बैठे रमण या रमणी को पहचान कर पा लेने पर, बाहर रमण करते हुए भी, हम एक-दूसरे के गुलाम या बन्धन हो कर न रहे। अपने-अपने आत्म मे स्वतन्त्र, निर्मोह, अबाध विचरे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य वीतरागी, आत्मरसलीन, पूर्ण भोक्ता होने की परम रमवन्ती कला सिखाता है।

इस प्रकार आप देखेगे कि जैनों का पंच अणुव्रती या महाव्रती आचार-मार्ग जीवन से पलायन करने या उसका विरोध करने की शिक्षा नही देता। वह जीवन-जगत् के पूर्ण भोक्ता और स्वाधीन स्वामी होने की पराविद्या हमे सिखाता है। क्या आज का मनुष्य, ऐसी ही किसी पराविद्या की खोज मे नही भटक रहा है? ये पथ-भ्रष्ट दीखने वाले, स्वैराचारी, स्वच्छन्दविहारी 'हिप्पी' वैभव और सुरक्षा की गोद को ठुकरा कर उसी पराविद्या की खोज मे निकल पड़े है। वे अधेरे मे भटक रहे है बेशक, मगर सच पूछो तो वे अनजाने ही परम लक्ष्य से चालित है, यानी वे मनुष्य की असली स्वतन्त्रता के अभिलाषी है। जैनधर्म के अनुसार, वे स्वभावत. अपनी मजिल पर पहुंचेगे ही, क्योकि मजिल आखिर तो अपनी आत्मा ही है और अपनी आत्मा से बिछुड कर आदमी कब तक भटकता रह सकता है? आखिर पराकाष्ठा तक भटक कर, वह अपने घर लौटेगा ही। इसी कारण जिनेश्वरो ने पाप को हौआ नही बनाया है। पाप के भय को उन्होने मूल मे ही काट दिया है, यानी आत्मा पाप कर ही नही सकता, वह उसका स्वभाव नही। पाप है केवल अज्ञान। सही ज्ञान हो जाने पर आदमी अपने आप ही सही आचरण करता है। तब वह अनायास ही पाप से ऊपर उठकर, आत्मा का सज्ञान, निष्पाप जीवन जीता है।

+ + +

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म का ज्ञानमार्ग भी विश्लेषण-प्रधान है। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि ससार के सभी जीवित धर्मों मे जैनधर्म ही सबसे अधिक वैज्ञानिक है। उसका जीव-शास्त्र और कर्म-शास्त्र इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इतना अधिक वैज्ञानिक और तार्किक है जैनधर्म, कि मनुष्य की भाव-चेतना को तृप्त करने मे समर्थ नही हो पाता। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वरीय शक्ति को अस्वीकृत करके जैनधर्म ने भक्तिभाव के आधार को ही खत्म कर दिया है। पर अपनी इस अतिवैज्ञानिकता और बुद्धिवादिता के कारण ही, वह आज के विज्ञानवेत्ता मनुष्य के बहुत अनुकूल है।

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म मनुष्य को स्वतन्त्रता

देता है कि वह किसी पूर्व मान्यता और अन्धश्रद्धा से विश्व-तत्व का निर्णय न करे। अपने स्वतन्त्र तार्किक अन्वेषण और वस्तु के अणु-प्रति-अणु तार्किक विश्लेषण द्वारा ही विश्व-तत्व की जाच-पड़ताल करे और उसका स्वतन्त्र ज्ञानात्मक साक्षात्कार करे। यह ध्यातव्य है कि हजारों वर्षों पूर्व जैन द्रष्टाओ ने जगत-जीवन का जो अन्तर्वैज्ञानिक साक्षात्कार किया था, वह क्रमश. आज की वैज्ञानिक खोजो द्वारा अचूक प्रमाणित होता जा रहा है। इस प्रकार जैनधर्म आज के मनुष्य को वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा ही आत्मिक आस्था और अनुभूति तक ले जाना चाहता है।

+ + +

पश्चिम के दार्शनिक जगत् मे आज अस्तित्ववाद का बोलबाला है, यानी अस्तित्व म जो दीखता है, वही सत्य है। 'एग्जिस्टेन्स' मे हो कर 'ईसेंस' मे पहुँचना है। 'ईसेंस' को पूर्व मान्य करके 'एग्जिस्टेंस' का फैसला नही करना है। जैनो के यहा बारह अनुप्रेक्षाओ या भावनाओ द्वारा जो अस्तित्व और आत्मा का चिन्तन किया गया है, उसमे आज का अस्तित्ववाद सर्वांगीण अभिव्यक्ति पा जाता है। अनुप्रेक्षण बताता है कि मनुष्य की स्थिति यहा अनित्य, अशरण, एकाकी है। वह अकेला है। अन्ततः हम सब एक-दूसरे के लिए अन्य यानी पराये है। शरीर अन्तत विनाशी और ग्लानिजनक तत्वो से भरा है।

अत. आत्मा की मुक्ति के लिए आवश्यक है कि अनिष्ट बाहरी पुद्गल परमाणुओ को, हमारे अस्तित्व को कर्म-बन्धन मे बाधने से रोका जाए। अपने को समेट कर अपने सच्चे स्वरूप मे ही रहा जाए। इस प्रकार आत्म-सवरण द्वारा अपने मे स्वाधीन हो रहने पर पुराने बधे जड़कर्म के बन्धन स्वय टूट जाते है। तब हमारे पूर्ण ज्ञान मे लोक अपने सच्चे स्वरूप मे हमारे सामने प्रकट हो जाता है। उस स्थिति में मनुष्य एक मुक्त पुरुष होकर लोक का पूर्ण ज्ञानपूर्वक नित्य भोग करता है। यही मोक्ष है।

साराश मे, यही जैनो का अस्तित्ववाद है और संभवतः आज के अस्तित्ववादी दर्शन मे जहा भी गत्य-वरोध है, वहा जैन दृष्टि अगला सही मार्ग मुक्त कर सकती है। यह ध्यातव्य है कि कार्ल येस्पर्स आदि का आज का अतिक्रान्तिवादी अस्तित्ववाद (ट्रान्सेंडेंटल एक्जिस्टेशियलिज्म) जैन-दर्शन के बहुत निकट आ जाता है।

इस प्रकार, आप देखेगे कि आज के युग मे अस्तित्व-वाद आत्म-स्वातन्त्र्य-वाद, सर्व-स्वातन्त्र्य-वाद, स्वच्छन्दवाद, पूर्ण-भोगवाद, समाजवाद, गणतन्त्रवाद, परोक्षवाद, कला-वाद आदि की जो प्रमुख पुकारे मानव आत्मा मे ज्वलन्त है, उन सबका मौलिक समाधान जिनेश्वरो के धर्म-दर्शन मे समीचीन रूप से उपलब्ध है।

एकतन्त्रीय पूंजीवाद और अधिनायकवाद से दुनिया को उबार कर, एक सच्चे सर्वोदयी साम्यवाद और समाजवाद मे प्रतिष्ठित करने के लिए महावीर के धर्म-दर्शन को नये सिरे से समझना और पहचानना जरूरी है।

जैनो के अनुसार तो महावीर ही हमारे युग के तीर्थंकर है, यानी हमारे वर्तमान युग-तीर्थ की मागलिक परिचालना का धर्म-चक्र उन्ही भगवान की उँगली पर घूम रहा है। एक बार एकाग्र होकर हम उस धर्म-चक्र का दर्शन करे तो शायद हमारे युग की चाल ही बदल जाये। समग्र क्रान्ति और किसे कहते हैं ?

—वीर-निर्वाण-विचार-सेवा, इन्दौर के सौजन्य से।

गोविन्द निवास, सरोजनी रोड
विले पारले (पश्चिम), बम्बई -५६

(पृ० ११ का शेषाश)

महाकवि हस्तिमल्ल की सुभद्रा नाटिका मे भी आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना कई स्थलो पर की गई है। चार अको की इस नाटिका मे राजा नमि की भगिनी और कच्छराज के पुत्री सुभद्रा का तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत से विवाह की कथा है।[1]

सी-८, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स, दुर्गा नर्सरी रोड,
उदयपुर (राज०)

१. अजनापवनञ्जय और सुभद्रा नाटिका का सपादन वासुदेव पटवर्धन ने किया है। माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बबई से प्रकाशित ७ अको के अजनापवनञ्जय नाटक मे महेन्द्रपुर की कुमारी अञ्जना स्वयवर मे विद्याधर पवनञ्जय का वरण करती है। बाद मे अजना हनुमत् को जन्म देती है। कथा का आधार विमलसूरि का पउमचरिउ है।

ज्ञान की पावन ज्योति बुझ गई है

□ श्री कुन्दन लाल जैन, दिल्ली

६ अक्तूबर १९७५ की वह मनहूस घड़ी थी जब ८ बजकर, ८ मिनट पर आकाशवाणी से उद्घोषित किया गया कि "डा. ए. एन. उपाध्ये का कोल्हापुर मे निधन हो गया है।" सुनते ही ऐसा अनुभव हुआ मानो किसी ने सिर पर हथौड़े जड़ दिए हो। चित्त बडा ही व्यथित हुआ। वे ज्ञान के भंडार थे। जितना गभीर और सूक्ष्म अध्ययन उन्होंने किया था, वैसा दूसरा कोई व्यक्ति दिखाई नही देता है। उनकी शोधों से भारतीय विद्वान् ही नही, अपितु भारतीय विद्या के विदेशी विद्वान् भी बडे प्रभावित थे। वे लोग उनकी लेखिनी का लोहा मानते थे। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् कार्लायल (Carlyle) को उद्धृत करते हुए लिखा था : "Blessed is he who has got his life's work, let him ask for no other blessedness." Dr. Upadhye asks for no other blessedness."

सन् १९०६ के फरवरी मास की छठी तिथि को बेलगाम जिले के सदलग ग्राम में एक नक्षत्र उदित हुआ था जो ६९ वर्ष ८ मास तक साहित्य और समाज को आलोकित करता हुआ ८ अक्तूबर, १९७५ को अस्त हो गया। वे जैन शोध के क्षेत्र मे ऐसे प्रखर सूर्य थे कि उनकी प्रचण्ड किरणें युग-युगो तक अनुसधित्सुओं का पथ आलोकित करती रहेगी और शोध के क्षेत्र मे मार्ग दर्शक बनी रहेगी! डा. उपाध्ये का सर्वप्रथम दर्शन सन् १९४६ मे स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी के हॉल मे किया था, जब वे अपने परम सखा डा० हीरालाल जी के साथ छात्र सघ के आमंत्रण पर विद्यालय मे पधारे थे। उनकी विद्वत्ता की धाक समाज मे तब तक व्याप्त हो गई थी। विदिशा मथुरा आदि स्थानो पर भी उनसे समय-समय पर भेट होती रही, पर सन् १९६० से तो उनके निकटतम सपर्क मे आने का सौभाग्य मिला और उन्ही की अनुकम्पा-वश शोध के क्षेत्र में कुछ चञ्चु-प्रवेश कर पाया हूं।

सन् १९६० के अक्तूबर मास मे ओरिएटल कान्फ्रेंस का अधिवेशन काश्मीर (श्रीनगर) मे हुआ था जिसमे डा उपाध्ये और डा. हीरालाल जी सम्मिलित हुए थे। मैं भी घूमने के लिए काश्मीर गया था। पता चला कि डा उपाध्ये यहाँ है तो उनसे मिलने चला गया। बातचीत के दौरान उन्होंने पूछा— केटलाग का काम करोगे ? मै इस दिशा मे सर्वथा शून्य था, फिर भी बिना कुछ जाने-समझे स्वीकृति दे दी। केवल यह समझ कर कि डा. उपाध्ये जैसे विद्वान् के वरदहस्त की छत्रछाया तो मिलेगी। अस्तु डा. सा. ने कहा कि फिर दिल्ली मे मिलना, वही चर्चा करेंगे। दिल्ली आकर दिल्ली के जैन भण्डारो मे स्थित पाडुलिपियो की विवरणात्मक सूची तैयार करने का सारा मसविदा तैयार हो गया और मैंने बा० पन्नालालजी अग्रवाल के सहयोग से यह पुनीत कार्य प्रारम्भ कर दिया। पर बीच में अनेकानेक बाधाएँ आई जिनसे बार-बार विचलित हो कार्य छोड़ना चाहता था, किन्तु बा० छोटेलाल जी के समुचित परामर्श एव डा. उपाध्ये की पत्रो द्वारा प्रेरणा पा-पाकर इस रूक्ष और आँख-फोड़ू परन्तु ज्ञानवर्द्धक कार्य मे लगा रहा। आज जबकि उपर्युक्त सूची की प्रेस कापी प्रकाशन के लिए पड़ी-पड़ी सिसक रही है और डा. उपाध्ये नही रहे है, तो आँखो के आगे घनघोर अन्धकार छा जाता है। वे ज्ञान की पावन ज्योति थे जो स्वय तिल-तिल जलकर दूसरो को आलोकित किया करते थे। आज उनके अभाव मे मुझ जैसे हजारो शिष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का अनुभव करने लगे है। अब हमारा मार्गदर्शन कौन करेगा, शोध के क्षेत्र मे हमारी गुत्थियों को कौन सुलझावेगा ? उन जैसा सूक्ष्म अन्वेषक और अनुसधित्सु आज कोई जैन समाज मे है क्या ?

दूसरो के छोटे-छोटे गुणो को बढ़ावा देकर उन्हे शोध

के क्षेत्र मे लगाए रखना कोई उनसे सीखे। सन् १९६४ या ६५ मे वीर सेवा मन्दिर में उनके अभिनन्दन का आयोजन किया गया था, हाल मे लोग एकत्रित हो रहे थे। डा उपाध्ये ऊपर के कमरो मे ठहरे थे। मै सूची के सम्बन्ध मे चर्चा हेतु उनके पास बैठा था, सूची के पारिश्रमिक के भुगतान की बात थी। डा. सा. ने कहा "This is just a clerical job; you should not expect much more"। बात चलती रही पर (Clerical) शब्द का प्रयोग उन्हें स्वय कुछ अच्छा न लगा। यद्यपि इसे मैंने कुछ भी महसूस न किया था फिर भी बातचीत के दौरान अनजाने ही उस (clerical) शब्द की पुनरावृत्ति दो तीन बार हो गई जिससे वे बड़े ही व्यथित और व्याकुल हो उठे और शायद अपनी भूल समझकर उन्होने स्वय ही तीन-चार चाँटे अपने ही गालों पर तड़ातड जड़ लिए। वहाँ हम दोनों के अतिरिक्त तीसरा कोई न था। मै अवाक् किंकर्त्तव्यविमूढ-सा जडवत् खड़ा रह गया। मुझे कुछ न सूझा और उनके चरण पकड़कर वही बैठ गया और बिलख-बिलख कर रोता रहा। मै आत्मग्लानि से गल रहा था और लज्जित था कि यह सब क्या हो गया था; उसे मेटा नही जा सकता था, मै तब तक रोता रहा जब तक कि नीचे से बुलावा नही आ गया। बुलावा आते ही वे नीचे समारोह मे जाने लगे। साथ ही मेरी पीठ पर वत्सलतापूर्वक हाथ फेरते हुए मुझे भी उठाकर साथ नीचे समारोह मे ले गए। मैं बहुत ही बोझिल था, अपराधी जैसी दशा मे वहा बैठा रहा, पर वे स्थितप्रज्ञ की भांति पूर्ण शात और अवदात मन से अभिनन्दन समारोह मे सम्मिलित हुए सभी औपचारिकताओ के बाद जब उनका भाषण हुआ तो उसमे उन्होने मेरी और मेरे काम (भडारो की सूची) की भूरि-भूरि प्रशसा की और लोगो से इस कार्य मे पूरा-पूरा सहयोग देने का आग्रह एव अपील की। मै यह सब सुनकर बड़ा विस्मित था कि अभी-अभी ऊपर कमरे मे क्या हुआ था और अब यहा क्या हो रहा है? मेरा मन धुल गया था और उनके प्रति मेरा हृदय श्रद्धा से गद्गद् हो उठा था। इस रहस्य का मै आज तक अपने मन मे बहुमूल्य निधि की भाँति सजोए रहा कि कही किसी को सुनाकर या कह कर हल्का न हो जाऊ। आज जब वे नहीं रहे तो लेखनी से लिपिबद्ध कर पश्चात्ताप कर रहा हूं। इस समय महाकवि भर्तृहरि की निम्न उक्ति उन पर अक्षरशः घटती है कि—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ?

डा० उपाध्ये ने पिछले चार दशकों मे जैन साहित्य और समाज को जो कुछ दिया है, उसके लिए सारा ही देश चिर ऋणी रहेगा। वे पत्र का उत्तर अवश्य ही और तत्परता से दिया करते थे। उनके द्वारा हजारो पत्र विभिन्न सस्थाओ और व्यक्तियों को लिखे गये है जो जैन-साहित्य के विकास एव शोध के सम्बन्ध मे बड़े ही उपयोगी सिद्ध हो सकते है। मेरा अनुरोध है कि भारतीय ज्ञानपीठ, वीर सेवा मन्दिर या कोई अन्य सस्था या व्यक्ति इस पुण्य कार्य को अपने हाथ मे ले और सारे ही पत्र संकलित कर सुसपादित कराकर प्रकाशित कराए, मेरे पास लगभग १०० पत्र होगे जिन्हे देने को सहर्ष तैयार हू। डा. उपाध्ये ने लगभग बीस बृहत ग्रन्थो का सपादन कर उनकी विशद शोधपूर्ण ऐतिहासिक भूमिकाएँ लिखी है जिनका देश-विदेश मे समादर हुआ है, और वे सब अग्रेज़ी मे है। अत सामान्य भारतीय उनसे पूर्णतया अवगत नही है इसलिए उनका हिन्दी मे अनुवाद कराया जावे। साथ ही उनके लगभग १०० शोधपूर्ण फुटकर निबन्ध भी है जिनका हिन्दी अनुवाद अपेक्षित है। उनका अन्तिम निबन्ध "यापनीय सघ" से संबधित था जिसे उन्होने १७ जुलाई, १९७३ को पेरिस मे होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ओरिएटल काग्रेस मे पढ़ा था। उसका अनुवाद 'अनेकान्त' मे प्रकाशित हो गया है। अभी जुलाई १९७५ मे जब दिल्ली मे उनसे भेंट हुई थी तो उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि उनका लेखन हिन्दी वाले भी पढें। मेरा उपर्युक्त सस्थाओ से अनुरोध है कि वे उनके लेखन को हिन्दी मे प्रस्तुत कराने का उत्तरदायित्व सभाले। मैं अपनी ओर से पूरा-पूरा सहयोग देने को वचनबद्ध हू।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने डा. उपाध्ये के विषय मे ऋग्वेद की निम्न ऋचा का उल्लेख किया है :—

सक्तुम इव तितौना पुनन्तो
यत्रधीरामनसावाचम् अक्रत। (शेष पृ० २३ पर)

भगवान महावीर तथा श्रमण संस्कृति

[] श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक भगवान महावीर का इस वर्ष २५००वां निर्वाण महोत्सव मनाया गया इसमे भारत सरकार का भी योगदान रहा। यह उचित ही है कि जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के २५००वें जन्म-दिवस पर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की थी, उसी भांति श्रमण संस्कृति के अग्रदूत महावीर और उनकी इस देश को देन पर भी विचार-विमर्श हुआ।

प्राचीन काल मे अनेक श्रमण परम्पराए थी। किन्तु उनकी धारा इतनी क्षीण रही कि धीरे-धीरे श्रमण शब्द केवल महावीर और बुद्ध के अनुयायियो तक ही सीमित हो गया। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि "प्राचीन काल मे गोव्रतिक, श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक आदि सैकड़ो प्रकार के श्रमणमार्गी आचार्य थे। उन्हीं मे से एक निर्ग्रन्थ महावीर हुए और दूसरे बुद्ध। औरो की परम्परा लगभग नामशेष हो गई या ऐतिहासिक काल मे विशेष-रूप से परिवर्तित हो गई।"

भारतीय दर्शन के इतिहास से परिचित जन भली भांति जानते हैं कि महावीर की परम्परा बुद्ध से कही अधिक प्राचीन है।

श्रमण शब्द

महावीर की श्रमण परंपरा और उसकी प्राचीनता एव भारतीय संस्कृति मे उसके योगदान को समुचित रूप से समझने के लिए श्रमण शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को जान लेना उचित होगा। यह शब्द श्रम्धातु से बना है जिसके दो अर्थ होते है—श्रांत होना या थकना और तप करना (श्रम तपसि खेदे च)। अभिधानराजेंद्र नामक शब्दकोश मे श्रमण शब्द का अर्थ इस प्रकार समझाया गया है: "श्राम्यति संसारविषयेषु खिन्नो भवतीति वा तपस्यतीति वाश्रमण:"। (जो सांसारिक विषयो मे खिन्न या उदासीन है अथवा तपस्या करता है)।

एक अन्य आचार्य ने कहा है—

परित्यज्य नृपो राज्य श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सबध तपो हि श्रम उच्यते॥

(राजा अपने राज्य को त्यागकर तथा तप से सबध जोडकर महान श्रमण बन जाते है क्योकि तप ही श्रम कहलाता है।)

महावीर अपना राज-पाट त्यागकर तप करने चल दिए थे, यह सर्वविदित है। बुद्ध भी चल दिए थे। इसी-लिए इनको मानने वाले तपस्वी श्रमण कहलाए।

लेकिन श्रमण का अर्थ प्राचीन काल मे दिगम्बर मुनि होता था। इसका प्रमाण वाल्मीकि रामायण की गोविन्द-राजीय टीका मे मिलता है, जहाँ स्पष्ट लिखा है. "श्रमणा दिगम्बारा. श्रमणा वातवसना इति निघंटु." के अनुसार श्रमण का अर्थ दिगम्बर (मुनि) और वायु ही जिसके वस्त्र है ऐसा होता है।

प्राचीनता

वातरशना शब्द श्रमण संस्कृति को कम-से-कम ऋग्वेद काल तक तो पुरातन सिद्ध करता ही है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे लिखा है मुनयो वातरशन: (वायु ही जिनकी मेखला है ऐसे मुनि अर्थात् दिगम्बर साधु)।

प्रसिद्ध विद्वान् डा० हीरालाल जैन ने भागवत पुराण का उद्धरण इस प्रकार दिया है: "बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त-भगवान् परमर्षिभि प्रसादितो नाभ प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरु देव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावतार (भा० पु० ५-३-२०), अर्थात् यज्ञ मे परम ऋषियो द्वारा प्रसन्न किए जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वय श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए इनके रनिवास मे महारानी मरु देवी के गर्भ मे आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण

ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।"

उक्त उद्धरण से भी प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ का संबध श्रमण परंपरा से जुड़ जाता है। इनका भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है। इस प्रकार महावीर जिस श्रमण परंपरा के उन्नायक थे, वह अत्यंत प्राचीन है।

श्रमण, वातरशन के अतिरिक्त इस सस्कृति के साधकों को व्रात्य (व्रतो का पालन करने वाले—अब भी दिगंबर मुनि को पाच महाव्रतो का पालन करना होता है) क्षपणक, आदि से सम्बोधित किया जाता था। व्रात्य शब्द का उल्लेख तो वेदो मे भी आया है। महावीर भी श्रमण मुनि कहलाते है। उन्हें ऋषि के रूप मे कदाचित् ही संबोधित किया जाता है। हम अपनी भाषा मे भी ऋषि-मुनि इन युगल शब्दों का प्रयोग करते है। इसका कारण यह है कि मुनि का अर्थ ही है जो मनन या चिंतन करे अथवा जाने। तप की साधना के द्वारा ही वह ऐसा कर सकता है। जो पूरी तरह जान लेता है वह सपूर्ण ज्ञानी अथवा केवलज्ञानी हो जाता है। तब उस श्रमण को तीर्थंकर कहा जाता है। महावीर इसी प्रकार के श्रमण थे।

मेगस्थनीज ने अपने यात्रा विवरण मे दो सप्रदायों का उल्लेख किया है। वे है—सरमनाई (श्रमण) तथा ब्राचमनाई (ब्राह्मण)। ह्वेनसांग ने भी श्रमणेरस् का जिक्र किया है।

कबीर ने श्रमण साधुओं का उल्लेख शेवड़ा (श्वेतवस्त्र धारी साधु के के रूप मे) किया है। जायसी ने स्पष्ट ही दिगम्बर शब्द अपने सिंहलद्वीप वर्णन मे प्रयुक्त किया है।

उक्त उद्धरणो और विवेचन का सार यह है कि दिगम्बर श्रमण परंपरा ऋग्वेद से लेकर आज तक सतत प्रवहमान रही है। इसके विपरीत बौद्ध परपरा अन्य अनेक प्राचीन परपराओं की भाति लुप्तप्राय हो गई। शायद उसका कारण यह रहा हो कि महावीर की परपरा के श्रमणो ने तपस्या कर आत्मकल्याण के लक्ष्य को नही भुलाया। वे अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भारत के ही अन्दर या बाहर घूमते नही फिरे। भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक मे उनका बड़ा सुदर वर्णन किया है "एकाकी निस्पृह. शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर." (अर्थात् ये लोग एकाकी जीवन बिताते है, किसी से कुछ लेना-देना नहीं रखते, शांतचित्त होते है और हाथ में भोजन करते है)। आज भी दिगम्बर साधु किसी पात्र मे भोजन ग्रहण न कर हस्तसपुट मे ही भोजन लेते है और दिगम्बर होते है।

प्रमुख विशेषतायें एवं उपलब्धियां

श्रमण सस्कृति की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धिया इस प्रकार है।

अहिंसा—न केवल महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने अपितु महात्मा बुद्ध ने भी अहिंसा का उपदेश दिया था। महावीर द्वारा पोषित श्रमण सस्कृति मे जितना सूक्ष्म विश्लेषण और पालन अहिंसा का हुआ है उतना शायद अन्य किसी सस्कृति मे नही हुआ। उसने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया। जिओ और जीने दो का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने यह जरूर कहा कि मन, वचन और कार्य इन तीनो मे से किसी प्रकार से भी हिंसा नही करनी चाहिए। किसी का बुरा सोच लेने मात्र से ही व्यक्ति हिंसा का भागी हो जाता है।

एक प्रश्न प्राय. किया जाता है कि क्या महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा का पूरी तरह पालन सभव है। महावीर ने इसका अत्यंत व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है कि राजा, किसान तथा साधारण गृहस्थ हिंसा से पूरी तरह बच नही सकते। युद्ध होगा तो राजा को अन्यायी का मुकाबला करना ही होगा। किसान हल चलायेगा तो कुछ जीव मरेंगे ही। गृहस्थ भी जब चलेगा तो कुछ प्राणि उसके पैरों तले कुचले जायेंगे। ऐसे लोगो के लिए उन्होंने अणुव्रतो का विधान किया है। ऐसे लोग यह प्रतिज्ञा ले कि वे स्वयं किसी प्रकार की हिंसा जानबूझकर (जैसे अपने आहार के लिए किसी प्राणी का वध करना, आदि) नही करेंगे। यज्ञो के लिए भी उन्होंने हिंसा का विरोध किया था। फलतः यज्ञो मे हिंसा लगभग बंद ही हो गई। श्रमण सस्कृति के साधु के लिए उन्होंने सब प्रकार की हिंसा वर्जित की है। इसे उन्होंने महाव्रत की सज्ञा दी। श्रमण साधु हिंसा का उत्तर हिंसा से कभी नही देगा। यह साधुपद भी कठिन अभ्यास के बाद किसी को प्राप्त हो सकता है।

अहिंसा का एक दार्शनिक आधार भी है जो कि कर्म सिद्धांत से स्पष्ट हो जाता है

कर्मवाद—श्रमण सस्कृति की यह मान्यता है कि यह मान्यता यह ससार अनादि है। इसका कोई कर्त्ता नही है। इसमे जो अनंत प्राणी है, वे अपने अच्छे-बुरे कर्मो के अनुसार विभिन्न योनियों मे भ्रमण कर रहे है। इस प्रकार जीव कर्त्ता है। वह अच्छा-बुरा जो भी करता है उसका फल भोगता है। यदि वह अपनी मुक्ति के उपयुक्त कर्म नही करता तो अच्छी-बुरी योनियो मे घूमता रहता है। जब वह अच्छे कर्म कर केवल आत्म-कल्याण मे अपना ध्यान लगाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है। कहा भी है –

स्वय कर्म करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्माद् विमुच्यते॥

मुक्त हो जाने पर वह दूसरो के लिए केवल आदर्श रूप होता है। वह दूसरो को न कोई वरदान देता है और न कोई दण्ड।

उक्त सिद्धात का सार यह हुआ कि श्रमण सस्कृति की यह मान्यता है कि ससार के समस्त प्राणियो को जीने और अपना विकास करने का पूरा अधिकार है उन्हे चूंकि अपने प्रयत्नो से आत्मा से परमात्मा बनना है, अत उनका कर्त्तव्य है कि वे न केवल एक दूसरे की रक्षा करें और इस प्रकार एक-दूसरे को अपनी आध्यात्मिक उन्नति का अवसर दें, बल्कि एक-दूसरे से सहयोग करें।

सामाजिक क्षेत्र मे उक्त सिद्धात का यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी जन्म से ऊँच-नीच नही होता। अपने कर्मों के कारण मनुष्य ऊची-नीची स्थिति को प्राप्त होता है। इसीलिए श्रमण सस्कृति अस्पृश्यता को नही मानती।

विश्व मैत्री—समस्त प्राणियो की अहिंसा के कारण श्रमण सस्कृति विश्वमैत्री की प्रबल समर्थक है क्योकि इसी मे सबका हित है।

पुनर्जन्म मे विश्वास—जीव जब तक कुकर्म करता रहेगा तब तक उसे अपने कर्मो के अनुसार जन्म लेते रहना पड़ेगा। इस प्रकार जब तक कर्मो की शृखला से वह छूट नही जाता तब तक उसका जन्म होता रहेगा—यह श्रमण संस्कृति का एक मूल सिद्धात है।

अनेकांतवाद—दर्शन के क्षेत्र मे श्रमण सस्कृति की महत्व पूर्ण उपलब्धि अनेकातवाद है। उसके अनुसार वस्तु मे अनेक अत या गुण होते है। किसी एक ही अत पर जोर देने से सारे बखेड़े होते है। साधक को एकागी दृष्टिकोण से बचना चाहिए। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति एक ही समय मे पिता, मामा, नाना, पति आदि हो सकता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु मे विभिन्न दृष्टिकोणो से विभिन्न प्रकार की विशेषताए एक ही समय मे सभव हो सकती है। आधुनिक भाषा मे यही सापेक्षवाद है। इस प्रकार, इस सिद्धात द्वारा किसी भी पदार्थ के अनेको धर्मों या गुणो का सामजस्य ऊपरी तौर पर विरोधी दिखाई देने पर भी किया जा सकता है। मुनि विद्यानद जी ने इस सिद्धात को बड़ी सरल भाषा मे इस प्रकार समझाया है "जब हम कहते है कि आत्मा नित्य है तब हमारा दृष्टिकोण भौतिक आत्मा—द्रव्य पर होता है, क्योकि आत्मा भौतिक द्रव्य है, अत वह न तो अस्त्र-शस्त्रो से छिन्न-भिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। वह अनादि काल से अनन्त काल तक बना रहता है। परन्तु जब हम सासारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव-दशा) का विचार करते है तो आत्मा अनित्य सिद्ध होती है क्योकि आत्मा कभी मनुष्य-भव मे होती है, कभी मर कर पशु-पक्षी आदि हो जाती है। इस तरह एक ही आत्मा मे नित्यता भी है और अनित्यता भी। पृ० ८३, तीर्थंकर वर्धमान)

तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे अनेकातवाद का रूपातर **स्याद्वाद** है। यह श्रमण सस्कृति का प्रमुख सिद्धात है। इसके अनुसार, किसी पदार्थ का कथन सात प्रकार से किया जा सकता है। विस्तार मे न जाकर इस तर्क के कुछ सोपान है : वस्तु है, वस्तु नही है, वस्तु का कथन सभव नही है, इत्यादि। उदाहरण के लिए, हिमालय उत्तर मे है, हिमालय उत्तर मे नही है (जब हम चीन के भूगोल को ध्यान मे रखे तब)। इसी प्रकार, यह कहा जा सकता है कि हिमालय का ठीक-ठीक वर्णन सभव नही है (अवक्तव्य)। यह बात भूतत्व की दृष्टि से विचार करने पर कही जा सकती है। स्याद्वाद मे जो 'स्यात्' लगा है उसका अर्थ कुछ लोग शायद करते है और उसे सशयवाद बताते है

किन्तु उसका सही अर्थ डा० हीरालाल जैन के शब्दो में इस प्रकार है : "व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार स्यात् अस् धातु का विधिलिंग अन्यपुरुष एक बचन का रूप है जिसका अर्थ होता है ऐसा हो, एक संभावना यह भी है।" वास्तव में, स्याद्वाद संशयवाद नही अपितु समन्वयवाद है।

उक्त दोनो वादो का एक सुपरिणाम श्रमण संस्कृति की सहिष्णुता और उदारता के रूप मे हुआ है। श्रमण मत के अनुयायी राजाओ ने अन्य मतावलम्बियो के साथ अन्याय नही किया। श्रमण गृहस्थो ने सांप्रदायिक उत्पात नहीं किए। वे सदा समदृष्टि बने रहे। वास्तविक श्रमण या मुनि तो सहिष्णुता के अन्यतम उदाहरण होते रहे है। उनके अचेलकत्व (दिगबरत्व) आदि के कारण उन पर पत्थरों आदि की वर्षा भी यदि की गई, तो उन्होंने शान्तिपूर्वक उसे झेला। कुछ ने तो अपने प्राण भी दे दिए किंतु हिंसा का उत्तर हिंसा मे नही दिया। यह श्रमण की पराकाष्ठा है।

सहिष्णुता के एक ज्वलंत उदाहरण के रूप मे कवि आनंदघन (श्वेतांबर जैन संप्रदाय के एक महात्मा) की एक रचना दृष्टव्य है—

राम कहो रहमान कहो कोऊ कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
निज पद रमे राम सो कहिए रहम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिए महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
वह विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥

आर्थिक क्षेत्र मे, श्रमण संस्कृति की देन अपरिग्रहवाद का सिद्धात है। इसका सरल अर्थ यह है कि व्यक्ति को लोभ नहीं करना चाहिए और उसके पास इतना स्वय हो हो जितना अत्यंत आवश्यक हो। राजा और गृहस्था आदि की स्थिति के अनुसार इसका परिणाम भिन्न होगा ही। इन लोगो के लिए दान की मुख्य व्यवस्था श्रमण संस्कृति मे है। कम्युनिज्म भी ऐसी स्थिति की कल्पना करता है जब मनुष्य केवल अपनी आवश्यकता मात्र को ही अपना लक्ष्य बनाएगा और ऐसे समाज मे राज्य की भी आवश्यकता नही रहेगी। आखिर आवश्यकता से अधिक संग्रह की प्रवृत्ति हो तो चोरी, हिंसा, असहिष्णुता, युद्ध (देशों के बीच बाजार पाने की लड़ाई) आदि के लिए उत्तरदायी है। जो तपस्वी श्रमण होते है उनके पास तो कुछ भी नहीं होता। एक लगोटी भी नही होती। कठिन-से-कठिन शीत मे भी वे पुआल पर तनिक सो लेते है। शेष समय आत्मध्यान मे लगाते है। हा उनके पास दो वस्तुएं होती है—कमण्डलु और मोर के पखो से बनी पिच्छि जिसके लिए मोर को सताना नही पडता। उसके पंख यू ही पड़े मिल जाते है। इस प्रकार श्रमण अपरिग्रहवाद का सिद्धात एक स्वैच्छिक समाजवाद का सिद्धात सिद्ध होता है।

यह तो सर्वविदित है कि श्रमण संस्कृति का सर्वाधिक स्पष्ट लक्षण तप है। यह तप कितना कठिन होता है यह किसी से छिपा नही है। अचेलकत्व या दिगम्बरत्व एक अत्यत ही कठिन साधना है। विरले ही उसे साध या निभा सकने की सामर्थ्य रखते है। वास्तव मे वह योग साधन है। हर देश, काल और ऋतु मे उस पर दृढ रहना एक महासाधना ही तो है। उस तक पहुचने के लिए श्रमण संस्कृति म प्रतिमाओं (सीढियो) का विधान है। एकाएक कोई भी अचेलक नही हो जाता। ऐसे महायोगी अहिंसक श्रमण के समक्ष परस्पर वैरी भी अपना वैर-भाव भूल जाते है। महावीर की उपदेश सभा के बारे मे यह कहा जाता है कि उसमे शेर और गाय जैसे पशु भी निश्शक उपस्थित रहते थे। पतजलि के योगदर्शन मे कहा गया है— "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।" (जो अहिंसक है, उसके समीप किसी की वैर-भावना नही रहती : मुनि विद्यानंदजी द्वारा उक्त पुस्तक मे उद्धृत)। सक्षेप मे कहा जाए तो श्रमण संस्कृति निवृत्तिमार्गी है।

तप का आवश्यक अग चरित्र है। श्रमण संस्कृति मे उसकी ही प्रधानता है। उसमे बाह्य क्रिया-कर्म या कर्म-कांड के लिए स्थान नही है। उसमे आत्मसाधना पर ही अधिक बल है। चरित्र का पालन बिना सम्यक् ज्ञान के सभव नही। इस कारण श्रमण परपरा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य की त्रिवेणी को महत्व देती है। उसे मोक्ष का मार्ग कहा गया है। (सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणिमोक्षमार्गः)।

सृष्टि के विषय मे श्रमण संस्कृति की मान्यता है कि वह अनादि है। उसका कोई कर्त्ता नही है। यदि कोई कर्त्ता हो

तो उसके प्रयोजन और कुछ प्राणियों को सुख और कुछ को दुःख, आदि नाना शंकाएं उत्पन्न होती है और यह तथ्य उभरता है कि जीव सृष्टिकर्त्ता की अनुकम्पा पर ही सदा आश्रित रहेगा। किन्तु श्रमण संस्कृति हर आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार देती है। ऋग्वेद में भी कहा गया है—

को अद्या वेद क इह प्रवाचेत्।
कुत अजाता कुत इयं विसृष्टि: (१०-१२९-६)

(अर्थात् कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहा से उत्पन्न हुई, डा० हीरालाल जैन द्वारा उद्धृत)।

भाषा के क्षेत्र मे श्रमण सस्कृति को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने बोल-चाल की भाषाओं अथवा लोक भाषाओ को ही सदा अपनाया। महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी मे दिए। अर्धमागधी प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत मे विपुल श्रमण साहित्य की रचना हुई, जो कि अब धीरे-धीरे प्रकाश मे आ रही है और विश्वविद्यालयों मे शोध-प्रबन्धों का विषय बन रही है।

व्याकरण और कोश कला के क्षेत्र में भी श्रमण पीछे नही रहे। जैनेन्द्रव्याकरण, शब्दानुशासन (शाकटायन), हेमचन्द्राचार्यकृत सिद्धहेमशब्दानुशासन, आदि प्राकृत कोश 'पाइयलच्छीनाममाला' और हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' आज भी सैकडो हिंदी शब्दो की व्युत्पत्ति सिद्ध करने मे सहायक है।

वास्तुकला के क्षेत्र मे श्रमण सस्कृति के आज भी विद्यमान कुछ प्रमुख कीर्तिस्तभ इस प्रकार है– खजुराहो के जैन मदिर आबू के जैन मदिर, श्रवणबेलगोला (मैसूर के निकट), की गोम्मटेश्वर की ५७ फीट ऊंची एक हजार वर्ष प्राचीन एक ही शिला को काटकर बनाई गई प्रतिमा, खडवा के पास स्थित बडवानी नामक स्थान के पास बावनगजाजी के नाम से प्रसिद्ध ऋषभदेव की ८४ फीट ऊची प्रतिमा जो कि पहाड मे ही उत्कीर्ण की गई है, चित्तौड का कीर्तिस्तभ, बादामी (दक्षिणी भारत), खडगिरि, उदयगिरि (उड़ीसा) और ग्वालियर की गुफाए।

बी० १/३२४, जनकपुरी, नई दिल्ली-५८

(पृ० २० का शेषाश)

अत्र सखायः सख्यानि जानते।
भद्रैषां लक्ष्मीरनिहिताधिवाचि।

और साथ ही लिखा है कि: Dr. Upadhye is a past master in the art of critical editing. He combines in himself the learning oft he oriental pandit and the agues eyed critical faculty of the new scholar, with which he approaches his task. By a system of checks and counter-checks evolved for himself he is able to present a thoroughly reliable text of the old classics for which the Mss. material is sometimes scanty

Dr Upadhye has trained himself in the discipline of making tbe best use of his summer and winter vacations. He loads them with strenuous labour andextracts from them a beautiful harvest He seems to suckjoy from this hobby, which is but another name for स्वान्त सुखाय application, or what is more ancient terminology, was designated as the निष्कारण धर्म prescribed for an entellectual.

डा० उपाध्ये के विषय मे देशी व विदेशी विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वह उनके सुसपादित ग्रन्थो मे पठनीय है।

अब से लगभग १३ वर्ष पूर्व 'सन्मति सदेश' मे डा. उपाध्ये का जीवन परिचय मैंने ही लिखा था। आज उन्हें अन्तिम श्रद्धाजलि प्रस्तुत करते हुए हृदय बड़ा गद्गद् और दुख मे अभिभूत है। मैं अपने अतरग की पीड़ा को शब्दों म प्रकट नही कर पा रहा हू पर ज्ञान की जो पावन ज्योति बुझ गई है, उसे अन्तिम प्रणाम करता हुआ हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करता हू। हे महात्मन्। जहाँ भी रह, सुख-शान्ति से ज्ञान के पथ को आलोकित करते रहे।

"शुभास्ते सन्तु पन्थान."

श्रुत कुटीर,
६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली

मालवा के शाजापुर जिले की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएँ

☐ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

मालव प्रदेश जैन धर्म के विकास एवं प्रसार का प्रमुख स्थल रहा है। यहाँ मौर्यवंशीय शासक सम्प्रति ने जैन धर्म व संघ के चतुर्विध विकास में अत्यधिक श्रम किया और अनेक श्रमणों को राज्याश्रय देकर जैन धर्म के उत्थान में अपूर्व योगदान दिया। ७वीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक मालवा में अनेक जैन मंदिरों और तीर्थंकर-प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। संपूर्ण मालव प्रदेश की तीर्थंकर-प्रतिमाओं का एक अपूर्व मूर्ति-संग्रहालय मालव-प्रान्तीय जैन-सभा ने उज्जैन के जयसिंहपुरे में स्थापित किया और विगत ४० वर्षों में एकत्रित ५१० मूर्तियों का जैन संग्रहालय बनाया। यह मालवा की जैन-प्रतिमाओं के शोध का केन्द्र है और प्रतिवर्ष हजारों पर्यटकों द्वारा देखा जाता है। यहाँ गुना, बदनावर, धार, ईसागढ़, गोंदलमऊ, मक्सी, आष्टा, सोनकच्छ, देवास, जवास, इंदार, इंदौख, झार्डा की जैन प्रतिमाएँ एकत्रित हैं। इनका केटलाग क्रमांकीकरण, आकार, मूर्ति-शिल्पगत विशेषताएँ, लक्षण, वाहन, तीर्थंकर-पहचान, निर्माणकाल और पादपीठ पर अभिलेख आदि का कार्य मैंने उज्जैन के ही उत्साही पं० सत्यंधर कुमार सेठी के साथ मिलकर पिछले ७ वर्षों में पूर्ण किया है। संपूर्ण भारत के जैन अवशेषों के आकलन में इस संग्रहालय का अपना विशिष्ट स्थान है।

मालवा का शाजापुर जिला अपनी जैन पुरातात्विक संपदा में अत्यन्त वैभव-संपन्न है। भगवान महावीर के २५००वें वर्ष के अवसर पर पं० सत्यंधर कुमार सेठी और मक्सी जैनतीर्थ के मंत्री हुकुमचंद जी झांझरी ने शाजापुर जिले के जैन अवशेषों के सर्वेक्षण की विस्तृत योजना बनाई और हमने इस दिशा में सर्वेक्षण किया। इनमें जैन तीर्थ मक्सी, जामनेर, पचोर, सुन्दरसी, आष्टा, सखेडी, सारंगपुर, शाजापुर, शुजालपुर आदि स्थानों पर जाकर जैन अवशेषों को खोजा। अनेक जैन अवशेष सर्वप्रथम प्रकाश में आये। जैन मूर्तिकला का उनमें चरमोत्कर्ष तो है ही, परन्तु परमार-काल के मूर्तिशिल्प में इनकी निर्मिति विशेष आकर्षक एवं शोधात्मक है। यहां पर इन्हीं अप्रकाशित जैन अवशेषों पर विचार किया जा रहा है।

मक्सी या श्री मक्सी जी जैन तीर्थ उज्जैन से ३० किलोमीटर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित है। यहाँ पर विशाल जैन मंदिर है। आगे का स्थापत्य मुगलकालीन है और बुर्जियाँ बनी हुई हैं। द्वार की मेहराबें मुस्लिम कला का नमूना पेश करती हैं। किंवदंती है कि मूर्तियों और मंदिरों को ध्वस्त करता हुआ, महमूद खिलजी का सेनापति, जब इधर से गुजरने वाला था, तब यह जैन तीर्थ व मंदिर बच जाय, इस विचार से रातों रात मस्जिद के प्रवेश द्वार की भांति स्थापत्य की निर्मिति की गई और आक्रान्ता को दूर से ही दिखा दिया गया कि यह मस्जिद है। आज भी यह प्रवेश द्वार, बुर्जियां एवं गुम्बद स्थित है और बाहर से देखने पर मस्जिद का ही भ्रम पैदा करता है।

श्री मक्सी जी जैन तीर्थ के रूप में विख्यात है। १२वीं-१३वीं शताब्दी से ही यह अतिशय क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। यहाँ प्रतिवर्ष विशाल मेला लगता है। उज्जैन के सिंधिया प्राच्य शोध-संस्थान (यहां २० हजार हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं) से एक जैन हस्तलिखित

ग्रंथ "शीलरस रास" देखने मे आया है। इसके ग्रथकार श्री विजय कुशल ने स० १६६१ मे मक्सी तीर्थ मे इसे पूर्ण किया। इसकी एक प्रति को 'गुजरात ना जैन कवि', भाग २, पृ. ८८३ मे प्रकाशित किया गया है। उज्जैन की प्रति मे 'मगसी जी को स्तवन' अलग भाग है और इसमे 'मक्सी माहात्म्य' भी दिया गया है और इस स्थान को अतिशय क्षेत्र कहा गया है। निश्चय ही २०० वर्ष की परम्परा को इस हस्तलिखित ग्रन्थ मे लिपिबद्ध किया गया है। अतः १३-१४वी शताब्दी मे मक्सी एक जैन तीर्थ के रूप मे विख्यात था। यहाँ लगभग ५८ जैन मूर्तिया देखने मे आई (जिनमे से २७ पर अभिलेख है) जो १२वी से १६वी शताब्दी के मध्य निर्मित हुई थी। जैन गच्छ, भट्टारक, सघ एव गुरु शिष्यावली और उनके नाम यहाँ से निर्मित जैन हस्तलिखित ग्रथो मे मिलता है। महावीर, पार्श्वनाथ, आदिनाथ, श्रेयासनाथ और सुमतिनाथ की सलक्षण प्रतिमाए है। वाहन, लाछन एवं यक्ष-यक्षिणी भी जैन प्रतिमा-विज्ञान के आधार पर है। २४ तीर्थकरो के एक पद-चिह्न-प्रस्तर-फलक पर परमा-कालीन लिपि मे सभी तीर्थकरो के नाम है और अन्त मे इस शिल्प की निर्मिति का समय विक्रम संवत १३५० दिया गया है। जैन पद्मावती, धातुयंत्र एवं मानस्तंभ यहा की अन्य जैन पुरातात्विक उपलब्धियाँ है। मदिर मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही समान रूप से आते है। यहाँ संवत १५४८ मे श्री जीवराज पापड़ीवाल द्वारा निर्मित संगमरमर प्रतिमा अभिलेख-युक्त है।

शाजापुर जिले की डाकोदिया मडी के सुन्दरसी ग्राम से लगभग ५२ जैन प्रतिमाएँ प्रकाश मे आई। यहा उन्हे एक स्थान पर एकत्रित कर दिया गया है। वैसे पूरा ग्राम एक टीले के पास बसा है जिसमे से प्रतिवर्ष तीर्थकर प्रतिमाएँ, जैन मंदिर के भग्न भाग में बरसात के बाद दिखाई पड़ जाती हैं। यहा किसी समय विशाल जैन मन्दिर अवश्य ही रहा होगा। पार्श्वनाथ, महावीर, जैन पद्मावती और मानस्तम यहाँ सुरक्षित है जो परमार कालीन मूर्ति-शिल्प से मडित है। केवल सुन्दरसी की ही जैन प्रतिमाओ पर अलग शोध-लेख अपेक्षित है। यहा पर धातु-प्रतिमाएँ १५१० और १४२५ विक्रम सवत की मिली है। सुमतिनाथ की एक पद्मासन मे और महावीर की एक खड्गासन रूप की प्रतिमा भव्य है। वे भी १३वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे निर्मित हुई थी। सुन्दरसी की प्रतिमाएँ विशाल है तथा काले पत्थर मे निर्मित है। १३ फीट ऊँची पद्मासन मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्वत ही अपनी उत्कृष्टता एव भव्यता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार सखेडी, जामनेर और आष्टा मे भी लगभग १०३ जैन अवशेषों को देखा गया एव उनकी सूची बनाई गई।

पचोर मे एक ऐसी गढी देखने मे आई जो जैन भग्नावशेषो से भरी पडी है। लगभग ७८ जैन अवशेष तो हमने सूचीबद्ध किये। अन्य मूर्तियाँ भी समीप के घरो मे जड ली गई है, उन्हे नही लिख सके। यहा की एक ३ फुट × २ फुट जैन प्रतिमा को हम लोग उठा कर भी लाये और अब उसे जैन सग्रहालय, जयसिहपुरा, उज्जैन मे नामपट्ट, प्राप्ति स्थान एव आकार के साथ प्रदर्शित भी कर दिया है। शाजापुर और सारंगपुर मे भी लगभग २२ जैन प्रतिमाएँ देखी जो अभी तक अप्रकाशित थी। इनमे से ७ पर चौदहवीं-पन्द्रहवी शताब्दी के अभिलेख है। इसी प्रकार एक प्रतिमा (१२१० विक्रम संवत की) शुजालपुर के एक ग्राम मे देखने को मिली।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि परमार युग मे शाजापुर जिला जैन धर्म का एक केन्द्र था और मालवा का प्रमुख जैन तीर्थ था। यहा की जैन मूर्तियों को धीरे-धीरे प्रकाशित एव सगृहीत किया जाना चाहिये।

४ धन्वन्तरि मार्ग,
गली नं. ४, माधवनगर,
उज्जैन (म प्र)

तीन अप्रकाशित रचनाएं

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिंसिपल, दिल्ली

इस वर्ष (जून ७५) ग्रीष्मावकाश में मध्यप्रदेश के विभिन्न गांवों एवं नगरों में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। लगभग दो-ढाई हजार किलो मीटर की यात्रा की होगी। अपनी आदत के अनुसार, जहा भी जाता हूं, पाडुलिपियो की तलाश किया ही करता हू और जहा जो कुछ उपलब्ध होता है उसे ग्रहण करने का भरपूर प्रयत्न करता हू। अबकी बार सेठ मिश्रीलाल जी करेरा के सौजन्य से स० १७०१ का लिपिबद्ध 'बनारसी विलास' सुन्दर, सुवाच्य लिपिवाला कलात्मक ढग से लिखा हुआ प्राप्त हुआ। साहु मोतीलाल जी दुर्जन लाल जी से स० १८०० के लगभग की लिखी नेमिचन्द्रिका और सेठ राजाराम जी बांमगढ़ वालों से एक बहुत मोटा गुटका प्राप्त हुआ जिसमें सैकडों पूजायें, स्तोत्र, कवित्त, विनतिया आदि सगृहीत हैं।

इस गुटके की लम्बाई-चौडाई ८"×६" है। प्रत्येक पन्ने में १२-१२ पंक्तियां है और प्रत्येक पक्ति मे ३०-३० अक्षर हैं। इस गुटके का पूर्णतया निरीक्षण करने पर भी इसका लिपिकाल कही नही मिला। सभव है कि आदि अत के फटे हुए पन्नों मे कही लुप्त हो गया हो, पर चूकि इसमे प० बनारसीदास जी की रचनाए सगृहीत है, अतः इसके लिपिकाल की प्राचीनता स० १७०० के लगभग तो निश्चित रूप से पहुच ही जाती है। गुटका बहुत ही जीर्ण स्थिति मे है। इसके बहुत-से पन्ने काट कर निकाले गये है। बहुत-से पन्ने अत्यधिक जीर्णशीर्ण दशा मे है और कुछ बहुत ही अस्त व्यस्त दशा मे है। पत्र सख्या भी कई जगह बदलती है। इसमे कुल पत्रो की सख्या लगभग एक हजार होगी और छोटी-मोटी रचनाए लगभग दो सौ से अधिक हैं। इनमे से सलग्न तीन रचनाए —(१) दशलक्षणी कवित्त, (२) दाणदसी और (३) वर्द्धमानस्तोत्र सवैया अप्रकाशित और उच्चकोटि की रचनाए प्रतीत हुई। अत उन्हें यहा अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

(१) दशलक्षणी कवित्त—दशलक्षणी के बारह कवित्त बडे ही सरस और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत हैं। प्रत्येक धर्म पर एक एक कवित्त हृदय को छू जाने वाला है। इनके कर्त्ता का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नही होता है, पर हर कवित्त में माया परदौनु शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे आभास होता है कि इनके कर्त्ता कोई मायासिंह, माया प्रसाद या माया राम नाम के कवि होंगे और परदौनु इनका अपना उपनाम, उपाधि या विशेषण जैसा कुछ प्रतीत होता है। जो भी हो, पर कवित्तों को देखकर ऐसा लगता है कि माया परदौनु जी को अपने समय का कोई बड़ा ही प्रतिभाशाली सशक्त कवि होना चाहिए और इनकी कई अन्य भी कृतियां उपलब्ध होने की कल्पना की जाती है। यह सब शोध और खोज का विषय है। ग्रन्थागारो को कुछ बारीकी से थथोलने पर कवि के विषय मे कुछ और जानकारी प्राप्त हो सकेगी। फिर भी, सहृदय पाठक इन कवित्तो की अर्थगरिमा और रचनाशैली से प्रभावित हुए बिना न रह सकेंगे। ऐसे सुन्दर और सरस एवं रोचक कवित्त प्रायः सुलभ नही होते है, कृपालु पाठकों को कवि माया परदौनु के विषय मे कुछ जानकारी उपलब्ध हो तो मुझे अवश्य ही सूचित करें। मैं उनका अत्यधिक आभार मानूगा।

(२) दाणदसी—दाणदसी चौदह छंदों की छोटी-सी रचना है जिसमे चार दोहे और दस चौपाइया है। इन छन्दो मे कवि ने गो, स्वर्ण, दासी, भवन, गज, तुरग, कलत्र, तिल, भूमि और रथ इन दश दानो का जो वर्णन शास्त्रो मे मिलता है, उसका आध्यात्मिक दृष्टि से बडा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उपर्युक्त दानो का जो विवेचन इन छदों मे किया गया है वह निश्चय ही बडा श्रेयस्कर और अध्यात्म प्रेमियो को आकर्षित करने वाला है। इस रचना के

रचयिता का कुछ भी अता-पता नही मिलता है जो निश्चय ही बड़ी चिन्ता का विषय है।

(३) **श्री वर्द्धमानस्तोत्र**—यह रचना आठ सस्कृत छदों मे रची गई है। रचना सरल और प्रभु के गुणगान से भरपूर है। भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव पर जहा भगवान् महावीर से सम्बन्धित सभी छोटी-मोटी रचनाओं का सकलन हुआ है उसमे इसे भी सगृहीत किया जा सकता है। प० द्यानतराय जी विरचित "नरेन्द्र फणीन्द्रं सुरेन्द्र अधीश " इत्यादि पार्श्वनाथ स्तुति की भांति ही यह स्तोत्र संस्कृत बहुल छंदों मे विद्यमान है। इसके कर्त्ता का भी कोई नामोल्लेख नही मिलता है। परन्तु यह सर्वथा अप्रकाशित है, अत महत्त्वपूर्ण भी है।

ये तीनो रचनाएं सर्वथा अप्रकाशित है और साहित्यिक एव धार्मिक दृष्टि से बहुत ही उपादेय एव श्रेयस्कर है। कृपालु पाठक इनका रसास्वादन करें और इनके विषय मे तथा इनके कर्त्ताओ के विषय मे कुछ जानकारी हो तो प्रकाश मे अवश्य ही लाएं तथा मुझे भी सूचित करें। मैं अत्यधिक अनुगृहीत होऊंगा।

दशलाक्षणी कवित्त

कुण्डलिया—जिनवर मुख अरविन्द वानी विविध विसाल।
दशलक्षण को धर्म जिहि वरण्यौ विविध रसाल॥
वरण्यौ विविध रसाल हाल भवजल को हरता।
बदत देव अदेव भूरि शिव पद करता॥
चिन्तामणि को पाई जाइ डारहु जिन तिणवर।
कह माया परदौनु करहु भाष्यौ जो जिनवर॥१॥

उत्तम क्षमा—तीरथ दान करो पय पान धरौ उर ध्यान लागतु नीकौ।
जो तप कोटि करौ वन में वसितो सब और अकारथ फीको॥
धूम धरौ धर धूरि जटा सिर भूमि परौ तनु के तपसी को।
के व्रत और कहै परदौनु क्षमा बिन पावकु जातु न जी को॥२॥

मार्दव—जीति कै मान कषाय निरतर अतरभूत दया सुधरेंगे।
भाइ तौ कै समता सब सौ पुनि चाइ सौ ते भव लोकु तरेंगे।
साधि सबै परमारथ को परदौनु कहै सब काज सरेंगे॥३॥

आर्जव—आरज सुद्ध प्रनाम करौ तजिकै सब ही हिय की कुटिलाई।
जो सिव कौ सुख चाहतु हो सुर लोक यहै सब लोक बड़ाई॥
भूलि कहूं भ्रमते भ्रमते भटके भव श्रावक को कुलि पाई।
सो व्रत दान बिना परदौनु तिना करि सब त विसराई॥४॥

सत्य—सांचहि ले पद पाइ सुरप्पति साचहि ते गुण ग्यान गहैगो।
सांचहि ते सुर बंदत आइ कै सांचहि ते यस पूरि रहेगो॥
सांचहि ते उपजे कल कीरति सांचहि ते सब साधु कहैगो।
बोलहु साच कहै परदौनु सु सांचहि त सुरलोक लहेगो॥५॥

शौच—सौच रहै अभि अतर बाहर उज्जल नीर सरीर पखारत।
पूजत प्रात जिणेश्वर को चदन सौ घसि केसर गारत॥
अक्षत फूल णये पकवान लै दीपक धूप महाफल भारत।
ये परदौनु कहै व्रत भाव सों आपु तरै अरु औरनि तारत॥६॥

संजम—संजमु है व्रत को महि मंडनु संयमु है यति मारग को धनु ।
संजमु है सब जोगु को साधनु संयमु है पुनि जोतनु को मनु ॥
संजमु है परदौन सु मारगु सयमु है सुचि राखण को तनु ।
सजमु थे सुर के सुख पावत संजमु सौ निबहै शिव सौपनु ॥७॥

तप—जा तप थे पद होइ सुरप्पति या तप थे निरवान चढ़ैगो ।
जा तप थे क्रम इंद्रनि जीति कै जा तप थे अति ध्याण बढ़ैगो ॥
जा तप थे परदौनु कहै उर अंतर केवल ज्ञानु रहैगो ।
ता तप को मन साधि रे साधि वृथा कत और उपाधि बढ़ैगो ॥८॥

त्याग—त्यागत सग परिग्रह को पुनि आदर सौ मुनि दान दये है ।
औषध ज्ञान अहार अभे सब दे गति चारि के पार भये है ॥
पाइ(य) पखारत साधुनि के चरनोदक पावन शीस भये है ।
कीरति कै जग कीरति गाइ सुरप्पति के सुख जाइ लए है ॥६॥

आकिचन—आकिचन कचने ज्यौ कसि क लखि कै रुचि सो उर अतर आनत ।
उज्जल ज्ञान में आतम ध्यान में देह सों भिन्न सदा करि जानत ॥
जे विधि सौ व्रत कौ प्रतिपालत ले रत्नत्रय को मन आनत ।
जे जग में जनमें परदौन तिन्हे शिवरूप सदा हम जाणत ॥१०॥

ब्रह्मचर्य—सील के सागर ज्ञान के उजागर नागर चारित्त चित्त धरेगे !
आतुर ह्वै मन कै वच कै तन कै करि लै भवलोकु तरेंगे ॥
माया कहै तिन्हि के गुण लै तिन्हि कै पद बदन देव करेगे ।
बभ बलै तिन्हि कै ग्रह सुदरि ते सिव सुदरि जाइ बरेगे ॥११॥

कलसा—जे नर धर्म करै दश लक्षण तत्क्षण ते भव लोकु तरेगे ।
कै समता सब जीवनि सौ परदौनु कहै ममिता न गहैगे ॥
ताप तपै न कहूं भव तापनि पाप प्रवाहनि में न बहैंग ।
मौन रहे निरवासन ह्वै पद्मासन ह्वै धरि ध्यान रहेगे ॥१२॥

॥ इति दशलक्षणीक कवित्त संपूर्ण ॥

दानदसी

गो सुवर्ण दासी भवन गज तुरग परधाण ।
कुल कलत्र तिल भूमि रथ ए पुनीत दस दान ॥१॥
अब इनको विवरन कहौ भावित रूप बखानि ।
अलख रीति अनुभव कथा जो समुझै सो दानि ॥२॥

चौपाई—गो कहिए इन्द्री अभिधान बछरा उमग भोग पय पान ।
जो इनके रस मांहि न राचा, सो सवच्छ गोदानी साचा ॥३॥
कनक सुरग अछर वानी तीनों सबद सुवर्ण कहानी ।
जो त्यागै तीनिहु की साता सो कहिए सुवर्ण को दाता ॥४॥
पराधीन पररूप गरासी यौ दुर्बुद्धि कहावै दासी ।
ताकी रीति तजै जब ज्ञाता तव दासी दातार विख्याता ॥५॥

तन मंदिर चेतन घर वासी ज्ञान दृष्टि घट अंतर भासी ।
समुझै यह पर यह गुण मेरा मदिर दाण होइ तिहि वेरा ।।६।।
अष्ट महामद थुर के साथी एक कर्म कुदिसी के हाथी ।
इन्ह को त्याग करै जो कोई गज दातार कहावै सोई ।।७।।
मन तुरंग चढ़ि ज्ञानी दौरे लखं तुरंग और में औरे ।
निज दृग को निज रूप गहावै वहै तुरगम दान कहावै ।।८।।
अविनासी कुल के गुण गावै कुल कलत्र सद्बुद्धि कहावै ।
बुद्धि अतीता धार ना फैली वहै कलत्र दान की सैलो ।।६।।
ब्रह्म विलास तेल खलि माया मिश्र पिड तिल नाम कहाया ।
मिश्र पिड रूप गहि दुविधा मानी दुविधा तजै सोइ तिल दानी ।।१०।।
जो विवहार अवस्था होइ अंतर भूमि कहावै सोई ।
तजि व्योहार जो निहचै मानै भूमिदान की विधि सो जानै ।।११।।
सुकल ध्यान रथ चढ़ै सयाना मुकति पथ को करै पयाना ।
रहै अजोग योग सौ यागी वहै महारथ रथ का त्यागी ।।१२।।

दोहा—ए दश दान जु मैं कहै ए शिव सासन मूल ।
ज्ञानवंत सूछिम गहै मूढ़ विचारे शूल ।।१३।।
एई हित वित जाण को एई अहित अजान ।
राग रहित विधि सहित हित अहित आन को आन ।।१४।।

।। इति दाणदसी समाप्ता ।।

अथ वर्द्धमान स्तोत्र

सजलजलधिसेतुर्दुखविध्वंसहेतुर्निहतमकरकेतुर्वारितानष्टहेतुः ।
क्वणित समरहेतुर्नष्टनिःशेषधातुर्जयति जगति चन्द्रो श्रीवर्द्धमानो जिनेन्द्रो ।।१।।
समयसदनकर्त्ता सार ससार हर्त्ता सकल भुवन भर्त्ता भूरि कल्याण धर्त्ता ।
परम सुख समर्त्ता सर्व सदेह हर्त्ता जयति जगति चन्द्रो श्री वर्द्धमानो जिनेन्द्रो ।।२।।
कुगतिपथभनेता मोक्षमार्गस्य नेता प्रकृति गहणहता तत्त्वसंघात नेता ।
गगन गमनगता मुक्तिरामाभिकता ।। जयति० ।।३।।
सजल जलद नादो निर्जिताशेषवादो यति चरनुतपादो वस्तु तत्वं जगादो ।
जयति भविकपादोऽनेककोपाग्निकदो ।। जयति० ।।४।।
प्रबलबलविसालो मुक्तिकाता रसालो विमलगुणमरालो नित्यकल्लोलमालो ।
विगत सरणशीलो धारिता नित्यसालो ।। जयति० ।।५।।
मदन मद विदारी चारु चारित्र धारी नरक गति निवारी स्वर्ग मोक्षावतारी ।
विदित त्रैलोक्यसारी केवलज्ञानधारी ।। जयति० ।।६।।
विषय विष विभासो भूरिभापानिवासो गत भवभयपासो कीर्तिवल्ली निवासो ।
करण सुख निवासो वर्ण सपूर्ण तासो ।। जयति० ।।७।।
वचनरचनधीरः पापधूलिसमीरः कनकनिकषगौरः क्रूरकर्मारिसूरः ।
कलुषदहननीरः पातितानगवीरः ।। जयति० ।।८।।

।। इति वर्द्धमान स्तोत्रम् समाप्तम् ।।

भृति कुटीर, ६८, कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२

रयणसार : स्वाध्याय की परम्परा में

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा मे एक ऐसे महान् उज्ज्वल नक्षत्र की भांति अध्यात्म-गगन मे आलोकित हैं, जिन्होंने वस्तुगामी मूल दृष्टि को स्वानुभव से प्रकाशित कर भावी धार्मिक पीढ़ियों को यथार्थता का अवबोधन दिया। सत्यकी वास्तविक मशाल उनकी रचनाओं में आज भी अपने वास्तविक रूप मे प्रज्वलित है, जिसमे प्रकाश ग्रहण कर हम आत्म-कल्याण कर सकते है। यथार्थ मे उनकी भूमिका अपूर्व है। आज भी उन की वाणी का अवगाहन कर बड़े-से-बड़े विद्वान एव साधु-सन्त नतमस्तक हो जाते है। इसलिये नही कि उनमे विद्वत्ता के शिखर प्रकाशमान है, वरन् इसलिये कि उनमे आध्यात्मिक गहराई तथा विशदता के स्पष्ट धरातल आलोकमान है। परम्परा के साक्षात्कार के साथ ही आत्मानुभव का साक्षात्कार भी उनमे लक्षित होता है। स्पष्ट प्रमाण स्वरूप आत्मानुभव के निकष पर अमूल्य रत्नत्रयो (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को परख कर उन द्रव्य ग्रथों को मूल रूप में विवेचित किया है। उनके सभी ग्रन्थो मे आचार्यत्व का यह स्पन्दन तथा जिनवाणी का निर्घोष हमे बिना किसी व्यतिकर के सहज शब्दायमान श्रुतिगत होता है। कुछ विद्वान आज भी यह समझते है कि आचार्य कुन्दकुन्द विशुद्ध आध्यात्मिक थे, यद्यपि इस मे सन्देह की आवश्यकता नही है कि वे विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक थे, किन्तु व्यवहारी भी शुद्ध रूप से थे। श्री क्षु० जिनेन्द्र वर्णी के शब्दो मे, अध्यात्मप्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयो के पारगामी थे[1] और इसीलिए हर विषय पर आपने ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान इनके सम्बन्ध मे कल्पना करते हैं कि इन्हे करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योंकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रन्थ "पट्खण्डागम" पर आप ने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नही है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वय उत्तम चरित्रवान, निर्ग्रन्थ मुनि थे। उनकी आत्मदृष्टि और व्यवहारदृष्टि दोनो निर्मल थी। अतएव उन्होंने "समयसार" में मुनि और श्रावक के भेद से दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग का उल्लेख किया है।[2] "रयणसार" मे भी आचार्य की यही दृष्टि लक्षित होती है। आचार्य कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक ग्रन्थो का सार "आत्मानुभूति" है जो स्वसवेदन से अनुभव करने योग्य है। सिवाय आत्मानुभूति के शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के अन्य उपाय नही है। उनके ग्रन्थो में तथा सभी जैनधर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों मे यह बताया गया है कि शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से आत्माके अनुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मतत्त्व मे रुचि, प्रतीति एव स्वसंवेदनगम्य अनुभूति होना ही सक्षेप मे सम्यग्दर्शन का लक्षण है। इन्द्रियों के सुख के लिए किया जाने वाला तत्त्वश्रद्धान मिथ्यात्व है।[3] "रयणसार" का सस्वर उद्घोष स्पष्ट है कि आत्मानुभूति के बिना निश्चय से सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति नही हो सकती।[4]

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० १२६

२. ववहारिओ पुन णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।।
—समयसार, ४१४.

१. इंदियसोक्खणिमित्त सद्धाणादीणि कुणइ सो मिच्छो।
त पिय मोक्खणिमित्त कुव्वतो भणइ सद्दिट्ठी ।।
—नयचक्र, ३३३.

तथा-समयसार, २७५ : 'धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त।'

४. णियतच्चुवलद्धि बिणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाण णत्थि णियमेण ।।
—रयणसार १७६.

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन "रयणसार" ग्रन्थ में अनेक प्रकार से किया गया है। किन्तु रत्नत्रय का विशद एवं विस्तृत वर्णन न होने से यह ग्रन्थ विशेष रूप से पठन-पाठन तथा प्रचार मे नही आया हो ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु अन्तः साक्ष्य तथा अन्य विवरणो के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि यह ग्रन्थ सुदीर्घ काल तक अद्यावधि स्वाध्याय की परम्परा मे प्रचलित रहा है।

"रयणसार" नाम की एक अन्य कृति का उल्लेख दक्षिण भारत के भण्डारो की ग्रन्थ-सूची मे हस्तलिखित ग्रन्थो में किया गया है। श्री दिगम्बर जैन मठ, चित्तामूर (जिजनी), साउथ आरकाड, मद्रास प्रान्त मे स्थित शास्त्र भण्डार मे क्रम-संख्या ३९ मे प्राकृत भाषा के "रयणसार" ग्रन्थ का नामोल्लेख है और रचयिता का नाम वीरनन्दी है, जो सस्कृत टीकाकार प्रतीत होते है। इस टीका की खोज करनी चाहिए। इस टीका के मिल जाने पर विद्वानो का यह भ्रम पूर्ण रूप से दूर हो जाएगा कि आचार्य कुन्दकुन्द की इस रचना पर कोई सस्कृत टीका नहीं मिलती। हिन्दी पद्यानुवाद की खोज सबसे पहले मैने ही की थी। यद्यपि पद्य-कर्ता का नाम अभी तक जानकारी मे नही आया है। किन्तु इससे यह तो स्पष्ट है कि लगभग सत्रहवी शताब्दी मे रयणसार के स्वाध्याय की परम्परा अवश्य थी।

अठारहवी शताब्दी मे पण्डितप्रवर टोडरमल जी ने, जिनका समय १७३६ई० कहा जाता है, अपने सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ "मोक्षमार्ग-प्रकाशक" में दान के प्रसग मे "रयणसार" का प्रमाण देकर अपने विषय का वर्णन किया है। उनके ही शब्दो म—

"तथा लोभी पुरुष देने योग्य पात्र नही है, क्यों कि लोभी नाना असत्य उक्तिया करके ठगते है, किंचित् भला नही करते। भला तो तब होना है जब इसके दान की सहायता से वह धर्म साधन करे; परन्तु वह तो उल्टा पाप रूप प्रवर्तता है। पाप के सहायक का भला कैसे होगा? यहो "रयणसार" शास्त्र मे कहा है—

सप्पुरिसाण दाण कप्पतरूण फलाणं सोह वा।
लोहीण दाण जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ॥ २६ ॥

अर्थ :—सत्पुरुषो को दान देना कल्पवृक्षो के फलो की की शोभा (के) समान है। शोभा भी है और सुखदायक भी है तथा लोभी पुरुषो को दान देना होता है सो शव अर्थात् मुर्दे की ठठरी की शोभा (के) समान जानना। शोभा तो होती है, परन्तु मालिक को परम दुःखदायक होती है। इसलिये लोभी पुरुषो को दान देने मे धर्म नही है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक, छठा अधिकार, पृ० १८८)

स्वाध्याय की यह परम्परा दिगम्बर आम्नाय मे बराबर बनी रही है। इसलिये कुछ विद्वानो का यह समझना कि "रयणसार" आचार्य कुन्दकुन्द की रचना नही है, क्योकि न तो इसकी कोई सस्कृत टीका मिलती है और न यह पठन-पाठन मे रहा है, भ्रमपूर्ण है।

पण्डितप्रवर टोडरमल जी के अनन्तर पण्डित दौलत-राम जी ने "क्रियाकोष" मे आठवें पृष्ठ पर "रयणसार" की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है जो इस प्रकार है—

गुण-वय-सम-पडिमा दाणं जलगालण च अणत्थमियं।
दंसणणाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥७०॥

इसका पद्यानुवाद है :

गुण कहिये अष्टमूल जु गुणा, वय कहिये व्रत द्वादश गुणा।
तव कहिये तप बारह भेद, सम कहिये समदृष्टि अभेद ॥७०
पडिमा नाम प्रतिज्ञा सही, ते एकादश भेद जु लही।...

उक्त मूल गाथामे "तव" शब्द नही है, किन्तु पद्यानुवाद मे उसका उल्लेख है। सशोधित तथा मेरे द्वारा सम्पादित "रयणसार" मे शुद्ध गाथा इस प्रकार है

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाण-जलगालणं अणत्थमियं
दसण-णाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१३७॥

अष्ट मूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता भाव, ग्यारह प्रतिमाए, चार दान, पानी छानकर पीना, रात्रि मे भोजन नही करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ये श्रावक की त्रेपन क्रियाए कही गई हैं।

यह उल्लेखनीय है कि "जैन क्रियाकोष" का रचना-काल १७३० ई० है। उन्नीसवी शताब्दी मे प० सदासुख-दास जी ने इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाया और इसका सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए उल्लेख किया है।

"श्री कुन्दकुन्दादि अनेक मुनि निग्रन्थ वीतरागी अग के वस्तुनि का ज्ञानी होते भए तथा उमास्वामी भए ऐसे पाप

तै भयभीत ज्ञानविज्ञान सम्पन्न परम संजम गुण मण्डित गुरुनि की परिपाटी तै श्रुत का अव्युच्छिन्न अर्थ के धारक वीतरागीनि की परम्परा चली आई तिनमें श्री कुन्दकुन्द स्वामी समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, रयणसार, अष्टपाहुडकू आदि लेय अनेक ग्रन्थ रचे ते अवार प्रत्यक्ष बांचने, पढने मे आवे है। इन ग्रन्थनि का जो विनयपूर्वक आराधन करे सो प्रवचनभक्ति है।" (रत्नकरण्डश्रावकाचार, पचम अधिकार, पृ० २३६)

यही स्वाध्याय की परम्परा पं० भूधरदास जी के "चर्चा समाधान" मे भी लक्षित होती है। निर्माल्य के प्रसंग में प० भूधरदास ने "रयणसार" का उल्लेख किया है। चर्चा समाधान के पृ० ७६ पर गाथा स० ३२,३३,३५ और ३६ इन चारो के उद्धरण के साथ लिखा हुआ मिलता है—"दूजे देवधन के ग्रहण का फल कुन्दकुन्दाचार्य कृत रयणसार विषै कह्या है। तथाहि, गाथा—"

इसी प्रकार, पण्डित चम्पालाल कृत "चर्चा सागर" ग्रन्थ विक्रम संवत् १८१० का रचा हुआ मिलता है। इस ग्रन्थ से भी स्पष्ट है कि "रयणसार" की स्वाध्याय-परम्परा सतत प्रचलित रही है। दान के प्रसग की चर्चा है

"इसलिये सत्पुरुषो के लिये दिया हुआ दान तो कल्पवृक्षादिक के सुखो को उत्पन्न करता है और लोभी के लिये दिया हुआ दान ऊपर लिखे अनुसार फल देता है। सो ही रयणसार मे लिखा है—

सप्पुस्साणं दाण कप्पतरूण फलाण सोहं वा।
लोहाणं दाणं जइ विमाणसोहा स जाणेह ॥२८॥

सशोधित व सम्पादित वर्तमान सस्करण मे यह गाथा इस प्रकार है

सप्पुरिसा ण दाण कप्पतरूण फलाण सोहं वा।
लोहीण दाण जइ विमाणसोहा-सवं जाणे ॥ २५ ॥

इसी ग्रन्थ मे एक अन्य स्थान पर 'रयणासार' का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—इसी प्रकार ध्यान धारण करना और सिद्धान्त के रहस्यो का अध्ययन करना मुनियो का मुख्य धर्म है। पूजा और दान के बिना गृहस्थो का धर्म नही है और ध्यान-अध्ययन के बिना मुनियो का धर्म नही है। यही इसका तात्पर्य है सो ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है :—

दाणेपूआ मुक्खं सावयधम्मं असावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मं तं विणा तहा सोवि॥

यह 'रयणासार' की गाथा है। संशोधित व सम्पादित प्रति में यह गाथा इस प्रकार है

दाणं पूया मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयण मुक्खं जइ-धम्मे तं विणा तहा सो वि ॥१०

वर्तमान कालमे भी स्वर्गीय मुनिश्री ज्ञानसागर जी महाराज ने 'समयसार' की प्रस्तावना मे 'रयणसार' का प्रमाण देते हुए लिखा है—

तथापि "रयणसार" की निम्न (१३१, १३२) गाथाओ द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा (अर्हन्त और सिद्ध) तो स्वसमय है और क्षीणमोह गुणस्थान तक जीव 'परसमय' हे। इससे स्पष्ट है कि असंयत सम्यग्दृष्टि 'स्वसमय' नही है, परसमय है।

इस प्रकार 'रयणसार' के स्वाध्याय की परम्परा १७वी शताब्दी से लेकर आज दिन तक बराबर चालू है। हालमे ही क्षु० जिनेन्द्र वर्णी ने अपने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में पृ० ८४ (भाग १) पर 'आत्मानुभव के बिना सम्यग्दर्शन नही होता' शीर्षक के अन्तर्गत 'रयणसार' की निम्नलिखित गाथा का उल्लेख किया है —

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥ ९० ॥

अर्थात्—निज तत्त्वोपलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उपलब्धि नही होती और सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना निर्वाण नही होता।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'रयणसार' आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना है और आचार्य के अन्य ग्रन्थो की भाँति लगभग चार सौ वर्षो से बराबर 'रयणसार' के पठन-पाठन के उल्लेख तथा प्रमाण मिलते है। आध्यात्मिक ग्रन्थो की भाति रयणसार का भी अपना महत्व है और कई बातो मे इसे प्रमाण रूप मे उद्धृत किया जाता रहा है। अतएव इस श्रावकधर्मप्रधान 'रयणसार' को मान्यता बराबर बनी रही है, यह सिद्ध हो जाता है।

शकर आयल मिल के सामने,
नीमच (म. प्र.)

भास के श्रमणक

□ डा० राजपुरोहित

श्रमण वस्तुतः आश्रमवासी थे जो स्वयं श्रम करते थे, तपस्या करते थे। समाज मे श्रमण-सस्था का उदय बौद्ध तथा जैनधर्म से पूर्व वैदिकयुग मे ही हो चुका था।[1] बृहदारण्यकोनिषद् (४/३/२२) मे श्रमणो का सर्वप्रथम उल्लेख ज्ञात होता है परन्तु परवर्तीकाल मे, बौद्ध और जैन-सम्प्रदायो ने इस शब्द को विशेषतः स्वीकार किया है। बुद्ध को प्रायः समण गोतम कहा गया। वहाँ यह साधारण भिक्षाटन करने वाले का अर्थ देने लगा। सुत्त तथा विनय-पिटक मे ऐसे भिक्षु समणो की संख्या ही बन गयी थी। परन्तु समय से पूर्व अपने उत्तरदायित्व से पलायन करने के कारण इनके प्रति ब्राह्मणों की सद्भावना नही थी। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थो के श्रमण सच्ची त्यागवृत्ति मे महान् थे।[2] वैदिक-साहित्य के आलोक मे उपलब्ध श्रमण परम्परा को अवैदिक सिद्ध करना[3] वस्तुतः उस शब्द तथा परम्परा-विषयक तथ्यदृष्टि के साथ अनाचार एव अन्धा-नुकरण है।

'पाइय-सद्द-महण्णवो' (पृष्ठ-८६५) के अनुसार पाँच प्रकार के श्रमण होते है—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक तथा आजीवक।

'निग्गथ-सक्क-तावस-गेरुय आजीव-पचहा समणा' स्पष्ट ही जैन, बौद्ध, ब्राह्मण इत्यादि के साथ ही गोव्रतिक श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक, आजीवक इत्यादि अनेक श्रमणमार्गी साधुओं की परम्परा थी।[4] यह परम्परा बुद्ध तथा महावीर के पूर्व से ही चली आ रही थी और इन दोनो महापुरुषो के अनुयायियो ने भी इसमे परिवृद्धि की है।

सम्राट् अशोक ने (बौद्ध) सघ ब्राह्मण, आजीविक निर्ग्रन्थ इत्यादि का एक साथ पृथक्-पृथक् उल्लेख करने के साथ ही बौद्धो से इतर ब्राह्मण-श्रमणो का एक-साथ उल्लेख किया है[5]। स्पष्ट ही ये श्रमण बौद्धेतर तो थे ही, ब्राह्मणेतर भी थे। सम्भवत ये 'समण' आजीविक थे जिन्हे अशोक ने गया के निकट बराबर की गुहाएँ दान में दी थी[6]।

ईसवी पूर्व दूसरी शती मे श्रमण अथवा श्रमणदास नाम भी रखे जाते थे[7]। चीनी-तुर्किस्तान की निय नदी के पार से उपलब्ध, ईसवी की तीसरी-चौथी शती की खरोष्ठी मे उत्कीर्ण अभिलेखो मे श्रमण तथा श्रामणेर का उल्लेख प्राप्त होता है। 'सामणेर' (श्रामणेर) का तात्पर्य नौ-सिखिया भिक्खु किया गया है। श्रमणगोष्ठ के उल्लेख भी प्राप्त होते है[8]।

यह सर्वविदित है कि भास कालिदास के आदरणीय और उनसे पूर्ववर्ती दक्ष एव प्रथित रूपककार हुए है। चौदह रत्नो के समान उनके चौदह उपलब्ध नाटक सपूर्ण परवर्ती नाट्य-परम्परा के वस्तु, प्रयोग तथा कल्पना की दृष्टि से उपजीव्य बन गए है। सम्पूर्ण सस्कृत नाट्य-परम्परा मे आज भी भास के समान मंच प्रयोग-सुलभ रूपक दुर्लभ ही है। उनके रूपकों मे मचीय नाट्य-तत्व अनायास उतर पड़े है। भास की इसी नाट्य महत्ता के समक्ष कालिदास भी एक बार अपने रूपक की सफलता मे

---

१. डा० राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता (हिन्दी अनुवाद), चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २६८।

२. वही।

३. डा० हरीन्द्रभूषण जैन, भारतीय सस्कृति और श्रमण परम्परा, पृष्ठ १३-१४।

४. वही, पृष्ठ १३ पर उद्धृत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का अभिमत।

५ डी० सी० सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, द्वितीय सस्करण, पृ० ६६। अशोक का सातवा स्तम्भलेख।

६ वही, पृ० ७७।

७. वही, पृ० २२७।

८. वही, पृ० २४८-४९, ५१-५४ तथा हिन्दू सभ्यता, पृ० २६८।

सशंक हो कह उठते है[1]—

"प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ?"

परन्तु परवर्ती होने पर भी कालिदास-साहित्य मे ब्राह्मणेतर सन्दर्भ दुर्लभ ही है जबकि भास-साहित्य मे वे असुलभ नही है। बुद्ध और महावीर के उपदेशो के पश्चात् श्रमण शब्द प्रायः इन्ही के द्वारा प्रवृत्त सम्प्रदायो से सबद्ध हो गया। किसी भी स्थिति मे, भास बुद्ध और महावीर के पश्चात् ही हुए और इसलिए भास के रूपको मे इन दोनों के सन्दर्भ मे ही श्रमणक शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक तथा चारुदत्त नामक भास के रूपकों मे श्रमणक अथवा श्रमणिका के उल्लेख उपलब्ध होते है।

सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि साधारणतया श्रमणक से भास का क्या तात्पर्य है? 'अविमारक' के द्वितीय[2] अक मे विदूषक से विनोद करती हुई चेटी उसे कहती है कि वह भोजन के लिए निमन्त्रित करने किसी ब्राह्मण का अन्वेषण कर रही है। तब विदूषक कहता है—'अरी! मैं कौन हूं? क्या श्रमणक हू?" चेटी कहती है—"तू तो अवैदिक है।" विदूषक कहता है—"मैं अवैदिक कैसे हुआ? सुन तो! रामायण नामक नाट्यशास्त्र है न, एक वर्ष पूरा होने से पहले ही मैने उसके पाँच श्लोक पढ लिए है।"[3]

विदूषक—**भोदि अहं को, समणओ।**

चेटी—**तुवं किल अवेदिओ।**

विदूषक—**किस्स अहं अवेदिओ सुणाहि दाव। अत्थि रामाअणं णाम णट्टसत्थं। तस्सि पचसुलोआ असम्पुण्णे संवच्छरे पुमए पठिदा।**

इस विवरण से स्पष्ट है कि भास की दृष्टि मे श्रमणक अवैदिक होते है। श्रमणक ब्राह्मणेतर ही हो सकते है, फिर चाहे वे बौद्ध हो, चाहे जैन अथवा अन्य कोई।

"अविमारक" के पाँचवे अक मे नायक नलिनिका को जब विदूषक का परिचय देता है तब नलिनिका कहती है—"इस ब्राह्मण को, शहर को दुकान के बरामदे मे, पहले देखा है।"

'आ, दिट्ठपुरुवो णअरापणालिंदे अअं ब्राह्मणो।

तब विदूषक कहता है कि यज्ञोपवीत ब्राह्मण की पहचान है और चीवर रक्तपट की। यदि वस्त्र त्याग दू तो श्रमणक हो जाऊँ।

"आम भोदि! जण्णोपवीदेण बह्मणो, चीवरेण रत्तपडो। जदि वत्थं अवणेमि, समणओ होमि।"

यहाँ भासने अपने युगमे प्रचलित भारतीय तीनों प्रधान धर्मों के अनुयायियों के सामान्य पहचान-चिह्न दे दिए है। चीवरधारी प्रायः बौद्ध होते थे। अत. रक्तपट से तात्पर्य बौद्ध ही लेना चाहिए। वैसे रक्तपट किसी अज्ञात अथवा लुप्त पाषड का नाम भी हो सकता है। श्रमणक वस्त्रहीन होते थे। स्पष्ट ही यहा दिगम्बर जैनों की ओर ही संकेत प्रतीत होता है। इसी आधार पर डा० ए० डी० पुसालकर यह निर्णय लेते है कि चूकि श्रमणक से भास, दिगम्बर सम्प्रदाय का ही अर्थ लेते है इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरों के उदय से पूर्व अर्थात् ई० पू० ३०० से पूर्व ही भास का समय होना चाहिए, क्योकि उन्हे श्वेताम्बरों का ज्ञान नही था।[4]

अविमारक रूपक के ही चौथे अक[5] मे नायक, विदूषक नायिका (कुरगी) विषयक प्रश्न पूछता है—

किन्न स्मरति मां कुरङ्गी? (क्या कुरंगी मेरा स्मरण नही करती?)

विदूषक कहता है—**किण्णु जीवदि णग्गन्धस्समणिआ।**

श्री सी० आर० देवधर इसकी सस्कृत छाया इस प्रकार करते है—**"किन्नु खलु जीवति नग्नान्धश्रमणिका।"** स्पष्ट ही यहाँ विरहिणी नायिका के लिए 'श्रमणिका' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य तपस्विनी अथवा बेचारी हो सकता है। अर्थ होगा—"बेचारी जीवित भी है?" तपस्विनी के अर्थ मे यहा श्रमणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय की,

१. मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना।
२. भासनाटकचक्रम् (श्री सी० आर० देवधर द्वारा सम्पादित का १९६२ ई० का सस्करण), पृष्ठ ११९।
३. वही, अविमारक, पृष्ठ १६९।
४. डा० ए० डी० पुसालकर, भास (भारतीय विद्याभवन बम्बई, प्रथम सस्करण १९४३), पृष्ठ २०८।
५. भासनाटकचक्रम्, पृष्ठ १६१।

अोर चाहे भास ने सकेत किया हो, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की साध्वी भी नंगी कभी नही रहती है। कम से कम वह एक वस्त्र तो धारण करती ही है। पुन उपर्युक्त सन्दर्भ मे 'ग्रन्ध' शब्द का क्या अर्थ होगा ? अत **'णग्गंधसमणिग्रा'** की 'नग्नान्धश्रमणिका' छाया न करते हुए **'निर्ग्रन्थश्रमणिका'** छाया करना अधिक उचित है, जिसका तात्पर्य होगा कि नायक के विरह मे सन्तप्त होती बेचारी राजकुमारी दिगम्बर सम्प्रदाय की श्रमणिका ही बन गयी है, अर्थात् निर्ग्रन्थ श्रमणिका बनने पर भी क्या वह जीवित है ?

यहां विशेष ध्यातव्य यह है कि अविमारक रूपक के उपर्युक्त तीनों स्थलो पर श्रमणिका अथवा श्रमणक का विदूषक ही स्मरण करता है। प्रतीत होता है कवि इनके प्रति अधिक गम्भीर नही है।

भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण रूपक के तृतीयाक मे श्रमणक नामक पात्र रंगमच पर प्रवेश करता है और वह विदूषक तथा उन्मत्तक के वेश मे उपस्थित यौगन्धरायण के कृत्रिम टंटे को शान्त करने का प्रयास करता है। वस्तुत: यह श्रमणक भी वास्तविक नही है। उदयन का अन्य मन्त्री रुमण्वान् ही श्रमणक के वेश मे उपस्थित होता है।[१] अविमारक में कहे पूर्वोक्त विवरणानुसार श्रमणक नग्नक होगा और नाट्यशास्त्र, दशरूपक इत्यादि के द्वारा सकेत न करने पर भी[२] यह असम्भव प्रतीत होता है कि उस काल मे प्रेक्षको के समक्ष कोई पात्र रगमच पर निर्वस्त्र उतरे। स्पष्ट ही प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक दिगम्बर श्रमणक नही हो सकता और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भासोक्त अवैदिक श्रमणको मे एक तो अविमारक के दिगम्बर जैन है तथा दूसरे अवैदिक श्रमणक बौद्ध है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक बौद्ध प्रतीत होता है, क्योकि वह विदूषक को **'बह्मणाउस' (ब्राह्मणोपासक)**[३] कहता है। यह सर्वविदित है कि बौद्ध साधु बात-बात मे 'उपासक' सम्बोधन देते थे। यही नही, विदूषक उनके मतानुयायियो को **'सघग्रारिणो'(संघचारिणः)**[४] भी कहता है। सघचारी के रूप मे बौद्ध ही प्रसिद्ध है, इसमे सन्देह नही। इससे स्पष्ट है कि प्रतिज्ञायौन्धरायण का श्रमणक बौद्ध भिक्षु था। अविमारक मे भी पहले चीवरधारी रक्तपट का उल्लेख हुआ है। सम्भवत वहाँ भी बौद्ध की ओर ही सकेत है। वैसे स्वय भास ने अपने चारुदत्त रूपक मे शाक्य श्रमणक का उल्लेख किया है,[५] जहाँ विदूषक कहता है कि "मजदूरनी के इशारा करने पर शाक्यश्रमणक के समान मुझे भी नीद नही आ रही है।"

अहं खु दाव कत्तव्वकरत्थीकिदसंकेदो विम्र
सक्किग्रसमणग्रो णिद्दं ण लभामि।

यहा सन्देह का स्थान नही है। चतुर्भाणी के समान शाक्य भिक्षुओं की कामलोलुपता पर भी फबती कसी गई है। चारुदत्त रूपक को आत्मसात् करने पर भी यह वाक्य मृच्छकटिक मे प्राप्त नही होता। चारुदत्त के ही द्वितीयांक मे संवाहक के निर्वेद से प्रव्रजित होने का सकेत प्राप्त होता है जिसकी मदमस्त मगल हस्ती से वसन्तसेना का सेवक रक्षा करता है।[६] इस प्रसंग का पल्लवित रूप मृच्छकटिक मे भी प्राप्त होता है। परन्तु वहाँ हाथी का नाम 'खुण्टमोटक दिया गया है जो अवन्तिप्रदेश की मालवी तथा हिन्दी मे भी 'खूटामोड़' के रूप मे आज पहचाना जा सकता है, अर्थात् वह मदमस्त हाथी जो अपने आलान रूप खूटो को भी मोडकर उखाड़ दे अथवा तोड़ दे। मालवा के धार जिले मे खूटपला (खूटपल्लि अथवा खूटपल्ल) जैसे अब भी ग्राम के नाम उपलब्ध होते है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि—

(१) भास की दृष्टि मे श्रमणक अवैदिक है।

(२) भास-साहित्य मे दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रमणक (शेष पृ० ३७ पर)

१. वही, पृ ८६-८८।

२. दूरध्वान वधं युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम्।
सरोध भोजन स्नान सुरत चानुलेपनम्॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।
नाधिकारिवध क्वापि त्याज्यमावश्यक न च॥
दशरूपक, ३, ३४-३६।

३ भासनाटकचक्रम्, पृ. ८६।

४. वही, पृष्ठ ९२।

५. वही, पृष्ठ २२८।

६. वही, पृष्ठ २२०-२१।

वेदों में जैन-संस्कृति के गूंजते स्वर

□ श्री जी. सी. जैन

कुछ समय पूर्व कुछ आलोचकों ने जैन-धर्म की प्राचीनता के बारे मे अनेक भ्रान्तिया फैला रखी थी। कोई इसे हिन्दू धर्म की शाखा मानता था तो कोई बुद्ध धर्म की। कोई इसे भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित मानता था तो कोई भगवान पार्श्वनाथ द्वारा, परन्तु जैसे-जैसे सांस्कृतिक शोधकार्य आगे बढ़ता गया और तथ्य प्रकाश मे आते गए, यह सिद्ध हो गया कि जैन धर्म वेदों से भी प्राचीन धर्म है। इस अवसर्पिणी काल मे भगवान ऋषभदेव इसके प्रवर्तक थे। मैने अन्यत्र सनातन धर्मी पुराणो से जैन-धर्म पर प्रकाश डालने वाले कुछ तथ्य प्रस्तुत किये थे। यहां वेदों, उपनिषदों आदि से कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत कर रहा हूं जो जैन-धर्म की प्राचीनता के स्वतः सिद्ध प्रमाण है।

अर्हंता ये सुदानवो नरो असो मिसा स,
प्रयज्ञं यज्ञिभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः।

—ऋग्वेद, अ० ४ अ० ३ वर्ग ८।

इस मन्त्र मे अरिहन्तों का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

दीर्घात्वायुर्बलायुर्वा शुभ जातायुः,
ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा।

इस मन्त्र मे बाईसवें तीर्थङ्कर भगवान अरिष्टनेमि जी से रक्षा की प्रार्थना की गयी है।

ज्ञातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति,
अतिचारमिन्द्रं तमपरिष्टनेमिं भवे भवे।
सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवेतु शक्रं
अजितं तद् वर्द्धमानं पुरुहूतमिन्द्र स्वाहा॥

प्रस्तुत मन्त्र मे भगवान् ऋषभदेव जी, द्वितीय तीर्थङ्कर अजित नाथ जी, तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ जी और चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् वर्धमान जी का स्पष्ट उल्लेख है।

नमं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्म गर्भ सनातनम्॥

ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थङ्करान्,
ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये॥

—बृहदारण्यके

काम क्रोधादि शत्रुओं को जीतने वाले वीर, दिशाएं ही जिनके वस्त्र है, जो ज्ञान के अक्षय भण्डार (केवल ज्ञान) को हृदय मे धारण करने वाले और सनातन पुरुष है, ऐसे अरिहन्तों को नमस्कार करता हू।

तीनों लोकों मे प्रतिष्ठाप्राप्त भगवान् ऋषभ देव से लेकर भगवान् वर्धमान तक २४ तीर्थङ्कररूप सिद्धो की शरण ग्रहण करता हूं।

ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा भगवता ब्रह्मणा स्वयमेवा-
चीर्णानि ब्रह्माणि तपसा च प्राप्त परं पदम्।

—आरण्यके

प्रस्तुत मन्त्र मे भी ऋषभदेव जी को भगवान् एव ब्रह्मा बताया गया है और उन्हे स्वय ही तप द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाले कहा गया है।

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु। रूपा-
मुपास दामेत तिथो रात्रो सुरा सुताः॥

—यजुर्वेदे

यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र मे भगवान महावीर का नामोल्लेख स्पष्ट है।

अप्पा दवि मेयवामन रोदसी इमा च विश्वाभुवनानि
मन्मना यूथेन निष्ठा वृषभो विराजास।

—सामवेदे, ३ अ १ खंड०

सामवेद के इस मन्त्र मे भी भगवान् ऋषभदेव को समस्त विश्व का ज्ञाता बताया गया है।

नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

—योगवशिष्ठ

मैं राम नही हूं, मुझे कोई कामना नही, पदार्थों में

मेरा मन नहीं, जिस तरह से जिन अपनी आत्मा मे शान्त-भाव से रहे है, उसी तरह से शान्तभाव से मैं रहना चाहता हूं। यहा शान्तिमूर्ति जिनदेवों को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कुलादि बीजं सर्बेषामाद्यो विमलवाहनः।
चक्षुष्मांश्च यशस्वी चाभिचन्द्रोऽय प्रसेनजित्॥
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुरासुर-नमस्कृतः
नीतित्रयाणां कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिन॥

——मनुस्मृतौ

सब मे प्रथम कुल के आदिबीज विमलवाहन हुए। उनके पश्चात् चक्षुष्मान् यशस्वी अभिचन्द्र और प्रसेनजित कुलकर हुए।

भरतक्षेत्र में छठवें कुलकर मरुदेव और सातवें नाभि-राजा हुए। साथ ही सातवे कुलकर श्री नाभिराजा की पत्नी मरुदेवी से आठवे कुलकर विशालाकृति ऋषभ हुए। वीरों के मार्गभूति, सुरासुरो के द्वारा वन्दनीय और तीन प्रकार की नीति के कर्ता-धर्ता तथा मार्गदर्शक इस युग के प्रारम्भ मे ही प्रथम जिन (ऋषभ) हुए।

मरुत्वं न वृषभं वावृधानमकवारि दिव्य शासनमिन्द्र विश्वा साहम वसे नूतनायोग्रासदो दा मिहताह्वयेमः।

— ऋग्वेद, ३६, ७-३-११।

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तवश्रिय वृषभो गम्भवानसिम मध्वोष्विध्यस।

— ऋग्वेदे, ४ अ० ४ व० ६-४-१-२२।

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्क यजतं, विश्व-रूपम् अर्हन्निदं दयसे विश्व भवभुवं न वा ओगीयो रुद्रत्वादस्ति।

— ऋग्वेदे अ० २ अ० १ २७।

स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

——यजुर्वेदे अ० २५, मन्त्र १९।

तरणिरित्ससासति बोजं पुर ध्याः युजा आव इन्द्रा-पुरुहूतं नमो नमोंगरा नेमिस्तष्टेव शुद्ध।

ऋग्वेदे २० अ०, ५ अ०, ३ व० २७।

उपर्युक्त मन्त्रो मे तीर्थङ्कर-वाचक शब्द जैन संस्कृति के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव जी की महिमा का गान करते हुए जैन संस्कृति को वेदो से भी प्राचीन प्रमाणित कर रहे है। □□

[पृ० ३५ का शेषांश]

तथा निर्ग्रन्थ-श्रमणिका का उल्लेख हुआ है। अतः प्रतीत होता है कि भास इसके अतिरिक्त जैन-सम्प्रदायों से अपरिचित थे अथवा अन्य सम्प्रदाय स्थिति मे ही नहीं आए थे।

(३) चीवरधारी रक्तपटो का जो उल्लेख प्राप्त होता है वे सम्भवत बौद्ध ही थे।

(४) बात-बात मे 'उपासक' सम्बोधन देनेवाले सघचारी शाक्यश्रमणक का भी उल्लेख किया गया है तथा उनके चारित्रिक पतन की ओर भी सकेत किया गया है जो मजदूरनियो से अपनी कामपिपासा शान्त करते है। परन्तु साथ ही निर्वेद से प्रव्रजित होनेवाले भिक्षु का भी सकेत प्राप्त होता है।

(५) जैन श्रमणको के सन्दर्भ केवल 'अविमारक' में ही प्राप्त होते है। परन्तु बौद्ध श्रमणको के उल्लेख इसके साथ ही चारुदत्त एव प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे भी प्राप्त होते है।

(६) जैन श्रमणकों की बात केवल विदूषक कहता है। जबकि बौद्ध श्रमणक का उल्लेख अविमारक एव चारुदत्त में विदूषक, चेटक तथा सवाहक करता है तो प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे रुमण्वान् प्रच्छन्न रूप मे श्रमणक के वेश मे आता है।

तात्पर्य यह है कि भास-साहित्य मे श्रमणकों को चाहे प्रतिष्ठित स्थान तो प्राप्त नही हुआ हो और अधिकाश मे उन्हे विद्वेष भावना से परिहास का भाजन बनाया गया हो तथापि तद्युगीन ब्राह्मण-समाज मे श्रमणको की स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है जो स्पृहणीय और अत्याज्य है। वस्तुतः इन संकेतात्मक विवरणो से उस युग की धार्मिक स्थिति की वास्तविकता भी प्रकट होती है। □□

जैन संस्कृत नाटकों की कथावस्तु : एक विवेचन

□ श्री बापूलाल आंजना, उदयपुर

संस्कृत वाङ्मय की अन्य विधाओं के समान नाट्य विधा को भी जैन नाटककारों ने अपनी कृतियों से भरा-पूरा किया है। नाट्याचार्य रामचन्द्र, देवचन्द्र, रामभद्र-मुनि, मेघप्रभाचार्य, बालचन्द्र सूरि, जयसिंह सूरि, नयचन्द्र, हस्तिमल्ल, ब्रह्म सूरि, नेमिनाथ, यश पाल और यश चन्द्र आदि जैन कवियों ने दो दर्जन से भी ऊपर नाटकों की रचना की है। यहां जैन नाटककारों के नाटकों के कथानक की विशेषताओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

कई जैन मुनियों ने जैन होते हुए भी महाभारत, रामायण, नलकथा, सत्य हरिश्चन्द्र कथा या अन्य पौराणिक कथाओं को अपने नाटक की कथावस्तु बनाकर इस देश की सनातन सांस्कृतिक मर्यादाओं को अभिसिंचित किया है; उन्हें अमर बनाया है। रामचन्द्र के नलविलास, सत्य हरिश्चन्द्र, निर्भयभीम व्यायोग, रघुविलास, वनमाला और हस्तिमल्ल का मैथिलिकल्याण आदिरूपक इसी प्रकार के हैं।

महाभारत, रामायण एवं पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटक :

नलविलास[1]— नाट्याचार्य रामचन्द्र (१२वीं शती का द्वितीय और तृतीय चरण) का यह नाटक ७ अंकों का है। इसमें नल-दमयन्ती के प्रेम व विवाह की कथा निबद्ध की गई है। महाभारतीय नलकथा में लेखक ने पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। अनावश्यक विवरणों से नाटक का कलेवर बहुत बढ़ गया है। उपदेश देने की कवि की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि अनेक स्थलों पर यह नाटक भर्तृहरिशतक व पंचतंत्र की भांति लोकव्यवहार का समुच्चय प्रतीत होता है।

इसमें नाटककार एक विशिष्ट उद्देश्य लेकर चला है और वह है सामाजिक अंधविश्वासों व उनके प्रवर्तकों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना। कापालिक लम्बोदर, घोर-घोण और उसकी पत्नी लम्बस्तनी की घृणित चरितावली का विस्तार इसी दृष्टि से किया गया है। वेश्या की भरपूर निन्दा तीसरे अंक में की गई है[2]।

निर्भयभीम[3]—रामचन्द्र का यह व्यायोग-कोटि का रूपक है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। एक पुरुष से भीम यह सूचना पाकर की ऊँचे पर्वत पर बक राक्षस रहता है, जिसके लिए नगर के लोग एक-एक मनुष्य भेजते हैं जिसे वह वध्यशिला पर मारकर खाता है। भीम अन्य राक्षसों सहित बक का संहार करता है। भयभीत ब्राह्मण परिवार अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

इस नाटक पर भास के मध्यमव्यायोग व नागानंद का स्पष्ट प्रभाव है। इस नाटक में कवि ने विदेशी आक्रमणकारियों से जर्जरित देश की रक्षा के लिए भीम के चरित्र में भारतीय वीरों को प्रेरणा दी है। भीम के परोपकार आदि गुणों को समाज के सामने रखना भी कवि का उद्देश्य रहा है।

सत्यहरिश्चन्द्र[4]—छः अंकों के इस नाटक में कवि ने हरिश्चन्द्र के चरित के लौकिक आदर्श को प्रस्तुत किया है। हरिश्चन्द्र की कथा कई दृष्टियों से प्रभावोत्पादक व नाटकीय तत्त्वों से युक्त है। कथा के नायक में देवता व ऋषियों का इस स्तर पर रुचि लेना संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कम ही पाया जाता है। मानव, देव, विद्याधर, पिशाच व पशु-पक्षी कोटि के पात्र हैं।

इसका कथानक पौराणिक युग से ही चरित्र-निर्माण

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित।
२. रामजी उपाध्याय विरचित मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ. १५७।
३. यशोविजय ग्रंथमाला १९ में बनारस से प्रकाशित।
४. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

तथा लोकानुरञ्जन के लिए सदैव घर-घर मे प्रतिष्ठित रहा है।

रघुविलास—आठ अंको के इस नाटक मे राम वन-गमन से रावणवध तक की रामकथा को प्रस्तुत किया गया है। इसके कथानक मे कवि कई स्थलो पर नई-नई योजनाओ को लेकर चला है। इसके कथानक मे एक विशिष्ट तत्त्व सर्वाधिक समुन्नत दिखाई देता है, जो परवर्ती युग मे विशेष रूप से छायानाटको मे अपनाया गया। छायापात्रों की इतने बड़े पैमाने पर कल्पना अन्यत्र विरल ही है। विशुद्ध नकली पात्र को ही दूसरे पात्र की छायारूप मे प्रस्तुत करना जितना सौष्ठवपूर्ण इस नाटक मे है, उतना अन्यत्र कम ही दृष्टिगोचर होता है।

वनमाला—रामचन्द्र की यह अप्राप्य नाटिका है, जिसके उद्धरण नाट्यदर्पण में प्राप्त होते है। राजा नल नायक है और दमयन्ती उसकी विवाहिता पत्नी, जो अब महादेवी पद पर अधिष्ठित है। नल का प्रेम किसी अन्य कन्या से चल रहा है।

मैथिलीकल्याण—हस्तिमल्ल (१३वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध व १४वी का प्रारम्भ) के ५ अकों के इस नाटक में सीता व राम के विवाह की कथा है।

समसामयिक कथानक

कुछ नाटककारों ने अपनी कृतियो में समसामयिक कथानक को अपनाया है। इस तरह की कृतियों मे जयसिंह सूरि का हम्मीरमदमर्दन, यशःचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र और यशःपाल का मोहराजपराजय (प्रतीक नाटक) आदि ऐसे ही नाटक है। ये कृतिया तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन का विशद चित्रण उपस्थित करती है।

हम्मीरमदमर्दन[1]—जयसिंहसूरि कृत हम्मीरमदमर्दन ५ अकों का वीररसात्मक नाटक है। जयसिंह भड़ौच के मुनिसुव्रत मन्दिर के आचार्य थे। उस समय गुजरात मे धोल्का (धवलपुर) के राजा वीरधवल थे और उसके मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल थे। एक बार तेजपाल उस मन्दिर मे दर्शनार्थ गये। मुनिवर जयसिंह की इच्छानुसार बड़ा दान उस मदिर के लिए दिया। मुनिवर ने प्रसन्न होकर उन मन्त्रीद्वय की प्रशस्ति लिखी। हम्मीरमदमर्दन नाटक उनके स्वामी राजा वीरधवल के साथ मन्त्रीद्वय की उदार कीर्ति को काव्यात्मक प्रतिष्ठा देने के लिए लिखा गया।

इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, साथ ही तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक जीवन का यथार्थ चित्रण भी इसमे प्राप्त होता है। समग्र रचना मुद्राराक्षस से प्रभावित है। मुद्राराक्षस की भाति इसमे झूठे सवाद, कपटवेशधारण, गुप्तचरो का जाल, मन्त्री व मन्त्रणा का सातिशय माहात्म्य, राजाओ का सघ बनाना आदि कई समान तत्त्व प्राप्त होते है। इसमे कवि ने युवको को राष्ट्र रक्षा का सदेश दिया है—

> **त्रस्तेषु तेषु सुभटेषु विभौच भग्ने,**
> **भग्नासु कीर्तिषु निरीक्ष्य जनं भयार्तम्।**
> **यो मित्रबान्धववधूजनवारितोऽपि,**
> **वल्गत्यरीन् प्रति रसेन स एव वीरः॥ ३.१५॥**

मुद्रित कुमुदचन्द्र[2]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशःचन्द्र की रचना मुद्रितकुमुदचन्द्र एक प्रकरण है। यह विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलबन करके लिखा गया है जो ११२४ ई० मे श्वेताम्बर मुनि देवसूरि व दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें बाद मे कुमुदचन्द्र का मुखमुद्रण हो गया। इस प्रकार इसका नाम सार्थक है।

यह नाटक समसामयिक जैनधर्म की स्थिति पर प्रकाश डालता है।

मोहराजपराजय[3]—जैन कवियों ने भी कृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोय का अनुसरण करके प्रतीक नाटकों को धर्मप्रचार के लिए उपयोगी समझा। यशःपालदेव की

१. हम्मीरमदमर्दन का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज से हुआ है। द्र० मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ. २८०-२८५ और कीथकृत संस्कृत नाटक (उदयभानुसिंह कृत हिन्दी अनुवाद), पृ० २६२ से २६४।

२. काशी से प्रकाशित, वीर स० २४३२ द्र० बलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६०६।

३. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (ग्रथाक ८), बड़ौदा से प्रकाशित, १९३०।

मोहराज पराजय ऐसी ही रचना है। इसकी रचना ११७४ से ११७७ ई० के बीच हुई, जब गुजरात के कवि का आश्रयदाता अजयदेव चक्रवर्ती शासक था। इसका प्रथम अभिनय कुमारविहार मे महावीर-यात्रा के महोत्सव पर हुआ था। इसकी कथावस्तु का सार कवि ने इस प्रकार दिया है—

पश्चात्प्य कुमारपालनृपतिर्जज्ञे स चन्द्रान्वयी.
जैन धर्ममवाप्य पापशमनं श्रीहेमचन्द्राद्गुरोः।
निर्वीराधनमुज्झता विदधता द्यूतादिनिर्वासं,
येनैकेन भटेन मोहनृपतिर्जिग्ये जगत्कंटकः ॥१.४॥

(अर्थात्) राजा कुमारपाल ने जैनधर्म के श्रीहेमचन्द्र से पापशमन करने वाले जैन-धर्म की दीक्षा ली। उन्होने अपने राज्य से द्यूतादि का निर्वासन कर दिया था और जगत्कंटक मोह नामक राजा पर विजय प्राप्त की थी।

पांच अंको के इस नाटक मे कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक आदि तो मनुष्यपात्र है; शेष पुण्यकेतु, विवेक, व्यवसायसागर, ज्ञानदर्पण, सदाचार, माहराज, सदागम, रज, काम, जनमनोवृत्ति, धर्मचिन्ता, शांति, नीतिमंजरी, कृपामजरी आदि कितने ही पात्र सत् व असत् गुणो के प्रतीक हैं।

इस नाटक का कई दृष्टियों से बहुत महत्त्व है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक उपादेय है[1]। कुमारपाल के समय मे जैनधर्म के प्रचार के लिए जो व्यवस्था की गई थी, उसका उत्कृष्ट वर्णन इसमे प्राप्त होता है। इस रचना का प्रधान उद्देश्य चरित्रनिर्माण है। इस कृति मे लोकदृष्टि से आध्यात्मिक मञ्जुलता का समावेश किया गया है। इसमे यशःपालदेव को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। विण्टरनित्स ने भी इस नाटक की भूरि-भूरि प्रशसा की है कि इसमे तत्कालीन समाज, राजनीति व धर्म पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

चन्द्रप्रभाविजयप्रकरण[2]—आठ अंको के इस नाटक के रचयिता देवचन्द्र, हेमचन्द्र के शिष्य थे। इसका प्रथम अभिनय अजितनाथ के वसन्तोत्सव पर हुआ था। इसके अन्त मे कुमारपाल के अर्णोराज की विजय का उल्लेख है। इसकी रचना ११५० ई० के लगभग हुई थी।

जैन कथानक विषयक नाटक

कुछ नाटककारो ने जैन कथासाहित्य की इतिवृत्तात्मक सरणि पर या जैन पुराणों के कथानको को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की है। ये कृतियां है रामचन्द्र का कौमुदीमित्रानंद, रामभद्र मुनि का प्रबुद्ध रौहिणेय, मेघाप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय, बालचन्द्र सूरि का करुणावज्रायुद्ध, हस्तिमल्ल का अञ्जनापवनञ्जय व सुभद्रानाटिका, ब्रह्म सूरि का ज्योतिप्रभाकल्याण और नेमिनाथ का शमामृत। इन रूपको मे कही मुख्य रूप मे तो कही गौण रूप से जैन धर्म के प्रचार का काम अपनाया गया है।

कौमुदीमित्रानंद[3]—रामचन्द्र ने दस अंकों के अपने इस प्रकरण मे मित्रानद को नायक व कौमुदी को नायिका बनाया है। नायक मित्रानद जिनसेन नामक बनिये का पुत्र है और नायिका का पिता कुलपति है[4]।

इस प्रकरण के विषय मे कीथ[5] की सम्मति है—"यह कृति सर्वथा नीरस है। हा, इसकी एक मात्र रोचकता विस्मयकारी घटनाओं की योजना में हैं, जो सामाजिकों को अद्भुत रस का उद्रेक करती है।" इसमे जादू, मन्त्र-तन्त्र, औषधिप्रयोग, नर-बलि व शव मे प्राणसचार आदि अतिप्राकृत तत्त्व प्राप्त होते है। कापालिक की दूषित-वृत्तियों का निदर्शन, न्यायालय के धोखा व मिथ्या व्यवहार का प्रदर्शन, चोरो-डाकुओ के कामो का वर्णन आदि तत्कालीन सामाजिक दशा पर प्रकाश डालते है। पशुबलि आदि का विरोध किया गया है—

पुण्यप्रसूतजन्मानश्चण्डालव्यालसङ्कुताम्।
मांसरक्तमयों देवाः किं बलिं स्पृहयालवः॥[6]

कहीं-कही सदुपदेश भी दिये गये है—

---

१. गुजरात के इतिहास के विषय मे प्राप्त अभिलेखों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी पर यह नाटक महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।
—कीथ कृत सस्कृत ड्रामा (अनूदित), पृ. २७०.

२. कृष्णमाचार्य कृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ६४४। प्रति जैसलमेर के भडारमे उपलब्ध।

३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित।

४ मध्यकालीन सस्कृत नाटक, पृ. १८३ से १८५ तक।

५ सस्कृत ड्रामा (उदयभानुसिह कृत अनुवाद), पृ. २७४।

६. कौमुदीमित्रानद ६.१३।

अपत्यजीवितस्यार्थे प्राणानपि जहाति या ।
त्यजन्ति तामपि क्रूरां मातरं दारहेतवे ।।[1]

लेखक मृच्छकटिक व दशकुमार से प्रभावित जान पड़ता है।

प्रबुद्ध रौहिणेय[2] -जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि रचित प्रबुद्धरौहिणेय छ अंकों का प्रकरण है। विन्टर-नित्स कवि का आविर्भाव ११८५ ई० मानते है। प्रस्तुत नाटक मे डाकू रौहिणेय के कान मे महावीर की वाणी पड़ जाने से उसका अज्ञान दूर हो जाता है और वह महावीर के चरणों की सेवा करने का निश्चय करता है। उसे अपने किए पर प्रायश्चित्त होता है[3]। अन्त मे राजा द्वारा उसका अभिनंदन किया जाता है[4]।

इसमे डाकू को प्रकरण का नायक बनाया गया है। इसका कथानक सम्पूर्ण संस्कृत नाटक साहित्य मे अनूठा ही है। लेखक जैन है; फिर भी पूरे नाटक मे कहीं भी जैनधर्म के प्रचार का बोझिल कार्यक्रम नहीं अपनाया गया है। गौण रूप मे जैनधर्म के प्रचार को रखे जाने से नाटक की कलात्मकता अक्षुण्ण रह सकी है। डाकूक्षेत्र मे सद्वृत्तपरायण सतों के आने जाने से डाकुओं की मनो-वृत्ति मे परिवर्तन हो सकता है। प्रबुद्धरौहिणेय उसका पूर्वरूप उपस्थित करता है।

इस युग के कई नाटकों मे कूट घटना और कूट पुरुषों का प्राचुर्य मिलता है। इसमे सेठ ने डाकू को पकड़ने के लिए ऐसे कापटिक कर्म व कूट घटनाओं की योजना की है—

तैस्तैर्बुधैःकूटकोटिघटनैस्तं घट्टयिष्ये तथा ।[5]

धर्माभ्युदयः[6] :—मेघप्रभाचार्य के धर्माभ्युदय एकांकी का प्रथम अभिनय पार्श्वनाथ जिनेन्द्र मन्दिर मे यात्रोत्सव के उपलक्ष मे हुआ था। इसका नायक दान, रण व तप मे अग्रणी दशार्णभद्र राजा था। प्रस्तुत कृति मे नायक के दीक्षा लेने का वर्णन है। इन्द्र जिनेन्द्र की वन्दना करते हुए उनके धर्माभ्युदय की प्रशंसा करता है—

धर्माभ्युदयस्स ते जयति ।[7]

इसके बाद उसने दशार्णभद्र को नमस्कार करते हुए कहा—

अहो मूर्तिरहो मूर्तिरहो स्फूर्तिः शमश्रियः ।
वीतरागप्रभोर्मन्ये शिष्योऽभूदेव तादृशः ।।[8]

इसमे धर्म-प्रचार का कार्य सौष्ठवपूर्वक व्यञ्जना से किया गया है यथा,

जिनराज किंवदन्ती वन्दितुमुत्कण्ठिता नातिरूपास्ति ।
सद्धर्मवचःश्रवण पुण्यैर्गुरुतरैर्भवति ।।[9]

इसके ५ दृश्यों मे इन्द्र, शची, बृहस्पति, नन्दन, चन्दन रति, प्रीति, राजा व मन्त्री आदि दिव्य व अदिव्य पात्रों को प्रस्तुत किया है। यह श्रीगदित कोटि का उपरूपक है।

करुणावज्रायुद्ध[10]—इस रूपक के रचयिता बालचन्द्र-सूरि (१२४० ई० के पूर्व) गुजरात के सुप्रसिद्ध महामंत्री व साहित्यकार वस्तुपाल के समकालीन थे। इस कृति मे वज्रायुद्ध नामक राजा की जैनधर्म के प्रति अनुपम निष्ठा का वर्णन हुआ है। वह एक श्येन से कबूतर की रक्षा के लिए कबूतर के बराबर अपने शरीर का मास देता है, पर पूरा न होते देख अपने शरीर को ही तराजू के पलड़े मे रख देता है। देवगण प्रकट होकर राजा की अतिशय प्रशंसा करते है। इस कृति मे जैनधर्म को ही एकमात्र सद्धर्म बताया गया है जिससे अपवर्ग स्वर्ग और समृद्धि सब प्राप्य है। और भी—

एकं जैनं विना धर्मं मन्ये धर्मा कुधीमताम् ।
संवृता एव शोभन्ते पटच्चरपटा इव ।।[11]

---

१. कौमुदी मित्रानंद, ७७।
२. भावनगर से प्रकाशित।
३. प्रबुद्धरौहिणेय ६.३४।
४. त्वं धन्यः सुकृती त्वमद्भुतगुणस्त्वं विश्वविश्वोत्तम-
स्त्वं श्लाघ्योऽखिलकल्मषं च भवता प्रक्षालितं चौर्यजम्।
पुण्यैः सर्वजनीनतापरिगतो यो भूर्भुवःस्वोऽर्चितो
यस्तौ वीरजिनेश्वरस्य चरणौ लीनः शरण्यौ भवान् ।।
—वही ६.४०।
५. प्रबुद्धरौहिणेय ३.२२ व द्र. ५.३।
६. भावनगर से प्रकाशित।
७. धर्माभ्युदय ३५।
८. वही, ३६।
९. वही, १८।
१०. अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर मे उपलब्ध, भावनगर से प्रकाशित।
११. करुणावज्रायुद्ध, ४०।

स्वशरीर के मासदान के लिए तत्पर राजा की रानी के द्वारा विरत किए जाने पर उसने कहा—

पापावरेण किमनेन शरीरकेण
स्वेच्छान्नपानपरिपोषपीवरेण।
सर्वाशुचिप्रणयिन कृतनाशनेन
कार्यं परोपकृतये न हि कल्प्यते यत् ।।[1]

करुणावज्रायुद्ध मे धर्मप्रचार प्रधान उद्देश्य है, और वह भी वैदिक धर्म की निन्दापूर्वक। कबूतर श्येन आदि पक्षियों को पात्र बनाना—यह भी इस कृति की अपनी ही विशेषता है[2]।

अञ्जनापवनञ्जय—हस्तिमल्ल के ७ अंको के इस नाटक की कथावस्तु विमलसूरि के पउमचरिउ से ली गई है। इसमे दिव्यपात्रो का क्रियाकलाप है। अञ्जना स्वयंवर मे पवनञ्जय का वरण करती है। कुछ समय बाद अञ्जना ने हनुमत को जन्म दिया। पवनञ्जय का आदित्यपुर मे अभिषेक किया गया।

सुभद्रा नाटिका—हस्तिमल्ल की चार अको की इस नाटिका मे विद्याधर राजा नमि की भगिनी और कच्छराज की कन्या सुभद्रा का तीर्थंकर वृषभ के पुत्र भरत से विवाह का कथानक निबद्ध किया गया है। हस्तिमल्ल के इस रूपक मे व कुछ अन्य रूपको मे स्वयवर विवाह की चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि स्वयवर विवाह का पक्षपाती था।

विक्रान्त कौरव—हस्तिमल्ल के इस रूपक मे काशी-नरेश अकम्पन की कन्या सुलोचना स्वयवर मे कुरुराज जयकुमार का वरण करती है। अर्ककीर्त्ति व जयकुमार के युद्ध मे जयकुमार अर्ककीर्ति को परास्त करता है। तब सुलोचना व जयकुमार का विवाह धूमधाम से होता है। भरत चक्रवर्ती व तीर्थकर ऋषभदेव भी प्रकारान्तर से वर्णित है। इसमे कई स्थलों पर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना की गयी है[3]।

ज्योतिःप्रभाकल्याण[4]—ब्रह्मसूरि ने (१४वी व १५वी शताब्दी के मधिकाल मे) ज्योतिःप्रभाकल्याण नाटक की रचना की थी। ब्रह्मसूरि नाट्याचार्य हस्तिमल्ल के वंशज है। इसका प्रथम अभिनय शातिनाथ के जन्मोत्सव पर हुआ था। इसमे शातिनाथ का पूर्वभव सम्बन्धी अमिततेज विद्याधर और ज्योतिःप्रभा का कथानक है। गुणभद्र का उत्तरपुराण इसकी कथावस्तु का आधार है। नाटक मे यत्र-तत्र जैन जीवनदर्शन की झलक प्रस्तुत की गई है—

कायक्लान्तिः कामकेलौ कलास्वम्यसनाश्रमः।
सांसारिकं सुखं सर्वं विश्रमेवावभासते ।।[5]

इस युग मे जैन विचारधारा मे कुछ परिवर्तन आया। पहले तक तो जैनधर्म मे गृहस्थाश्रम के प्रति उदासीनता और उपेक्षा का भाव था, इस युग मे मनुस्मृति मे विश्लेषित आश्रमव्यवस्था मानो स्वीकार कर ली गई। कवि की उक्ति है—

धर्मोऽर्थः कामो मोक्ष इति पुरुषार्थचतुष्टय-क्रमवेदी किमपि न त्यजति। आधारो गृहाश्रमी सर्वाश्रमिणामाहारादिदानविधानात्। न चेदनगाराणां कथं कायस्थितिः।

शमामृत[6]—नेमिनाथ के शमामृत मे (१५वी शताब्दी) मे नेमिनाथ की विरक्ति की कथा है। नेमिनाथ का विवाह उग्रसेन की कन्या राजमती से होने वाला था। उनके विवाहोत्सव मे भोज बनने के लिए मारे जाने वाले असख्य पशु रो रहे है। पशुओ के रोदन को सुनकर नेमिनाथ ने सारथि से कहा—

पशूनां रुधिरैः सिक्तो यो धत्ते दुर्गतिफलम्।
विवाहविषवृक्षेण कार्यं मे नामुनाधुना ।।

इतर नाटक—कुछ जैन नाटककारो ने सस्कृत नाटक परपरा से प्रभावित होकर अपने नाटको की रचना की

---

१ करुणावज्रायुद्ध, ८६।
२ मध्यकालीन सस्कृत नाटक, पृ० २७७ से २७९।
३ विक्रान्तकौरव, १.१; ३.५५; ४.१७; ५.१५; ६.५२ व ६.५४।
४. द्र० नाथूराम प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४९६। बगलौर से प्रकाशित काव्याम्बुधि, मासिक पत्रिका, प्रथम अक मे इसके प्रथम द्वितीय व तृतीय अक के तीन पृष्ठ प्रकाशित हुए है।
५. ज्योतिःप्रभाकल्याण, १.२४।
६. मुनिधर्म विजय द्वारा सपादित, भावनगर से प्रकाशित।

है। उनकी उन कृतियों का आदर्श उनसे पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककार रहे है। अतः कथावस्तु भी पूर्णतया उनसे प्रभावित जान पडता है; यथा रामचन्द्र के मल्लिका-मकरंद पर भवभूति के मालतीमाधव का प्रभाव स्पष्ट है[७]। नयचन्द्र (१३वीं १४वी शताब्दी का सधिकाल) का रंभामंजरी सट्टक कर्पूरमंजरी के आदर्श पर रचा गया है[८]।

इस प्रकार जैन नाटककारों द्वारा लिखे गये संस्कृत रूपकों को कथानक के आधार पर चार वर्गों मे रखा जा सकता है। कुछ रूपको म गौणरूप से जिनमे गौणरूप में जैन धर्म के प्रचार को लिया है- वे नाटककार नाटक की कलात्मकता को अक्षुण्ण रख पाए है। जिन नाटक-कारों ने समसामयिक कथानक को आधार बनाकर अपने रूपकों की रचना की है, वे तत्कालीन इतिहास, समाज व धर्म की दशा पर यथार्थ प्रकाश डाल पाए है। समाज की चली आ रही कुरीतियो व अंधविश्वासों को दूर करने तथा समाज सुधार को लक्ष्य बनाकर भी कुछ नाटककारो ने अपने नाटको की रचना की है। जैन नाटककारो की एक बहुत बड़ी विशेषता तो यह है कि इनमे दिव्य कोटि के पात्रो से लेकर पशु-पक्षियो को भी पात्र रूप म उपस्थित किया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र, करुणावज्रायुध व शामामृत नाटक म ऐसा किया गया है।

इन नाटको मे सत्य, अहिंसा, अचौर्य, दया, परोपकार, शांति, दान, संसार की नश्वरता, ईश-भक्ति आदि सद्-गुणो का मानवजीवन मे समावेश दिखाया गया है। मोहराजपराजय नाटक मे असत् व सत् वृत्तियों को पात्र रूप मे उपस्थित करके असत वृत्तियो पर सत् वृत्तियों की विजय दिखाई गई है। चारित्रनिर्माण ही ऐसी रचनाओं का उद्देश्य रहा है। इस प्रकार की कृतियो म नाटककारो द्वारा लोकदृष्टि मे आध्यात्मिक मञ्जुलता का समावेश किया गया है। ☐☐

बापूलाल आंजना
सी-८, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स,
दुर्गा नर्सरी रोड,
उदयपुर (राज०)

श्रमण मुनियों की परम्परा

उत्तरकालीन वैदिक परम्परा में वातरशनामुनि पूर्ववत सम्मान पाते हुए ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) और श्रमण नामों से भी अभिहित होने लगे थे।

वातरशना हवा ऋषयः श्रमणाः ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः

—तैत्तिरीय आरण्यक ११, २६, ७.

पद्मपुराण (६, २१२) के अनुसार तप का नाम ही श्रम है। अत जो राजा राज्य का परित्याग कर तपस्या से अपना सम्बध जोड़ लेता है वह श्रमण कहलाने लगता है। मुनियो की श्रमण सज्ञा इतनी लोक-प्रचलित हुई कि आगे के समस्त वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में प्रायः इन मुनियो का श्रमण और उनकी तपस्या व अन्य साधनाओं का श्रामण्य नामो से ही उल्लेख पाया जाता है। ☐☐

---

७. मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ. १८६।

८. डा० पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ सपादित, निर्णयसागर से १८८९ ई० में प्रकाशित। द्र० प्राकृत साहित्य का इतिहास, ले० जगदीशचन्द्र जैन, पृ ६३३-३५।

आयुर्वेद के ज्ञाता जैनाचार्य

☐ डा० हरिश्चन्द्र जैन, जामनगर

आयुर्वेद भारतवर्ष मे चिकित्सा-शास्त्र से सम्बन्धित विषय है। इसका प्रारभ जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव के समय से होता है क्योकि भगवान ऋषभदेव ने इस देश के लोगो के लिए जिन जीवन-यापन के साधनो की ओर सकेत किया था, उनमे रोगो से जीवन की रक्षा करना भी सम्मिलित था। अतः आयुर्वेद का प्रारभ उन्ही के समय से प्रारभ हुआ है ऐसा मानना होगा।

उस समय का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नही है। किन्तु भगवान ऋषभदेव से महावीर तक इस प्रकार का ज्ञान (oral evangelism) मौखिक उपदेशो के द्वारा हमको प्राप्त हुआ है।

मोक्षमार्ग के लिये स्वास्थ्य ठीक रखना आवश्यक है। अत. रोगो से बचने का उपाय आयुर्वेद कहलाया। इस विषय पर उस समय तक स्वतन्त्र ग्रंथ नही लिखे गये, किन्तु जब ज्ञान को लिपिबद्ध करने की परम्परा चली तो आयुर्वेद पर स्वतन्त्र तथा अन्य ग्रन्थो मे प्रसंगवश आयुर्वेद का वर्णन आज प्राप्त है।

आगम के अनुसार १४ पूर्वों मे प्राणवाद नामक पूर्व मे आयुर्वेद आठ प्रकार का है ऐसा सकेत मिलता है, जिससे अष्टांग आयुर्वेद का तात्पर्य है। गोमटसार, जिसकी रचना १ हजार वर्ष पूर्व हुई है ऐसा सकेत है। इस प्रकार श्वेताम्बर आगमो यथा अग, उपाग, मूल, छेद आदि मे यत्र तत्र आयुर्वेद के अश उपलब्ध होते है।

भगवान महावीर का जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व हुआ था। उनके शिष्य गणधर कहलाते थे जिन्हे अन्य शास्त्रों के साथ आयुर्वेद का ज्ञान था। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य पुष्पदत एव भूतबलि ने षट्खडागम नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ ज्येष्ठ सुदी पचमी को पूर्ण हुआ था। अत यह निश्चित है कि इससे पूर्व का जैन साहित्य उपलब्ध नही है। भगवान महावीर के पूर्व आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी थे अवश्य किन्तु उनका कोई व्यवस्थित विवरण नही मिलता है। भगवान महावीर के १७० वर्ष उपरान्त अनेक जैन आचार्य हुये जिनमे अनेक आयुर्वेद साहित्य के मनीषी थे। जैन ग्रन्थो मे आयुर्वेद का महत्व प्रतिपादित किया गया है किन्तु इसकी गणना पापश्रुतो मे की है यह एक आश्चर्य है। स्थानाग सूत्र मे आयुर्वेद के आठ अंगो का नामोल्लेख आज प्राप्त होता है। आचारग सूत्र मे १६ रोगो का नामोल्लेख उपलब्ध है इनकी समानता वैदिक आयुर्वेद ग्रन्थो से है।

स्थानाग सूत्र मे रोगोत्पत्ति के कारणो पर प्रकाश डाला गया है और रोगोत्पत्ति के ९ कारण बताये गये है। जैन मनीषी धर्मसाधन के लिये शरीर रक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति मे कहा है :—

> **शरीरं धर्मसंयुक्त रक्षणीय प्रयत्नतः।**
> **शरीराच्छ्रवते धर्मः पर्वतात् सलिल यथा॥**

अर्थात् जैसे पर्वत से जल प्रवाहित होता है वैसे ही शरीर से धर्म प्रवाहित होता है। अतएव धर्मयुक्त शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

अतः शरीर रक्षा मे सावधान जैन साधु कदाचित रोगग्रस्त हो तो वे व्याधियो के उपचार की कला विधिवत् जानते थे।

निशीथ चूर्णी मे वैद्यक शास्त्र के पडितो को दृष्टिपाठी कहा है। जैन ग्रन्थों मे अनेक वैद्यो का वर्णन मिलता है जो काय-चिकित्सा तथा शल्यचिकित्सा मे अति निपुण होते थे। युद्ध मे भी वे जाकर शल्य चिकित्सा करते थे ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी साधु एव गृहस्थ दोनो वर्गों के थे।

हरिणेगमेषी द्वारा महावीर के गर्भ का अपहरण एक अपूर्व तथा चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से विचारणीय घटना है। आचार्य पद्मनदी ने अपनी पचविंशतिका मे

श्रावक को मुनियों के लिये औषध दान देने की चर्चा की है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि श्रावक जैन धर्म की समस्त दृष्टियों से अनुकूल औषध व्यवस्था करते थे। इस प्रकार के जैन आयुर्वेद साहित्य के मनीषी विद्वान ही उसमे परामर्श दाता होते थे।

आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी विद्वानो की परम्परा निम्न प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने योग्य है।

आदिनाथ (श्रीऋषभदेव स्वामी)

भरतचक्रवर्ती पुत्र भगवान महावीर स्वामी

गणधर एव शिष्यप्रशिष्य, मुनि एव साधु आदि।

उक्त ऐतिहासिक परम्परा का वैदिक आयुर्वेद साहित्य से कोई मतभेद नही है। भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर स्वामी तक के आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषियो का कोई लिखित साहित्य नही है, किन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त जब से शास्त्र लिखने की परम्परा प्रारभ हुई, उसके बाद जो आचार्य हुए उन्होंने जो आयुर्वेद साहित्य लिखा है उसका विवरण अवश्य आज भी प्राप्त है और अधिकाश का नामोल्लेख शास्त्रों में विकीर्ण मिलता है।

मुझे अब तक आयुर्वेद साहित्य के जिन जैन मनीषियो का नाम, उनके द्वारा लिखित कृति तथा काल का ज्ञान हुआ है उसे मैं नीचे एक सूची के द्वारा व्यक्त कर रहा हू जिससे सम्पूर्ण जैन आचार्यो का एक साथ ज्ञान हो सके।

आचार्य नाम	ग्रन्थ	काल	विषय
१ श्रुतकीर्ति	—	—	
२ कुमारसेन	—	—	
३ वीरसेन	—	—	विष एव ग्रह
४ पूज्यपाद पात्रस्वामी	वैद्यामृत	१२ वी.श.	शालाक्यतत्र
५ सिद्धसेन दशरथ गुरू			बालरोग
६ मेघद्वाद			बालरोग
७ सिंहनाद			वाजीकरण एव रसायन
८ समन्तभद्र	(१) पुष्पायुर्वेद		
	(२) सिद्धान्त रसायन कल्प-	१० वी. श.-	रसायन
९ जटाचार्य	—	—	
१० उग्रादित्य	कल्याणकारक	९ वी. श	चिकित्सा
११ वसवराज	—	—	
१२ गोमम्टदेवमुनि	मेरूम्तम्भ		
१३ सिद्धनागार्जुन	— नागार्जुनकल्प, नागार्जुनकक्षपुट		
१४ कीर्तिवर्म			गौ वैद्य
१५ मगराज	खगेन्द्रमणी दर्पण		
१६ अभिनवचन्द्र	हृदयशास्त्र		
१७ देवेन्द्रमुनि	बालग्रह चिकित्सा		
१८ अमृतनदी	वैद्यक निघटु		
१९ जगदेवमहापचवार	श्रीवरदेव वैद्यामृत		
२० सालव	रसरत्नाकर वैद्य सागत्य		
२१ हर्पकीर्ति मूरी	योग चिन्तामणि		
२२ जैन सिद्धान्त भवन आरा के	वैद्य मारसग्रह, आरोग्य चिन्ता मणि		
२३ पूज्यपाद–	अकलक सहिता, इन्द्र नदीसहिता		औषध प्रयोग
२४ आशाधर वैद्य	अष्टाग हृदयटीका	१३ वी. श.	
२५ सोमनाथ	कल्याणकारक (कन्नड)		
२६ नित्यनाथ सिद्ध	रसरत्नाकर	१४ वी. श.	रसायन
२७ दामोदर भट्ट	आरोग्य चिन्तामणि (कन्नड)		
२८ धन्वन्तरी	धन्वन्तरी निघटु कोश		
२९ नागराज	योगशतक		
३० कवि पार्श्व	रोगरत्नावली		
३१ कविमानजी	कविप्रमोद	१७४६ वि. स.	रस-शास्त्र
३२ रामचन्द्र	वैद्य विनोद	१८१० वि. स.	सग्रह
३३ दीपचन्द्र	बालतत्र भाषा वचनिका	१९३६ वि स.	कौमार-भृत्य
३४ लक्ष्मी-वल्लभ	लघन पथ्य निर्णय कालज्ञान	१८ श.	
३५ दरवेश हकीम	प्राणसुख	१८०६ वि. स.	
३६ मुनि यशकीर्ति	जगसुन्दरी प्रयोगशाला		

३७ देवचन्द्र	मुष्टिज्ञान		ज्योतिष एव वैद्यक
३८ नयन सुख	वैद्यक मनोत्सव, सन्तान विधि सन्निपात कलिका, सालोत्तर रास		
३९ कृष्ण दास	गधक कल्प		
४० जनार्दन गोस्वामी	बाल विवेक वैद्यरत्न	१८ वी. वि. सं.	
४१ जोगीदास	सुजानसिंह रासो	१७६२ वि. स.	
४२ लक्ष्मीचन्द्र			
४३ समरथ सूरी	रसमजरी	१७६४ वि. स	

ऊपरलिखित तालिका म मैने ऐसे आयुर्वेद के जैन मनीषियो का नामोल्लेख किया है जिन्होंन आयुर्वेद साहित्य का प्रणयन प्रधान रूप मे किया है। साथ ही वे चिकित्सा कार्य मे निपुण थ। किन्तु प्राचीन जैन साहित्य के इतिहास का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि बहुत से विद्वान आचार्य एक से अधिक विषय के ज्ञाता होते थे। आयुर्वेद के मनीषी इस नियम से मुक्त नहीं थे। वे भी साहित्य के साथ दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, मत्र, रसतन्त्र आदि के साथ आयुर्वेद का ज्ञान रखते थे। आयुर्वेद के महान शल्यविद आचार्य सुश्रुत ने कहा है :—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याद् शास्त्रनिश्चयम्
तस्माद् बहुश्रुतः स्यात् विजानीयात चिकित्सकः ॥

कोई भी व्यक्ति एक शास्त्र का अध्ययन कर शास्त्र का पूर्ण विद्वान नही हो सकता है, अतः चिकित्सक बनने के लिये बहुश्रुत होना आवश्यक है।

मैं कुछ ऐसे आयुर्वेद के जैन मनीषियों की गणना कराउगा जिनके साहित्य मे आयुर्वेद विकीर्ण रूप से प्राप्त है :— पूज्यपाद या देवनदी, महाकवि धनंजय, आचार्य गुणभद्र, सोमदेव, हरिश्चन्द्र, वाग्भट्ट, शुभचन्द्र, हेमचन्द्राचार्य, प. आशाधर, पं जाजाक, नागार्जुन सोढ़ल, वीरसिंह। इन्होंने स्वतत्र साहित्य रचना की है तथा इनके साहित्य मे आयुर्वेद के अश विद्यमान है।

यह एक सम्पूर्ण दृष्टि है जो आयुर्वेद के जैनाचार्यों के लिये फैलाई जा सकती है। वैसे पूर्वमध्य युग अर्थात् ७००-१२०० ईसवी से पूर्व का कोई जैनाचार्य आयुर्वेद के क्षेत्र मे दृष्टिगोचार नही होता है। आयुर्वेद के जैन मनीषी सर्व प्रथम आचार्य पूज्यपाद या देवनदी को माना जा सकता है।

(१) पूज्यपाद :- इनका दूसरा नाम देवनदी है। ये ई. ५ श मे हुये है। इनका क्षेत्र कर्नाटक रहा है। ये दर्शन, योग, व्याकरण तथा आयुर्वेद के अद्वितीय विद्वान थे। पूज्यपाद अनेक विशिष्ट शक्तियो के धनी विद्वान थे। वे दैवी शक्तियुक्त थे। उन्होंने गगनगामिनी विद्या मे कौशल प्राप्त किया था। यह पारद (Mercury) के विभिन्न प्रयोगो का करते थे। विभिन्न धातुओ से स्वर्ण बनाने की क्रिया जानते थे। उन्होंने शालाक्य तत्र पर ग्रन्थ लिखा है। इनके वैद्यक ग्रन्थ प्रायः अनुपलब्ध है किन्तु इनका नाम अनेक आयुर्वेद के आचार्यो ने अपने ग्रन्थों मे लिखा है और इनके आयुर्वेद साहित्य तथा चिकित्सा वैदुष्य की चर्चा भी की है। आचार्य श्री शुभचन्द्र ने अपने "ज्ञानार्णव" के एक एक श्लोक द्वारा वैद्यक ज्ञान का परिचय दिया है :

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसम्भवम्।
कलकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

यह श्लोक ठीक उसी प्रकार का है जैसा पतञ्जलि के बारे मे लिखा है :—

योगेन चित्तस्यपदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् त वरदं मुनीनां पतंजलि प्रांजलिरानतोऽस्मि ॥

ऐसा लगता है कि पूज्यपाद पतजलि के समान ही प्रतिभाशाली वैद्यक के जैनाचार्य थे।

कन्नड़ कवि मगराज जो वि. स. १४१६ मे हुए है जिन्होंने "खगेन्द्रमणि दर्पण" आयुर्वेद का ग्रन्थ लिखा है, उन्होंने लिखा कि मैने अपने इस ग्रन्थ का भाग पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ से संगृहीत किया है। इसम स्थावर विषों की प्रक्रिया और चिकित्सा का वर्णन है। बौद्ध नागार्जुन से भिन्न एक नागार्जुन जो पूज्यपाद के बहनोई थे उन्हें पूज्यपाद ने अपनी वैद्यक विद्या सिखाई थी। रसगुटिका जो खेचरी गुटिका थी, का निर्माण सिखाया था। पूज्यपाद

रसायनशास्त्र के विद्वान थे। वे अपने पैरो में गगनगामी लेप लगा कर विदेह क्षेत्र की यात्रा करते थे, ऐसा कथानक साहित्य मे मिलता है।

दिगम्बर जैन साहित्य के अनुसार पूज्यपाद आयुर्वेद साहित्य के प्रथम जैन मनीषी थे। वे चरक, पतजलि की कोटि के विद्वान थे। जिन्हे अनेक रसशास्त्र, योगशास्त्र और चिकित्सा की विधियों का ज्ञान था। साथ ही शल्य एवं शालाक्य विषय के विद्वान आचार्य थे।

(२) महाकवि धनंजय— इनका समय वि. स. ६६० है। इन्होंने "धनजय निघटु" लिखा है जो वैद्यक के साथ कोश का ग्रन्थ है। ये पूज्यपाद के मित्र थे और समकालीन थे जैसा यह श्लोक प्रकट करता है—

प्रमाणमकलकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपपश्चिमम्॥

इन्होंने विषापहार स्तोत्र लिखा है जो प्रार्थना द्वारा रोग दूर करने के हेतु लिखा है।

(३) गुणभद्र—ये शक संवत ७३७ से हुए है। इन्होंने 'आत्मानुशासन' लिखा है जिसमे आद्योपान्त आयुर्वेद के शास्त्रीय शब्दो का प्रयोग किया गया है और फिर शरीर के माध्यम से आध्यात्मिक विषय को समझाया है। इनका वैद्यक ज्ञान वैद्य से कम नही था।

(४) सोमदेव—६ वी श. के आचार्य है यशस्तिलक चम्पू मे स्वस्थ वृत का अच्छा वर्णन किया है। इन्हे वनस्पतिशास्त्र का ज्ञान था क्योंकि उन्होंने शिखण्डी ताडव वन की औषधियों का वर्णन किया है। ये रसशास्त्र के ज्ञाता थे।

(५) हरिश्चन्द्र—ये धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता हैं किन्तु कुछ वैद्यक ग्रन्थो मे इनका नाम आता है। कुछ विद्वान इन्हे खरनाद सहिता के रचयिता मानते है।

(६) शुभचन्द्र —११ वी श के विद्वान थे। इन्होंने ध्यान एव योग के सबन्ध मे ज्ञानार्णव लिखा है। यह भी आयुर्वेद के ज्ञाता थे।

(७) हेमचन्द्राचार्य – योगशास्त्र के विद्वान् थे।

(८) शोढ्ल—ये १२वी श. ईसवी मे हुए है। इनका क्षेत्र गुजरात था। इन्होंने आयुर्वेद के "गद निग्रह" और "गुण सग्रह" ग्रन्थ लिखे है। वे उपलब्ध है और प्रायोगिक व्यवहार के लिये उत्तम ग्रन्थ है।

(९) उग्रादित्य—ये ९वी श ईसवी के कर्नाटक के जैन वैद्य थे, धर्मशास्त्र एव आयुर्वेद के विद्वान थे। जीवन का अधिक समय चिकित्सक के रूप मे व्यतीत किया था। ये राष्ट्रकूट नृप राजा तुग अमोघवर्ष के राजवैद्य थे। इन्होंने कल्याण-कारक नामक चिकित्सा ग्रन्थ लिखा है जो आज उपलब्ध है। इसमे २६ अध्याय है। इनमे रोग-लक्षण, चिकित्सा, शरीर, कल्प, अगदतत्र एव रसायन का वर्णन है। यह सोलापुर से प्रकाशित है। रोगो का दोषानुसार वर्गीकरण आचार्य की विशेषता है। इन्होंने जैन आचार-विचार की दृष्टि से चिकित्सा की व्यवस्था मे मद्य, मास और मधु का प्रयोग नही बताया है। इन्होंने अमोघवर्ष के दरबार मे मासाहार की निरर्थकता वैज्ञानिक प्रमाणो के द्वारा प्रस्तुत की थी और अन्त मे वे विजयी रहे।

मासाहार रोग दूर करने की अपेक्षा अनेक नये रोगो को जन्म देता है, यह इन्होंने लिखा है। यह बात आज के युग में उतनी ही सत्य है जितनी उस समय थी।

(१०) वीर सिंह—वे १३वी श. ईसवी मे हुये है। इन्होंने चिकित्सा की दृष्टि से ज्योतिष का महत्त्व लिखा है। वीरसिंहावलोक इनका ग्रन्थ है।

(११) नागार्जुन—इस नाम के कई आचार्य हुये थे जिनमे ३ प्रमुख है। जो नागार्जुन सिद्ध नागार्जुन थे ६०० ईसवी मे हुए है। वे पूज्यपाद के शिष्य थे। उन्हे रसशास्त्र का बहुत ज्ञान था। उन्होने नेपाल, तिब्बत आदि स्थानो की यात्रा की और वहा रसशास्त्र को फैलाया था। इन्होंने पूज्यपाद से मोक्ष-प्राप्ति हेतु रसविद्या सीखी थी। इन्होंने (१) रसकाचपुटम् और (२) कक्षपुट तथा सिद्ध चामुण्डा ग्रन्थ लिखे थे। भदन्त नागार्जुन और भिक्षुनागार्जुन बौद्ध मतावलम्बी थे।

(१२) पडित आशाधर—ये न्याय, व्याकरण, धर्म आदि के साथ आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी थे। इन्होंने अष्टाग हृदय नामक (वाग्भट्ट, जो आयुर्वेद के ऋषि थे, उनके ग्रन्थ की) उद्योतिनी टीका की है, जो अप्राप्य है। इनका काल वि. सं. १२७२ है। ये मालव नरेश अर्जुन-

वर्मा के समय धारा नगरी में थे। इनके वैद्यक ज्ञान का प्रभाव इनके "सागारधर्मामृत" ग्रन्थ मे मिलता है। अत. ये विद्वान् वैद्य थे। इनके लिए सूरि, नयविश्वचक्षु, कलिकालिदास, प्रज्ञापुज आदि विशेषणो का प्रयोग किया गया है। अत इनके वैद्य होने मे सदेह नही है। पडितजी ने समाज को पूर्ण अहिंसक जीवन बिताते हुए मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है। शरीर, मन, और आत्मा का कल्याणकारी उपदेश इनके सागरधर्मामृत मे है। उनके अनुसार यदि श्रावक आचरण करे तो रुग्ण होने का अवसर नही आ सकता है।

(१३) **भिषक् शिरोमणि हर्षकीर्ति सूरि**—इनका ठीक काल ज्ञात नही हो सका है। ये नागपुरीय तपागच्छीय चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और मानकीर्ति इनके गुरु थे। इन्होने योगचिन्तामणि और व्याधिनिग्रह ग्रन्थ लिखे है। दोनो उपलब्ध है और प्रकाशित है। दोनो चिकित्सा के लिए उपयोगी है। इनके साहित्य मे चरक, सुश्रुत एव वाग्भट्ट का सार है। कुछ नवीन योगो का मिश्रण है जो इनके स्वय के चिकित्सा ज्ञान की गरिमा है। ग्रन्थ जैन आचार्यों की रक्षा हेतु लिखा गया है।

(१४) **डा० प्राणजीवन माणिकचन्द्र मेहता**—इनका जन्म १८८९ में हुआ। ये एम. डी. डिग्रीधारी जैन है। इन्होने चरकसंहिता के अंग्रेजी अनुवाद मे योग दान दिया है। ये जामनगर की आयुर्वेद सस्था मे सचालक रहे है।

इस प्रकार आयुर्वेद साहित्यके अनेक जैनमनीषी आचार्य हुए है। वर्तमान काल मे भी कई जैन साधु तथा श्रावक चिकित्सा शास्त्र के अच्छे जानकार है किन्तु उन्होंने कोई ग्रन्थ नही लिखे है। मैंने कई जैन साधुओं को शल्य चिकित्सा का कार्य सफलता पूर्वक निष्पन्न करते हुए देखा है।

जैन आचार्यो ने आयुर्वेद साहित्य का लेखन तथा व्यवहार समाज हित के लिए किया है। भारतवर्ष में जैन धर्म की अपनी दृष्टि है और उसमे जीवन को सम्यक् प्रकार से जीते हुए मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त करना दृष्टव्य है। इसलिए आहार-विहार आदि के लिए उन्होंने अहिंसात्मक समाज निर्माण विचार का वर्णन किया है। चिकित्सा मे मद्य, मास और मधु के प्रयोग का धार्मिक दृष्टि से समावेश नही किया है। वैदिक परम्परा के आचार्यों ने जो आयुर्वेद साहित्य लिखा है उससे तो जैन परम्परा के द्वारा लिखित आयुर्वेद साहित्यमे उक्त दोनो परम्पराओ की अच्छी बातो के साथ साथ निजी विशेषतायें है। वे अहिंसात्मक विचार के है जिनका सबध शरीर, मन और आत्मा से है। इसका फल समाज मे अच्छा हुआ है। आज जैन आचार्यो ने जो आयुर्वेद साहित्य लिखा है उसके सैद्धान्तिक एव व्यवहार पक्ष का पूरा परीक्षण होना शेष है। जैन समाज तथा शासन को इस भारतीय ज्ञान के विकास हेतु आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए।

□□

शिव और जिन की पूजा विधि में एकरूपता

जैन और शैव की पूजा सामग्री में एकरूपता है। जल, सुगध, अक्षत, दीपधूप, नैवेद्य और फल यही अष्ट द्रव्य दोनों की पूजा-विधियों की साधन सामग्री होती है

पत्रैः पुष्पैः फलैर्वापि जलैर्वा विमलैः सदा।
करवीरैः पूज्यमानः शकरो वरदो भवेत्॥

—स्कन्दपुराण १, ५, ८९। अग्नि पुराण ७४, ६३ आदि

तीर्थंकर महावीर

□ श्री प्रेमचन्द जैन, एम० ए०, दर्शनाचार्य, जयपुर

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करते है तो हृदय मग्न रह जाता है। यह विश्वास ही नही हो पाता कि क्या भारतीय संस्कृति इतनी विकृत, इतनी गन्दली, इतनी तिरस्कृत बन सकती है? सत्ता, महत्ता, प्रभुता व अन्धविश्वास के नाम पर इतने अत्यधिक अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार पनप सकते है? संक्षेप म कहा जा सकता है कि उस युग मे मानव मानव न रहकर दानव बन चुका था; धर्म के नाम पर, सस्कृति के नाम पर, सभ्यता के नाम पर वह मूक पशुओ के प्राणो के साथ खिलवाड कर रहा था। जातिवाद, पथवाद और गुरुडमवाद का स्वर इतना तेजस्वी बन चुका था कि मानवता की आवाज सुनाई नहीं दे रही थी। स्त्री-जाति की दशा भी दयनीय थी। वह गृहलक्ष्मी के पद से हटकर गृहदासी बन गई थी। मानवीय आदर्शों के लिए वस्तुतः वह एक प्रलय की घड़ी थी।

ऐसी विकट घड़ी मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्य रात्रि मे विदेह (बिहार) देशस्थ कुण्डपुर[1] मे भगवान महावीर का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम त्रिशला[2] (प्रियकारिणी), पिता का नाम सिद्धार्थ[3], बड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन[4], बहन का नाम सुदर्शना[5] तथा नाना का नाम चेटक[6] था।

तेजःपुंज भगवान के गर्भ मे आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनों की, धन धान्य की विशेष समृद्धि हुई, उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा, माता की प्रतिभा चमक उठी, वह सहज ही अनेक गूढ प्रश्नो का उत्तर देने लगी और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख-शान्ति का अधिक अनुभव करने लगे। इससे जन्म काल मे आपका सार्थक नाम 'वर्द्धमान' रखा गया[7], ऐसा प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक डाक्टर हर्मन जेकोबी और डाक्टर ए० एफ० आर० हार्नेल आदि का मन्तव्य है।

ज्ञातृकुल मे उत्पन्न होने से दूसरा नाम 'नायपुत्र' (ज्ञातपुत्र या ज्ञातपुत्त) रखा गया। आचारांग[8], सूत्रकृतांग[9], भगवती[10], उत्तराध्ययन[11], दशवैकालिक[12] आदि मे प्रस्तुत नाम का स्पष्ट उल्लेख अनेक स्थलो पर

१. श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कुछ ग्रन्थो मे 'क्षत्रियकुण्ड' ऐसा नामोल्लेख भी मिलता है जो सम्भवत कुण्डपुर का एक मोहल्ला जान पड़ता है; अन्यथा, उसी सम्प्रदाय के दूसरे ग्रन्थों मे कुण्डग्रामादि रूप से कुण्डपुर का साफ उल्लेख पाया जाता है। यथा—
"हत्थुत्तराहि जाओ कुडग्गामे महावीरो।"
आ० नि० भा०
यह कुण्डपुर ही आजकल कुण्डलपुर कहा जाता है, जो कि वास्तव मे वैशाली का उपनगर था।

२. देखिये जैन हरिवश पुराण, सर्ग २।१८।

३. ,, ,, ,, सर्ग २।१४।

४. कल्प सूत्र १०५, पृ० ३६।

५. आचारांग दि० श्रु० भाग (ख) कल्पसूत्र सूत्र १०७, पृ० ३६।

६. आचारांग।

७. देखो, गुणभद्राचार्य कृत महापुराण का ७४वा पर्व।

८. आचारांग द्वि० श्रु० अ० १५, सू० १००३।
(ख) आ० चा० श्रु० १, अ० ८ उ० ८, ४४८।

९. (क) सूत्र उ० १, गा० २२।
(ख) सूत्र श्रु० १, अ० ६, गा० २।
(ग) सूत्र श्रु० १, अ० गाथा २४।
(घ) सूत्र श्रु० २, अ० ६, गाथा १६।

१०. भगवती श० १५, ७६।

११. उत्तरा० अ० ६, गाथा १७।

१२. दश० अ० ५, उ० २, गाथा ४६।
(ख) दश० अ० ६, गाथा २१।

हुआ है। विनयपिटक[१३], मज्झिमनिकाय[१४], दीघनिकाय[१५], सुत्तनिपात्त[१६] में भी यह नाम मिलता है। महावीर 'जात' वंश के क्षत्रिय थे। 'जात' यह प्राकृत भाषा का शब्द है और 'नात' ऐसा दन्त्य नकार से भी लिखा जाता है। संस्कृत में इसका पर्याय रूप होता है 'ज्ञात'। इसी से चारित्रभक्ति मे भी पूज्यपादाचार्य ने श्री अज्ञातकुलेन्दुना पद के द्वारा महावीर भगवान को ज्ञात वंश का चन्द्रमा लिखा है और इसी से महावीर जातपुत अथवा ज्ञातपुत्र भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थों में भी उल्लेख पाया जाता है।[१७]

श्री जिनदास महत्ता और अगस्त्य सिंह स्थविर के कथनानुसार 'ज्ञान' क्षत्रियो का एक कुल या जाति है। वे ज्ञात शब्द से ज्ञातकुल समुत्पन्न सिद्धार्थ का अर्थ ग्रहण करते है और ज्ञातपुत्र से महावीर का[१८]। आचार्य हरिभद्र ने ज्ञात का अर्थ उदार क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है। प्रो० बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय के अनुसार, लिच्छवियों की एक शाखा या वंश का नाम 'नाय' (नात) था। 'नाय' शब्द का अर्थ सम्भवतः ज्ञाति है।[१९] 'नायधम्म कहा' कहा गया है।[२०] 'धनंजय-नाममाला' मे भी महावीर का वश 'नाथ' माना गया है और उन्हें नाथान्वय कहा गया है।[२१] सम्भवतः 'नाय' शब्द का ही 'नाथ' और नात अपभ्रश हो गया है।

भगवान् महावीर की वचपन की घटनाओ मे से खास तौर पर दो घटनायें उल्लेख योग्य है—संजय और विजय नाम के दो चारण मुनियों को तत्त्वार्थ-विषयक कोई भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था। जन्म के कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शन मात्र से उनका वह सब सन्देह तत्काल दूर हो गया और इस प्रकार उन्होंने बडी भक्ति से आपका नाम सन्मति रखा[२२]। दूसरी घटना—एक दिन आप बहुत से राजकुमारों के साथ वन मे वृक्ष क्रीडा कर रहे थे, इतने में वहा महा भयकर और बिशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्ष को ही मूल से लेकर स्कन्ध पर्यन्त बैठकर स्थित हो गया जिस पर आप चढ़े हुए थे। उसके विकराल रूप को देख कर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशा में वृक्षों पर से गिरकर अथवा कूद कर अपने-अपने घर को भाग गये, परन्तु आपके हृदय मे जरा भी भय का संचार नहीं हुआ। आप बिल्कुल निर्भयचित्त होकर उस काले नाग से ही क्रीडा करने लगे और आपने उस पर सवार होकर अपने वल तथा पराक्रम से उसे खूब ही घुमाया-फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्त से आप लोक मे महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए[२३]।

तीस वर्ष के कुसुमित यौवन मे भगवान् महावीर संसार-देहभोगो से पूर्णतया विरक्त हो गये। उन्हे अपने आत्मोत्कर्ष को साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करने

१३. महावग्ग पृ० २४२।
१४. (क) उपालि सुत्तन्त—पृ० २२२।
(ख) चूल दुक्ख करवन्ध सुत्तन्त पृ० ५९।
(ग) चूल सारोपम सुत्तन्त पृ० १२४।
(घ) महासच्चक सुत्तन्त पृ० १४७।
(ङ) अभयराज कुमार सुत्तन्त पृ० २३४।
(च) देवरह सुत्तन्त पृ० ४२८।
(छ) सामागाय सुत्तन्त पृ० ४४१।
१५. (क) सामांजफल सुत्त पृ० १८-२१।
(ख) सगीति परियाय सूत्त २८२।
(ग) महापरिनिर्वाण सूत्त पृ० १४५।
(घ) पासादिक सूत्त २५२।
१६. सुभिय सुत्त, पृ० १०८।
१७.
१८. (क) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ० २२१,
(ख) अगस्त्य चूर्णि।
१९. जैन भारती, वर्ष २, अ० १४-१५, पृ० २५६।
२०. जयधवला—भाग १, पृ० १२५।
२१. धनंजय नाममाला, ११५।
२२. सजयस्यार्थसदेहे संजाते विजयस्य च।
जन्मान्तरमेवैं न मन्येत्यालोकमात्रतः॥
तत्सन्देहगते ताभ्यां चारणाभ्या स्वभक्तितः।
अस्त्वेवषसन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः॥
—महापुराण, पर्व ७४वां।
२३. इसमे से पहली घटना का उल्लेख प्रायः दिगम्बर ग्रंथों में और दूसरी का दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रथों में बहुलता से पाया जाता है।

की ही नहीं, किन्तु संसार के जीवों को सन्मार्ग पर लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा करने की एक विशेष लगन लगी। दीन दुखियों की पुकार उनके हृदय मे घर कर गई और इसलिए उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवास को उचित न समझ कर, जबकि चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र पर ही विद्यमान था, तब मगसिर वदी दशमी के दिन जगल का रास्ता लिया[२४]।

तदनन्तर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानरूपी महानेत्रों को धारण करने वाले भगवान् ने बारह वर्ष तक अनशन आदिक बारह प्रकार का तप किया[२५]। तत्पश्चात् गुणसमूहरूपी परिग्रह को धारण करने वाले श्री वर्द्धमान स्वामी विहार करते हुए ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृम्भिक गाव के समीप पहुंचे। वहा बैशाख सुदी दशमी के दिन दो दिन के उपवास का नियम कर वे शाल वृक्ष के समीप स्थित शिलातल पर आतापन योग मे आरूढ़ हुए। उसी समय जब कि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी नक्षत्र मे स्थित था, तब शुक्ल ध्यान को धारण करने वाले वर्धमान जिनेन्द्र घातिया कर्मों के समूह को नष्टकर केवलज्ञान का प्राप्त हुए[२६]।

सर्वज्ञ होने के पश्चात् भगवान् महावीर छियासठ दिन तक मौन से बिहार करते हुए जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये[२७]। वहा भगवान् के आन का वृत्तान्त जान कर चारो ओर से आने वाले सुरों और असुरो से जगत इस प्रकार भर गया जिस प्रकार मानो जिनेन्द्रदेव के गुणो से ही भर गया हो। इस प्रकार, जब बारह कोठो मे बारह गण जिनेन्द्र भगवान् के चारो ओर प्रदक्षिणा रूप से परिक्रमा, स्तुति और नमस्कार कर विद्यमान थे, तब समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने वाले एव राग, द्वेष और मोह इन तीनों दोषो का क्षय करने वाले पापनाशक श्री जिनेन्द्र देव से गौतम गणधर ने तीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए प्रश्न किया[२८]। तदनन्तर भगवान् महावीर प्रभु ने श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के प्रात. काल के समय अभिजित नक्षत्र मे समस्त सशयो को छेदने वाले, दुन्दुभि के शब्द के समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्य ध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलने के लिए उपदेश दिया, प्रथम ही भगवान् महावीर ने आचारांग का उपदेश दिया, पश्चात् सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्म कथांग, श्रावकाध्ययनांग, अन्तकृद्-शांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्न व्याकरणांग और विपाक सूत्रांग इन ग्यारह अंगों का उपदेश दिया।

विहार करते हुए आप जिस-जिस स्थान पर पहुचते थे और वहाँ आपके उपदेश के लिए जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैन साहित्य मे 'समवसरण' नाम से उल्लेखित किया गया है, उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिए खुला रहता था। पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहा पहुच जाते थे, जाति-पाति, छुआछूत और ऊंचनीच का उसमें कोई भेद नही था, सब मनुष्य एक ही मनुष्य जाति में परिगणित होते थे और उक्त प्रकार के भेदभाव को भूलकर आपस मे प्रेम के साथ रल-मिलकर बैठते और धर्म श्रवण करते थे—मानो सब एक ही पिता की सन्तान हो। इस आदर्श से समवसरण मे भगवान महावीर की समता और उदारता मूर्तिमान नजर आती थी और वे लोग तो उसमे प्रवेश पाकर बेहद सन्तुष्ट होते थे जो समाज के अत्याचारो से पीड़ित थे, जिन्हे कभी धर्मश्रवण का, शास्त्रो के अध्ययन का, अपने विकास का और उच्च संस्कृति को प्राप्त करने का अवसर ही नही मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नहो समझे जाते थे। इसके सिवाय समवसरण की भूमि मे प्रवेश करते ही भगवान महावीर के सामीप्य से जीवों का बैर-भाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य भाव बन जाते थे और उनका जाति विरोध तक मिट जाता था। इसी से सर्प को नकुल या मयूर के पास बैठने मे कोई भय नही होता था, चूहा बिना किसी सकोच के बिल्ली का आलिंगन करता था, गौ और सिंह मिलकर एक ही नाद मे जल पीते थे और मृग शावक खुशी से सिंह शावक के साथ खेलता था। यह सब महावीर के योगबल का माहात्म्य था। उनके आत्मा मे अहिंसा की

२४. हरिवंश पुराण, २।५१।
२५. जैन हरिवंश पुराण, २।५६।
२६. जैन हरिवंश पुराण, २।५७-५६।
२७. हरिवंश पुराण, २।६०।
२८. हरिवंश पुराण, २।८७-८६।

पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिए उनके सन्निकट अथवा उनकी उपस्थिति मे किसी का बैर स्थिर नहीं रह पाता था।

महावीर की धर्मदेशना और विजय के सम्बन्ध मे कवि सम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जो दो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार है :—

"Mahavira pro-claimed in India the message of the salvation that religion is a relating and not a mere social convention; that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community; that religion can not regard any barrier between man and man as an external variety. Wondrous to relate; this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power."

अर्थात्—महावीर ने डंके की चोट से भारत मे मुक्ति का ऐसा सन्देश घोषित किया कि धर्म कोई महज सामाजिक रूढि नहीं बल्कि वास्तविक सत्य है, वस्तु स्वभाव है, और मुक्ति उस धर्म मे आश्रय लेने से ही मिल सकती है, न कि समाज के बाह्य आचारो का, विधि-विधानो अथवा क्रियाकाण्डो का पालन करने से, और धर्म की दृष्टि मे मनुष्य मनुष्य के बीच कोई भेद स्थायी नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षण ने बद्ध-मूल हुई जाति की हदबन्दियो को शीघ्र ही तोड़ डाला और सम्पूर्ण देश पर विजय प्राप्त की। उस वक्त क्षत्रिय गुरुओ के प्रभाव ने बहुत समय के लिए ब्राह्मणो की सत्ता को पूरी तौर से दबा दिया था।

श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर वे तीर्थंकर बने। भगवान के संघ मे चौदह हजार श्रमण और छत्तीस हजार श्रमणिया सम्मिलित हुई।[29] नन्दीसूत्र के अनुसार चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे।[30] इससे ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साधुओं की सख्या इससे अधिक थी। कल्पसूत्र के अनुसार, एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएं थी।[31] यह संख्या भी व्रती श्रावकों की दृष्टि से ही सम्भव है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालो की सख्या इससे भी अधिक होनी चाहिए।

महावीर के प्रभावोत्पादक प्रवचनों से प्रभावित होकर भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के सत भी उनकी ओर आकर्षित हुए। उत्तराध्ययन मे पार्श्वापत्य केशी और गौतम का मधुर सवाद है। संशय नष्ट होने पर उन्होंने भगवान के पाच महाव्रत वाले धर्म को ग्रहण किया।[32] वाणिज्य ग्राम मे भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी गागेय अनगार और भगवान महावीर के बीच महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हुए। अन्त मे सर्वज्ञ समझकर महावीर के सघ मे मिले।[33] गौतम ने निर्ग्रन्थ उदक पेढाल पुत्र को समझाकर सघ मे सम्मिलित किया[34] और स्थविरो को समझाकर कालस्यवेपि अनगार को भी।[35] भगवती सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि भगवान की परिषद् मे अन्यतीर्थिक संन्यासी भी उपस्थित होते थे। आर्य स्कन्धक[36], अम्बड[37], पुद्गल[38] और शिव[39] आदि परिव्राजकों ने भगवान से प्रश्न किया और प्रश्नो के समाधान से सन्तुष्ट होकर अन्त मे शिष्य बने।

भगवान के त्यागमय उपदेश को सुनकर: (१) वीरागक, (२) वीरयश, (३) सजय, (४) एजेयक, (५) सेय, (६) शिव (७) उदयक, (८) शंख-काशी-वर्धन ने श्रमण धर्म अंगीकार किया था।[40] मगधाधीश

(शेष पृ० ५५ पर)

२९. औपपातिक वीर वर्णन, ११।
३०. नन्दी सूत्र।
३१. कल्पसूत्र, सू० १३५, पृ० ४३, सू० १३६, पृ० ४४।
३२. उत्तराध्ययन, अ० २३, गाथा ७७।
३३. भगवती श० ६, उ० ३२, सूत्र ३७८।
३४. सूत्रकृतांग श्रु० २, अ० ७, सूत्र ८१२।
३५. भगवती श० १, उ० ६, सूत्र ७४।
३६. भगवती श० १, उ० १।
३७. औपपातिक टी० सूत्र ४, पृ७ ८१२, १६५।
    (ख) भगवती श० १४, उ० ८।
३८. भगवती श० २, उ० ५।
३९. भगवती श० उ० १०।
४०. ज्ञातधर्म कथा, अ० १।

खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर का शिल्प वैभव

☐ श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, आजमगढ़

मध्यप्रदेश के सतना जिले के छतरपुर नामक स्थान पर स्थित खजुराहो मध्ययुगीन भारतीय स्थापत्य एवं मूर्तिकला का एक विशिष्ट केन्द्र रहा है। अपने वास्तु एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य और साथ ही कामक्रिया से सम्बन्धित चित्रणों के कारण खजुराहो के मन्दिर आज भी विश्व प्रसिद्ध है। मध्ययुग में खजुराहो चन्देल शासकों की राजधानी रही है। चन्देल शासकों के काल में हिन्दू मन्दिरों के साथ ही खजुराहो में जैन मन्दिरों का भी निर्माण किया गया था। खजुराहो में सम्प्रति तीन प्राचीन और ३२ नवीन जैन मन्दिर अवस्थित हैं। वर्तमान में खजुराहो ग्राम के समीप अवस्थित जैन मन्दिरों का समूह खजुराहो का पूर्वी देव-मन्दिर-समूह कहलाता है। जैन मन्दिरों में सम्प्रति पार्श्वनाथ और आदिनाथ मन्दिर ही पूर्णतः सुरक्षित हैं। तीसरा मन्दिर घण्टई मन्दिर है, जिसका केवल अर्धमण्डप एवं महामण्डप ही अवशिष्ट है। उपर्युक्त प्राचीन मन्दिरों के अतिरिक्त खजुराहो में १५ अन्य जैन मन्दिर भी रहे हैं। इसकी पुष्टि उपर्युक्त सुरक्षित मन्दिरों के पांच उत्तरांगों के अतिरिक्त १५ अन्य उत्तरांगों की प्राप्ति से होती है। जैन परम्परा में मान्यता है कि ६५० ई० से १०५० ई० के मध्य खजुराहो में ८४ जैन मन्दिरों का निर्माण किया गया था (विविध तीर्थ कल्प)। खजुराहो की जैन मूर्तियों का समूचा समूह दसवीं से बारहवीं शती ई० (६५०—११५० ई०) के मध्य तिथ्यंकित किया गया है।

खजुराहो की समस्त जैन शिल्प सामग्री एवं स्थापत्यगत अवशेष दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। इसका आधार जैन तीर्थंकरों (या जिनों) की निर्वस्त्र मूर्तियों और प्रवेशद्वार पर १६ मांगलिक स्वप्नों के चित्रण हैं। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा की मूर्तियों में तीर्थंकरों का सर्वदा वस्त्र-युक्त दिखाया गया है। जैन परम्परा में मान्यता है कि इस अवसर्पिणी युग में अवतरित होने वाले सभी २४ तीर्थंकरों की माताओं ने उनके जन्म के पूर्व शुभ स्वप्नों का दर्शन किया था। श्वेताम्बर परम्परा में शुभ स्वप्नों की संख्या १४ बताई गई है, जबकि दिगम्बर परम्परा १६ स्वप्नों के दर्शन का उल्लेख करती है।

जैन समूह के मन्दिरों में पार्श्वनाथ मन्दिर प्राचीनतम है। पार्श्वनाथ मन्दिर अपनी स्थापत्यगत योजना एवं मूर्त अलंकरणों की दृष्टि से खजुराहो के जैन मन्दिरों में सर्वोत्कृष्ट एवं विशालतम है। खजुराहो की कई विश्व-प्रसिद्ध अप्सरा मूर्तियां (दर्पण देखती, काजल लगाती, प्रेमी को पत्र लिखती और पैर में चुभे कांटे को बाहर निकालती) भी इसी मन्दिर पर उत्कीर्ण हैं। शिल्प, वास्तु एवं अभिलेख के आधार पर पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माणकाल चन्देल शासक धंग के शासन काल के प्रारम्भिक दिनों (९५०-९७० ई०) में स्वीकार किया गया है। मन्दिर में संवत् १०११ (९५४ ई०) का एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है।

पूर्वमुखी पार्श्वनाथ मन्दिर प्रदक्षिणापथ से युक्त गर्भगृह, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप से युक्त है। मन्दिर के पश्चिमी भाग में एक अतिरिक्त देवकुलिका भी संयुक्त है, जिसमें ऋषभनाथ (प्रथम तीर्थंकर) की ग्यारहवीं शती ई० की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। ज्ञातव्य है कि वर्तमान पार्श्वनाथ मन्दिर मूलतः प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ को समर्पित था। पर १८६० में गर्भगृह में स्थापित काले पत्थर की पार्श्वनाथ (२३वें तीर्थंकर) की मूर्ति के कारण ही उसे पार्श्वनाथ मन्दिर के नाम से जाना जाने लगा। मंडप के ललाटबिंब पर ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी आमूर्तित है। साथ ही, गर्भगृह की मूल प्रतिमा के सिंहासन पर ऋषभ का वृषभ लांछन और छोरों पर ऋषभ से ही सम्बन्धित यक्ष-यक्षी युगल, गोमुख-चक्रेश्वरी निरूपित हैं।

मन्दिर की बाह्य भित्ति पर तीन पंक्तियों में देव मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से केवल निचली दो पंक्तियों की मूर्तिया ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि ऊपरी पक्ति मे केवल विद्याधर युगल, गन्धर्व एवं किन्नर की उड्डीयमान आकृतियां चित्रित है। मध्य की पक्ति में विभिन्न देव युगलों, लक्ष्मी एव तीर्थंकरों की लॉछन (या लक्षण) रहित स्थानक एव ध्यानस्थ मूर्तियां उत्कीर्णित है। उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा मे २४ तीर्थंकरो की अलग२ पहचान के लिए स्वतन्त्र लाछनो की कल्पना की गई थी। सभी तीर्थंकरो के लक्षणो के निर्धारण का कार्य सातवीं-आठवीं शती ई० मे पूरा हो गया था। मूर्तियो मे तीर्थंकरों को या तो कायोत्सर्ग मे दोनो भुजाए नीचे लटकाए सीधे खडा प्रदर्शित किया जाता है, या फिर ध्यान मुद्रा मे पालथी मारकर पर्यकासन मे विराजमान। निचली पक्ति मे अष्ट दिक्पालों (इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान,) देवयुगलों (शक्ति के साथ आलिगन मुद्रा मे) यक्षी अम्बिका (२२ वे तीर्थकर नेमिनाथ की यक्षी), तीर्थंकरो एवं चतुर्भुज शिव, विष्णु, ब्रह्मा और विश्वप्रसिद्ध अप्सराओ की मूर्तिया चित्रित है।

दोनो पक्तियों की त्रिभंग मे खड़ी स्वतत्र एव देवयुगल आकृतियो मे देवता जहा चतुर्भुज है, वही उनकी शक्ति सदैव द्विभुजा है। देवताओं की शक्तियो की एक भुजा आलिगन की मुद्रा मे प्रदर्शित है और दूसरी मे दर्पण या पद्म स्थित है। स्पष्ट है कि विभिन्न देवताओं के साथ पारंपरिक शक्तियो, (यथा, विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ ब्रह्माणी), के स्थान पर सामान्य एव व्यक्तिगत विशिष्टताओ से रहित देवियो को आमूर्तित किया गया है। भित्ति के अतिरिक्त देवयुगलो की कुछ मूर्तियाँ अर्धमंडप की छत के समीप एव मन्दिर के कुछ अन्य भागो पर भी उत्कीर्ण है। देवयुगलो मे शिव (६ मूर्तियाँ), अग्नि (१ मूर्ति) एव कुबेर के अतिरिक्त राम-सीता (कपिमुख हनुमान के साथ) और बलराम-रेवती के चित्रण भी प्राप्त होते है। रामकथा से सम्बन्धित एक विशिष्ट दृश्य मन्दिर के दक्षिणी शिखर के समीप उत्कीर्ण है। दृश्य मे क्लांतमुख सीता को अशोकवाटिका में बैठे और हनुमान से राम की मुद्रिका एवं सन्देश प्राप्त करते दर्शाया गया है। कुछ रथिकाओं में चतुर्भुज लक्ष्मी (३ मूर्तियाँ) एवं त्रिमुख ब्रह्माणी की भी मूर्तियाँ निरूपित हैं। सम्पूर्ण अध्ययन से स्पष्ट है कि जैन यक्षी अम्बिका (२ मूर्तियां) एव तीर्थंकर मूर्तियो के अतिरिक्त भित्ति एवं अन्य भागों की सभी मूर्तिया हिन्दू देवकुल के देवताओं से सम्बन्धित एव प्रभावित रही है। शिखर के समीप उत्तरी एवं दक्षिणी भागो पर कामक्रिया में रत दो युगलो का अकन प्राप्त होता है जो पूरी तरह जैन परम्परा की अवमानना है। ऐसे परम्परा विरुद्ध चित्रणो का कारण सम्भवत: उसी स्थल के हिन्दू मन्दिरों पर प्राप्त कामक्रिया मे सम्बन्धित (लक्ष्मण मन्दिर) चित्रणों का प्रभाव और जैन मन्दिरों के निर्माण मे हिन्दू शिल्पियो का कार्यरत रहा होना होगा। उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा मे किसी भी देवता को कभी अपनी शक्ति के साथ नही निरूपित किया गया है, फिर शक्ति के साथ और वह भी आलिंगन की मुद्रा में चित्रण का प्रश्न ही नहीं उठता।

गर्भगृह की भित्ति पर अष्ट दिक्पालों, तीर्थंकरो, बाहुबली एवं चतुर्भुज शिव (८ मूर्तियाँ) उत्कीर्ण है। वृषभ-बाहन से युक्त चतुर्भुज शिव की भुजाओ मे सामान्यत: नाग, त्रिशूल, कमडल एव फल प्रदर्शित है। बाह्य भित्ति की तीर्थंकर मूर्तियो के विपरीत गर्भगृह की भित्ति की तीर्थंकर मूर्तियां लाछन, अष्टप्रातिहार्य एव यक्ष-यक्षी युगल से युक्त है। गर्भगृह की भित्ति पर कुल ६ तीर्थङ्कर मूर्तियाँ चित्रित है, जिनमे से केवल ४ मे ही लॉछन स्पष्ट है। अष्टप्रातिहार्य एव यक्ष-यक्षी युगल सभी उदाहरणो मे प्रदर्शित है। उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीर्थङ्कर मूर्तिया प्रतिमालाक्षणिक दृष्टि से पूर्ण विकसित तीर्थङ्कर मूर्तियाँ है। तीर्थंकर मूर्तियो के परिकर मे आकलित अष्टप्रातिहार्य निम्न है:—सिंहासन, दिव्यतरु, त्रिछत्र, प्रभामडल, देवदुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि एव चामरयुग्म। लगभग आठवीं-नवीं शती मे ही प्रत्येक तीर्थंकर के शासन देवता होते है। उक्त मूर्तियो मे लांछनों के आधार पर केवल अभिनन्दन (चौथे तीर्थंकर), सुमतिनाथ (५वें तीर्थंकर) या मुनिसुव्रत (२०वें तीर्थंकर), चन्द्रप्रभ (८वें तीर्थंकर) एवं महावीर (२४वें तीर्थंकर) की ही पहचान

सम्भव है। यक्ष-यक्षी युगल सभी उदाहरणों मे द्विभुज, सादे एवं समरूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि खजुराहो मे अभी तक (९५४ ई०) स्वतन्त्र यक्ष-यक्षी युगलो के लाक्षणिक स्वरूपो का निर्धारण नही हो पाया था।

तीर्थंकर मूर्तियों से कही अधिक महत्वपूर्ण गर्भगृह की दक्षिण भित्ति पर बाहुबली मूर्ति है। उत्तर भारत मे बाहुबली मूर्ति का यह सम्भवतः दूसरा प्राचीनतम उदाहरण है। बाहुबली निर्वस्त्र है और कायोत्सर्ग मुद्रा मे सिहासन पर खड़े है। बाहुबली के साथ तीर्थंकर मूर्तियो के समान ही सिहासन, चामरधरों एवं उड्डीयमान गन्धर्वों जैसे प्रातिहार्यों को भी प्रदर्शित किया गया है। बाहुबली के सम्पूर्ण शरीर से माधवी, वृश्चिक, छिपकली एवं सर्प लिपटे है। दोनों पार्श्वों मे दो विद्याधरिया आमूर्तित है जिनकी भुजाओं मे बाहुबली के शरीर से लिपटी लतावल्लरियों के छोर स्थित है। बाहुबली प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र है। इन्होंने राज्य का त्याग कर जगलो मे कठिन तपस्या की थी। तपस्या के परिणामस्वरूप ही इन्हे केवल-ज्ञान और निर्वाण-पद प्राप्त हुआ था। बाहुबली के शरीर पर माधवी, वृश्चिक, एव सर्प आदि का लिपटा होना बाहुबली के कठोर तपश्चर्या का ही सूचक है।

पार्श्वनाथ मन्दिर पर केवल दो ही जैन यक्षियों (अम्बिका एव चक्रेश्वरी) को आमूर्तित किया गया है। अम्बिका (नेमिनाथ की यक्षी) की दो मूर्तियां प्राप्त होती है, जो क्रमश बाह्य भित्ति और शिखर के समीप उत्कीर्ण है। सिहवाहिनी अम्बिका के करों मे परम्परा के अनुरूप ही आम्रलुम्बि और बालक प्रदर्शित है। चक्रेश्वरी (ऋषभनाथ की यक्षी) की केवल एक ही मूर्ति प्राप्त होती है, जो मन्दिर के प्रवेशद्वार के ललाटबिम्ब पर उत्कीर्ण है। दशभुजा चक्रेश्वरी का वाहन गरुड़ है और उसकी अधिकतर भुजाओ मे वैष्णवी देवी (हिन्दू देवी) के आयुध चक्र, शख एव गदा प्रदर्शित है। वाग्देवी सरस्वती की ६ मूर्तियां प्राप्त होती है। सरस्वती की भुजाओं मे सामान्यतः वीणा, पुस्तक एवं पद्म प्रदर्शित है। मण्डप, गर्भगृह एव पश्चिम के संयुक्त जिनालय के उत्तरांगो पर द्विभुज नवग्रहो की स्थानक आकृतियां चित्रित है। द्वार शाखाओ पर हिन्दू मन्दिरो के सदृश ही मकरवाहिनी गगा और कूर्मवाहिनी यमुना की द्विभुज आकृतियां उत्कीर्णित है।

प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास,
श्री गांधी डिग्री कालेज, मालटारी
आजमगढ (उ० प्र०)

□□□

(पृ० ५२ का शेषांश)

सम्राट् श्रेणिक के पुत्रो ने भी भगवान के पास संयम ग्रहण किया था और श्रेणिक का सूकाली, महाकाली, कृष्णा आदि दश[41] महारानियो ने भी दीक्षा ली थी। धन्ना[42] और शीलभद्र[43] जैसे धन-कुबेरो ने भी सयम स्वीकार किया। आर्द्रकुमार[44] जैसे आर्येत्तर जाति के युवको ने और हरिकेशी[45] जैसे चाण्डाल-जातीय मुमुक्षुओ ने और अर्जुन मालाकार[46] जैसे क्रूर नर-हत्यारो ने भी दीक्षा स्वीकार की थी।

गणराज्य के प्रमुख चेटक[47] महावीर के प्रमुख श्रावक थे। उनके छः जामाता[48] उदयन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दीवर्धन, श्रेणिक और नौमल्लवी व नौ लिच्छवी ये अठारह गण-नरेश भी भगवान के परम भक्त थे।

इस प्रकार केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् तीस वर्ष तक काशी, कौशल, पांचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु, जागल, बाहुलीक, गांधार, सिन्धु, सौवीर आदि प्रान्तों परिभ्रमण करते हुए, भूले-भटके जीवन के राहियों को मार्ग दर्शन देते हुए उन्होंने अपना अन्तिम वर्षावास 'मध्यमपावा' मे सम्राट् हस्तिपाल की रज्जुक-सभा मे किया।[49] कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि मे स्वाति नक्षत्र के समय बहत्तर वर्ष की आयु भोगकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए।

---

४१. अन्तकृत दशांग।
४२. त्रिषष्टिशलाका, पर्व १०, सर्ग १०, श्लो. २३६-२४८.
४३. त्रिषष्टिशलाका, पर्व १०, सर्ग १०, श्लो० ८४५ से १३३-१।
४४. सूत्रकृतांग टी० श्रु० २, अ० ६, प० १३६-१।
४५. उत्तराध्ययन, अ० १२। ४६. अन्तकृत दशा।
४७. आवश्यक चूर्णि उत्तरार्द्ध, प० १६४।
४८. त्रिषष्टि पर्व २०, सर्ग ६, श्लो० २८८, प० ७७-२।
४९. आवश्यक चूर्णि, भाग २, प० २६४।
(ख) त्रिषष्टि, पर्व १०, सर्ग ६, श्लो. १८७ प. ६६-२. कल्पसूत्रसुबोधिका टीका, सूत्र १२८। पावाए मज्झिमाए, हत्थि वालस्य रण्णो, रंजुगसभाए अपच्छियं अन्तरावासं वासावासं उवागये।

जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत में स्वतन्त्र ग्रंथों का प्रणयन

□ श्री मुनि सुशीलकुमार

जैन आचार्यों में संस्कृत में स्वतंत्र ग्रथों की रचना का श्रेय आचार्य उमास्वाती को है। ये सम्भवत. (वि० १-२ शती) पहले विद्वान थे जिन्होंने विविध आगम ग्रथों में बिखरे हुए जैन तत्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दर्शन-ग्रंथों के समान सूत्रबद्ध किया और उसे तत्त्वार्थाधिगम या अर्हत्प्रवचन के रूप में सामने रखा। इन्होंने प्रथम यह अनुभव किया कि विद्वत्समाज की भाषा संस्कृत बनी रही है, इसलिए जैन-दर्शन संस्कृत में लिखे जाने पर ही विद्वानों का ग्राह्य विषय बन सकेगा। चूंकि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, इसलिये संस्कृत का अभ्यास होने के कारण इस भाषा में ग्रन्थ निर्माण करना उनके लिये सहज था। वाचक उमास्वाती आगमिक विद्वान् थे, अत: उनकी सभी रचनाएँ आगम-परिपाटी को लिये हुये हैं। उमास्वाती का तत्त्वार्थसूत्र जहाँ जैन तत्त्वज्ञान का आदिम संस्कृत ग्रन्थ है, वहाँ जैन धर्म व आचार का निरूपण करने वाला उनका 'प्रशमरतिप्रकरण' ग्रन्थ भी अपनी श्रेणी का विशिष्ट ग्रन्थ है।

संस्कृत काव्य-निर्माण की दृष्टि से पहले जैन कवि आचार्य समन्तभद्र (वि० २-३री शती) है जिन्होंने 'स्वयंम्भूस्तोत्र' जैसे स्तुति-काव्य का सृजन कर जैनों के मध्य संस्कृत काव्य-परम्परा का श्रीगणेश किया। "यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि संस्कृत भाषा में काव्य का प्रादुर्भाव स्तुति या भक्ति-साहित्य में हुआ है यों जैन संस्कृत काव्यों की मूल आधार-शिला द्वादशांगवाणी है। 'जैनन्याय' का वास्तविक प्रारम्भ भी आ० समन्तभद्र के ग्रन्थों (आप्तमीमांसा आदि) से होता है। आचार्य समन्तभद्र ने इष्टदेव की स्तुति के ब्याज से एक ओर हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकांतवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की उन्होंने जैन परम्परा में सर्वप्रथम न्याय शब्द का प्रयोग करके एक ओर न्याय शब्द दिया तो दूसरी ओर न्यायशास्त्र में स्याद्वाद को गुम्फित किया।

निम्नलिखित विषयों में निम्नलिखित जैन विद्वानों ने सर्वप्रथम संस्कृत रचना प्रस्तुत की :—

	विषय	सर्वप्रथम रचना	समय	रचयिता
१.	जैन दर्शन	तत्त्वार्थसूत्र	(वि० १-२ शती)	आचार्य उमास्वाती
२.	जैन न्याय	आप्तमीमांसा	(वि० २-३ शती)	आ० समन्तभद्र
		स्वयम्भूस्तोत्र आदि ''	,,	,,
३.	काव्य—			
	(क) भक्ति काव्य	स्वयम्भूस्तोत्र	,,	,,
	(ख) पौराणिक	पद्मचरित	(ई० ६७६)	रविषेण
	(ग) चरित काव्य	वरांगचरित	(८वीं शती)	जटासिंह नन्दी
	(घ) सन्देश काव्य	नेमिदूत	(ई० १३वीं शती का अन्तिम चरण)	विक्रम
	(ङ) सन्धान काव्य	द्विसन्धान	८वीं शती	धनंजय
	(च) सूक्ति काव्य	आत्मानुशासन	९वीं शती	गुणभद्र
	(छ) खण्ड काव्य	पार्श्वाभ्युदय	८वीं शती	जिनसेन

४.	कथा-साहित्य	उपमितिभवप्रपंचकथा	ई० ६०५	सिद्धर्षि
५.	व्याकरण	जैनेन्द्रव्याकरण	ई० ४१३-४५५	पूज्यपाद देवनन्दी
६.	कोश	नाममाला, अनेकार्थनाममाला	ई० ७८०-८१६	धनंजय
७.	अलंकार (छन्द)	छन्दोनुशासन	१२वीं शती	वाग्भट
८.	नाटक	ज्ञानसूर्योदय	स० १६४८	वादिचन्द्र सूरी
९.	गणित व ज्योतिष	गणितसारसंग्रह, ज्योतिषपटल	८५० ई०	महावीराचार्य

जैन आचार्यों के समाज में संस्कृत का समादर

उपर्युक्त आचार्यों ने संस्कृत मे ग्रंथ प्रणयन कर स्थायी परम्परा का सूत्रपात्र किया। परवर्ती आचार्यों ने विपुल साहित्य रच कर जैन संस्कृत साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। जब बौद्ध दर्शन मे नागार्जुन, बसुबन्धु, असगत तथा बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग का उदय हुआ और दार्शनिक जगत मे इन बौद्ध दार्शनिको के प्रबल तर्क प्रहारो से खलबली मच रही थी तो जैन दार्शनिको के सामने प्रतिवादियों के आक्षेपो का खण्डन कर स्वदर्शन की प्रभावना करने का महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा। इस स्थिति मे भाषा की संकीर्णता को स्थान देना अनुचित था। अन्य दार्शनिको का खण्डन उन्ही की भाषा मे करना उचित समझा गया और इस प्रकार संस्कृत को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कराने मे आगे का मार्ग प्रशस्त होता गया।

गुप्तकाल तक संस्कृत को पूरे भारत मे सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ। जैन साधु-साध्वी समाज संस्कृत भाषा मे भी परिनिष्ठित होने लगा। कहते है कि सिद्धसेन दिवाकर की मृत्यु के बाद, विशाला (उज्जयिनी) मे एक वैतालिक (चारण भाट) ने सिद्धसेन की बहिनके समक्ष, जो जैन साध्वी थी, अनुष्टुप् छन्द के दो चरण कहे :—

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे।

उक्त जैन साध्वी ने तुरन्त आगे के दो चरण कहकर उक्त छद को पूरा किया :—

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकरः ॥[1]

जैन आगम की टीकाओ मे भी इसके उदाहरण मिलते है जिनसे संस्कृत के व्यवहार-भाषा होने का प्रमाण पुष्ट होता है।[2]

सिद्धर्षि (प्रथम संस्कृत कथाकार) के समय (ई० ९०५) तक संस्कृत ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी कि प्राकृत भाषा को भूलकर लोग संस्कृत रचनाओं मे अपेक्षाकृत अधिक आनन्द अनुभव करते थे। कथा-कहानियां जो अबतक प्राकृत जनभाषाओं मे रची जा रही थी, संस्कृत मे भी स्थान प्राप्त कर सकी। सिद्धर्षि स्पष्ट लिखता है —

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता ॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते ॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते ॥
—उपमितिभवप्रपंचकथा १/५१ ५२

किन्तु निम्न कोटि के लोग तथा स्त्रियां उस समय संस्कृतभाषा न बोलकर प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करते थे, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं 'काव्यानुशासन-कारिका' की टीका मे कहा है :—

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥

१. वैतालिक का कहना था कि आजकल दक्षिणापथ में वादी रूप जुगनू इधर-उधर मण्डरा रहे है। जैन साध्वी ने कहा कि इससे यह निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर इस संसार में नही रहे (अन्यथा किसी वादी को स्वपाण्डित्य प्रदर्शित करने का साहस नही होता)।

२ हरिभद्रसूरि की आवश्यक टीका मे एक कथा है, जिसके अनुसार एक दशपुर दासियों के जरिये रानी के पास (एक पुड़िया मे साथ रखने के बहाने) एक संस्कृत पद्य लिखकर भेजता है :

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य मेघान्धकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥

संस्कृत रचना की होड़ ने १३वी शती तक कठिन से कठिन बन्धनों को भी तोड़ डाला। जैन मुनियो के लिए नाटक आदि विनोदों में भाग लेना वर्जित समझा गया है। फिर नाटक आदि की रचना का प्रश्न कैसे उठ सकता था? किन्तु एक समय आया कि जैन आचार्यों ने सस्कृत मे नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिये।

संस्कृत के प्रति प्रेम की भावना ने सस्कृत रचना की परम्परा को निरन्तर कायम रखा। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा मे जैनो के 'समस्त-सुत्तस्स अणन्तो अत्थो' (=समस्त आगमसूत्रो के अनन्त अर्थ है) वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह बात महामहोपाध्याय समयसुन्दर जी को बुरी लगी और उन्होंने राजा को 'राजानो ददते सौख्यम्' इस ८ अक्षरी वाक्य के १० लाख २२ हजार चार सौ सात अर्थ कर दिखाये। समयसुन्दर की यह कृति 'अष्टलक्षी' नाम से सस्कृत साहित्य की शोभावृद्धि कर रही है और अभी वह अप्रकाशित है।

संस्कृत प्राकृत की स्वामिनी बनी!!

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो छान्दस भाषा और उसकी बोली (यदि कोई थी) के विकसित रूप का ही परिणाम 'प्राकृत' है। किन्तु संस्कृत के देशव्यापी प्रभाव की चकाचौंध मे प्राकृत व्याकरण के रचयिताओ और तत्कालीन विद्वानो ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि 'प्राकृत की जननी सस्कृत है'।

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते
—मार्कण्डेय

प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतम् योनिः।
—वासुदेव (कर्पूरमञ्जरी टीका)

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।
—प्राकृतचन्द्रिका

प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।
—धनिक (दशरूपकवृत्ति)

प्राकृतशब्दानुशासन के रचयिता महावैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अथ प्राकृतम्' (८।१।१) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रकृतिः सस्कृतम्। तत्र भव ततः आगतं वा प्राकृतम्"

दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' मे इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये है—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतः क्रमः॥(१।३६)

वाग्भट ने वाग्भटालंकार (२।२) मे लिखा है—

संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्द शास्त्रेषु निश्चिता।
प्राकृतं तज्जातत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा॥

इसी तरह, षड्भाषाचन्द्रिका मे भी विचार प्रकट किया गया है:—

प्रकृतेः सस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृता मता।
तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा॥

जब चण्ड अपना प्राकृतसर्वस्व और हेमचन्द्र अपना प्राकृतशब्दानुशासन लिख रहे थे, सस्कृत उस समय एक समृद्ध भाषा थी। पठन-पाठन की भाषा भी यही थी। पठन-पाठन की भाषा के अतिरिक्त शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा के रूप में संस्कृत देश मे छा गई थी। प्राकृत वैयाकरण संस्कृत के गहन अध्ययन के पश्चात ही देशी भाषाओं की ओर उन्मुख हुए होंगे और सस्कृत के सिद्ध शब्दों के साथ ही देशी भाषा मे प्राप्त शब्दो की संगति बैठाने मे अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते होंगे। प्राकृत व्याकरण की शैली भी सस्कृत व्याकरणो के अनुरूप है। संस्कृत व्याकरण की तरह से लोप, आगम, आदेश आदि का विधान प्राकृत व्याकरण मे किया गया है। यही कारण है कि प्राकृत व्याकरण के निर्माताओं मे संस्कृत को मूल भाषा मान कर प्राकृत को उससे पैदा होने वाली कह देने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ।

इभ्यपुत्र का सन्देश था—'कामेमि ते' (अर्थात् तुझे मैं चाहता हूँ)।
रानी ने भी उत्तर में एक पद्य लिखा, जो निम्न प्रकार है:—

नेह लोके सुखं किंचिच्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं च जीवितं नृणा तेन धर्मे मतिं कुरु॥

रानी के सन्देश का रूप था—"नेच्छामि ते" (अर्थात् मैं तुझे नहीं चाहती)।

जैन आचार्यों की उल्लेखनीय संस्कृत रचनाएँ

संस्कृत रचनाओं की सुदीर्घ परम्परा

जैन दर्शन, जैन न्याय व सामान्य दर्शन विषय में **आचार्य उमास्वाति** (वि० २री शती) कृत तत्त्वार्थसूत्र, **आचार्य समन्तभद्र** (वि० २-३री शती) कृत आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र; **मल्लवादी** (ई० ३५०-४३०) कृत (द्वादशार) नयचक्र; **पूज्यपाद देवनन्दी** (वि० ५-६ शती) कृत सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर टीका), **सिद्धसेन**[1] (वि० ६-९ शती) कृत सन्मतितर्क, न्यायावतार और कुछ बत्तीसियाँ, आचार्य **हरिभद्रसूरि** (७०५-७७५ ई०) कृत षड्दर्शनसमुच्चय तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय तथा सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर वृत्ति; **अकलंक** (७२०-७८० ई०) द्वारा रचित न्यायविनिश्चय लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, (तत्त्वार्थसूत्र पर) तत्त्वार्थराजवार्तिक, (समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर) अष्टशती; **आचार्य विद्यानन्द** (ई० ७७५-८४०) कृत प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, आप्तपरीक्षा (सर्वार्थसिद्धि के प्रथम श्लोक के भाष्य के रूप में), (तत्त्वार्थ सूत्र पर) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन पर टीका, आप्तपरीक्षा पर स्वोपज्ञटीका, **सिद्धसेन गणि** (८वीं शती) कृत तत्त्वार्थसूत्र पर टीका, **सिद्धर्षि गणि** (ई० ९०५ लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार पर) टीका, **माणिक्यनन्दी** (१०-११ शती ई०) कृत परीक्षामुख, **प्रभाचन्द्र** (९८०-१०६५ई०) कृत (माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर) प्रमेयकमलमार्तण्ड, (अकलंक के लघीयस्त्रय पर) न्यायकुमुदचन्द्र, **अनन्तवीर्य**[2] (वि० ११वीं शती) कृत (माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर) प्रमेयरत्नमाला, (अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर) विशाल टीका, अकलंक के ही प्रमाणसंग्रह पर भाष्य, **शान्तिसूरि** (११वीं शती) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार की प्रथम कारिका पर) सटीक पद्यबन्धवार्तिक; **जिनेश्वर सूरि** (१०५२ ई० लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार की पहली कारिका पर) पद्यबन्ध प्रमालक्षण, प्रद्युम्नसूरि के शिष्य **अभयदेवसूरि** (१०६३ ई० लगभग) कृत (सन्मतितर्क पर) बृहत्काय टीका; मुनि **चन्द्रसूरि** के शिष्य **वादिदेवसूरि** (१२वीं शती) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और इसी ग्रन्थ पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या; **आचार्य हेमचन्द्र** (ई० १०८९-११७२) कृत प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वीरचन्द्रसूरि के शिष्य **देवभद्रसूरि** (११४० ई० लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार पर) टिप्पण, **वादिराजसूरि** (वि० १२वीं शती का उत्तरार्द्ध) कृत प्रमाणनिर्णय, (अकलंक के न्यायविनिश्चय पर) विवरण, **रत्नप्रभसूरि** (११८१ ई० लगभग) कृत स्याद्वादरत्नाकरावतारिका; वायडगच्छीय जीवदेवसूरि के शिष्य **जिनदत्तसूरि** (वि० १२६५) कृत विवेकविलास; **आचार्य मल्लिषेण** (१२८२ ई० लगभग) कृत (हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका, पर) स्याद्वादमञ्जरी, **मेरुतुंग** (१३९२ ई० लगभग) कृत षड्दर्शननिर्णय (अप्रकाशित); **जयसिंह सूरि** (१५ वीं शती) कृत न्यायसारदीपिका, **आचार्य गुणरत्न** (ई० १३४३-१४१८) कृत (षड्दर्शनसमुच्चय पर) टीका; **सोमतिलकसूरि** (वि० १३५५-१४२४) कृत (षड्दर्शन समुच्चय पर) विवृति; **शुभविजय** (१७वीं शती) कृत स्याद्वादमाला; **विनयविजय** (१६५२ ई०) कृत नयकर्णिका; **यशोविजय** (१८वीं शती) कृत जैन तर्क भाषा, अनेकान्तव्यवस्था, नयप्रदीप, ज्ञानबिन्दु, न्यायखण्डखाद्य, न्यायालोक आदि मौलिक व व्याख्यात्मक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

जैन धर्म आचार व नैतिक उपदेशपूर्ण साहित्य की

---

१. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के मत मे वि० ६ठी शती के मध्य ३ सिद्धसेन हुए है। प्रथम सिद्धसेन (वि० ६-७ शती) ने सन्मतितर्क, दूसरे (वि० ७-८ शती) ने न्यायावतार और अन्तिम सिद्धसेन ने कुछ बत्तीसियाँ लिखी। प० सुखलाल के मत मे सिद्धसेन दिवाकर का समय वि० ५वीं शती है; बाद मे उनका मत ६ या ७वीं के सम्बन्ध मे दृढ हुआ है।

२. प्रो० उदयचन्द्र जैन के मत में २ अनन्तवीर्य हुए। प्रथम ने सिद्धिविनिश्चय लिखा, दूसरे (लघु अनन्तवीर्य) ने प्रमेयरत्नमाला की रचना की।

परम्परा मे आचार्य **उमास्वाति** का प्रशमरतिप्रकरण संस्कृत का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें जैन तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त और साधुओं व गृहस्थो के आचार का सरल व सुन्दर शैली में वर्णन है। **हरिभद्रसूरि** ने इस पर टीका लिखी है; **अमृतचन्द्रसूरि** (ई० ६६८ के आसपास) कृत पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, **वीरनन्दी** (ई० १११५ के लगभग) कृत आचारसार, **सोमप्रभसूरि** (१२-१३ शती) कृत सिन्दूर-प्रकर, शृंगारवैराग्यतरंगिणी का विशिष्ट स्थान है।

इसी तरह रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र या योगीन्द्र कृत), **अमितगति** (ई० १००० के लगभग) कृत श्रावकाचार, **आशाधर** कृत सागारधर्मामृत एवं अध्यात्मरहस्य (ई० १२३६); **गुण भूषण** (१४-१५ शती) कृत श्रावकाचार, १७वी शती मे अकबर के राज्य-काल में **राजमल्ल** द्वारा रचित लाटीसंहिता का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नही कहा ज सकता।

हेमचन्द्र (१२वी शती) कृत योगशास्त्र मे भी मुनि व श्रावक के धर्मों का तथा योग सम्बन्धी विषयों का निरूपण है।

संस्कृत में आचार सम्बन्धी और प्रसगवश योग का भी वर्णन करने वाला ग्रन्थ ज्ञानार्णव भी एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसके रचयिता श्री **शुभचन्द्र** (१२वी शती) हैं।

ध्यान व योग सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों की रचना भी जैन आचार्यो ने की। **पूज्यपाद** कृत योगविषयक दो संस्कृत रचनाएँ है—इष्टोपदेश, समाधिशतक। **आचार्य हरिभद्र** ने योगबिन्दुसमुच्चय मे जैन योग का विस्तार से वर्णन किया है। हरिभद्र ने जैन परम्परा के योगसम्बन्धी विचारो को कुछ नये रूप मे प्रस्तुत तो किया ही है, साथ ही वैदिक व बौद्ध परम्परासम्मत योगधाराओं से उसका मेल बैठाया है। योगदृष्टिसमुच्चय पर स्वय **हरिभद्र** कृत तथा **यशोविजयगणि** कृत टीका प्राप्त है। यशोविजय जी ने योगसम्बन्धी चार द्वात्रिंशिकाएं भी लिखी है। **गुणभद्र** कृत आत्मानुशासन (९वीशती), **अमितगति** कृत सुभाषित-रत्नसदोह (१०-११वी शती) तथा इन्ही की दूसरी रचना योगसार है जिनमे नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश भी है।

आ० हेमचन्द्र (१२वी शती) कृत योगशास्त्र मे भी योगसम्बन्धी निरूपण है।

प्राकृत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर **भट्टारक शुभचन्द्र** ने संस्कृत टीका (ई० १५५६) की रचना की है।

जैन आचार्यो व विद्वानो द्वारा भक्तिकाव्य की परम्परा मे अनेक रचनाएँ रची गई, जिनमे आचार्य समन्तभद्र का स्वयम्भूस्तोत्र, आचार्य सिद्धसेन कृत बत्तीसियाँ, विद्यानन्दी पात्रकेशरी (ई० ५-६) कृत बृहत्पचनमस्कार स्तोत्र, मानतुंगाचार्य (वि० ७वी) कृत भक्तामरस्तोत्र, **भट्ट अकलंक** कृत अकलकस्तोत्र; बप्पिभट्टि (ई० ७४३-८३८) कृत चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र, धनंजय (वि०८-९वीशती) कृत **विषापहारस्तोत्र; गुणभद्र** (९वी शती) कृत आत्मानु-शासन; हेमचन्द्र (१२वी शती) कृत वीतरागस्तोत्र; **शुभचन्द्र प्रथम** (१२वी शती) कृत ज्ञानार्णव; **अमितगति** (वि० १०५०) कृत सुभाषितरत्नसन्दोह; **अर्हद्दास** (१३वी शती) कृत भव्यजनकण्ठाभरण; सोमप्रभ रचित सूक्तिमुक्तावलि; पद्मानन्द कृत वैराग्यशतकम्, विमलकवि रचित प्रश्नोत्तररत्नमाला और दिवाकर मुनि (१५वी शती) रचित शृगार-वैराग्यतरंगिणी विशिष्ट स्थान रखते है।

पौराणिक काव्यों में रविषेण (ई० ६७६) कृत पद्म-पुराण, **जिनसेन** (ई० ७८३) कृत हरिवंशपुराण, **सकलकीर्ति** (वि० १४५०-१५१०) का हरिवशपुराण, **शुभचन्द्र** (१५५१ ई०) कृत पाण्डवपुराण, मलधारी देवप्रभ सूरिकृत पाण्डव चरित्र, **जिनसेन** तथा उनके शिष्य **गुणभद्र** (८-९वी शती) कृत महापुराण (आदि पुराण उत्तर पुराण), **हेमचन्द्र** कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, **पंडित आशाधर** (१३४६-१४१४ ई०) कृत महापुराणचरित विशेष उल्लेखनीय है।

चरितकाव्यो की परम्परा मे **जटासिंह नन्दी** (७-८ ई०) ने वराङ्गचरित, **वीरनन्दी** (ई० १०वी शती) ने चन्द्रप्रभचरितम्, **असग** (१०वी शती) ने शान्तिनाथ-चरित, **वादिराज** (१०वी शती) ने पार्श्वनाथचरित, **महासेन** (११वी शती) ने प्रद्युम्नचरित, **हेमचन्द्र** (१२वी शती) ने कुमारपालचरित, **गुणभद्र द्वितीय** (१२वीं शती) ने धन्यकुमारचरित, **धर्मकुमार** (१३वी शती) ने शालिभद्रचरित, **जिनपाल उपाध्याय** ने सनत्कुमारचरित, (अप्रकाशित), **मलधारी देवप्रभ** ने पाण्डवचरित व मृगा-

वती चरित, **माणिक्यनन्दी सूरि** ने पार्श्वनाथचरित्, **सर्वानन्द प्रथम** ने चन्द्रप्रभचरित व पार्श्वनाथचरित, **विनयचन्द्र** ने मल्लिनाथचरित, पार्श्वनाथचरित व मुनिसुव्रतचरित, **मलधारी हेमचन्द्र** ने नेमिनाथचरित, **चन्द्रतिलक** (वि० १३१२) ने अभयकुमारचरित, **भावदेव सूरि** ने पार्श्वनाथचरित, **जिनप्रभसूरि** (वि० १३५६) ने श्रेणिकचरित जैसे उत्तम ग्रन्थो की रचना कर सस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि की।

इसके अतरिक्त, **हरिचन्द्र** का धर्मशर्माभ्युदय, **वाग्भट** (१२वीं शती) का नेमिनिर्वाण महाकाव्य तथा **अर्हद्दास** (१३वी शती) के मुनिसुव्रतमहाकाव्य का प्रणयन इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है।

सन्देश काव्यों मे **विक्रम** (ई० १३वी शती का अन्तिम चरण) का नेमिदूत, **मेरुतुंग** (१४-१५वी शती ई०) का जैन-मेघदूत, **चरित्रसुन्दर गणि** (१५वी शती) का शीलदूत, **वादिचन्द्र सूरि** (१७वी शती) का पवनदूत, **विनयविजय गणि** (१८वी शती) का इन्दुदूत, **मेघविजय** (१८वी शती) का मेघदूतसमस्यालेख, **विमलकीर्ति गणि** का चन्द्रदूत उल्लेखनीय रचनाएँ है। इन सन्देश काव्यो मे शान्तरस की अमृतधारा प्रवाहित होती है और पाठको को शाश्वत आनन्द प्रदान करने की क्षमता निहित हैं।

जैन काव्य जगत् मे **अनेकार्थक (सन्धान)** काव्यो का प्रवेश ई० ५-६ठी शती से हुआ। **वसुदेव हिण्डी** की चत्तारि अट्ठगाथा के १४ अर्थ तक किये गये है। ८वी शती मे महाकवि **धनंजय** का द्विसन्धान-महाकाव्य सर्वप्रथम सन्धान महाकाव्य है। ११वी शती के **शान्तिराज कवि** द्वारा पचसन्धान महाकाव्य रचा गया, जो अभी अमुद्रित है।

मेघविजय उपाध्याय (१८वीं शती) का सप्तसन्धान महाकाव्य तथा **हरिदत्तसूरि** (१८वी शती) का राघवनैषधीय भी उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। कई अनेकार्थक स्तोत्र भी रचे गये। **कवि जगन्नाथ** (वि० १६९९) कृत चतुर्विंशतिसन्धान काव्य भी उल्लेखनीय है।

पार्श्वाभ्युदय नामक खण्ड काव्य भी सस्कृत साहित्य मे अद्वितीय है। इसकी रचना **जिनसेन** स्वामी ने की थी। इसकी विशेषता यह है कि महाकवि कालिदास के मेघदूत के जितने भी पद्य है उन सभी के चरणों को एक-एक करके इस काव्य के प्रत्येक पद्य मे समाविष्ट कर लिया गया है। मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर समस्यापूर्ति की जाने के तो उदाहरण प्राप्त होते है किन्तु सारे मेघदूत को वेष्टित करने वाला यह एक प्रथम व अद्वितीय काव्य है।

कथासाहित्य के अन्तर्गत **सिद्धर्षि** कृत उपमितिभवप्रपचकथा, **धनपाल** कृत तिलकमजरी, **हेमचन्द्र** कृत त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित, **हरिषेण** कृत बृहत्कथाकोष को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

जैन आचार्यो द्वारा लिखे गये सस्कृत **नाटकों** की परम्परा मे १३वी शती के **रामचन्द्रसूरि** कृत निर्भय भीमव्यायोग, नलविलास, कौमुदीमित्रानन्द, **हस्तिमल्ल** कृत विक्रान्तकौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण, अजनापवनंजय, रामभद्र कृत प्रबुद्धरौहिणेय, यश पाल कृत मोहराजपराजय, जयसिह सूरि कृत हम्मीरमर्दन, यशश्चन्द्र कृत मुद्रितकुमुदचन्द्र, रत्नशेखरसूरि कृत प्रबोधचन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय, नागदेव (१६वी शती) कृत मदनपराजय, **वादिचन्द्र सूरि** (१७वी शती) कृत ज्ञान सूर्योदय कृतियों का नाम उल्लेखनीय है।

सस्कृत अलकार व छन्दःशास्त्रसम्बन्धी कृतियों मे वाग्भट (१२वी शती) कृत वाग्भटालंकार, हेमचन्द्र (११वी शती) कृत काव्यानुशासन, अरिसिंह (१३वी शती) कृत काव्यकल्पलता, नरेन्द्रप्रभसूरि (वि० १२८२) कृत अलंकारमहोदधि, हेमचन्द्र के शिष्यद्वय रामचन्द्र व गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण, अजितसेन (१४वी शती) कृत अलकार-चिन्तामणि, तथा अभिनव वाग्भट (१४वी शती) कृत काव्यानुशासन का स्थान सर्वोपरि है। आ० भावदेव सूरि (वि० १५वी शती) का काव्यालकारसार नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त सरल व सरस है।

काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेता नामक टीका और काव्यालकार पर नेमि साधु कृत टीका तथा काव्यकल्पलता पर श्री अमर मुनि की टीका भी विशिष्ट कृतियों मे मानी जाती है।

महाकवि **धनंजय** (ई० ८१३ से पूर्व) कृत नाममाला, अनेकार्थनाममाला व अनेकार्थनिघण्टु, **हेमचन्द्र कृत** अभिधानचिन्तामणि व अनेकार्थसंग्रह नामकोश व निघण्टु-

कोश श्रीधरसेन (१३-१४ ई०) कृत विश्वलोचनकोश (मुक्तावलिकोश), जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत एकाक्षरनाममाला नामक ग्रन्थ कोश-साहित्य की रचना परम्परा मे विशिष्ट स्थान रखते है।

व्याकरण साहित्य की रचना करने वाले जैन आचार्यों व विद्वानो में जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता आ० देवनन्दी पूज्यपाद (ई० ४१३-४५५), जैनेन्द्र व्याकरण के परिवर्धित सस्करण के रूप मे रचित शब्दार्णव के रचयिता गुणनन्दी (१०वी शती), शब्दार्णवचन्द्रिका के रचयिता सोमदेव (शक स० ११२७) जैनेन्द्रव्याकरण की महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दी (ई० ७५०), शाकटायनव्याकरण तथा अमोघवृत्ति के रचयिता आचार्य पल्यकीर्ति (शक सं ७३६-७८६), क्रियारत्नसमुच्चय के कर्ता श्रीगुणरत्न (ई० १३४३-१४१८), हेमशब्दानुशासन के रचयिता श्री हेमचन्द्र (१२वी शती), तथा कातन्त्ररूपमाला के रचयिता श्री भावचन्द्र त्रैवेद्य (१४वीं शती) के नाम उल्लेखनीय है।

गणित व ज्योतिष शास्त्र पर अनेक जैन आचार्यों व विद्वानो ने अपनी लेखनी उठाई और सस्कृत साहित्य को अनुपम देन दी।

महावीराचार्य (ई० ८५०) कृत गणितसार सग्रह व ज्योतिषपटल, श्रीधर[1] (दसवी शती का अन्तिम भाग) कृत गणितसार व ज्योतिर्ज्ञानविधि, अज्ञातकर्तृक चन्द्रोन्मीलन, जिनसेनसूरि के पुत्र मल्लिषेण (ई० १०४३) कृत आयसद्भाव, उदयप्रभदेव (ई० १२२०) कृत आरम्भसिद्धि (या व्यवहारचर्या), पद्मप्रभसूरि (वि० १२६४) कृत भुवनदीपक, महेन्द्रसूरि (शक स० १२६२) कृत यन्त्रराज, हेमप्रभ (१४वी शती का प्रथम चरण) कृत त्रैलोक्य प्रकाश नामक ग्रन्थ अनुपम महत्व के है

भद्रबाहु के वचनों के आधार पर निर्मित भद्रबाहु-संहिता (८-६ शती के मध्य) भी जैन ज्योतिषसाहित्य की विशिष्ट कृति है।

देश व विदेशों के विभिन्न ग्रन्थागारो और विशिष्ट व्यक्तियो के स्वामित्व मे विद्यमान समस्त ग्रन्थो और प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियो की गणना की जाय तो जैन आचार्यो व विद्वानो द्वारा रचित सस्कृत कृतियो की संख्या एक लाख के आस-पास पहुच जाती है। भारत सरकार को चाहिए कि वह ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन मे सहयोग दे और साथ ही उन समस्त ग्रन्थों की सूचिया (Catalogues) प्रकाशित करावे ताकि अभी तक प्रकाश मे न आई कृतियो का परिचय विश्व के अनुसधित्सुओ एवं विद्वानो को प्राप्त हो सके।

□□□

वेदों में अरिष्टनेमि

भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में भी भगवान् अरिष्टनेमि की चर्चा मिलती है। वे भी वैदिक युग के महापुरुष थे। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि—इन तीनो तीर्थङ्करों के नाम मिलते हैं।

यथा स्वास्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति न पूषा विश्वेदा।
स्वस्ति न स्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

—ऋग्वेद १/६/८६/६, सामवेद ६/३

ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर अरिष्टनेमि को धर्मधरीण कहा है—

तं वां रथ वयमद्या हुवेम स्तौ मैर द्विना सुविताय नव्यम्।
अरिष्टनेमि परधामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥

— ऋग्वेद, द्वि अष्टक, २/४/१८१।१०

---

१. डा० दत्त तथा सिंह के मत से श्रीधर का समय ७५० ई० के लगभग है। दीक्षित का कहना है कि श्रीधर महावीराचार्य के पहले हुए है। महावीराचार्य का समय दीक्षित जी ८५० ई० मानते है। कुछ विद्वान् ऐसे भी है जो महावीराचार्य के बाद श्रीधर का होना मानते है। (द्रष्टव्य भारतीय ज्योतिष का इतिहास—डा० गोरखप्रसाद, पृ० १८२-१८३)

जैन संस्कृति की समृद्ध परम्परा

☐ श्री जयन्ती प्रसाद जैन, मुजफ्फर नगर

ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व का समय अनेक वैचारिक क्रान्तियों से भरा था। सामाजिक एवं धार्मिक समस्यायें प्रबुद्ध वर्ग को अनेक प्रकार से विचार करने के लिए प्रवृत्त कर रही थीं। यूरोप मे इस क्रान्ति के सूत्रधार थे पाइथे-गोरस, एशिया मे कन्फ्यूशिस एव लाग्रोस जैसे महापुरुष। तब भारत में इसका नेतृत्व किया भगवान् महावीर स्वामी ने।

अनेक विचारधाराएं :

भारत मे उस समय तीन प्रबल विचार धारायें कार्य कर रही थी। देवतावाद, भौतिक समृद्धिवाद एव आध्यात्मिक वीतरागतावाद। पहली धारा वैदिक ऋषियो की उस आश्चर्यभरी दृष्टि की उपज थी जो उन्हे बादल, वर्षा, बिजली आदि मे दिव्य शक्ति का अनुभव करा रही थी। दूसरी धारा व्यावहारिक लोगो की थी जो चक्रवर्तित्व के सुख स्वप्न सजोती थी एव तीसरी आत्मज्ञानियों की थी जो ससार को दुःखपूर्ण समझ कर मोक्ष के लिए इच्छुक थी।

काल दोष के कारण इन तीनो ही धाराओं मे पथ भ्रष्टता आ गई थी। मास, मदिरा, मैथुन आदि फलने-फूलने लगे थे। स्त्री तथा निम्न वर्ग अन्याय के विशेष शिकार थे। पहली केवल भोग की वस्तु थी, दूसरा पशु से नीचा समझा जाकर स्पर्श के योग्य भी नही रहा था। जबकि एक वर्ग पृथ्वी का देवता माना जाने लगा था।

रूढिवादी और सुधारक दोनों ही अपनी-अपनी जीत के लिए संघर्ष रत थे। साधारण मनुष्य की चिंता कम लोगों को ही थी।

उस समय एक तरफ वैदिक धर्म की रक्षा के लिए भास्कराचार्य, शौनक एवं आश्वलायन जैसे विद्वान थे तो दूसरी ओर नास्तिकतावाद या 'जड़वाद' के प्रबल समर्थक बृहस्पति एवं अजितकेश कम्बली आदि आचार्य सामने आ रहे थे। न्याय-दर्शन के जन्मदाता गौतम ऋषि तथा सांख्य दर्शन के प्रवर्तक मशकरी आदि भी जीवन व जगत् गुत्थियों को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील थे।

तभी भगवान् महावीर आये जिन्होने प्रचलित सभी विचारों का मंथन करके समन्वय एवं संशोधन का मार्ग पकड़ा, परन्तु आत्म-सुधार के साथ। यह विचारधारा तब भी आर्हत, जिन, यति, वातरशना, व्रात्य तथा श्रमण संस्कृति के नाम से जानी जा रही थी। मगध तथा विदेह की जनता ने इस समन्वयी विचार धारा को आर्य धर्म या जैन धर्म के रूप मे स्वीकार किया तथा इसका प्रसार किया।

स्वदेश में जैन धर्म का विस्तार :

भगवान् महावीर के समय मे वैशाली के राजा चेटक, अङ्ग (उडीसा) के कुणिक, कलिंग (दक्षिण उडीसा) के जितशत्रु, वत्स (बुन्देलखण्ड) के शतानीक, सिंधु सौवीर के उदयन, मगध (बिहार) के बिम्बसार तथा हेमागद (मैसूर) के नाम राजा जीवन्धर के उल्लेखनीय है।

प्रसिद्ध इतिहासकार एव पुरातत्वज्ञ स्वर्गीय गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा के अनुसार, ऐतिहासिक युग मे सबसे पहले भगवान् महावीर की स्मृति मे सम्वत् प्रचलित हुआ [प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ २-३]। विदेह के लिच्छिवि और मल्ल क्षत्रिय, मगध के शिशुनाग, नन्द और मौर्य राजवंश, मध्य भारत के काशी, कौशल वत्स, अवन्ती तथा मथुरा के शासक, कलिंग के खारवन्शी सम्राट्, राजपूताने के राजपूत, उत्तर मे गान्धार, तक्षशिला आदि, दक्षिण मे पाड्य, चेर, चोल, पल्लव, होयसल आदि तमिल लोग जैन धर्म के परम भक्त थे। भारत के सिंधु, पंजाब, मालवा के निवासी, इण्डोशोथियन, (शक) आदि जैन धर्म से काफी प्रभावित थे। [डा०बी०सी० ला : हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स, पृष्ठ ७८] भारत के प्रसिद्ध राजा मनेन्द्र (Menendra) अपने अन्तिम जीवन मे जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे [‘वीर’ वर्ष २, पृष्ठ ४-६)।

मथुरा के पुरातत्व से विदित होता है कि कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव नामक शक राजाओं के राज्यकाल के जैन धर्म की मान्यता बहुत फैली हुई थी।

मध्यकाल के राजपूताने के राठौर, परमार, चौहान, गुजरात एवं दक्षिण के गग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, कलचुरि और होयसल राज वंशों का यह राजधर्म रहा। गुप्त, आंध्र और विजयनगर साम्राज्य काल मे भी इस पर शासकों की कृपा-दृष्टि रही। यही कारण है कि जैन धर्म मध्यकाल में श्रवणबेलगोल (मैसूर) और कारकल

की विशालकाय गोम्मटेश्वर की मूर्तियो, आबू के मन्दिरों चित्तौड़गढ़ के कीर्तिस्तम्भ तथा आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक देव, विद्यानन्द, वीरसेन, जिनसेन, सोमदेव, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, हरिभद्र सूरि एवं आचार्य नेमिचन्द्र रचित साहित्य एवं दर्शन के अमूल्य ग्रन्थ रत्नों को जन्म दे सका।

विदेशों में जैन धर्म का प्रसार :

'महावंश' नामक बौद्ध ग्रन्थ [प्रो० ब्हूलर, इण्डियन सैक्ट आफ दी जैन्स, पृष्ठ ३७] से प्रकट है कि ४३७ ई० पूर्व में सिंहलद्वीप के राजा ने अपनी राजधानी अनिरुद्धपुर में जैन मन्दिर और जैन मठ बनवाये थे। वे चार सौ वर्ष के लगभग रहे।

भगवान् महावीर के समय से ईसा की पहली सदी तक मध्य एशिया अफगानिस्तान, ईरान, इराक, फिलिस्तीन, सीरिया आदि के साथ माथमध्य सागर के निकटवर्ती यूनान मिश्र, इथोपिया और एबीसीनिया आदि देशो मे जैन साधु सदैव सम्पर्क कायम रखते रहे।

यूनानी लेखकों के कथनानुसार, पाइथेगोरस, पैरहो, डायजिनेस जैसे यूनानी तत्ववेत्ताओ ने भारत आकर जैन साधुओं से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी। मौर्य सम्राट् अशोक के पोते सम्राट् सम्प्रति ने अनेक जैन साधुओं को अनार्य देशों में जैन धर्म के प्रचारार्थ भेजा था। जैसे सिकन्दर के साथ कल्याण साधु गये थे। देखिये :—

(i) हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स', डा० विमलाचरण ला।
(ii) 'विश्व वाणी', अप्रैल सन् १९४२, पृष्ठ ४६४।
(iii) 'एशियाटिक रिसर्चेज', वाल्यूम ३-६, सर विलियम जोन्स।
(iv) 'एन्सीयन्ट इण्डिया' मैगेस्थनीज।
(v) 'दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि', स्व० डा० कामताप्रसाद जैन।

जैन धर्म और ईसाई धर्म :

ईसाई धर्म श्रमण संस्कृति का ही यहूदी संस्करण माना जाता है। इतिहास वेताओं के अनुसार, महात्मा ईसा कुमार काल मे भारत आये थे। बहुत दिनो तक यहाँ रहकर जैन श्रमण और बौद्ध भिक्षुओं की संगति का लाभ लेकर नेपाल व हिमालय के मार्ग से ईरान चले गये थे। वहाँ से स्वदेश पहुंच कर उन्होने "आत्मा परमात्मा की एकता" और "अमर दिव्य जीवन" का उपदेश दिया। यह उपदेश यहूदी संस्कृति से सम्बन्धित न होकर भारत की श्रमण सस्कृति से सम्बन्धित है। [देखिए पण्डित सुन्दरलाल जी लिखित "हजरत ईसा और ईसा धर्म]।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म :

जैन ग्रन्थों के अनुसार, भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा मे एक साधु 'पिहिताश्रव' ने जैन दीक्षा छोड़कर बौद्ध धर्म चलाया था। बौद्ध एवं अन्य साहित्य से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने साधु जीवन के प्रथम वर्षो में अन्य सम्प्र- दायोक्त आचरण किया था। बौद्ध साहित्य के अनेक शब्द जैनसाहित्य से लिए गये है। उपदेश भी जैन उपदेश के समान ही हैं। (देखिये 'जैनबौद्ध तत्वज्ञान'-ब्रह्म० शीतल प्रसाद)।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म :

वैदिक धर्म का परिवर्तित रूप ही आजकल हिन्दू धर्म कहलाता है। यह बहुत सी बातों मे जैन धर्म का ऋणी है। लोकमान्य तिलक के सन् १९०४ मे बड़ौदा मे दिये गये एक भाषण के अनुसार, वेदोक्त यज्ञादि की हिंसा जैन धर्म के कारण बन्द हुई है। पुरातत्वज्ञ श्री ओझाजी की 'मध्य कालीन भारतीय सस्कृत, पृष्ठ ३५' के अनुसार, भगवान महावीर उत्तरकाल मे हिन्दू स्मृतिकारो तथा पुराणकारो ने जितना आचार सम्बन्धी साहित्य लिखा उसमे नरमेध, अश्वमेध' पशुबलि तथा मास-आहार को लोक विरुद्ध होने से त्याज्य बताया है। देखिए — याज्ञवल्क्य स्मृति, १ - १५६, 'बृहन्नारदीय पुराण', २२, १२, १६। 'मध्यकालीन भारतीय सस्कृति' के अनुसार, २४ तीर्थंकरो के समान २४ अवतारो की कल्पना हुई। क्रिया-काण्डी साहित्य के स्थान पर आध्यात्मिक एवं भक्तिपरक ग्रन्थो, गीता, रामायण योगवाशिष्ठ, ब्रह्मसूत्र आदि को प्राधान्य मिला। इन्द्र वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओ के स्थान पर राम एव कृष्ण जैसे ऐतिहासिक कर्मठ राज नेताओं को महिमा प्राप्त हुई। जैन समाज पर भी हिन्दू समाज के अनेक रीति रिवाजों का प्रभाव है।

भाषा, कला और साहित्य :

जैन धर्म जब जब जिस-जिस देश में प्रचलित रहा, वह उन्ही की बोलियों में उपदेश देता रहा। भगवान् महावीर ने अपना उपदेश लोकभाषा में दिया, सस्कृत में नही। जैन धर्म के अनुसार, ईश्वर की कोई एक भाषा नही है। हिन्दी की उत्पत्ति तथा विकास का ज्ञान जैन अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से भली-भांति प्राप्त किया जा सकता है। जैन साहित्य मे धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, वनस्पति, वास्तु, मूर्ति, चित्र, शिल्प एवं संगीत कला के ग्रंथों से जैन साहित्य भरपूर है। ☐☐

साहित्य समीक्षा

भगवान महावीर स्मृति-ग्रन्थ—प्रधान संपादक—डा० ज्योति प्रसाद जैन, अन्य संपादक—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जवाहर लोढ़ा, शरद कुमार, डा० मोहनलाल मेहता। प्रकाशक : श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ। आकार क्राउन १/८, सजिल्द पृष्ठ लगभग ४५०, मूल्य पचास रुपये, १९७५।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड मे 'भगवान महावीर की सूक्तियों' का सानुवाद संकलन है। द्वितीय खण्ड में 'भगवान महावीर की स्तुति, उनसे सम्बन्धित स्तोत्र-स्तवन' इत्यादि कालक्रमानुसार दिए गए हैं। तृतीय खण्ड के अन्तर्गत 'भगवान महावीर का युग, जीवन और देन' है। इस खण्ड मे उद्भट मनीषियों के शोधपूर्ण लेख है, जिनमें से उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंद जी, आचार्य श्री तुलसी, सन्त विनोबा भावे, आचार्य श्री रजनीश, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री दलसुख मालवणिया आदि के लेख विशेष उल्लेखनीय है। चतुर्थ खण्ड मे 'जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति' विषयक विवेचन है जिसमें सर्वश्री पं० कैलाश चन्द शास्त्री, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, डॉ० दरबारी लाल कोठिया, मुनि श्री नथमल, डॉ० प्रभाकर माचवे आदि १९ विद्वानो के लेख है।

पंचम खण्ड 'शाकाहार' के विषय में है। छठे खण्ड मे 'उत्तर प्रदेश मे जैन धर्म' सम्बन्धी सामग्री विद्यमान है, जिसमें वहाँ के तीर्थों, मन्दिरों, प्राचीन शिलालेखों, चित्रकलाकृतियो, साहित्य एवं वर्तमान संस्थाओं का वर्णन किया गया है। सातवें खण्ड (अन्तिम खण्ड) मे 'महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश' के गठन, कार्यकलाप एवं उपलब्धियों विषयक विवरण है। इसी क्रम में मूर्तियों, आयागपटों, शिलालेखों आदि के अनेकानेक चित्र मुद्रित है। मूर्तियों, आयागपटो तथा शिलालेखों के काल आदि अनिर्दिष्ट है, इन्हे दिया जाना चहिए था। इस बहुविध सामग्री से ग्रन्थ की महत्ता तो बढ़ी ही है वह अधिक उपादेय, संकलनीय और अवलोकनीय भी बन गया है। कुल मिलाकर यह स्मृति ग्रंथ सर्वथा सुरुचिपूर्ण एवं सुसंगत सामग्री से सम्पन्न है।

सम्पादक एवं प्रकाशक इस सर्वांगपूर्ण प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र है। —गोकुल प्रसाद जैन (सम्पादक)

वीर निर्वाण संवत् तथा कलियुग संवत्, महाभारत संवत या युधिष्ठिर संवत

वीर निर्वाण संवत् से अधिक प्राचीन केवल एक और संवत् का उल्लेख मिलता है जो महाभारत काल अथवा युधिष्ठिर काल अथवा कलियुग संवत के नाम से ज्ञात हुआ है। इसका उल्लेख बीजापुर जिले में स्थित ऐहोले नामक ग्राम के एक प्राचीन जैन मन्दिर के शिलालेख मे पाया जाता है (डा० रा० ब० पांडेय : हिस्टॉ० एण्ड लिट० इंस्क्रिप्सन न० ५०)। उक्त शिलालेख के अनुसार, उस जैन मन्दिर का निर्माण रविकीर्ति ने उस समय कराया जब महाभारत युद्ध से लेकर कलिकाल के ३७३५ वर्ष तथा शक राजाओ के काल, अर्थात् शक संवत् के ५५६ वर्ष व्यतीत हो गये थे; अर्थात् महाभारत युद्ध ईसा पूर्व ३१०१ मे हुआ था। बृहत्संहिता (१३, ३) और राजतरंगिणी में युधिष्ठिर का राज्यकाल २३४८ ईसा पूर्व माना गया है।

आधुनिक विद्वानो के लिए महाभारत काल की उपर्युक्त दोनो अवधियां विचारणीय हैं। पर्जीटर पुराणों मे उल्लिखित राजवंशावलियों से गणना कर इस काल को ई० पू० ९५० वर्ष सिद्ध करते हैं। डा० पुसलकर ने इसे ई० पू० १४०० स्थिर किया है। किन्तु राजवंशावलियो के साथ गणना करते हुए विद्वानों ने अनुमानों का पर्याप्त सहारा लिया है।

पौराणिक वंशावलियों का साक्ष्य— विष्णु पुराण मे तीन वंशावलियां ऐसी है जिनमे महाभारत काल से वर्धमान तीर्थंकर तक अविच्छिन्न रूप से नरेशों के पिता-पुत्र क्रम से नाम मिलते है। ये वंश है कुरु, इक्ष्वाकु और मागध। इन वंशावलियों का विशद विवेचन करने पर महाभारत का काल १००० वर्ष ई० पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है। तब ऐहोले जैन मन्दिर के शिलालेख के काल मे ३१०१ वर्ष की अतिशयोक्ति प्रश्न चिह्न उपस्थित करती है। यह शिलालेख अपुष्ट तो है, किन्तु प्राचीन काल की महत्वपूर्ण युगस्थापक घटना का संकेतचिह्न भी है।

—जैनिज्म थ्रू एजेज : डा० हीरालाल जैन

R. N. 10591 62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

अध्यात्मरहस्य : पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक ध्यानस्तव सहित : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण २ — अप्रेल-जून १९७६

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली

विषय-सूची

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय

पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-६

सम्पादक—श्री गोकुल प्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय ३, रामनगर, नई दिल्ली-५५

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली-६

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

ओमप्रकाश जैन

प्रकाशक

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

स्थापित : १९२९

वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागज, दिल्ली

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व एव दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति म सलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार ह :—

- ☐ जैन-जैनेत्तर पुरातत्व सामग्री का सग्रह, सकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसधानादि कार्यो का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थागार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सास्कृतिक गतिविधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४६ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एव उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकारसे आपका महत्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मागलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट मे देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोधपत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के शोधानुसन्धान में योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यो की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुलप्रसाद जैन (सचिव)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणा प्रिंटिंग हाउस, ...

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २९ किरण २	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर-निर्वाण सवत् २५०२, वि० स० २०३२	अप्रैल-जून १९७६

श्री पुरुदेव स्तुति

अभंक्त्वा यं नैव व्रजति कृतपुण्योऽपि कुशम्,
कठोरः पाशोऽय भवति बलवान् कर्मजनितः ।
इतिवार्धं वर्ष क्षुधित इव बभ्राम भुवन,
श्रियं जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ॥५॥

भावार्थ—कर्मपाश बहुत दृढ़ होता है। पुण्यवान् भी तत्कर्म फल निबेरे बिना कुशल को प्राप्त नहीं कर पाता; मानो, यही सूचित करते हुए जो आधे वर्ष प्रमाण समयावधि क्षुधित रहकर भुवन में विहार करते रहे, वह प्रथम जिनेश्वर श्री पुरुदेव श्री वृद्धिकर हों।

प्रभो ! स्वामिन् ! नाथ ! त्रिभुवनपते ! मुक्तिकमला-
परिष्वंगश्लाघ्य ! स्वसमय ! निजात्मैकरसिक ॥
सहस्त्राच्छच्छन्दः स्तुतिशिखरिणी यस्य विमला
श्रियं जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ॥८॥

भावार्थ—हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! हे नाथ ! हे त्रिभुवनपते ! हे मुक्तिलक्ष्मी समालिंगन से श्लाघनीय ! स्वसमय ! हे अपने आत्मा में एकमात्र ध्यानरथ ! इत्यादि सहस्त्रों अच्छे छन्दोवाक्यों से जिनकी स्तुतिशिखरिणी का विमलज्ञान किया जाता है वह प्रथम जिनेन्द्र भगवान् श्री पुरुदेव श्री वृद्धिकारक हों।

———

जैन धर्म में शक्ति पूजा

☐ डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

भारत मे शक्ति पूजा सिन्धु घाटी की सभ्यता (लगभग २५००-१७०० ई० पू०) के समय ही प्रारम्भ हो चुकी थी ।[१] लेकिन उसका पूर्ण विकास पौराणिक युग में हुआ । वैदिक साहित्य मे भी सविता आदि देवियों का उल्लेख आया है ।[२] जैन धर्मावलम्बियों की मान्यता है कि भारत मे जैन धर्म का उदय सैन्धव युग मे ही प्रारम्भ हो चुका था, लेकिन उसे जनता मे फैलाने का कार्य भगवान महावीर ने छठी शती ई० पू० मे किया ।[३] प्रारम्भ मे जैन और शाक्त धर्म में कर्मकाण्ड का अभाव था और ये दोनों धर्म अत्यन्त सरल थे लेकिन परवर्ती काल मे शाक्तधर्म मे तन्त्रवाद का उदय हुआ जिसने लगभग सभी भारतीय धर्मों को प्रभावित किया । जैनधर्म भी तन्त्रवाद के प्रभाव से अछूता नही रह सका । जिस प्रकार शाक्त-धर्म का तंत्र सम्बन्धी विस्तृत साहित्य मिलता है उसी प्रकार जैन धर्म मे भी तन्त्रो और मन्त्रों की कमी नहीं हैं ।

पिछले वर्षों में मुझे कुछ जैन मन्दिरों के दर्शन का लाभ मिला । अपनी यात्रा के दौरान जब में रणकपुर जैन मन्दिर देखने पहुंचा तो गर्भ गृह के द्वार के निकट एक देवी प्रतिमा देखने को मिली जिसे सरस्वती की प्रतिमा मानकर पूजा की जाती है । उस समय मेरे मन मे यह विचार उठा कि जैन मन्दिर में सरस्वती प्रतिमा कैसे ? इसलिये मैंने इसी आशय से जैनग्रन्थों एवं पत्र पत्रिकाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया । इनमें कुछ सामग्री मिली और ऐसा लगा कि जैन धर्म भी शाक्त विचारधारा से प्रभावित है । क्योकि यदि जैन शासन मे तीर्थङ्कर विषयक ध्यान-योग का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि जैन आचार्यों ने हिन्दुओं की मंत्र-शास्त्र प्रणाली को ज्यो का त्यों स्वीकार कर लिया है ।[४] आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने ध्यान के चार स्वरूप बतलाये है पिण्डस्थ पिदस्थ, रूपस्थ और रूप वर्जित । जिस ध्यान का आलम्बन दण्ड मे हो, उसे पिण्डस्थ ध्यान, जिसमें शब्द ब्रह्म के वर्णपद वाक्य के ऊपर रचित भावना करनी हो उसे पदस्थ ध्यान, जिसमे आकार की भावना करनी हो उसे रूपस्थ ध्यान और निराकार आत्म चिन्तन को रूप वर्जित ध्यान कहते है । पिण्डस्थ ध्यान मे स्वय को कल्याणगुण युक्त मानने वाले मन्त्र मण्डल की निम्न शक्तिया; शाकिनी और योगिनिया प्रभावित नहीं कर सकती । पदस्थ ध्यान विधि में हिन्दुओं की मन्त्र शास्त्र पद्धति को स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है । जिसका वर्णन इस प्रकार है;—नाभि स्थान में सोलह दलों में षोडस स्वर मात्राएँ, हृदय स्थान में चौबीस दलों में मध्य कणिका के साथ में पच्चीस अक्षर और मूल पंङ्कज में अ, क, च, ट, त,ह, य, श, आदि वर्णाष्टक बनाकर मातृका का ध्यान किया जाय । जो व्यक्ति मातृका ध्यान को सिद्ध कर लेता है उसे नष्ट पदार्थों का स्वतः भान हो जाता है । इसके पश्चात् नाभि-स्कन्द के नीचे अष्ट दल पद्म की भावना करके उसमें वर्णाष्टक बनाकर प्रत्येक दल की सन्धि में माया प्रणव के साथ 'अर्हत्' पद बनाकर हृस्व, दीर्घ, प्लुत उच्चार से नाभि, हृदय, कंठ आदि स्थानो को सुषुम्ना मार्ग से अपने जीव को उर्ध्वगामी करना चाहिये जिससे अन्तरात्मा का शोधन होता है ऐसा विचार करें । तत्पश्चात् षोडशदल ब्रह्म में सुधाप्लावित अपनी अन्तरात्मा को सोलह विद्या देवियो के साथ सोलह दलों में बिठाकर स्वयं को अमृत-भाव मिल रहा है ऐसा सोचे । अन्त मे ध्यान के आवेश में 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' शब्द से अपने को अर्हत् रूप में

---

१. मजूमदार तथा पुसालकर, वैदिक एज, पृ० १८६-७
२. वही ।
३. माडर्न रिव्यू, जुन १६३२.
४. हेमचन्द्र, योगशास्त्र, सप्तम प्रकाश, २ लोक २७-२८ तथा अष्टम प्रकाश में श्लोक ५ ।

अनुभव करने के लिये मूर्धा में प्रयत्न करें। इसके पश्चात् अपनी आत्मा को, उस परमात्मा को जो रागद्वेष से मुक्त हैं, जो सर्वदर्शी है, जिसे देवता भी नमस्कार करते है ऐसे धर्म देश को करने वाले अर्हत् देव के साथ एक भाव से देखे। जो इस कार्य को सफलता पूर्वक कर लेते है वे पिण्ड स्वभाव को सिद्ध हुए समझे जा सकते है।[1] यह विवरण हिन्दुओ की षट्चक्रवेध पद्धति पर आधारित है। हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ मे ध्यान योग की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "ध्यान से योगी वीतराग हो जाता है।" उन्होंने अनेक मन्त्रों में तो हिंदुओं के बीजाक्षरो को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[2]

शाक्त सम्प्रदाय मे सरस्वती के रूप में दुर्गा की उपासना की जाती है। दुर्गा सप्तशती मे कहा गया है कि स्वहस्त कमल में घंटा, त्रिशूल, शख, मूसल, चक्र, धनुष, और बाण को धारण करने वाली, गौरी देह से उत्पन्न, त्रिनेत्रा, मेधास्थित चन्द्रमा के समान कान्ति वाली संसार की आधार भूता, शुम्भादि दैत्य मर्दिनी, महासरस्वता को हम नमस्कार करते है। सरस्वती को 'सरस' की अधिष्ठात्री देवी माना गया है। वह गति प्रदान करने वाली, मस्तिष्क के अन्धकार को दूर करके ज्ञान से प्रकाशित करने वाली देवी है। समस्त देवों और मनुष्यो को बुद्धि प्रदान करने वाली सरस्वती को ही माना गया है। जैन धर्मावलम्बियो ने सरस्वती की उपासना को प्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म का अंग मान लिया है। बाल चन्द्र सूरी के वसन्तविलास महाकाव्य मे कहा गया है कि चित्त रूपी चचलता त्यागकर तथा प्राणादि पंच वायु के व्यापार को स्तम्भित करके मूर्धा प्रदेश मे जो स्थिर शोभावाली सरस्वती का तेजो मण्डल देखते हैं उस ज्योतिमण्डल की हम उपासना करते है। सुषुम्ना नाडी रूपी बादली सरस्वती के तेजोमय जब बिजली के दण्ड से भेदित होकर मूर्धा में आकर निवास करती हैं उस समय विद्या रहित मनुष्यों की जिह्वा रूपी नाली पर कवित्व का अमृत बहने लगता है।[3]

जैन धर्म में सरस्वती का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रमाण कुषाण कालीन जैन शिल्प की सरस्वती प्रतिमा है। अभिधान चिन्तामणि नामक ग्रन्थ मे सरस्वती के अनेक रूपों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वाग्, ब्राह्मी, भारती, गौ, गीर्वाणी, भाषा, सरस्वती श्रुत देवी, वचन, व्यवहार, भाषित और वचस् इन सभी को एक दूसरे से अभिन्न समझना चाहिये।[4] इसी प्रकार हरिवश पुराण मे भी सरस्वती का उल्लेख मिलता है।[5] इस ग्रथ में सरस्वती को लक्ष्मी के समान मांगलिक देवी माना गया है। 'तिलोय पण्णत्ती' मे सरस्वती को श्रुतदेवी कहकर पुकारा गया है।

जैन धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में 'सरस्वती' देवी को श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मूर्ति शिल्प में ही इसका उल्लेख मिलता है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे तो हमे तीर्थङ्करो, सर्वतो भद्रिका प्रतिमाओं, सहस्त्रकूट जिनालयों, नन्दीश्वर जिनालयो, समवसरण जिनालयो, आदि की परम्परा के अलावा विद्या देवियो, अष्ट मातृकाओं, क्षेत्रपाल, सरस्वती और नव गृह की भी मान्यता है। जैन धर्म मे १६ विद्या देवियो के समूह की भी कल्पना की गई है, जिनके नाम है. रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला वज्रांकुशा, जाम्बूनदा,[6] पुरूषदत्ता, काली, महाकाली,[7] (या वैरोट्या,) गौरी गान्धारी, ज्वाला, मालिनी,[8] मानवी, वैरोटी[9] अच्युता[10] मानसी, और महामानमी। कही कहीं इन विद्या देवियों के कुछ भिन्न नाम भी मिलते है, जैसे रोहिणी, प्रज्ञप्ति, बज्रशृंखला, कुलिशाकुशा, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी,

---

१. हेमचन्द्र, पूर्वो० अष्टम प्रकाश।

२. वही।

३. बसन्त विलास, १, ७०-७३।

४. वाग् ब्राह्मी भारती गौर्गीर्वाणी भाषा सरस्वती, श्रुत देवी वचनं तु व्याहारो भाषितं वचः॥

५. हरिवंश पुराण, ५६, २७।

६. अभिधान चिन्तामणि, (देवकाण्ड द्वितीय)—चक्रेश्वरी

७. वही, महापग; आचार दिनकर (उदय ३३) मे भी यही नाम मिलता है।

८. निर्वाण कलिका—ज्वाला

९. निर्वाण कलिका—वैरोट्या

१०. निर्वाण कलिका—अच्छुप्ता

गान्धारी, सर्वस्त्रा, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या अच्छुप्ता ज्वालामालिनी, महाकाली, मानवी, गौरी, गान्धारिका, त्रिराटा, तारिका, (अच्युता,) मानसी और महामानसी। यदि उपर्युक्त तालिकाओं का ध्यान पूर्वक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि जैन धर्मावलम्बियों ने विद्या देवियो के नाम से शाक्त सम्प्रदाय की देवियों को अपने धर्म ग्रन्थों मे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

जैनधर्म के प्रतिष्ठा शास्त्रों में यक्ष और यक्षियों को शासन रक्षक देवता अथवा शासन देवता स्वीकार किया गया है। प्रारम्भिक जैन शास्त्रों में शासन देवताओ को तीर्थङ्करों का सेवक - मानकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। आचार्य सोमदेव,[६] आचार्य नेमीचन्द्र[७] और प आशाधर[८] ने यक्ष-यक्षियों की शासन देवता स्वीकार किया है : यद्यपि उपर्युक्त विद्वान इस मत से सहमत नही थे कि लौकिक कामना की पूर्ति हेतु शासन देवता की उपासना की जाय। फिर भी दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ भट्टारकों और श्वेताम्बर परम्परा के कुछ आचार्यो की रुचि मन्त्र और तन्त्र में विशेष रूप से थी। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी शासन देवताओं को तीर्थङ्कर की श्रेणी कभी भी प्राप्त नही हुई।

जैन ग्रन्थो मे शासनदेव के रूप मे बहुत सी यक्षणियों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि जैन ग्रथ उनके नामो के सबन्ध में एक मत नही हैं। 'तिलोय पण्णन्ती' के अनुसार शासन की रक्षा करने वाली यक्षियो के नाम इस प्रकार है—चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृखला, वज्रांकुशा अप्रति, चक्रेश्वरी, पुरूषदत्ता, मनोवेगा,काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, गौरी, गान्धारी, वैरोटी, अनन्तमती, मानसो, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरुपिणी, कूष्माण्डी, पद्मा और सिद्धदायिनी। अपराजितपृच्छा' के अनुसार उनके नाम है,—चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञा, वज्रश्रृखला, नरदत्ता, मनोवेगा, कालिका, कारिका, अनन्तागति, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपा, आम्बिका, पद्मावती, सिद्धदायिका। 'आचार्य दिनकर,' 'प्रतिष्ठा सारोद्वार,' और प्रतिष्ठा तिलक' आदि ग्रन्थों में इनके नाम कुछ परिवर्तन सहित दिये गये है। यद्यपि जैन ग्रन्थों में यक्षियों को शासन देव समूह के अन्तर्गत रखते हुए उन्हें भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है। लेकिन हमारी धारणा है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में उद्धृत लगभग सभी नाम शाक्त सम्प्रदाय की देवियों के है और बचे हुए नाम काल्पनिक है। जैन ग्रन्थों मे 'शासनदेवो' के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार नही किया गया है लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि गुप्तकाल के पश्चात् जैन धर्मावलम्बियो की साधना विधि और पूजा पद्धति पर शाक्त सम्प्रदाय का चाहे वह अत्यल्प ही क्यो न हो कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। इसलिये जैन आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे सरस्वती तथा देवियो के नामो और व्यक्तित्व को महत्व प्रदान किया है।

इस सबन्ध मे एक अन्य प्रमाण की भी चर्चा की जा सकती है। साधारणतया जैन मन्दिरो के द्वार के निकट 'भैरव' की प्रतिमा स्थापित करने की परम्परा है। कई बार भैरव की प्रतिमा के स्थान पर उनकी पूजा का स्थान भी निर्धारित होना पाया जाता है। हम जानते है कि शाक्त सम्प्रदाय में भैरव का दुर्गा मे निकट का सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि भैरव को किसी तरह जैन धर्म से सम्बन्धित कर भी दिया गया है तो भी उनका मूल व्यक्तित्व बदलना कठिन है। इस प्रकार सक्षेप मे कहा जा सकता है कि जैन धर्म शाक्त मत से कुछ अशो मे प्रभावित अवश्य हुआ है।

खाडा कलसा, छोटे गणेश जी
के मन्दिर के पास जोधपुर
(राजस्थान)

६. उपसकाध्ययन, ३६, ६६८
७ प्रतिष्ठा तिलक।
८. सागारधर्मामृत, ३, ७

गोम्मटेश्वर बाहुबली

□ पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली

बाहुबली ऋषभदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुनन्दा था। यह चौबीस कामदेवों मे से प्रथम कामदेव थे। इनकी शरीर की ऊंचाई सवा पांच सै धनुष थी। शरीर बलिष्ठ और भुजाएं लम्बी थी। इससे इनका दूसरा नाम भुजवली और दौर्बली भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत का शरीर भी बलिष्ठ और सुन्दर था, उनके शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष थी। विद्या, कला, कान्ति और दीप्ति मे बाहुवली भरत के ही समान थे। कामदेव होने के कारण स्त्रियां उन्हे मन्मथ, मदन, अगज, मनोज और मनोभव नामो से पुकारती थी। उनका वक्षस्थल विशाल और स्कंध उन्नत थे। मस्तक विशाल और तेज से सम्पन्न था। शिर के केश काले और घुघराले थे। इसमे सन्देह नही कि भरत वीर और राजनीतिज्ञ थे, किन्तु बाहुबली विवेकी, पराक्रमी और राजनीतिज्ञ होते हुए भी अत्यन्त चतुर थे और स्वभावत उग्र प्रकृति के धारक थे।

भगवान् ऋषभदेव नर्तकी नीलांजना का असमय मे शरीर पात देख कर देह भोगो से विरक्त हो गये, तब वे भरत और बाहुबली आदि को राज्य देकर निराकुल हो गये और प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सभी भाई अपना-अपना राज्य सचालन करते हुए जीवन यापन करने लगे। बाहुबली का राज्य शासन बड़ा ही सुन्दर और जन प्रिय था। वे न्याय नीति से प्रजा का पालन करते थे। उनकी राजधानी पोदनपुर थी।

भरत ने छह खंड पृथ्वी को विजित किया और चक्रवर्ती सम्राट् बने जब वे दिग्विजय से लौट कर वैभव के साथ अयोध्या आये। तब चक्ररत्न नगर के द्वार पर ही स्थित हो गया, वह नगर के भीतर प्रविष्ट नही हुआ। भरत ने तत्काल पुरोहित और मन्त्रियो को बुलवाया और पूछा कि जो चक्ररत्न समस्त दिशाओं को जीतने मे कहीं नहीं रुका, वह मेरे घर के द्वार पर आकर क्यों रुक गया? क्या मेरे साम्राज्य में अभी शत्रु मौजूद हैं जो मेरे वश में ही नहीं हुआ। ऐसा कोई व्यक्ति है जो मेरे उत्कर्ष को नही सह रहा है। चक्ररत्न विना किसी कारण के नहीं रुक सकता। तब पुरोहित ने कहा, नगर के द्वार पर चक्ररत्न रुकने से ज्ञात पड़ता है कि कुछ का विजय करना शेष है। यद्यपि आपने बाहर के सभी शत्रुओं को जीत लिया है किन्तु आपके भाइयो ने आकर आपको नमस्कार नही किया है। वे आपके विरुद्ध है। उन्होने निश्चय किया है कि हम भगवान् ऋषभदेव के सिवाय अन्य किसी को नमस्कार नही करेगे। आपके सभी भाई बलवान है किन्तु उन सब मे बाहुबली सबसे अधिक बलिष्ठ है। आपको इसका प्रतीकार करना चाहिए।

पुरोहित के वचनो से भरत अत्यन्त क्षुभित हुए, और लाल लाल आखें निकालकर बोले—किसी शत्रु के प्रणाम न करने पर मुझे वैसा खेद नही होता जैसा घर के भीतर रहने वाले मिथ्याभिमानी भाइयो के नमस्कार न करने से हो रहा है। ये भाई अलात् चक्र की तरह मुझसे जल रहे है। अन्य भाई मेरे विरुद्ध आचरण करने वाले भले ही रहे, किन्तु तरुण बुद्धिमान परिपाटी को जानने वाला चतुर और सज्जन बाहुबली मेरे से कैसे विरुद्ध हो गया? मालूम होता है वह भुजाओं के बल से उद्धत हो गया। वे यह सोच रहे है कि एक ही कुल मे उत्पन्न होने से हम सौ भाई अवध्य है—हमे कोई नही मार सकता। पूज्य पिता जी द्वारा प्रदत्त भूमि का वे उपभोग करना चाहते हैं, पर ऐसा हो नही सकता। अब या तो उन्हे यह घोषणा करनी पडेगी कि इस पृथ्वी का स्वामी भरत है और हम सब उसके अधीन है। अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करना होगा। मुझे सबसे अधिक खेद बाहुबली पर है मैं उसे भ्रातृ प्रेमी समझा था, किन्तु अब मैं उसे

नहीं छोड़ सकता। बाहुबली को छोड़कर अन्य भाइयों ने नमस्कार भी किया तो उससे क्या? पोदनपुर के बिना यह समस्त साम्राज्य मुझे विष के समान है।

चक्रवर्ती को क्रोधान्ध देखकर पुरोहित ने उपदेश पूर्ण वचनों से शान्त करते हुए कहा देव! आपके भाई तो बालक हैं अत: वे बाल स्वभाव के कारण कुमार्ग में इच्छानुसार क्रीड़ा कर रमते है किन्तु काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य इन छः अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले आपको क्रोध करना उचित नही है। क्रोध रूप गाढ अन्धकार में डूब जाने से आत्मा का उपकार नही हो सकता। जो राग अपने अन्तरंग से उत्पन्न होने वाले शत्रुओं को जीतने में समर्थ नही है वह अपने आत्मा को नही जानने वाला कार्य और अकार्य को कैसे जान सकता है? क्रोध से कार्य की सिद्धि मे सन्देह बना रहता है। अत. आप अपकार करने वाले इस क्रोध को दूर कीजिए। जितेन्द्रिय मनुष्य केवल क्षमा से ही पृथ्वी को जीतते है। परलोक को जीतने वाले पुरुषों के लिए सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है। चतुर दूतो को भेजकर अपने भाइयो को वश मे करना उचित है। इससे आपको यश होगा। यदि वे शान्ति से वश न हो तब आगे का विचार करना चाहिए। पुरोहित के हितकारी वचनों से चक्रवर्ती का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने बाहुबली के सिवाय शेष भाइयों के पास दूत भेजना उचित समझा। दूतो ने जाकर उन्हे चक्रवर्ती का सन्देश सुनाया। सन्देश सुनकर सब भाइयो ने परस्पर मे विचार कर दूत से कहा, भरत का कहना उचित है क्योकि पिता के अभाव मे बड़ा भाई पूज्य होता है परन्तु समस्त ससार के जानने-देखने वाले हमारे पिता विद्यमान है वही हमे प्रमाण है, यह राज्य भी उन्ही का दिया हुआ है। अतः हम उन्ही की आज्ञा के अधीन है। भरत से न हमें कुछ लेना है और न देना है। इतना कह कर उन भाइयो ने दूतो को विदा किया और वे सब भाई कैलाश पर्वत पर विराजमान ऋषभदेव की सेवा में उपस्थित हुए और निवेदन किया—

देव! हमे आपने जन्म दिया है और आपने ही यह विभूति प्रदान की है। अतः हम आपके सिवाय अन्य किसी की सेवा नही करना चाहते। फिर भी भरत ने कहलाया है कि आकर मुझे नमस्कार करो. किन्तु हम इस जन्म में तो क्या परजन्म मे भी आपके सिवाय अन्य किसी देव या मनुष्य को प्रणाम करने मे सर्वथा असमर्थ हैं। हम आपके समीप जिन दीक्षा धारण करने आये हैं, जिनमें दूसरों को प्रणाम करने से मानभग का भय नही रहता। जो मार्ग सुखद और हितकर हो, वह आप हम लोगों को बतलाइये। इतना कह कर वे सब कुमार चुप हो गए। और सब जिज्ञासापूर्वक भगवान के मुख की ओर देखने लगे।

भगवान ने कहा, हे पुत्रो! तुम मनस्वी और गुणी होकर दूसरों के भार वहन करने वाले कैसे हो सकते हो! यह राज्य और जीवन चंचल है—विनाशी है। यौवन का उन्माद एक नशा है, सैन्य शक्ति बलवानों से पराजित हो जाती है। धन-सम्पत्ति को चोर चुरा ले जाते है। वह तृष्णारूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए ईंधन के समान है। इन्द्रिय-विषयों का आस्वादन अनेक बार कर चुके हो। चिरकाल तक भोग-भोगकर भी उनसे तृप्ति नही होती, उलटा खेद ही होता है। अतएव ये विषय विष मिश्रित भोजन के समान है। फिर ऐसे कौन से विषय है जिन्हे तुमने भोगा नही। राज्य भी विनश्वर है, जिस राज्य मे पुत्र-मित्र और भाई-बन्धु शत्रु हो जाते है उस राज्य के लिए धिक्कार है। यह विनश्वर राज्य भरत के द्वारा जब कभी भी छोड़ा जायगा उस अस्थिर राज्य के लिए तुम व्यर्थ क्यो लड रहे हो। जब तक पुण्य का उदय है, पृथ्वी का उपभोग कर लो, किन्तु अन्त मे उसे छोड़ना ही पडेगा। ऐसे अस्थायी राज्य के लिए परस्पर मे झगड़ना बुद्धिमत्ता नही। अत ईर्ष्या करना व्यर्थ है। तुम लोग धर्मरूपी महावृक्ष के उस दयारूप फल को धारण करो, जो कभी म्लान नही होता और जिस पर मुक्तिरूपी महाफल लगता है, वह दूसरों की दीनता से रहित है, दूसरे भी जिसका आचरण करते है। वह तपश्चरण ही महाअभिमान के धारक तुम लोगों के मान की रक्षा कर सकता है। आत्मा के शत्रु उन कर्मों से लड़ना चाहिए, जिन्होंने चिरकाल से तुम्हे अपना दास बना रक्खा है।

भगवान के उपदेश को सुनकर सभी राजकुमार गद्-गद् हो गए और उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर ली।

भरत के छोटे भाइयों ने राज्य का परित्याग कर दिया; किन्तु फिर भी भरत का मन निराकुल न रह सका, क्योंकि बलवान बाहुबली अभी राज्यासीन था, और उसे अनुकूल करना सरल नहीं था।

भरत-बाहुबली युद्ध

भरत जानते थे कि बाहुबली बलशाली है, सामान्य सदेशों से वह वश में नहीं हो सकता। अन्य क्षत्रिय राजकुमारों और बाहुबली में उतना ही अन्तर था, जितना हिरणों और सिंह मे अन्तर होता है। बाहुबली वीर और पराक्रमी होने के साथ-साथ बडा नीतिज्ञ और उग्र प्रकृति का है। इसलिए युद्ध मे उसे वश से नही किया जा सकता। भाईपने के कपट से जिसके अन्तरंग मे विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतीकार नही। ऐसा यह बाहुबली घर के भीतर उठी हुई अग्नि के समान कुल को भस्म कर देगा। जिस तरह वृक्षों की शाखाओं के अग्र भाग की रगड़ से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वत का विघात कर देती है, उसी तरह भाई आदि अन्तरग प्रकृति से उत्पन्न हुआ प्रकोप राज्य का विघातक होता है।[1] अत: शान्ति से समस्या का हल होना सम्भव नही है, इसलिए चक्रवर्ती का चिंतित होना स्वाभाविक ही है। वे उसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहते थे। अतः उन्होने बहुत सोच विचार के बाद एक चतुर दूत बाहुबली के पास भेजा। अपने स्वामी की कार्य सिद्धि के लिए अनेक उपाय सोचता हुआ राजदूत पोदनपुर पहुंचा।

नगर के बाहर धान के पके हुए खेत लहलहा रहे थे, और किसान कटाई मे लगे हुए थे। ईख के खेतों मे गायें चर रही थी, उनके थनो से दूध भरा पड़ता था। किसानों की स्त्रियां खेतों मे बैठकर पक्षियों को भगा रही थीं। यह सब मनोरम दृश्य देखते हुए दूत ने नगर मे प्रवेश किया। और राजभवन के आंगन मे पहुचकर द्वारपाल द्वारा अपने आगमन का समाचार कहलाया।

जब दूत राजदरबार में उपस्थित हुआ, तब तेजपुज बाहुबली पर दृष्टि पडते ही कुछ घबरा-सा गया। विनम्र मस्तक से दूत ने बाहुबली को नमस्कार किया और बाहुबली ने सत्कारपूर्वक उसे अपने पास बिठाया। जब दूत अपना स्थान ग्रहण कर चुका, तब बाहुबली ने मुस्कराते हुए कहा—भद्र! समस्त पृथ्वी के स्वामी आपके चक्रवर्ती कुशल से तो है। आज बहुत दिनो बाद उन्होने हम लोगों को स्मरण किता है। सुना है उन्होने सब राजाओं को जीत लिया है, और सब दिशाओं को अपने अधीन कर लिया है। उनका यह कार्य समाप्त हो चुका है या कुछ शेष है।

दूत विनयपूर्वक बोला—देव! हम लोग दूत है, गुण और दोषों का विचार करने में असमर्थ है। अतः अपने स्वामी की आज्ञानुसार चलना हमारा धर्म है। चक्रवर्ती ने जो उचित आज्ञा दी है उसे स्वीकार करने में ही आपका गौरव है। भरत प्रथम चक्रवर्ती है और आपके बडे भाई है। उन्होने पृथ्वी को वश मे कर लिया है, देवता उन्हे नमस्कार करते है। उनके एक ही बाण ने महासमुद्र के अधिपति व्यन्तरदेव को उसका शिकार बना दिया। विजयार्ध के पर्वत की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों ने भी उसका जयघोष किया है। उत्तर भारत ने वृषभाचल पर उन्होने अपनी प्रशस्ति अंकित की। म्लेच्छ राजाओ पर भी विजय प्राप्त की है। देव उनके सेवक है और लक्ष्मी दासी है। उन्ही भरत ने अपने आशीर्वाद से आपका सन्मान कर आज्ञा दी है कि समुद्र पर्यन्त फैला हुआ यह राज्य भाई बाहुबली के बिना शोभा नही देता। अतः आप भरत के समीप जाकर उन्हे प्रणाम करें। भरत की आज्ञा कभी व्यर्थ नही जाती। जो उनकी आज्ञा का उल्लंघन करते है उन पर चक्र रत्न अव्यर्थ प्रहार करता है।[2] अत. आप शीघ्र ही चलकर उनका मनोरथ पूर्ण करें। आप दोनों भाइयो के मिलाप से यह संसार भी परस्पर मे मिलकर रहना सीखेगा।

दूत के वचन सुनकर मन्द-मन्द हसते हुए धीर-वीर

---

१. ज्ञाति व्याजनिगूढान्तर्विक्रियो निष्प्राप्तिक्रियः।
सोऽन्तर्गृहोत्थितोवह्निरिवाशेषं दहेत् कुलम्॥
अन्तः प्रकृतिगः कोपोविघाताय प्रभोर्मतः।
तरु शाखाप्रसंघहजन्मा वह्निर्यथागिरेः॥
—आदिपुराण ३५, १७-१८

२. अवन्ध्य शासनस्यास्य शासनं ये विमन्वते।
शासनं द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम्॥ ३५—८६.

बाहुबली कहने लगे—दूत ! जिन्हें शान्ति से वश में नहीं किया जा सकता उनके साथ अहकार का प्रयोग करना मूर्खता है। भरतेश्वर उम्र मे बड़े हैं किन्तु बूढा हाथी सिंह के बच्चे की बराबरी नहीं कर सकता।[3] यह ठीक है कि बड़ा भाई पूज्य होता है किन्तु जिसने सिर पर तलवार रख छोड़ी है उसे प्रणाम करना कहा की रीति है? भगवान ने हम दोनों को राज्य पद दिया था। यदि भरत लोभ में पड़कर राजा बनना चाहता है तो भले ही बनें, परन्तु हम तो अपने सुराज्य मे रहकर राजा ही बना रहना पसन्द करते हैं। वह हमे बच्चो के समान फुसलाकर और हम से प्रणाम करवाकर भूमि का टुकड़ा देना चाहता है किन्तु भरत का दिया हुआ वह भूमि खण्ड हमारे लिए खली के टुकड़े के समान है।[4] मनस्वी पुरुष अपनी भुजाओ के परिश्रम से प्राप्त अल्प फल मे ही सन्तुष्ट रहते है।[5] जो पुरुष राजा होकर भी अपमान से मलिन विभूति को स्वीकार करता है, वह नर पशु है और उनकी विभूति एक भार है। मानभग कराकर प्राप्त हुई भोग सम्पदा में अनुरक्त मनुष्य, मनुष्य नही किन्तु पशु है। मुनि भी जब स्वाभिमान का परित्याग नही करते तब राजपुरुष कैसे अपना अभिमान छोड़ सकता है।[6] बन में जाकर रहना अच्छा है और प्राणो का परित्याग करना भी अच्छा है किन्तु स्वाभिमानी पुरुष के लिए किसी का दास होना अच्छा नही है[7]। पिता जी के द्वारा दी हुई हमारे कुल की यह पृथ्वी भरत के लिए भाई की स्त्री के समान है। जब वह उसे लेना ही चाहता है तो क्या उसे लज्जा नही आती[8]। जो मनुष्य स्वतंत्र है और शत्रुओं को अपनी इच्छानुसार जीतने की इच्छा करते हैं, वे अपने कुल की स्त्रियों और भुजाओं से कमाई हुई पृथ्वी को छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते है[9]। धीर वीर पुरुष प्राण देकर भी मान की रक्षा करते हैं क्योंकि मानपूर्वक कमाया हुआ यश ही संसार की शोभा है। अतः अपने चक्रवर्ती से जाकर कह देना कि या तो पृथ्वी का उपभोग भरत करेगा या मैं ही उपभोग करूगा[10]। हम दोनों का जो कुछ होगा वह युद्ध भूमि मे ही होगा। इतना कहकर स्वाभिमानी बाहुबली ने दूत को विदा कर दिया और युद्ध की तैयारी करने का आदेश दिया। उधर जब दूत के मुख से बाहुबली का निर्णय ज्ञात हुआ तो भरत ने भी अपनी सेना के साथ पोदनपुर के लिए प्रस्थान किया। दोनों ओर की सेनाएं रणभूमि मे आ डटी। और दोनों ही पक्ष के योद्धा अपनी अपनी सेना की व्यूह रचना करने में जुट गये।

इधर मंत्रीगण विचार विमर्श में लगे हुए थे। उनका कहना था कि क्रूर ग्रहो के समान दोनों का युद्ध शान्ति के लिए नहीं है। दोनों ही चरम शरीरी है। अतः युद्ध से इन दोनो की कोई क्षति नही हो सकती। किन्तु दोनों ही पक्ष के योद्धा व्यर्थ मे मारे जायेंगे। भीषण नर सहार होगा, ऐसा विचार कर दोनों ही पक्ष के मन्त्रियों ने अपने स्वामी की अनुमति लेकर उनके सामने यह विचार रक्खा कि निष्कारण नर सहार करने से बडा अधर्म होगा और लोक मे अपयश फैलेगा। बलाबल की परीक्षा तो अन्य प्रकार से भी हो सकती है। अतः आप दोनों भाई तीन प्रकार का युद्ध करें। और जिसकी पराजय हो वह भृकुटि

---

३. ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्कामयस्त्वन्यदा सदा।
मूर्धन्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति कः क्रमः॥३५-१०७

४. बालानिवच्छलादस्मान् आहूय प्रणम्य च।
पिण्डीखण्ड युवा भाति महीखण्डस्तदर्पितः॥ ३५-१११

५. स्वेदार्द्रमफलं श्लाघ्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम्।
न चातुरन्तमप्यैश्यं परभ्रूलतिकाफलम्॥ ३५-११२

६. आदिपुराण ५—११७.

७. वरं बनाधिवासोऽपि वरं प्राण विसर्जनम्।
कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञा विधेयता॥
आ. पु. ३५-१८

८. दूत तातवितीर्णां नो महीमेना कुलोचिताम्।
भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सोः नास्यलज्जा भवत्पतेः॥
आ. पु. ३५-३४

९. देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगीषुणा।
मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्षमातलं च भुजार्जितम्॥
आ. पु. ३५—३५

१०. भूयस्तदलमालप्य स वा भुङ्क्ता महीतलम्।
चिरमेकातपत्राङ्कम् अहं वा भुजविक्रमी॥
आ. पु. ३५—३६

टेढ़ी किये बिना सहन करे। भाई भाई का यही धर्म है। सब राजाओं और मंत्रियों के आग्रह से दोनों भाइयों ने इस विचार को स्वीकार किया। तुरन्त ही सेना में यह घोषणा कर दी गई कि दृष्टि युद्ध, जल युद्ध और बाहु युद्ध (मल्लयुद्ध) में दोनों में से जो विजयी होगा वही जयलक्ष्मी का स्वामी माना जावेगा।

इस घोषणा के बाद दोनों ओर के प्रमुख-प्रमुख पुरुष अपने अपने स्वामी के साथ दोनों ओर बैठ गये। सबसे पहले दृष्टि युद्ध हुआ, उसमें बाहुबली विजयी हुए। अपने स्वामी की विजय से हर्षित हो बाहुबली की सेना जयघोष करने लगी, तब प्रमुख पुरुषों ने रोककर मर्यादा की रक्षा की।

इसके बाद दोनों भाई जलयुद्ध करने के लिए सरोवर मे उतरे और अपनी लम्बी भुजाओं से एक दूसरे पर पानी फेंकने लगे। भरत से बाहुबली लम्बे थे। अतः भरत के द्वारा फेंका गया पानी बाहुबली के विशाल वक्षस्थल से टकरा कर ऐसे लौटता था जैसे पर्वत से टकराकर समुद्र की लहर लौट आती है, और बाहुबली के द्वारा उछाला गया पानी भरत के मुख, आंख, नाक और कानों मे भर जाता था। अतः जलयुद्ध मे भी भरत पराजित हुए। बाहुबली के सेना ने पुनः जयघोष किया।

पश्चात् दोनों नर शार्दूल बाहुयुद्ध के लिए रंगभूमि में उतरे। दोनों ने हाथ मिलाये, ताल ठोंकी, पैंतरे बदले और फिर आपस में भिड़ गये। सहसा बाहुबली ने चक्रवर्ती भरत को दबोच लिया और उन्हें एक हाथ से उठाकर अलातचक्र के समान घुमा डाला। बाहुबली चाहते तो चक्रवर्ती को जमीन पटक सकते थे। किन्तु उन्होंने आखिर बड़े भाई हैं उनकी पद मर्यादा का विचार कर वैसा नहीं किया, और चक्रवर्ती को अपने कन्धे पर बैठा लिया। उस समय बाहुबली के पक्ष में तुमुल जयघोष हुआ। और भरत के पक्ष के राजाओं ने लज्जा से अपने सिर झुका दिये।

दोनों पक्षों के सामने हुए अपमान से भरत क्रोध से अन्धा हो गया। निधियों के स्वामी उस भरत ने बाहुबली की पराजय करने के लिए शत्रु समूह का विनाश करने वाले सुदर्शन चक्र रत्न का स्मरण किया, और विवेकहीन होकर नीति अनीति का विचार न कर बाहुबली पर चक्र चला दिया। किन्तु देवोपुनीत अस्त्र वंश घात नही करते। अतः चक्र ने बाहुबली के पास जाकर उसकी प्रदक्षिणा की और तेजहीन होकर वही ठहर गया। उस समय दोनों पक्ष के प्रमुख प्रमुख राजाओं ने बाहुबलि की प्रशसा करते हुए उनका खूब आदर सत्कार किया। आपने खूब पराक्रम दिखलाया ऐसा उच्चस्वर से कहते हुए बाहुबली ने भरत को कन्धे से धीरे से उतारा।

उस समय बाहुबली ने अपने को बड़ा अनुभव किया, किन्तु घटनाचक्र ने उन्हें विचार सागर में निमग्न कर दिया। वे सोचने लगे, देखो, हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह राज्य क्षणभगुर है और उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है, जो एक स्वामी को छोड़कर अन्य के पास चली जाती है। यह राज्य प्राणियों को छोड देता है। परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नही छोड़ते। भाई को परिग्रह की चाह ने अन्धा कर दिया है और अहंकार ने उनके विवेक को भी दूर भगा दिया है। पर देखो, दुनिया मे किसका अभिमान स्थिर रहा है? अहकार की चेष्टा का दंड ही तो अपमान है। तुम्हे राज्य की इच्छा है तो लो इसे सम्हालो और जो उस गद्दी पर बैठे उसे अपने कदमों मे झुका लो। उस राज्य सत्ता को धिक्कार है, जो न्याय अन्याय का विवेक भुला देती है। और इन्सान को हैवान बना देती है। अब मैं इस राज्य त्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान करना चाहता हूं। भरत की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है वह इस नश्वर राज्य को अविनश्वर मानता है।

बाहुबली ज्यों ज्यों अपने बड़े भाई की नीचता को विचार करते त्यों त्यों उन्हे घोर कष्ट होता था। अन्त में वह भरत से बोले—राजश्रेष्ठ! क्षण भर के लिए अपनी को छोड़कर मेरी बात सुनो—तुमने आज बड़ा दुस्साहस किया है जो मेरे इस अभेद्य शरीर पर चक्र का प्रहार किया है। जैसे वज्र के बने पर्वत को वज्र की कुछ हानि नही पहुंचती वैसे ही तेरा यह चक्र मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता। दूसरे तुमने जो अपने भाइयों का घर उजाड़ कर राज्य प्राप्त करना चाहा है उससे तुमने खूब धर्म और यश कमाया है। आने वाली पीढ़ियां कहेंगी,

कि आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत ने अपने कुल का अच्छा उद्धार किया था। पाप से सनी हुई जिस राज्य लक्ष्मी को तू अविनाशी समझता है, वह तुझे ही मुबारिक हो। अब वह मेरे योग्य नही है। अब मैं तप रूपी लक्ष्मी को स्वीकार करना चाहता हूं। मुझसे जो अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करो। मैं अपनी चचलता के कारण विनय को भूल बैठा, इसका मुझे खेद है।

बाहुबली की इस उदार वाणी को सुनकर चक्रवर्ती सन्तप्त हृदय कुछ शीतल हुआ, और वह अपने दुष्कृत्य के लिए पश्चाताप करने लगा। उसने बाहुबली की बहुत अनुनय विनय की, परन्तु बाहुबली अपने संकल्प से रच-मात्र भी विचलित नही हुए। और अपने पुत्र महाबली को राज्य देकर विरक्त हो वन मे जाकर तपस्या करने लगे। उन्होने सर्व परिग्रह का परित्याग कर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया। बाहुबली ने एक वर्ष तक एक ही स्थान मे स्थित होकर घोर तपश्चरण किया उनका तपस्वी जीवन बड़ा ही कठोर रहा है। वे एक वर्ष में भूख, प्यास, शीत-उष्ण, दंश मशक आदि विविध परीषहों को सहन करते हुए अपने शुद्ध चैतन्य भाव में तन्मय रहे। वर्षा सर्दी गर्मी आदि ऋतुओं में होने वाले विविध कष्टो की परवाह न करते हुए शम भाव में रहे हैं। उनकी दृष्टि में मान अपमान, सुख-दुःख जीवन-मरण, धन-धान्य, कचन और काच आदि सभी पदार्थों में समता रही है। उनके इस तपस्वी जीवन मे माधवी लताए बाहुओ से लिपट गई थी, और सर्पो ने चरणो के नीचे वामियां बना ली थीं और वे सर्प उनके शरीर पर चढ़ जाते थे, जिससे वे भयंकर प्रतीत होने लगे थे। विद्याधरियों ने माधवी लता के पत्तों को तोड़ दिया था जिससे वे सूख कर उनके चरणों मे गिर पड़े थे। उनकी समता और अहिंसा की प्रतिष्ठा से जाति विरोधी जीव सिंह हिरणादिक अपना वैर भाव छोड़कर उस पर्वत पर निर्भय होकर विचरण करते थे। इन्द्रियजय और परीषहजय से उनके विपुल कर्मों की निर्जरा हो रही थी। उन्होने क्षमा से क्रोध को जीता था अहकार के त्याग से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ पर विजय प्राप्त की थी"। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार सज्ञाओ पर विजय प्राप्त की थी। सतत जागरुक और स्वरूप में सावधान रहने से कषायरूपी चोर उनकी रत्नत्रय निधि (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) को नही चुरा सके थे"। तपश्चरण से उन्हे अणिमा-महिमादि अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गई थी। क्रीडार्थ आई हुई विद्याधरियां कभी कभी उनके शरीर पर लगी हुई माधवीलता को हटा देती थी"। तपश्चरण से उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था किन्तु आत्मतेज चमक रहा था। तपश्चरण और ध्यान केवल उनकी तप-शक्ति बढ़ गई थी और लेश्या भी शुक्ल हो गई थी। एक वर्ष का उपवास समाप्त होते ही भरतेश ने आकर उनके चरणों की पूजा की। पूजा करते ही उन्हे बोधिलाभ—केवल ज्ञान—की प्राप्ति हो गई"। बाहुबली के चित्त में शल्य का जो कोई सूक्ष्म अश अवशिष्ट था उसके दूर होते ही वे पूर्ण ज्ञानी ही गये। भरत ने उनके केवलज्ञान की पूजा की और देवादिकों ने भी पूजा की। उन्होंने अनेक देशों में विहार किया और जनता को सन्मार्ग का उपदेश दिया। और कैलाश पर्वत पर जाकर स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त किया—सिद्ध परमात्मा बन गए।

बाहुबली की मूर्ति

बाहुबली की पावन स्मृति में चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने पोदनपुर मे बाहुबली की समुन्नत सुवर्णांकित प्रशान्त

---

११. परीषहजयादस्य विपुला निर्जराभवत्।
कर्मणां निर्जरोपायः परीषहजयः परः॥ ३६-१२८
क्रोधं तितिक्षया मानम् उत्सेकपरिवर्जनैः।
मायामृजुतया लोभं सन्तोषेण जिगीषसः॥ १२६

१२. कषाय तस्करैर्नास्य हृतं रत्नत्रयं धनम्।
सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमाद्यतः॥ ३६।१३६

१३. विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः।
वल्लीरुद्वेष्टयामासुः मुनेः सर्वाङ्गसङ्गिनी॥
आ. पु. ३६-१८३

१४. इत्युपारूढं सद्ध्यानबलोद्भूततपोबलः।
स लेश्याशुद्धिमास्कन्दन शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत्॥
वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः।
स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षयम्॥
आदिपुराण ३६, १८४–१८५

भव्य मूर्ति का निर्माण कराया था, परन्तु वह कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो जाने के कारण दुर्गम हो गई थी। इस कारण उसका दर्शन पूजन करना जनता को दुर्लभ हो गया था। जब यह समाचार चामुण्डराय को ज्ञात हुआ तो उसने भी बाहुबली की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। जो दक्षिण भारत का निवासी था, और जिसका घरू नाम गोम्मट था, और राजमल्ल द्वारा प्रदत्त 'राय' उनकी उपाधि थी। इस कारण चामुण्डराय गोम्मटराय कहे जाते थे[१५]। जैसा कि गोम्मटसार जीवकाण्ड के—'सो राम्रो गोम्मटो जयउ' वाक्य से स्पष्ट है। चामुण्डराय ब्रह्म-क्षत्रिय वंश के भूषण थे, वीर प्रतापी और धर्मनिष्ठ थे। वह गंगवंशी राजा राजमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे। वह पराक्रमी, शत्रुजयी, दृढ़ निश्चयी, साहसी और वीर योद्धा था। उसने अनेक युद्धों मे विजय श्री प्राप्त की थी। इसी से समर धुरंधर, वीर मार्तण्ड, रणरंग सिंह, भुज विक्रम और वैरी कुल कालदण्ड आदि अनेक उपाधियों से समलंकृत था। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार मे चामुण्डराय को 'गुणरत्नभूषण' और सम्यक्त्व रत्न निलय बतलाया है और गोम्मटराय नाम से भी उल्लेखित किया है। इससे चामुण्डराय के व्यक्तित्व की महत्ता का सहज ही आभास हो जाता है। जहां वह राजनीतिज्ञ था वहां वह विद्वान धर्मनिष्ठ और ग्रन्थ रचयिता भी था।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ९६८वी गाथा मे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उनकी तीन उपलब्धियों का उल्लेख किया है :—

गोम्मट संगह सुत्तं गोम्मट सिहरुवरि गोम्मट जिणो य।
गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिण कुक्कुट जिणो जयउ॥

उक्त गाथा मे गोम्मट संग्रह सूत्र, गोम्मट जिन और दक्खिण कुक्कुट जिन, इन तीन कार्यों में उल्लेख किया गया है।

गोम्मट संगह सुत्त—गोम्मट संग्रह सूत्र गोम्मटसार नाम का ग्रन्थ है, जिसका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है, और जिसे चामुण्डराय के अनुरोध से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का सार लेकर रचा था।

गोम्मट जिनसेन तात्पर्य नेमिनाथ भगवान् की एक हस्त प्रमाण इन्द्र नीलमणि की उस मूर्ति से है, जिसे चामुण्डराय ने बनवा कर अपनी वसति मे चन्द्रगिरि पर्वत पर विराजमान किया था, किन्तु वह अब वहां पर नहीं है। और दक्षिण कुक्कुट जिनसे अभिप्राय बाहुबली की उस विशाल मूर्ति से है जो विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठित की गई है, और जो उत्तर प्रदेश पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित बाहुबली की उस शरीराकृति मूर्ति से भिन्न है, तथा कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो गई थी। उससे भिन्नता द्योतन करने के लिए ही दक्षिण कुक्कुट विशेषण लगाया गया है।

चामुण्डराय द्वारा निर्मित यह दिव्य मूर्ति ५७ फुट ऊंची है। प्रशान्त कलात्मक और चित्ताकर्षक है। इतनी विशाल और सुन्दर कृति मूर्ति अन्यत्र नहीं मिलती। श्रवणबेलगोल में प्रतिष्ठापित जगद्विख्यात यह मूर्ति अद्वितीय है। जो धूप, वर्षा, सर्दी, गर्मी और आंधी आदि की बाधाओं को सहते हुए भी अविचल स्थित है। मूर्ति शिल्पी की कल्पना का साकार रूप है। मूर्ति के नख-शिख वैसे अंकित हैं जैसे उनका आज ही निर्माण हुआ हो। मूर्ति को देखकर दर्शक की आंखें प्रसन्नता से भर जाती है। बाहुबली की यह मूर्ति ध्यान अवस्था की है। बाहुबली के केवल ज्ञानी होने से पूर्व वह जिस रूप में स्थित थे, माधवी लताओं ने उनके बाहुओं को लपेट लिया था और सर्पों ने बामियां बना ली थी। कलाकार ने उसी रूप को अंकित किया है। दर्शक की आंखें उस मूर्ति को देखकर तृप्त नहीं होती। उसकी भावना उसे बार-बार देखने की होती है। मूर्ति के दर्शन से जो आत्मलाभ और शान्ति मिलती है वह शब्दों द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। मैं तो उस मूर्ति के दर्शन से अपना जीवन सफल हुआ मानता हूं। और चाहता हूं कि अन्तिम समय मे इस मूर्ति का दर्शन मिले। मूर्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह निरावरण होते हुए भी उस पर पक्षी बीट नही करते। हजारों विदेशी जन इस मूर्ति का दर्शन करना अपना सौभाग्य

१५. अनेकान्त वर्ष ४ कि० ३-४ पृ. २२९, २९३।

समझते हैं। इस मूर्ति का निर्माण चामुण्डराय के सातिशय पुण्य का प्रतीक है। उसकी धवल कीर्ति अमर और चिरस्थायी है।

मूर्ति के प्रतिष्ठा समय पर विचार

बाहुबली की इस मूर्ति की प्रतिष्ठा कब हुई, इस पर विचार किया जाता है।

चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण (त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित) शक संवत् ६०० ई० सन् ६७८ मे बना कर समाप्त किया है। उस समय तक बाहुबली की मूर्ति का निर्माण नही हुआ था, अन्यथा उसका उल्लेख उक्त ग्रन्थ में अवश्य हुआ होता। किन्तु उसमें कोई उल्लेख नही है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। बाहुबलि चरित मे गोम्मेटेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख निम्न प्रकार पाया जाता है :—

कल्क्यब्दे षट् शताख्ये विनुतविभव संवत्सरे मासि चैत्रे,
पञ्चम्यां शुक्ल पक्षे दिनमणि दिवसे कुम्भ लग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित भगणे सुप्तशस्तां चकार।
श्री चामुण्डराजो बेलगुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम्॥

इस पद्य से स्पष्ट है कि कल्कि सं० ६०० विभव सवत्सर में चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार को कुम्भ लग्न सौभाग्ययोग, मृगशिरा नक्षत्र में चामुण्डराय ने बेलगुल नगर मे गोम्मटेश की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। किन्तु इस तिथि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। मि० घोषाल ने वृहद्द्रव्य सग्रह की अपनी अग्रेजी प्रस्तावना मे उक्त तिथि को २ अप्रेल सन् ६८० मे माना है। और श्री गोविन्द पै ने १३ मार्च सन् ६८१ मे स्वीकृत किया है। डा० हीरालाल जी ने २३ मार्च सन् १०२८ मे उक्त तिथि को ठीक घटित होना बतलाया है। और श्याम शास्त्री ने ३ मार्च सन् १०२८ को उक्त तिथि के घटित होने का निर्देश किया है।

डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य ने भारतीय ज्योतिष की गणना के अनुसार विभव संवत्सर चैत्र शुक्ला पचमी रविवार को मृगशिरा नक्षत्र का योग १३ मार्च सन् ६८१ मे घटित होना प्रगट किया है। तथा अन्य ग्रहो की स्थिति भी इसी दिन सम्यक् घटित होती बतलाई है। अतएव उक्त मूर्ति का प्रतिष्ठा काल सन् ६८१ मानना समुचित जान पड़ता है[१६]।

महाकवि रत्न ने अपना अजितपुराण शक सं० ६१५ सन् ६६३ ई० में समाप्त किया है। उसमें बाहुबली की मूर्ति को कुक्कुटेश्वर लिखा है। गोम्मटेश्वर नही। और इसी पुराण के अनुसार अति मब्बे ने उक्त मूर्ति के दर्शन किये थे। इससे स्पष्ट है कि बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा सन् ६६३ से पूर्व हो चुकी थी। उस समय तक उसकी प्रसिद्धि कुक्कुटेश्वर थी। गोम्मटेश्वर और गोम्मट स्वामी के नाम से नही थी।

गोम्मटसार की रचना बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा के बाद हुई है, क्योंकि उसमे मूर्ति को गोम्मटेश्वर, गोम्मट देव जैसे नामों से उल्लेखित किया है और चामुण्डराय की प्रशंसा करते हुए उन्हे गोम्मटराय, गोम्मट बतलाया है और उनके जयवंत होने की कामना की है। इससे चामुण्डराय के गोम्मट नाम की प्रसिद्धि हुई है, जो उनका घरू नाम था। उन्ही के नाम के कारण मूर्ति गोम्मटेश्वर गोम्मट देव नाम से ख्यात हुई।

आचार्य जिनसेन ने भगवान् बाहुबली की स्तुति करते हुए लिखा है कि जो शीतकाल मे बर्फ से ढके हुए ऊचे शरीर को धारण करते हुए पर्वत के समान प्रकट होते थे। वर्षा ऋतु मे नवीन मेघो के जल समूह से प्रक्षालित होते थे—भीगते रहते थे, और ग्रीष्म काल मे सूर्य की किरणो के ताप को सहन करते थे, वे बाहुबली सदा जयवत हो।

स जयति हिमकाले यो हिमानी परीतं,
वपुश्चल इवोच्चैर्विभ्रवाविर्बभूव।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले,
खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले विषेहे॥ ३६-२११

जिन बाहुबली ने अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते है और जो पूज्य पुरुषों के द्वारा भी पूजनीय है ऐसे इन योगिराज बाहुबली को जो पुरुष अपने हृदय मे स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता और वह शीघ्र ही जिनेन्द्र भगवान् की अजय्य विजय लक्ष्मी को प्राप्त होता है। जो बाहुबली के गुणो का शान्त भाव

[शेष पृष्ठ ८४ पर]

---

१६. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ४ किरण ४ पृ.

भगवान महावीर की सर्वज्ञता

☐ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

ऐतिहासिक महापुरुष वर्द्धमान का जन्म विदेह के कुण्डपुर में ई पू. ५९९ मे हुआ था। उनके जीवन का भली भांति अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि दार्शनिक जगत मे भगवान महावीर की मान्यता का प्रमुख कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि थी। केवल ऐतिहासिक पुरुष होने के कारण तथा धर्मप्रचारक, प्रसारक व नेता होने से ही कोई शत-सहस्राब्दियों तक पूज्य नहीं हो सकता। विभिन्न मतो की स्थापना करने वाले भी अनेक आचार्य तथा विद्वान हुए। किन्तु उन मे से कितने नाम आज हम जानते है? भारतीय संस्कृति मे त्याग और तपस्या के परम आदर्श परमात्मा का ही प्रतिदिन नाम-स्मरण किया जाता है। भगवान महावीर ऐसे ही परमात्मा हुए, जो सभी प्रकार के दोषो तथा बन्धनों से रहित एव परम गुणों से सहित थे।[1] परमात्मा के ही अन्य नाम है—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध, कर्मयुक्त आत्मा।[2] किन्तु विभिन्न दर्शनो मे इन शब्दो की निरुक्ति एव व्याख्या अलग-अलग रूपो मे की गई है। इसलिए प्राय. एक दर्शन का ज्ञाता दूसरे दर्शन को समझते समय अपनी मान्यताओ एव पूर्वग्रह के अनुसार अपनी-अपनी कसौटियो पर दूसरो को कसने का प्रयत्न करते है जिससे उनके साथ न्याय नही हो पाता।

प्रश्न यह है कि महावीर सर्वज्ञ थे या नही? जैन आगम ग्रन्थों मे पूर्णज्ञान से विशिष्ट भगवान महावीर का स्तवन किया गया है। भगवान महावीर सब पदार्थो के ज्ञाता, द्रष्टा थे। काम क्रोधादि के अन्तरंग शत्रुओं को जीत कर वे केवलज्ञानी बने थे। निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले वे अटल पुरुष आत्मस्वरूप में स्थिर थे। सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मविद्या के पारगामी, समस्त परिग्रहों के त्यागी, निर्भय मृत्युंजय एव अजर-अमर थे।[3] जिनके केवलज्ञानी रूपी उज्जवल दर्पण मे लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होते है तथा जो विकसित कमल के समान समुज्जवल है वे महावीर भगवान जयवन्त हों।[4] आचार्य हेमचन्द्र सूरि श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहते है—अनन्तज्ञान के धारक, दोषो से रहित, अबाध्य सिद्धांत से युक्त, देवों से भी पूज्य, वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशियो मे मुख्य और स्वयम्भू श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति हेतु में प्रयत्न करूगा।[5]

सर्वज्ञ का अर्थ

जो सब को जानता है, वह सर्वज्ञ है। 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग प्राय: दो अर्थो मे किया जाता है। पदार्थ के मूल तत्त्व को जानना, समान चेतना सम्पन्न प्राणियो मे वही जीव तत्त्व है जो हम में है, इसलिये अपने आप का जान लेने का अर्थ उन सभी जीवों को जान लेना है। इस अर्थ के अनुसार सभी पदार्थों को जानना देखना अभीष्ट नही है, किन्तु तत्त्व को जानना, देख लेना ही सब को जानना देख लेना है। कहा भी जाता है कि 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' में व्याप्त है। वैसे इस सारे संसार का विशद ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है, इसलिये पिण्ड में व्याप्त तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने से सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। जैनागम के वचन हैं—

---

१. "ववगयअसेस दोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।"
—नियमसार, १, ५

२. णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो विय परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुड॥
—भावपाहुड, १५१

३. सूत्रकृतांग, १, १, १।

४. सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोय।
पुढ पडिबिम्बं दीसइ वियसियसयवत्तगब्भगउरो वीरो॥
—जयधवला

५. अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्।
श्रीवर्द्धमान जिनमाप्तमुख्य स्वयम्भुव स्तोतुमह यतिष्ये।
—स्याद्वादमजरी, १

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ"
(आचारांगसूत्र १, ३, ४, १२२)

आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों का भी यही सार है जो आत्मा को जानता है, वह सब को जानता है[६] और जो सब को नहीं जानता, वह एक आत्मा को भी नही जानता जो जानता है, वह ज्ञान है और जो ज्ञायक है, वही ज्ञान है। जीव ज्ञान है और त्रिकालस्पर्शी द्रव्य ज्ञेय है।[७] यदि आत्मा और ज्ञान को सर्वथा भिन्न माना जाए, तो हमें अपने ही ज्ञान से अपनी ही आत्मा का ज्ञान नही हो सकेगा। आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है, इसलिये ज्ञान सर्व व्यापक है।[८] यदि आत्मा ज्ञान से हीन हो, तो वह ज्ञान अचेतन होने से नहीं जानेगा। इसलिये जैनदर्शन मे आत्मा को ज्ञानस्वभाव कहा गया है। ज्ञान की भांति आत्मा सर्वगत है। जिनवर सर्वगत है और जगत के सब पदार्थ जिनवर-गत है। क्योकि जिनवर ज्ञानमय है (पूर्णज्ञानी है) और सभी पदार्थ ज्ञान के विषय है इसलिये जिनवर के विषय तथा सर्व पदार्थ जिनवरगत है।[९] सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नही है, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतः इन्द्रियो की अपेक्षा न होने मे वह केवलज्ञान-क्रम की अपेक्षा नही रखता। सर्वज्ञ के ज्ञान मे सभी ज्ञेय पदार्थ युगपत् प्रतिबिम्बित होते है। केवली भगवान के ज्ञानवरण और दर्शनावरण दोनो ही कर्मो का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। इस लिये इस ज्ञान में किसी प्रकार का अंतराल नही पड़ता।[१०] इस प्रकार जैनदर्शन ने सदा ही त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यो की समस्त पर्यायो के प्रत्यक्ष दर्शन के अर्थ मे सर्वज्ञता मानी है।[११] इन्द्रियजन्य ज्ञान तो जगत के सभी सज्ञी जीवों में पाया जाता है। किन्तु यदि सर्वज्ञ को न माना जाय तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान किसे होता है।[१२] अतएव सभी तीर्थंकरों तथा जिन केवलियों को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी माना गया है।[१३] जिन को पूर्ण ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर इन्द्रिय, क्रम और व्यव-धान रहित तीनो लोकों के सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट हो जाता है, वे केवली कहे जाते हैं। पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान है, वह परोक्ष है और केवल जीव के द्वारा ज्ञात ज्ञान प्रत्यक्ष है।[१४] मन, इन्द्रिय, परोपदेश उपलब्धि, सस्कार तथा प्रकाश आदि पर है। इसलिए इनकी सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। केवल आत्मस्वभाव को ही कारण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान का साधक कहा गया है।

डा० रमाकान्त त्रिपाठी के शब्दों मे 'सर्वज्ञता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया जा सकता है-(१) प्रत्येक वस्तु के सार (मूल तत्त्व) को जान लेना सर्वज्ञता है, जैसे ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का सार है, ऐसा जान लेना प्रत्येक वस्तु को जान लेना है और यही सर्वज्ञता है। (२) प्रत्येक वस्तु के विषय मे विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना सर्वज्ञता है। मीमासक दूसरे प्रकार की सर्वज्ञता का निषेध करते है। उनके अनुसार पुरुष अपनी सीमित शक्तियो के कारण

---

६. दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणादि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥
—प्रवचनसार, ४९

तथा—एको भावः सर्वथा येन दृष्ट.
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥
—प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, ४,११

७. प्रवचनसार, गाथा ३५, ३६।

८. वही, २३।

९. वही, २६।

१०. अष्टसहस्री, प्रथम परिच्छेद, कारिक। ३

११. जो जाणदि पच्चक्खं तियाल—गुण—पज्जएहिं सजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३०२

१२. वही, ३०३।

१३. से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सव्वलोए सव्वजीवाणं जाणमाणो पासमाणे एवं च णं विहरइ।" —आचारांगसूत्र, २, ३
तथा—'तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलिति पदार्थमालिका यत्र।
—पुरुषार्थ०, १

१४. प्रवचनसार, गा० ५८।

सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यहां यह विचारणीय है कि कुछ व्यक्तियो के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध किया जा सकता है, किन्तु सब के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध नही किया जा सकता। क्योकि सब के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध सर्वज्ञ ही कर सकता है।[१५] किसी पुरुष द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने मे मीमांसको को कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु धर्म का ज्ञान वेदो से ही हो सकता है। अतः पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है ; धर्मज्ञ नही।[१६] किन्तु जैनदर्शन मे धर्मज्ञता और सर्वज्ञता मे कोई अतर नही माना गया है। सर्वज्ञ होने पर धर्मज्ञता स्वयमेव प्रतिफलित हो जाती है। धर्मज्ञता सर्वज्ञता मे अन्तर्भूत है।

सर्वज्ञ-सिद्ध

शबर, कुमारिल आदि मीमासको का कथन है कि धर्म अतीन्द्रियार्थ है। उसे हम प्रत्यक्ष से नही जान सकते। क्योंकि पुरुष मे राग, द्वेष आदि दोप पाए जाते है। धर्म के विषय मे केवल वेद ही प्रमाण है।[१७] मीमांसकों का यह भी कथन है कि सर्वज्ञ की प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्धि नही होती, इसलिये उसका अभाव मानना चाहिए। मीमांसक पहले नही जाने हुए पदार्थों को जानने को प्रमाण मानते है। प्रभाकर मत वाले प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति तथा कुमारिल भट्ट इनके साथ अभाव को भी प्रमाण मानते है। वैशेषिक भी ईश्वर को सब पदार्थों का ज्ञाता नहीं मानते। उनका मत है कि ईश्वर सब पदार्थों को जाने या न जाने, किन्तु वह इष्ट पदार्थो को जानता है, इतना ही पर्याप्त है। यदि ईश्वर कीड़े-मकोड़ो की सख्या गिनने बैठे, तो वह हमारे किस काम का ?[१८] अतः ईश्वर के उपयोगी ज्ञान की ही प्रधानता है। क्योंकि यदि दूर तक देखने वाले को प्रमाण माना जाए, तो फिर गीध पक्षियों की पूजा करनी चाहिए ?

जैनदर्शन का प्रतिपादन स्पष्ट है कि किसी एक पदार्थ का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त किये बिना सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यह कहना ठीक नही है कि मनुष्य के राग, द्वेष कभी विनष्ट नही होते। जो पदार्थ एक देश में नष्ट होते हैं, वे सर्वथा विनष्ट भी हो जाते है। जिस प्रकार मेघों के पटलों का आंशिक नाश से उनका सर्वथा विनाश भी होता है, उसी प्रकार राग आदि का आंशिक नाश होने से उनका भी सर्वथा विनाश हो जाता है।[१९] प्रत्येक प्राणी के राग, द्वेष आदि से दोषों की हीनाधिकता देखी जाती है। कैवल्योपलब्धि पर पुरुष के सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते है। अतएव वीतराग भगवान सर्वज्ञ है। राग, द्वेप व मोह के कारण मनुष्य असत्य बोलते है। जिसके राग, द्वेष और मोह का अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट होता है। जिस तरह सूक्ष्म पदार्थ (इन्द्रियों से अज्ञेय) जन साधारण के प्रत्यक्ष नही होते किन्तु अनुमेय अवश्य होते हैं। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य परमाणु आदि अनुमेय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते है। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य के ग्रहण को बताने वाले ज्योतिषशास्त्र की सत्यता आदि से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। केवल सूक्ष्म ही नहीं, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को भी हम अनुमान से जानते है। अतः इन पदार्थों को साक्षात जानने वाला पुरुष सर्वज्ञ है।[२०] आचार्य विद्यानन्दि ने विस्तार में सर्वज्ञ की मीमासा करते हुए सर्वज्ञ-सिद्धि की है। उनका कथन है कि किसी जीव मे दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण से हो सकती है, क्योकि सभी मे हानि की अतिशयत (तरतमता) देखी जाती है। जिस प्रकार से अपने हेतुओं

---

१५. आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका का 'फोरवर्ड', पृ० २१।

१६. धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥ —तत्त्वसंग्रह, कारिका ३१२८ (कुमारिल भट्ट) द्रष्टव्य है : आप्त-मीमांसा-तत्त्वदीपिका, पृ० ७२

१७. शाबरभाष्य १, १, २।

१८. सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
—स्याद्वादमंजरी से उद्धृत

१९. देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ॥
—स्याद्वादमंजरी, पृ० २६३

२०. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥
—आप्तमीमांसा, १, ५

के द्वारा स्वर्णपाषाण आदि मे बाह्य एवं अन्तरंग मल का पूर्ण अभाव पाया जाता है।[२१] 'दोषावरण' से यहा अभिप्राय कर्म रूप आवरण से भिन्न अज्ञान राग द्वेषादि है, जो स्व-पर परिणाम हेतु से होते है। धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को जानने वाला धर्म-ज्ञान से कैसे बच सकता है ? अतः सर्वज्ञ को धर्म जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नही है।[२२] संक्षेप में, सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध है। नैयायिकों के अनुसार योग विशेष से उत्पन्न हुए अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियां परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों को जान लेती है। फिर, जो परम योगीश्वर है वे सम्पूर्ण सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान क्यों नही प्राप्त कर सकते है। परन्तु सर्वज्ञ का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है, इसलिये परमार्थ प्रत्यक्ष है। वह आत्मा का स्वभाव तथा पूर्ण ज्ञान कहा गया है। उसे ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते है।

क्या आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है ?

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जो अर्हन्त को द्रव्य, गुण और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है।[२३] अरहत भगवान और अपनी विशुद्ध आत्मा दोनों समान है। इसलिये अपनी शुद्ध आत्मा को जानने वाला सर्वज्ञ है। वास्तव मे इन मे कोई भेद नही है। किन्तु हम अज्ञानी लोग इन मे भेद करते है।[२४] वस्तुतः आत्मा ही केवलज्ञानमूर्ति है। केवलज्ञानी आत्मा सारे संसार को और लोक मे रहने वाले छहों द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों को समस्त रूप से जानता, देखता है। जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की समन्वित पूर्णता के साथ कैवल्योपलब्धि होती है। व्यवहार नय के अनुसार सात तत्वों तथा उन पदार्थों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तथा आकार विकल्प सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। अशुभ क्रियाओं से निवृत होना और शुभ क्रियाओं मे प्रवृत्ति करना व्यवहार-है।[२५] परन्तु निश्चयनय से रत्नत्रय आत्मा को छोड़ कर अन्य द्रव्य मे नही पाया जाता। इसलिए आत्मा में रुचि होना, आत्मा का अनुभव और ज्ञान होना तथा आत्मा मे लीन होना पारमार्थिक रत्नत्रय है। इसलिये चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर पूर्ण ज्ञानमय कैवल्योपलब्धि होते ही विशुद्ध आत्मा अपने आप मे लीन हो जाती है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से यही कहा जा सकता है।[२६] 'नियमसार' में भी कहा गया है—केवली भगवान व्यवहार दृष्टि से सभी द्रव्यों को उनकी गुण, पर्यायों सहित देखते जानते है ; किन्तु निश्चयनय से आत्मा को जानते, देखते है।[२७] वस्तुतः इन दोनो कथनों मे कोई विरोध नही है। आचार्य सिद्धसेन सूरि कहते है कि मात्र अपने-अपने पक्ष में संलग्न सभी नय मिथ्यादृष्टि है, परन्तु ये ही नय यदि परस्पर सापेक्ष हो तो सम्यक् कहे जाते है।[२८] केवलज्ञानी सहज रूप मे अपने आप का निरीक्षण करते रहते हैं। क्षायिक उपयोगी होने के कारण केवलज्ञानी का सतत आत्मा मे उपयोग रहता है, उसी

---

२१. दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥
—अष्टसहस्री, कारिका ४

२२. धर्मादन्यत्परिज्ञातं विप्रकृष्टमशेषतः ।
येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वं निषेधनम् ॥
—श्लोकवार्तिकालंकार

२३. जो जाणदि अरहत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलुजादि तस्सलयं ॥
—प्रवचनसार, गा० ८०

२४. सर्वज्ञवीतरास्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ॥
—नियमसारकलश, २५३ (अमृतचन्द्रसूरि)

२५. द्रव्यसंग्रह, ४१-४२, ४३ ।

२६. बन्धच्छेदात्कलयदतुल मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीर
पूर्ण ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनमहिम्नि ॥
—नियमसारकलश, २७१

२७. जाणादि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगव ।
केवलणाणी जाणादि पस्सदि णियमेण अप्पाण ॥
—नियमसार,१५९

२८. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥
—सन्मतिसूत्र, १२१

समय पर रूप से अन्य समस्त पदार्थों का ज्ञान भी होता है। किन्तु छद्मस्थ का उपयोग एकांगी होता है, इसलिये जिस समय वह आत्मोन्मुखी हो कर समाधिनिरत होता है, उसी समय आत्मनिरीक्षण करता है। निर्विकल्प समाधिस्थित पुरुष ही विशुद्ध स्वात्मा का अनुभव करते है।[२९] आत्मा का निश्चयनय से एक चेतना भाव स्वभाव है। आत्मा को देखना, जानना, श्रद्धान करना एव परद्रव्य से निवृत्त होना रूपान्तर मात्र है। आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नही है। इसलिये परद्रव्य का ज्ञाता द्रष्टा, श्रद्धान-त्याग करने वाला आदि व्यवहार से कहा जाता है। यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत-भविष्य और वर्तमान की अनेक पर्यायों का हो सकता है, किन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्याय का ही होता है। जो पदार्थ किसी ज्ञान के ज्ञेय है, वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है।

यहां सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सर्वज्ञ के ज्ञान मे असद्भूत पर्याय भी प्रतिबिम्बित होती है? जो पर्यायें भविष्य में होने वाली है, जिनका सद्भाव नही है, वे कैसे ज्ञान का विषय बन सकती है? इसी के साथ यह प्रश्न भी सम्बद्ध है कि मन एक साथ सब पदार्थों को ग्रहण नही कर सकता है और क्रम से सब पदार्थों का ज्ञान बनता नही है, क्योंकि पदार्थ अनन्त है, इसलिये जब तक युगपत् पदार्थों को न जाने तब तक सर्वज्ञ कैसे हो सकता है?

जैन आगम ग्रंथो में "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" (तत्त्वार्थसूत्र १, २९) के अनुसार प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्याय तथा छहो द्रव्यों की समस्त अवस्थाओं को केवलज्ञान युगपत् (एक साथ) जानता है। केवलज्ञान व्यापक रूप से सभी ज्ञेयपदार्थो को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है।[३०] इसलिये यह कहना ठीक नही है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में केवल वर्तमान पर्यायें ही प्रत्यक्ष होती है यदि ऐसा माना जाए कि सर्वज्ञ के ज्ञान में भूत, भविष्य की पर्यायें प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होती, तो फिर उनमे और अल्पज्ञ में क्या अन्तर रह जाएगा? फिर, भूतकाल की बातों का ज्ञान कई उपायो मे कई रूपो मे जाना जाता है। अतः भविष्य की पर्यायों का ज्ञान होने मे क्यों आपत्ति होनी चाहिए? निश्चित ही सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय होता है तथा अनन्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करता है। वह अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्त, अनुत्पन्न एव नष्ट पर्यायो को भी जानता है।[३१] ज्ञान के सर्वज्ञत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञेय सब कुछ है। ज्ञेय तो समस्त लोकालोक है। इसलिये सभी आवरणों का क्षय होते ही पूर्णज्ञान सब को जानता है और फिर कभी सबके जानने से च्युत नही होता, इसीलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।[३२] जैनदर्शन मे आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकाल के सर्वद्रव्यो को एवं उनकी पर्यायो को जानने वाला होने से सर्वगत है।[३३] केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और पर्याय है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनो को जानने लगता है।[३४] एक द्रव्य को या एक पर्याय को जानने की अवस्था केवलज्ञान के पूर्व की है। सातवें गुणस्थान (आध्यात्मिक भूमिका) तक धर्म

---

२९. 'सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।'
—समयसार, १४४

टीका-'समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः
—पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च-'

३०. ततःसमन्ततश्चक्षुरिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
निःशेषद्रव्यपर्यायविषयं केवलं स्थितम्॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ३५३

३१. अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्त च पज्जयमजादं।
पलय गय च जाणादि त णाणमदिदियं भणियं॥
—प्रवचनसार, ४१

३२. 'ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविमुक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैव—
प्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम्।'
—प्रवचनसार, गा ९ २३ की टीका।

३३. सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया॥
—प्रवचनसार, २६

३४. दशवैकालिकसूत्र, ४, २२

ध्यान होता है। आठवें से शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है। आठवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्क बीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान से आत्मा मे अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान मे एकत्ववितर्क अविचार नामक का द्वितीय शुक्लध्यान होता है। सयोगकेवली के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यान होता है और अयोगकेवली के व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात कारण है। द्वितीय शुक्लध्यान मे योगी बिना किसी खेद के एक योग से एक द्रव्य को या एक अणु को अथवा एक पर्याय का चिन्तन करता है।[३५] केवलज्ञानी सयोगी जिस सूक्ष्म काययोग मे स्थित होकर सूक्ष्म मन, वचन और श्वासोच्छ्वास का निरोध कर जो ध्यान करते है, वह सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान है।[३६] इससे ही पूर्णज्ञान की उपलब्धि होती है, जिससे युगपत तीन लोक व तीन काल के द्रव्य, गुण, पर्यायो का एक साथ ज्ञान होता है।

भगवान् महावीर की सर्वज्ञता के प्रमाण

भगवान् महावीर अपने समय में ही सर्वज्ञ के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे। पालित्रिपिटकों मे कई स्थानों पर दीर्घ-तपस्वी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी विशेषणों के साथ निर्ग्रन्थज्ञातृपुत्र भगवान महावीर का उल्लेख किया गया है। 'मज्झिमनिकाय' में उल्लेख है-[३७] आबुस। निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। वे अपरिशेष ज्ञान-दर्शन सम्पन्न है। चलते खड़े रहते, सोते जागते सभी दिशाओं मे उन्हें ज्ञान, दर्शन बना रहता है। उन्होने हमे प्रेरित किया है कि निर्ग्रन्थों! पूर्वकृत कटुक कर्मों को दुर्धर तप से नष्ट कर डालो। मन, वचन काय को रोकने से पाप नही बंधते और तप करने से पुराने पाप सब दूर हो जाते है। इस प्रकार नए पापो का बन्ध न होने से पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है और कर्मो का क्षय होने से दु:खो का क्षय हो जाता है। दु:खो के क्षय से वेदना नष्ट होती है और वेदना के विनाश से सभी दु:खो का नाश होता है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी तीर्थंकर ऋषभ तथा वर्द्धमान की सर्वज्ञता का उल्लेख किया है।[३८] वैदिक साहित्य में भी भगवान महावीर की सर्वज्ञता के सकेत मिलते हैं। 'स्कन्दमहापुराण मे भ० वर्द्धमान तथा केवलज्ञान का उल्लेख है।[३९] तीर्थंकर ऋषभदेव का तो स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के रूप मे उल्लेख किया गया है।[४०] 'महाभारत' मे तो यहा तक कहा गया है कि सर्वज्ञ ही आत्मदर्शी हो सकता है।[४१] इन उल्लेखो से भगवान महावीर की सर्वज्ञता का निश्चय हो जाता है। भगवान महावीर की वाणी से प्रसूत आगम ग्रन्थो मे उपलब्ध तथ्यो की वैज्ञानिकता से भी उनके सर्वज्ञ होने का प्रमाण मिल जाता है।

इस प्रकार आगमप्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ उत्कृष्ट ज्ञान के धारक अचिन्त्य केवलज्ञान ऐश्वर्य से विभूषित होते है। केवलज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों का एक साथ प्रतिबिम्ब झलकता है। व्यवहार अनुमान से भी ऐसे सर्वज्ञ होने मे कोई बाधक प्रमाण नही है।

गवर्नमेन्ट कालेज,
नीमच (मध्य प्रदेश)

---

३५. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ० ३८८

३६. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४८६

३७. मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खन्धसुत्तान्त

३८. 'यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथाऋषभवर्द्धमानादिरिति ।
—न्यायबिन्दु, अ० ३ पृ. ६८

३६ यस्माल्लीनं जगत्सर्वं तस्मिल्लिङगे महात्मनः ।
लयनाल्लिंगमित्येव प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
तथाभूतं वर्द्धमानं दृष्ट्वा तेऽपि सुरर्षयः ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुवायुवाग्निलोकपालाः सपन्नगा ॥
—स्कन्दमहापुराण, ६, २६-३१

४०. कैलाशे विपुले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः । चकार स्वावतारं सर्वज्ञ. सर्वगः शिवः ॥ प्रभास ० ५६

४१. श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति एवं स्वमात्मानमात्मना । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च क्षेमज्ञस्तानि पश्यति ॥ महा०
—१६६५

प्राचीन जैन तीर्थ श्री राता महावीर जी

□ श्री भूरचन्द जैन, बाड़मेर

राजस्थान का पाली जिला न केवल ऐतिहासिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से विख्यात है अपितु धार्मिक दृष्टि से भी इस जिले की अद्भुत महत्ता बनी हुई है। जिले में सभी धर्म, सम्प्रदायों के विख्यात दर्शनीय, एवं पूजनीय धार्मिक स्थल विद्यमान हे। पाली जिला जैन धर्मावलम्बियों का मुख्य केन्द्र रहा है। जहा पर जैन धर्म के बड़े-बड़े आचार्यों, विद्वानो साधु सन्तो, यति-मुनियो ने सत्य और अहिंसा की अनूठी मशाल जलाई। इन्ही महान् त्यागमय विभूतियो के सद् उपदेशो से पाली जिला अपनी कोख मे ऐसे जैन दर्शनीय स्थानों का निर्माण करवा सका है जो न केवल भारत विख्यात ही है अपितु विदेशी पर्यटक भी इन्हें देखने के लिए बराबर लालायित रहते है। जहां पाली जिले की गोड़वाड जैन पंचतीर्थी जैनों के लिए धार्मिक श्रद्धा से पूजनीय बनी हुई है वहा दूसरी ओर पर्यटकों, इतिहासकारों, पुरातत्त्व विशेषज्ञों के लिए भी इनका बड़ा महत्व बना हुआ है। राणकपुर, नाडोल, नारलाई, वरकाना एवं घाणेराव के पास स्थित मूछाला महावीर गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी के मुख्य स्थान है जिनकी बेजोड़ एव सूक्ष्म शिल्पकला अत्यन्त ही सुन्दर है। राणकपुर के जैन मन्दिर शिल्पकला और स्तम्भों की बनावट के लिए जगत विख्यात है। इसी जैन पचतीर्थी मे धार्मिक कड़ी जोडने में जिले में स्थित श्री राता महावीर तीर्थ स्थान भी अपनी प्राचीनता, ऐतिहासिक महत्ता, धार्मिक मान्यता, शिल्पकलाकृतियों के साथ निर्जन जगल मे प्राकृतिक नयनाभिराम दृश्यों के लिए विख्यात है।

श्री राता महावीर जैन तीर्थ स्थान पाली जिले मे अरावली पहाड़ियों की तलहटी में निर्जन वन में बीजापुर ग्राम से २ मील दूर स्थित है। राणकपुर से १३ मील दूर यह स्थान दक्षिण और पूर्व दिशा के मध्य स्थित है। ऐरिनपुरा रोड रेलवे स्टेशन से ८ मील दूर यह तीर्थ सड़क यातायात से भी जुडा हुआ है जिसका प्राचीन इतिहास हथुडी, हस्तीकुडी, राष्ट्रकूट के नाम से उल्लेख मिलता है। यहां पर छठी शताब्दी का बना मन्दिर श्री राता महावीर स्वामी के नाम से पुकारा जाता है। इस स्थान को कन्नौज के अतिरिक्त राठौड़ की उत्पत्ति और ओसवाल राठौड़ गोत्र का सूत्रपात केन्द्र होना भी बताया जाता है। राठौड़ राजाओ की हथुडी राजधानी रही है जो जैनाचार्यों की धार्मिक गतिविधियो का प्रमुख केन्द्र स्थान भी रहा है।

हथुडी मे बने श्री महावीर स्वामी के मन्दिर का निर्माण वि० स० ६२१ मे आचार्य महाराज श्री सिद्धिसूरि जी के उपदेश से श्रेष्ठि गोत्र के वीर देव ने करवाया। जहां पर वि० सं० ९८८ तक सर्वश्री आचार्य महाराज सिद्धिसूरि जी, कक्कसूरि जी, देवगुप्तसूरि और सर्वदेवसूरि जी ने जैन मन्दिर के निर्माण के अतिरिक्त दुष्काल में जनमानस एवं पशुओं की सेवा के साथ साथ जैनधर्म के व्यापक प्रचार का कार्य भी किया। इस भव्य मन्दिर के मूल द्वार के बाईं ओर ताक पर वि० स० ९९६ एवं १०५३ के लेख भी थे जो आजकल अजमेर म्यूजियम में होने बताये जाते है। वि० स १०११ ज्येष्ठ बदी पचमी वि० स० १०४८ वैशाख वदी ४ और वि० स० मार्गशीर्ष शुक्ल १२ के प्राचीन शिलालेख मन्दिर मे विद्यमान है। इन लेखो के अतिरिक्त अन्य कई छोटे बड़े प्राचीन लेख प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित भी मन्दिर में दृष्टिगोचर होते है।

श्री महावीर स्वामी के इस विशाल तीर्थ स्थान का निर्माण वि० सं० ६२१ मे हुआ था और प्रथम जीर्णोद्वार वि० सं० ९९६ मे आचार्य श्री कक्कसूरिजी ने करवाया। इसके पश्चात् वि सं. ९९६ में आचार्यश्री यशोभद्रसूरि जी ने मदिर का जीर्णोद्धार राजा विदग्ध के समय करवाया था उस समय राजा विदग्ध ने अपने शरीर के बराबर सुवर्ण तोल कर इस जीर्णोद्धार में लगाया। वि० सं० १०५३ माघ

सुदी १३ को मन्दिर की प्रतिष्ठा भी हुई। वि० सं० २००६ में आचार्य श्री विजयवल्लभसूरि जी ने मूल मन्दिर के जीर्णोद्धार के साथ-साथ अंजनशाला की प्रतिष्ठा भी करवाई। इस प्रकार अनेकों आचार्यों, साधु साध्वियों, धनाढ्य जैन बन्धुओं ने तीर्थ के जीर्णोद्धार करवाकर इसे और अधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया।

श्री राता महावीर वह स्थान है जहां पर पशुओं की हिंसा पर वि० सं० ६८८ मे राजा राव जगमान ने आचार्य देवसूरि जी के उपदेश से प्रेरित होकर राजपत्र जारी कर रोक लगा दी और जैन धर्म के सत्य और अहिंसा उपदेशों से प्रभावित होकर जैनधर्म अंगीकार किया था। इसी प्रकार जैनधर्म के आचार्य सर्वश्री बलिभद्राचार्य, वासुदेवाचार्य, सूर्याचार्य, शान्तिभद्राचार्य, यशोभद्राचार्य एवं केशरसूरि संतति के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेकों भूपतियों ने जैन धर्म को अंगीकार किया। जिसमें सर्वश्री विदग्ध राजा, दुल्लभ राजा, सामंत सिंह, महेन्द्र राजा, धरणीवाह राजा हरीवर्म राजा, ममट राजा, धवल राजा, मुल राजा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वि० सं० १२०८ मे आचार्य महाराज जयसिंहसूरि जी ने राठौड़ क्षत्रीय वंशी अनन्तसिंह राजा को रोग मुक्त किया और धर्म उपदेशों से जैनधर्म की महत्ता बताई। राजा अनन्तसिंह ने आचार्य जी के उपदेशों से प्रभावित होकर पत्नी सहित जैन धर्म को अंगीकार किया और इनसे उत्पन्न होने वाली संतान आज भी ओसवाल राठौड़ गोत्र से देश के कई भागो मे विद्यमान है।

जैन धर्म प्रभावित होकर वि० सं० ६६६, १०५३, १२६६, १३३५, १३३६ एवं १३४६ मे राज्य करने वाले राज्य शासको ने राज्य मे जैनधर्म के प्रचार करने एवं आचार्यों की रक्षा हेतु शासन पत्र जारी किये, शासन पत्रों मे लिखा गया कि जहा तक पर्वत, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, गंगा, सरस्वती है वहा तक यह शासन पत्र कायम रहेगा। आज भी श्री राता महावीर जी क्षेत्र मे उक्त शासन पत्रों का बराबर पालन हो रहा है।

हथुडी स्थित श्री राता महावीर का जैन मन्दिर शिल्पकलाकृतियों का भंडार है। जिसके अन्दर मूल भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा के अतिरिक्त अनेको छोटी बड़ी जैन प्रतिमाए विद्यमान है। अरावली पहाड़ की गोद मे जगल मे आबादी रहित क्षेत्र में बसा राता महावीर जी का जैन मन्दिर आज भी तीर्थ स्थान के साथ-साथ पर्यटको का मुख्य केन्द्र बना हुआ है। जहां प्रतिवर्ष हजारों लोग यात्रा पर आते है। राजस्थान के पाली जिले मे स्थित गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी राणकपुर, नाडोल, नारलाई, वरकाना, मूंछाला महावीर के साथ-साथ श्री राता महावीर की यात्रा भी करते है। यह राजस्थान का गौरवमय स्थल है। जहां प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती, चैत्र सुदी तेरस के दिन विशाल पैमाने पर मेले का भी आयोजन किया जाता है जिसमे देश के विभिन्न भागों के हजारो लोग एकत्रित होकर भगवान की सेवा पूजा एवं रथ यात्रा मे भाग लेकर आनन्दित होते है।

जूनी चौकी का वास,
बाडमेर (राजस्थान)

[पृ० ७६ का शेषांश]

से चिन्तन करता है वह अवश्य ही स्वात्मोपलब्धि का पात्र हुए बिना न रहेगा।

जयति जयिनमेत्रं योगिनं योगिवर्यैः,
अधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्त य. स शान्तान्तरात्मा,
भजति विजयलक्ष्मीमाशुजैनीमजय्याम् ॥ ३६–२१२

फिरोजाबाद निवासी स्व० सेठ छदामीलालजी ने बाहुबली की ४५ फुट ऊंची विशाल मूर्ति बनवाई है, और उसकी प्रतिष्ठा होने वाली ही थी कि अकस्मात् सेठजी के दिवगत हो जाने से इस महान् कार्य मे कुछ विलम्ब हो गया है। वह श्रवणबेलगोला की गोम्मटेश्वर मूर्ति के अनुरूप है। सेठ जी ने इस मूर्ति का निर्माण कराकर फिरोजाबाद को एक तीर्थ क्षेत्र बना दिया है। उनकी धार्मिक परिणति सराहनीय है। इस मूर्ति निर्माण से उन्होंने विपुल यश प्राप्त किया है। जो उस मूर्ति का दर्शन करेगा, उसका अन्तरात्मा निर्मल और प्रशान्त होगा। सेठजी ने मन्दिर और बाहुबली की मूर्ति का निर्माणकर अपनी कीर्ति को अमर बना लिया है। वास्तव मे उत्तरप्रदेश और मध्य प्रदेश मे इतनी विशाल मूर्तियो का निर्माण अभी तक नही हुआ था। सेठ जी ने इस कार्य को पूरा कर दिया है। □□

एफ ६५, लक्ष्मीनगर जे एक्सटेंशन,
(जवाहर पार्क), दिल्ली-३२

अनेकान्त

☐ डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

"अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः" सभी धर्मों के प्रति समान सद्भावना ही अनेकान्त की वरीयता है। भगवान महावीर प्रणीत दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकान्त दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्त दृष्टि का तात्पर्य है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते है।

महावीर ने प्रत्येक वस्तु के स्वरूप का सभी दृष्टियों से प्रतिपादन किया। जो वस्तु नित्य मालूम होती है वह अनित्य भी है। जहा नित्यता की प्रतीति होती है, वहा अनित्यता भी अवश्य रहती है। यही नहीं वरन अनित्यता के अभाव मे नित्यता की पहचान ही नही हो सकती। नित्यता और अनित्यता सापेक्ष है।

सभी धर्म मानव कल्याण का सन्देश अपने-अपने आदर्शों के अनुसार देते है। जैन दर्शन मे भी यही है। महावीर ने इसकी महत्ता आचार व विचार की गरिमा से उजागर की। आचार अहिंसा मूलक है और विचार अनेकान्तात्मक। तथ्यतः इसकी मूलदृष्टि एक ही है, किन्तु जब वह दृष्टि आचारोन्मुख होती है तब वह अहिंसामुखी हो जाती है और जब वह विचारोन्मुखी हो जाती है तब अनेकान्तात्मक हो जाती है। अतः स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन आदर्श और यथार्थ तथा निश्चय और व्यवहार के सुदृढ धरातल पर प्रतिष्ठित है। अहिंसक आचरण और अनेकान्तात्मक चिन्तन ही मानव को सच्चा सुख देने मे सक्षम है।

अनेकान्त शब्द बहुव्रीहि समास युक्त है, जिसका तात्पर्य है अनेक अर्थात् एक से अधिक धर्मों, रूपो, गुणों और पर्यायों वाला पदार्थ। पदार्थ अनेक गुण रूपात्मक होने के साथ-साथ विवक्षा और दृष्टिकोणों के आधार पर भी अनेकान्त है। एक और अनेक की इस यथार्थता को बड़ी गरिमा के साथ परखा गया है यथा--'यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेक, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्य तदेवानित्य —इत्येकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकारस्पर-विरुद्धशक्तिद्वय प्रकाशनमनेकान्तः।"

अर्थात् जो वस्तु तत्वस्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है, वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य भी है। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु मे उसके वस्तुत्व— गुणपर्याय सत्ता के निष्पादक अनेक धर्मयुगलों को प्रकाशित करता है।

वास्तव में किसी वस्तु की परख केवल एक ही दृष्टिकोण से नही की जा सकती, वरन उसे अनेक दृष्टिकोणों से ही परखा जा सकता है। अतः स्पष्ट होता है कि एकान्त दृष्टिकोण को मार्ग दर्शन देने हेतु अनेकान्त का प्रतिपादन हुआ। इसकी वरीयता इस उद्धरण से स्पष्ट होती है यथा—

"सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः" अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् है, अथवा असत् है, नित्य है अथवा अनित्य, आदि के परखने की पद्धति का नाम है अनेकान्त। किसी वस्तु के परख की अनुभूति की अभिव्यक्ति एक साथ ही नही, वरन् क्रमानुसार होती है इसी क्रमबद्ध अभिव्यक्ति की पद्धति को स्याद्वाद' कहा गया है।

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त सशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ है। महावीर जी ने इसे अनेकान्त कहा या स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तात्मक वाक्य। स्याद्वाद की अन्य व्युत्पत्तिया भी है। सामान्यतः यह शब्द स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से बना है 'स्यात्' का अभिप्राय है कथञ्चित्'। कथञ्चित् अर्थात् अमुक निश्चित अपेक्षा से वस्तु अमुक धर्मशाली है। यह शायद, संभावना और

कदाचित् शब्दों का प्रतिपादक नही है वरन इसका तात्पर्य है—सुनिश्चित दृष्टिकोण।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते है और वाचक भी। 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-सामान्य का वाचक होता है, फिर भी 'अस्ति' आदि विशेष धर्मो का प्रतिपादन करने के लिए 'अस्ति' आदि सत् धर्मवाचक शब्दों का प्रयोग करना पडता है। तात्पर्य यह है कि 'स्यात् अस्ति' वाक्य मे 'अस्ति' पद अस्तित्व धर्म का वाचक है, और 'स्यात्' अनेकान्त का।

'अनेकान्त' शब्द वाच्य है और 'स्याद्वाद' वाचक। 'स्यात्' शब्द जो कि निपात है—एकात का खण्डन करके अनेकान्त का समर्थन करता है। इस महत्ता का प्रतिपादन मनीषियों ने किया है—

"वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातोर्थं योगित्वात् तव केवलिनामपि॥
— आप्तमीमांसा

इस शब्द की वरीयता को न परख बहुत से लोग इसका अर्थ संशय, असंदिग्धता आदि लगा लेते है जो ठीक नहीं है। किसी वस्तु का मूल्यांकन करना ही इसकी महत्ता है यथा—'स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् विवृत्त-चिद्विधि' यही नही वरन इस श्लोक की गहनता को भी थहाएं—

'सर्वथात्वनिषेधको अनेकान्तता द्योतकः।
कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः॥"
—पंचास्तिकाय

अनेकान्त वस्तु की अनेकधर्मिता सिद्ध करता है तथा स्याद्वाद उसकी व्याख्या करने मे एक सापेक्षिक मार्ग का सूत्रपात करता है तथा सप्तभंगी उस मार्ग का व्यवस्थित विश्लेषण कर उसे पूर्णता प्रदान करती है।

अनेकान्त 'प्रमाण' और 'नय' की दृष्टि से कथञ्चित् अनेकान्तरूप और कथञ्चित् एकान्तरूप है। 'प्रमाण' का विषय होने से यह अनेकान्तरूप है। इसके दो भेद बताये गये हैं—सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यग-नेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्य सापेक्ष एक धर्म का ग्रहण सम्यगनेकान्त है तथा अन्य धर्म का निषेध करके एक का अवधारण करना मिथ्यानेकान्त है।

अनेकान्त अर्थात् सकलादेश का विषय प्रमाणाधीन होता है और वह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विकलादेश के विषय की अपेक्षा रखता है यथा—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥
—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र समतभद्र १०२

अर्थात् 'प्रमाण' और 'नय' का विषय होने से अनेकान्त, अनेक धर्म वाला पदार्थ भी अनेकान्तरूप है। वह जब प्रमाण के द्वारा समग्रभाव से गृहीत होता है तब वह अनेकान्त, अनेकधर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नय का विषय होता है तब एकान्त एकधर्मरूप है उस समय शेष धर्म पदार्थ मे विद्यमान रहकर भी दृष्टि के सामने नहीं होते। इस तरह पदार्थ की स्थिति हर हालत में अनेकान्तरूप ही सिद्ध होती है।

अनेकान्तदृष्टि या नयदृष्टि विराट् वस्तु को जानने का वह प्रकार है, जिसमे विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नही किया जाता उन्हे गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह प्रत्येक दशा पूरी वस्तु का मुख्य गौण भाव से स्पर्श हो जाता है। इस तरह जब मनुष्य की दृष्टि अनेकान्ततत्व का स्पर्श करने वाली बन जाती है, तब उसके समझाने का ढग निराला हो जाता है आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तोत्र में इसकी महत्ता को उजागर किया है यथा

विज्ञानस्यैकमाकार नानाकारकरम्बितम्।
इच्छस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥८॥
चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत॥९॥
इच्छन्प्रधान सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणै.।
सांख्यसंख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत॥१०॥

डा० शोभनाथ पाठक, एम० ए० (सस्कृत, हिन्दी);
पी-एच० डी०, साहित्यरत्न
मेघनगर
जि० झाबुआ (म० प्र०)

मानवीय समुन्नति का प्रशस्त मार्ग विनय

□ पं० विमलकुमार जैन सोंरया, एम. ए, शास्त्री

विणग्रो मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं,
णिगएजरातिज्जाइ ग्रायरिग्रो सव्वसंघो य ।
ग्रायारजीदकप्प गुणदीवाण ग्रत्तसोविणिज्झझा,
ग्रज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हाद करणं च ।।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने उक्त गाथाग्रो में विनय की महत्ता दर्शाते हुए विशिष्ट गुणो का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—"विनय मोक्ष का द्वार है विनय से सयम' तप और ज्ञान होता है और विनय से आचार्य व सर्वसघ की सेवा हो सकती है। आचार के, जीव प्रायश्चित के और कल्प प्रायश्चित के गुणों का प्रगट होना आत्म शुद्धि, कलह रहितता, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, गुरुसेवा सबको सुखी करना यह सब विनय के गुण है।"

विनय का तात्पर्य नम्र वृत्ति का रखना है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक ज्ञान गुण प्रवृत्ति है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को और आत्मा की समुपलब्धि को प्राप्त कराती है। पूज्य पुरुषों के प्रति आदर, गुणी एवं वृद्ध पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति, कषायों एव इन्द्रियों को सरल करना विनय की परिधि के आकार है। विनय व्यक्ति के यश की उज्वल आभा सर्वत्र प्रकाशवान रहती है। विनय वान सभी का प्रिय और आदर भाजन होता है। विनय सम्पन्नता से ही तीर्थंकर नाम कर्म को बांधता है क्योंकि विनय सम्पन्नता एक भी होकर १६ अवयवो से सहित है। अतः उस एक ही विनय सम्पन्नता से मनुष्य तीर्थंकर नाम को बाधते है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मोक्ष के साधन भूत सम्यग्ज्ञानादिक मे तथा उनके साधको मे अपनी योग्य रीति से आदर व सम्मान करना, कषाय की निवृत्ति करना, ज्ञान दर्शन चारित्र व तप की अतिचार अशुभ क्रियाओ को हटाना और रत्नत्रय मे विशुद्ध परिणाम लाना ही विनय है।

सामान्यरुप से विनय का वर्गीकरण पांच प्रकार से किया गया है। जो निम्नलिखित अनुसार भेदो, प्रभेदो के रूप मे उल्लखित है—

१-लोकानुवृत्ति विनय—लोक परम्परा के अनुरूप जो क्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं—वे लोकानुवृत्ति विनय के अन्तर्गत आती है। अपने से श्रेष्ठ जनो के सामने आते ही आसन से उठना, हाथ जोड़ कर अभिवादन करना, श्रेष्ठ उच्च आसन देना, पूज्य जनों के चरणो में झुकना और इष्ट देव की यथा योग्य पूजन अर्चन करना, किसी के प्रति प्रतिकूल न कह उसके अनुकूल बोलना, देश व काल योग्य द्रव्य देना लोकानुवृत्ति विनय है।

२-अर्थ निमित्तक विनय—धनलाभ की आकांक्षा से व्यापारिक कार्यों में ग्राहको के प्रति अर्थ लाभ की दृष्टि से आदर सूचक सम्मान पूर्ण शब्दों से बोलना, अपने अर्थ प्रयोजन सिद्धि के लिए स्वार्थवश अधिकारियों, व्यक्तियों या सहयोगी उद्योगपतियों के प्रति हाथ जोड़ना, नम्रता दिखाना अर्थ निमित्तक विनय है।

३-कामतंत्र विनय—इन्द्रियवासनाओं की पूर्ति के लिए अपने प्रेमीजन के प्रति नम्रता आदर प्रगट करना, कामपुरुषार्थ के निमित्त विनय करना कामतंत्र विनय है।

४-भय विनय—धन हानि, मान हानि, अथवा शारीरिक क्षति के भय से अपने से विशेष शक्तिशाली व्यक्ति, शत्रु या शासकीय अधिकारी के प्रति जो आदर पूर्वक भक्ति या विनय की जाय अथवा जिससे किसी भी प्रकार के भय की आशंका हो उसके प्रति जो विनय की जाती है वह भय विनय है।

५-मोक्ष विनय—आत्म कल्याण के हित अथवा मोक्ष मार्ग मे विनय का प्रधान स्थान है। ज्ञान लाभ, आचार शुद्धि और सच्ची आराधना की सिद्धि विनय से होती है। और अन्त मे मोक्ष सुख भी इसी से मिलता है। अतः मोक्ष मार्ग मे विनय भाव का सर्वोपरि स्थान है।

मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व तप के दोष दूर करने के लिए जो कुछ प्रयत्न करते है उसे विनय कहते है। इस प्रयत्न मे शक्ति को न छिपा कर शक्ति के अनुसार उन्हे करते रहना विनयाचार है। यह विनयाचार पाच प्रकार का है। इन्हे अगर मोक्ष गति के नायक कहा जाय तो अति शयोक्ति न होगी। भेद निम्नलिखित अनुसार है।

१-ज्ञान विनय—ज्ञान प्राप्ति में गुरु विनय अत्यंत

प्रधान है। नीतिकार ने कहा है कि "सर्व संग रहित गुरुओं की भक्ति से विहीन शिष्यों की सर्व क्रियायें ऊसर भूमि पर पड़े बीज के समान व्यर्थ हैं।" ज्ञान का सीखना उसी का चिंतवन करना, दूसरों को भी उसी का उपदेश देना, तथा उसी के अनुसार न्याय पूर्वक प्रवृत्ति करना, ज्ञान का अभ्यास करना और स्मरण करना, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि तथा ज्ञानवंत पुरुष में भक्ति के साथ नित्य प्रति अनुकूल आचरण करना यह सब ज्ञान विनय है। इसके मूलभूत ८ प्रकार हैं। (१) काल (२) विनय (३) उपधान (४) बहुमान (५) अनिह्नव (६) व्यंजन (७) अर्थ (८) तदुभय।

२-दर्शन विनय—भगवान जितेन्द्र देव ने अपने दिव्य उपदेश द्वारा पदार्थों का जैसा उपदेश दिया है उसका उसी रूप में बिना शका के श्रद्धान करना, पंचपरमेष्ठी, अरहत सिद्ध की प्रतिमाएं, श्रुतज्ञान जिनधर्म, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शन में भक्ति व पूजा आदि करना और इनका महत्व बतलाना यह सब दर्शन विनय है।

३-चारित्र विनय—मोक्षमार्ग मे चारित्र की महत्ता सर्वोपरि है। विना चारित्र के मात्र ज्ञान पगुवत् है। अत: इन्द्रिय और कषायों के परिणाम का त्याग करना तथा गुप्ति समिति आदि चारित्र के अंगो का पालन करना ज्ञान और दर्शन युक्त पुरुष के पांच प्रकार के दुश्चर चरित्र का वर्णन सुनकर अन्तर्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अजलि रखकर आदर प्रगट करना और उसका भाव पूर्वक अनुष्ठान चारित्र करना विनय है।

४-तपविनय—अपने से श्रेष्ठ तपस्वी के प्रति भक्ति करना उसके प्रति संकल्प रहित होना, संयम रूप उत्तर गुणों में उद्यम करना, सम्यक् प्रकार श्रम व परिषहो को सहन करना यथायोग्य आवश्यक क्रियाओं मे हानि-वृद्धि न होने देना, तप मे अपनी प्रवृत्ति को लगाना तप विनय है।

५-उपचार विनय—नैतिक जीवन मे अपने द्वारा दूसरों के प्रति उसके गुणों, साधनाओं अथवा मान्य प्रवृत्तियो के प्रतिरुप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से श्रद्धापूर्वक आदर देना उपचार विनय है। मुख्यत: रत्नत्रयधारी महापुरुषों, मुनिराजों, आचार्यों आदि के प्रति प्रत्यक्ष भक्ति, नमस्कार करना तथा परोक्ष में भी मन वचन काम पूर्वक नमस्कार करना और उनके अनुकूल भक्ति पूर्वक प्रवृत्ति करना यह उपचार विनय के रूप हैं। मुख्त: इसके ३ भेद एवं १३ प्रभेद है। जिनका पर्यवेक्षण निम्नलिखित अनुसार किया गया है।

(क) कायिक विनय—चारित्र और ज्ञान मे अपने से श्रेष्ठ जनों अथवा साधु पुरुषों को आते हुए देख आसन छोड़कर खड़े होना, कायोत्सर्गादि कृति कर्म करना, उसके पीछे पीछे चलना उनसे नीचे बैठना, सोना, आसन देना, ज्ञान आचरण की साधक वस्तु या उपकरण देना तथा साधु पुरुषों का बल के अनुसार शरीर का मर्दन, काल के अनुसार क्रिया करना और परम्परा के अनुसार विनय करता कायिक विनय है। यह सात प्रकार की होती है—(i) आदर से उठना, (ii) नत मस्तक होना, (iii) आसन देना, (iv) पुस्तकादि देना, (v) यथायोग्य कृति कर्म करना, (vi) ऊंचा आसन छोड़ कर बैठना. (vii) जाते समय ससम्मान भेजना।

(ख) वाचिक विनय - आदरयुक्त नम्र, हितमित प्रिय आगमोक्त, अल्प, उपशात, निर्बंध, सावद्य, क्रियारहित, अभिमान रहित वचनो से बोलना वाचिक विनय है। वाचिक विनय मुख्यत: चार प्रकार की है—(i) हित विनय, (ii) मित विनय, (iii) प्रियकारी विनय, और (iv) शास्त्रानुकूल बोलना।

(ग) मानसिक विनय - धर्म के उपकार मे परिणामो का होना, सम्यक्त्व की विराधना मे जो परिणाम हो उनका त्याग करना, साधर्मी जनो के प्रति उन्नत एव पूज्य परिणामरखना मानसिक विनय है। यह दो प्रकार की है—१. पापग्राहक चित्त को रोकना तथा २. धर्म मे अपने मन को प्रवर्तना।

विनय के इन आयामों का जीवन मे उतारना और दैनिक जीवन मे साकार रूप देना मानवीय समुन्नति मे सर्वोपरि है। विनय जीवन की वह साधना सीढ़ी है जो व्यक्ति के नैतिक, आचरण तथा आध्यात्मिक जीवन की दिशा को प्रकाशवान करता है। आशा है प्रत्येक व्यक्ति जीवन की धन्यता के लिए विनय जैसे प्रशस्त मार्ग को अपनायेगा।

मड़ावरा (ललितपुर)
उत्तर प्रदेश

मालवा की नवीन अप्रकाशित जैन प्रतिमाओं के अभिलेख

□ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

भगवान् महावीर के २५०० वें वर्ष में मालवा के जैनावशेषो का सर्वेक्षण कार्य उज्जैन के डरसारी व मालव प्रान्तीय दिगंबर मूर्ति संग्रहालय के प्रमुख पं. सत्यंधर कुमार सेठी के प्रयासों से प्रारंभ हुआ। एक समिति बनी जिसके प्रमुख जैन तीर्थ व स्थानों का सर्वेक्षण कार्य अपने हाथों मे लिया। पुरातत्ववेत्ता पद्म श्री डा. विष्णु श्रीधर वाकणकर ने मुझे विशेषज्ञ के रूप में लिया। श्रीमक्सी क्षेत्र के मंत्री श्री झांझरी ने वाहन सुलभ किया व लगभग शुजालपुर व शाजापुर जिले का सर्वेक्षण संपन्न कराया। "मालवा के जैनतीर्थ" नामक पुस्तक लेखन के लिए ऊन, बड़वानी, सिद्धवर कूट, मक्सीजी, बनेडिया जी और महेश्वर ओंकारेश्वर की यात्रा की— इन सब प्रयासों से उज्जैन, मदसौर, खरगोन झाबुआ व निमाड़ जिले की अनेकतीर्थंकर प्रतिमाएं प्रकाश मे आई उनके पादपीठ के मूर्तिलेखो का वाचन किया गया। यहा केवल मूर्तिलेख वाली प्रतिमायें ली जाती है।

उज्जैन के धार्मिक स्थलो मे गढ़ भैरव प्रसिद्ध स्थान है। यहां काल भैरव के निकट ही शिप्रा के किनारे ओखलेश्वर नामक मंदिर है। यहां १९७४ की ग्रीष्मऋतु में जल सूख गया और उसमे लगभग १९ जैन प्रतिमाये प्राप्त हुई। यहां की एक ऋषभनाथ प्रतिमा पर निम्नलिखित अभिलेख है :—

संवत १३४० वर्षे ज्येष्ठ वदि १२ शनि. माथुर सघे बघेरवालान्वये सा. जसै भार्या पदामिणि तत्र लाला भार्या पुथम सिरि मातृ पाल्हा भार्या राय सिरिमातृ जात्या भार्या···सिरिमाल जात्या भार्या लाडी पुत्रस्य भार्या लाजू मातृ काण्त पुत्र माहादेवे सहदेव प्रणमति नित्यं ॥

उज्जैन जिले की महीदपुर तहसील से २२ मील पूर्व मे स्थित झारड़ा ग्राम मे अनेक तीर्थकर प्रतिमायें मकानों की नीव खुदाते समय प्राप्त हुई है। यहा की दो जैन प्रतिमाओं का उल्लेख १९३४ के इंदौर स्टेट गजेटियर में हुआ है। दो देवियों की प्रतिमायें अभिलेख युक्त हैं। प्रथम पद्मावती की है व दूसरी संभवतः सिद्धायिका यक्षिणी है।

दोनों पर अभिलेख क्रमशः इस प्रकार है : —

(१) शांति भलई···यः ॥
कांता च गुहुतों ॥ वर्द्धमाना षिष्य जेष्ठ कांति सोभयेंथस्तयों संवत १२२७ वर्षे वदि प्रतिपदा गुरौ: ॥

(२) सं. १२२७ वर्षे ज्येष्ठ वदि प्रतिपदा गुरौ साधु सातिसुत नमैः प्रणमति नित्यं ॥

जिला रतलाम में बदनादर ऐसा स्थान है जहां लगभग ७३ जैन मंदिर है व ७२० के करीब तीर्थकर प्रतिमायें भग्नावस्था में पड़ी है। यहां की कुछ अभिलेख युक्त प्रतिमायें जयसिंहपुरा जैन सग्रहालय उज्जैन में आ चुकी है। परमार ताम्रपत्रों मे इस स्थान का नाम बर्द्धनापुर मिलता है जो कालान्तर में बदनावर हो गया। यह स्थान परमार कालीन जैन स्थापत्य एवं मूर्ति से संपन्न है। यहां की एक जैन शासन देवी अइवारोटी रूप में है। यह प्रतिमा जयसिंहपुरा जैन संग्रहालय उज्जैन में स्थित है (मूर्तिक्रमांक ११०)। शीर्ष भाग पर पद्मासन में तीर्थकर है जिनकी पुष्पहार से दो युगल आराधना कर रहे है। बाई ओर बीणाधारी ललितासना अन्य देवी है व दाहिनी ओर जैनदेवी है। नीचे मूर्तिलेख इस प्रकार है :—

'संवत १२२९ वैशाख वदी ९ शुक्र अद्य वर्द्धनापुरे श्री शांतिनाथ चेत्ये सा श्री··गोशल भार्या ब्रह्मदेव उ देवादि कुटुम्ब सहितेन निज गोत्र देव्याः श्री अच्छुम्नाया प्रतिकृति कारिता। श्री कुलादण्डोयाशाय प्रतिष्ठिताः ॥'

बदनावर की ही एक अन्य प्रतिमा में ६ शासन देवियां है और नीचे परमारकालीन लिपि मे देवियों के नाम लिखे है—(१) वारिदेवी (२) निमिदेवी (३) उमादेवी (४) सुवयदेवी (५) वर्पादेवी (६) सवाई देवी।

देवास के निकट नेमावर ग्राम मे अम्बिका की प्रतिमा के पादस्थल पर निम्नलिखित अभिलेख है .—

लोढ़ान्वये देशिन भार्या माना प्रणमति नित्य सूत्रधारा रक्षित प्रणमति नित्य संवत १२८३

जैनदेवालय में पार्श्वनाथ प्रतिमा के नीचे का अभिलेख :—

संवत १७४५ वासरे सोम वैशाख मासे ३ जाजा संघ ससजी सा सादलो ।

यहां की एक आदिनाथ की प्रतिमा पर अंकित लेख—

पौर पादान्वये ख्यातः श्रीपालौः नामतः सुधिः रत्नत्रयो
गुणौपेतस्तत्पुत्रो लक्ष्यणौमतः गुणीकृतिः सुधिमान्यः कृष्ण राजोऽस्ति तत्सुत जिन कारित तेन बिम्बभुवि मनोहृतम् ।। संवत फाल्गुन सुदि ११९० ।।

रिंगणोद की पहचान डा. वाकणकर ने इगुणिपद्रक से की है जो नखर्मन के देवास ताम्रपत्र मे आता है। यह स्थान रतलाम कोटा रेल्वे लाइन पर स्थित है। यहा की एक तीर्थंकर प्रतिमा पर प्राप्त लेख का वाचन इस प्रकार है :—

ॐ ।। १७२३ वर्षे ज्येष्ठ वदि प्रतिपदागुरौ साख श्री सुत प्रणमति नित्यं ।।

रिंगनोद का ही एक अन्य प्रतिमालेख जो संभवतः स्वतंत्र अभिलेख भी रहा हो वर्तमान मे मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग मे सुरक्षित है उसका वाचन इस प्रकार है :—

···मिधेर्यभूत्वा सर्घयादिस्माद् ··
पधान कार्या । यानोह दत्तानि पुरा नरेन्द्रे र्दाना-निधर्माः
पुनराददोत । बहु भिर्वसुधा मुक्ता राजभिः सगरा-दिभि यः ··
दत्ता वायोहरेत वसुधरा । प्राणास्त्रणाग्र जलविंदु समान राणा
धर्म्मयस्थ राजपालस्य सुनूना आसाधर सुननेयं बिल्हणेन
लिखिना हरसेण सुत साजणेन लिखित ।।

सन् १९७५ के अप्रैल माह मे मध्यप्रदेश राज्य पुरातत्व के तत्त्वावधान व विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के सहयोग से प्राचीन दशपुर व वर्तमान मदसौर का उत्खनन कार्य किया गया, उस उत्खनन के साथ ही मैंने व डा. वाकणकर ने मदसौर जिले के जैनावशेषों की तालिका बनाई व जैनहस्तलिखित ग्रन्थ भंडारो को देखा। समीपवर्ती अचल का जैन अवशेषों की दृष्टि से भी अवलोकन किया। खिलचीपुर, कयामपुर, मोड़ी, संधारा, कंवला, घुसई (घोमवती नाम यहां की एक तीर्थंकर प्रतिमा के नीचे अंकित है) जीरण, झार्डा आदि ग्रामों में तीर्थंकर प्रतिमायें मिली जिसमे से कुछ पर मूर्तिलेख है, विवरण इस प्रकार है :—खिलचीपुर मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर निर्माणकाल १४०५ अंकित है। खानपुर (दशपुरों में एक जो प्राचीन समय मे मिलकर दशपुर की संज्ञा से जाने जाते थे यही बाद में दशपुर) दसौर बन गया और १३ वी शती में मुस्लिम आक्रान्तओ द्वारा मंद आभा वाला यह दसौर नगर मद+दसौर हो गया) में पद्मावती की १६१० वि. की अभिलेख युक्त प्रतिमा संवत के अतिरिक्त मूर्तिलेख का वाचन कठिन है क्योंकि घिस चुका है।

मंदसौर से ७६ कि. मी. उत्तर में झार्डा ग्राम है जहां २ जैनमन्दिर हैं। १५ वी शताब्दी मे माँडवगढ के मन्त्री सग्रामसिंह ने यहां जैनमन्दिर का निर्माण कर तीर्थंकर प्रतिमायें प्रतिष्ठित की। यहा एक मूर्ति के निम्नभाग पर अभिलेख मिलता है :—

१ संवत १५७६ वर्षे शुक्रे १०४१ मासे···श्री सग्राम महा ··रा. वियइ राज्ये राजश्री सिहलजी क्रन्नाजी साहितऊ महिव्दायान शोन मह देवालयों लेख जलजाजयो···चाचदेव की आषाढ़ वदी ११ रविवार कान्त मही पर देवाण ··पूज को भेंट पूजे कुम्भावलानवय शाभन भवन्तु ।।

घुसई जिला मदसौर के जैनमदिर मे एक ६ पंक्तियों का नागरी लिपि व संस्कृत भाषा मे प्रस्तर अभिलेख है जिसमे रामचद्र आदि जैनाचार्यों का नाम है। वि. १३१३ का यह लेख है। यहा की दो अन्य प्रतिमाओ पर १३३४ व १३३७ विक्रम सवत के अस्पष्ट अभिलेख है।

इस प्रकार सन् १९७५ की जनवरी से जून १९७६ तक की अवधि में किये गए सर्वेक्षण में उपरोक्त अभिलेखयुक्त तीर्थंकर प्रतिमायें मिलीं। आवश्यकता है कि इस ओर ध्यान देकर उन जैनावशेषों को एकत्र किया जाकर सुरक्षा प्रदान करे। सखेड़ी, करेड़ी, पचोर, सुदरसी, जामनेर, शुजालपुर में लगभग ३१० जैन तीर्थंकर प्रतिमायें ऐसी मिली है जो पूर्णतया असुरक्षित है। □ □

४ धन्वन्तरि मार्ग, गली नं. ४, माधव नगर, उज्जैन
(मध्य प्रदेश)

पूजा : मूर्ति की नही, मूर्तिमान की

☐ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द

मूर्तिपूजा का इतिहास बहुत प्राचीन है। मनुष्य की धार्मिक चर्या में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आस्था और श्रद्धा के अंग देव प्रतिमाओं के चरणपीठ बने हुए है। मूर्ति मे निराकार साकार हो उठता है और इसके भाव-पक्ष की दृष्टि मे साकार निराकार की सीमाओं को छू लेता है। मूर्ति अकम्प और निश्चल होने से सिद्धावस्था की प्रतीक है। उपासक अपनी समस्त बाह्य चेष्टाओं को और शरीर की हलन चलनात्मक स्पन्दन क्रियाओ को योगमुद्रा मे आसीन होकर मूर्तिवत् अचल-अडिग कर ले और सम्मुख स्थित प्रतिमा के समान तद्गुण हो जाए, यह यह उसकी सफलता है। मूर्ति में मूर्तिवर के गुण मुस्कराते है। वह केवल पाषणमयी नही है। उसके अर्चकों पर 'पाषाणपूजक' लाञ्छन लगाना अपने अकिंचित्कर बुद्धि-वैभव का परिचय देना है। मूर्ति मे जो व्यक्त सौंदर्य है उसके दर्शन तो स्थूल आंखों वाले भी कर लेते है किन्तु उसके भावात्मक सौंदर्य को पहचानने वाले विरले ही होते है। मूर्तिकार जब किसी अनगढ़ पत्थर को तराशता है, तो उसकी छेनी की प्रत्येक टकोर उत्पद्यमान मूर्तिविग्रही देव की प्राणवत्ता को जाग्रत करने मे अपना अशेष कौशल तन्मय कर देती है। असीम धैर्य के साथ, अश्रान्त परि-श्रमपूर्वक, उसके तत्क्षण मे गुणाधान की प्रक्रिया कार्य करती रहती है। अवयवो के परिष्कार से, रेखाओं की भंगिमा से, अधरो की बनावट से, चितवन के कौशल से, बरौनियो की छाया मे विश्रान्त नीलकमल से नयनो की विशालता से, पीनपुष्ट भुजदण्डों से न केवल मूर्तिकार अगसौष्ठव ही तैयार करता है, अपितु वह स्पन्दनरहित प्राणाधान ही मूर्ति मे प्रतिष्ठापित कर देता है। उस मूर्ति को, विग्रह को देखने मात्र से प्राण पुलकित हो उठते हे, चित्त की आह्लाद शक्ति प्रबुद्ध होकर नाच उठती है। जिसको ढूढ़कर नेत्र थक गये थे, उसकी मुद्रांकित प्रतिमा स्वय साकार होकर समुपस्थित हो जाती है। हमारा मन, जो एक भावसमुद्र है, मूर्ति उसमे पर्व—तिथियो के ज्वार तरंगित कर देती है। जैसे गुलाब के पुष्प सौन्दर्य को देखने वाला उसके मूल मे लगे कांटो को नहीं देखता, कमल पुष्प का प्रणयी जैसे उसके पंकमूल को स्मरण नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा के समस्त चैतन्य को अपनी प्रशान्त मुद्रा से आकर्षित करने वाले भगवान् की प्रतिमा को देखते हुए भक्त के नेत्र उसके पाषाणत्व से ऊपर उठ-कर गुणधर्मावच्छिन्न लोकोत्तर व्यक्तित्व का ही दर्शन करने लगता है और उस समय पूजक के कण्ठ से स्तुति-च्छन्द गीयमान होने है उनमे पाषाण की सत्ता के चिन्ह भी नही मिलते। भक्त के सम्मुख स्थित प्रतिमा में उसके आराध्य की झलक है, उसकी भावनाओं का आकार है। वे प्रभु अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानमय है। देव, देवेन्द्र उनकी पदवन्दना करते है। उनका वीतराग विग्रह पाषाण मे रति कैसे कर सकता है ? उनका मुक्त आत्मा प्रतिमा मे निबद्ध कैसे किया जा सकता है ? यह तो भक्त की भावना है, उसका उद्दाम अनुरोध है जो सिद्धालय मे विराजमान भगवान् के साक्षात् दर्शन के लिए अधीर प्रतिमा के माध्यम से उनकी स्तुति करता करता है, पूजा-प्रक्षालन करता है। उसकी भावना के समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण मनोराज्य को झुठलाने का साहस स्वयं भगवान् मे भी नही है। वह प्रतिमा के सम्मुख उपस्थित होकर किस भाषा मे बोलता है ? सुनने वाले के प्राण गद्गद् हो उठते है, नेत्रो मे भाव का समुद्र लहराने लगता है—

> दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
> नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
> पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
> क्षारं जलं जलनिधेरसितु क इच्छेत् ?

'हे भगवन् ! आपके अनिमेष विलोकनीय स्वरूप को को देखकर मेरी आंखें दूसरे किसी को देखना नही चाहती। भला, इन्दु की ज्योत्स्नाधारा पीने वाले को क्षार समुद्रजल क्या अच्छा लगेगा ? यहाँ मूर्तिपूजक के नेत्रो मे जो पार्थिव से परे दिव्य रूप नाच रहा है उस पाषाणपूजा कहने का साहस किस मे है ? पाषाण और मूर्ति मे जो भेद है उसे न जानने से ही इस प्रकार की असत् कल्पना लोग करने लगते है। पाषाण को उत्कीर्ण कर उसमे इतिहास और आगम प्रामाण्य से तत्तद् देवता के

विग्रहों की रचना की जाती है। सिंह, वृषभ, कमल इत्यादि चिह्नांकन से तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् नामरूप के अस्तित्व का ज्ञापन मूर्ति में किया जाता है। यदि पाषाण को 'सुवर्ण' कहा जाए तो मूर्तियों को कटक, रूचक, कुण्डल कह सकते है। जैसे 'कुण्डल' स्वरूप में 'उत्पाद' अवस्था को प्राप्त हुए सुवर्ण को कोई सुवर्ण नहीं कहता 'कुण्डल' कहता है, उसी प्रकार विधिसम्मत स्थापनाओ के निमित्त देव-प्रतिमा को पाषाण नही कहा जा सकता। प्रतिमा के पूज्य आसन पर प्रतिष्ठित होने वाली मूर्ति को मत्रों से, प्रतिष्ठा-विधि से लक्षणानुसार बनाये गये मन्दिर मे विराजमान किया जाता है और उसमे देवत्व की भावना का विन्यास किया जाता है। वह प्रतिमा श्रद्धालुओ की आस्था को केन्द्रित करती है और इसके निमित्त से मदिरो और चैत्यालयों में धर्म के घण्टानाद सुनायी देते है। मत्र, स्तुति-स्तोत्र, पूजा-प्रक्षाल, अर्चन-वन्दन होते है और जन-समुदाय की उदात्त भावनाओ को उस प्रतिमा से सम्बल मिलता है। इस प्रकार धर्म, समाज और संस्कृति के उत्थान मे मूर्तिपूजा का महत्व अतिरोहित है। मूर्ति मे संस्कारों की भावना देने से देवत्व की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए मन्दिरों में स्थापित प्रतिमा और बाजार मे बिकते हुए तद्रूप खिलौनों मे संस्कार अभाव से कोई साम्य नही। मूर्ति को पवित्र मन्दिर की ऊंची वेदी पर विराजमान कर अपने मनमन्दिर मे स्थापित करना ही उसकी सच्ची प्रतिष्ठा है। यदि पाषाण और मूर्ति में भेद नही मानोगे तो स्त्री, माता, भगिनी मे भेद मानने का क्या आधार रहेगा? क्योंकि स्त्रीपर्याय से तो ये समान है[1]। अपेक्षा और सम्बन्ध-व्यवच्छेद से ही इनमे व्यावहारिक भेद किया गया है। वही आत्मानुशासित, पूज्यत्व प्रतिष्ठान मूर्ति में किया गया है। हमारे भारतीय ध्वज में और दूकानो के उसी तिरंगे कपड़े मे क्या अन्तर है? वस्त्रजाति तो दोनो में एक ही है। परन्तु लाल किले पर राष्ट्रध्वज के रूप मे तिरंगा ही क्यों लहराया जाता है? क्योंकि, २१ जुलाई, '४७ को पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर एक निश्चित आकार मे भगवे, श्वेत और हरे तीन रंगो में क्रमशः निष्काम त्याग, पवित्रता और सत्यता तथा प्रकृति के प्रति स्नेह को प्रेरित करने वाले प्रतीकों में राष्ट्रध्वज का स्वरूप स्थिर किया गया, जिसके बीच में सत्य, ज्ञान और नैतिकता की ओर संकेत करने वाले 'धर्मचक्र' को स्थान दिया गया। इस प्रकार उसे वस्त्रमात्र से भिन्न प्रतीक रूप में मान्यता देकर 'राष्ट्र निशान' के रूप में मान्य किया गया। यही इसका उत्तर है और इसी के साथ सामान्य 'पाषाण' और 'मूर्ति' के वैशिष्ट्य का उत्तर भी सम्मिलित है। राष्ट्रध्वज जैसे राष्ट्र की स्वतन्त्रता का प्रतीक है उसी प्रकार प्रतिमा समाज की दृढ आस्थाओ का प्रतीक है। मूर्ति के साथ मनुष्य की पवित्र भावनाओ का सनातन सम्बन्ध है। मूर्ति का दर्शन करने से मूर्ति मे प्रतिष्ठा प्राप्त देव का देवत्व, दर्शन करने वाले मे सक्रमित होता है। अपने आत्मा मे देवत्व की प्रतिष्ठा करना ही पूजा का उद्देश्य है। मूर्तिपूजा मे यह विशेष स्मरणीय है कि मनुष्य अपने संस्कारो के उपयुक्त वातावरण को ढूंढता रहता है और वातावरण मिलने से उन भावनाओ और संस्कारो को ही बलवान् करता है। किसी व्यक्ति को सिनेमा देखने की आदत है। यह नयी-नयी तस्वीरें देखने के लिए अनेक सिनेमा-घरों मे विविध समय पर पैसे देकर जाता है और अपने मन के अनुकूल उपस्थित उस 'छविअंकन' को देखता है।। इससे उसके मन में स्थित चित्रानुबन्धी राग को पोषण मिलता है, और उसी राग को पुष्ट करने पर पुन:-पुन: उन छवियों को देखना चाहता है। भगवान् के देवस्वरूप को देखने के लिए भी सुसंस्कृत आत्मा मन्दिर जाने का व्रत लेता है और अपने मन मे, भावना मे पूर्व से ही विद्यमान सात्विक प्रवृत्ति के पोषण के साधन मूर्ति में पाकर और अधिक धर्मानुरागी होता है। यों देखा जाय तो चित्रदर्शन और मूर्तिदर्शन व्यक्ति के मन मे सकुचित हो रहे भावों का स्पर्श कर उन्हें उद्वेलित, तरंगित करने मे सहायक होते है। एक मदिरा पीने वाला मद्य बिकने के स्थान को देखकर अपनी 'पाकेट' के पैसे मद्य पीने मे लगाता है। वह 'नशा' करके प्रसन्न होता है। 'मदिरागृह' और 'पाकेट

१. 'नाम्ना नारीति सामान्यं भगिनीभार्ययोरिह'—भगिनी और भार्या मे नारीत्व सामान्य धर्म समान रूप से विद्यमान है परन्तु उनमे एक सेव्य है, एक असेव्य है।

का पैसा' तो उसकी पूर्ति में सहायक है। इस प्रकार मनुष्य की भावना ही उद्देश्य की ओर दौड़ाती है तथा अपनी उत्कट बुभुक्षा की शान्ति चाहती है। यह भावना 'मद्य' पीने की ओर प्रवृत्त होती है तो लोक में गर्हित कही जाती है। क्योंकि मद्य पीने के परिणाम, उनमें व्यय किया हुआ पैसा तथा मूल में मद्य स्वयं दूषित है। यह आत्म-विनाश के लिए त्रिदोष सन्निपात है। उसके पीने से व्यक्ति का चारित्रिक पतन होता है। पतन का मार्ग 'उन्मत्त' ही स्वीकार करता है। अतः देश, जाति, समाज और स्वय आत्मा के उत्कर्ष के लिए देवस्थानों की रचना की जाती है। भगवान् की प्रतिमा को विधिपूर्वक उनमें विराजमान किया जाता है। भगवान् की प्रतिमा-मूर्ति मे, उनका अशेष सम्यक् चारित्र जो मानव जाति के लिए श्रेयो मार्ग का निर्देशक है, दर्शक के मन-प्राण पर अकित होता है। जैसे किसी सुन्दरी को देखकर रागी का मन आकृष्ट होता है, उसी प्रकार वीतराग प्रतिमा के दर्शन मन मे ससार की असारता और विराग की ओर प्रवृत्त होने के भाव प्रबल होते है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। गाधी जी के 'तीन वानर' मनुष्य की भावनाओं को मार्गस्थ रखने के सूचक ही है। 'मूर्तिपूजा' शब्द मे जो 'पूजा' शब्द है उसका अभिप्राय है—सत्कार, भक्ति, उपासना। जिस भगवान् की मूर्ति है उसके गुणों का वन्दन करना और उन्होने लोक को अपने उत्तम चारित्र से सन्मार्ग दिखाया इसके प्रति आत्मा की अशेष गहराइयो से कृतज्ञता ज्ञापन करना तथा उनके समान अपने आत्म-लाभ के लिए प्रेरणा प्राप्त करना। मूर्ति का दर्शन, उसकी नित्य पूजा सदा से मानव मे इन्ही उदार विशेषताओं की गुणाधान प्रक्रिया को बल प्रदान करती रही है।

समाज के धार्मिक उत्थान मे मूर्तिपूजा ने महान् सहयोग दिया है। बड़े-बड़े समाज धर्म के सगठन से ही शक्तिशाली बनतेहै और अपने आत्मिक उत्थान मे प्रवृत्त होते हैं। समाज के बहुधन्धी, बहुमुखी व्यक्ति समुदाय को मन्दिरों के माध्यम से एक स्थान पर 'आस्था के केन्द्र' मिलत है। देवालय सार्वजनिक होने से उन्ही मे समाज मिलकर बैठ सकता है। वहा पवित्र वातावरण रहता है और भगवान् का सान्निध्य भी। इसीलिए समाज के लिए मूर्तिपूजा अपने सम्पूर्ण गुण समुदायों के संरक्षण का स्थान है, एकता प्राप्त करने का दैवी संबल है। मनुष्य को अमरता का वरदान देव के चरणों में बैठकर ही मिलता है। मूर्ति के चरणों में ही उसका देहाभिमान गलित होता है और आत्मा का उदग्र पुरुषार्थ उदय में आता है। भव्य परिणामों को उपस्थित करने में 'मूर्तिपूजा' का प्रमुख स्थान है। जिस प्रकार युद्ध-प्रयाण करने वाला सैनिक भरत, बाहुबली, भीम, अर्जुन, हनुमान, चक्रवर्ती खारवेल (उड़ीसा), समर-केसरी, श्री चामुण्डराय, महाराणा प्रताप और शिवाजी [महाराष्ट्र] आदि वीरों का स्मरण कर अपने मे अतुल शक्ति का संचय करता है उसी प्रकार आत्मा के पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने वाला भगवान् की पवित्र प्रतिमा के दर्शन से अपने में सत्साहस और निर्मलता को प्राप्त करता है।

मूर्तिपूजा गुणों की पूजा है। वन्दना के पात्र तो गुण है। मूर्ति के माध्यम से पूजित भगवान् के गुणों का स्मरण व्यक्ति के गुणों को निर्मलता प्रदान करता है। निर्मलता से परिणाम-विशुद्धि होती है और परिणाम-विशुद्धि ही चारित्र-मार्ग की जननी है। चारित्र से मोक्षसिद्धि होती है। अतः मूर्तिपूजा को अपदार्थ मानने वाले बहुत भ्रम में है। उनकी दृष्टि अज्ञान से आच्छन्न है। मूर्तिपूजा की विशाल पृष्ठभूमि से वे नितात अपरिचित है। मनुष्य अपने उद्धार के लिए किसी-न-किसी सस्कार की पाठशाला में जाता है। देवालय ही वह सस्कार-पाठशाला है। भगवान् की मूर्ति ही परमगुरु है। कोई भी सम्यक् चेता भव्य इस पाठशालासे लाभउठाकर भागवत पद को प्राप्त कर सकता है।

मूर्तिपूजा की प्राचीनता आज प्रमाणित हो चुकी है। 'मोहनजोदड़ो' और 'हड़प्पा' के उत्खनन से जो ५,००० वर्ष प्राचीन वस्तुएं प्राप्त हुई है उनमे भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव)की खड्गासन प्रतिमा भी है, जो नग्न है और जैनो की मूर्तिपूजा को 'सिन्धुघाटी' सभ्यता तक ले जाती है।

वैदिक धर्मानुयायियो ने भी भगवान् ऋषभनाथ को ईश्वर का अवतार बताया है और मुक्तिमार्ग का प्रथम उपदेशक स्वीकार किया है। 'भागवत पुराण' मे भगवान् वृषभनाथ का बड़ा सजीव वर्णन पौराणिक महर्षि व्यासदेव ने किया है। योगवाशिष्ठ दक्षिणामूर्नि सहस्रनाम, वैशम्पा

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

कविवर जगतराम : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ श्री गोकुलप्रसाद जैन, नई दिल्ली

जगतराम (वि० सं० १७२०) का अपर नाम जगराम भी था। पद्मनन्दिपंचविंशति भाषा के कर्ता जगतराम भी संभवतः ये जगतराम ही थे जिन्होंने विभिन्न नामों से अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। इनके पितामह का नाम भाई दास था। ये सिंघल-गोत्रीय अग्रवाल थे। पहिले ये पानीपत में रहते थे और बाद में आगरा आकर रहने लगे। आगरा उस समय प्रसिद्ध साहित्यिक केन्द्र था तथा कुछ समय पूर्व ही वहां बनारसीदास जैसे उच्च कवि हो चुके थे।

इनके पितामह भाई दास श्रावकों में उत्तम और धार्मिक कार्य कराने मे प्रसिद्ध थे। उनकी पत्नी भी धार्मिक प्रवृत्ति वाली थीं। उनके दो पुत्र हुए : रामचन्द्र और नन्दलाल। दोनों ही अपने माता-पिता के समान स्वस्थ, सुन्दर और गुणी थे।[1] जगतराम नन्दलाल के पुत्र थे या रामचन्द्र के, इस विषय मे अभी मतभेद है। कविवर काशीदास ने अपनी 'सम्यक्त्व-कौमुदी' में उनको रामचन्द्र का पुत्र माना है।[2] 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' की प्रशस्ति में उनको स्पष्टतया नन्दलाल का पुत्र माना गया है।[3] श्री अगरचन्दजी नाहटा ने उनको रामचन्द्र का पुत्र माना है।[4]

इनके पितामह तो गोहाना के निवासी थे, किन्तु उनके दोनो पुत्र पानीपत मे आकर बस गए थे।[5] जगतराम बाद मे आगरा आकर रहने लगे थे। यह बात तो जगतराम की रचनाओं से और उनके आश्रित कवियो के कथनों से भी प्रमाणित होती है कि जगतराम सपरिवार आगरा में बस गए थे तथा ताजगंज मे रायते बाग में रहते थे। वे औरंगजेब के दरबार मे किसी ऊँचे पद पर आसीन थे और राजा की पदवी से विभूषित थे।[6] इसी कारण लोग उन्हें जगतराय भी कहने लगे थे। कविवर काशी-

१. 'भाईदास मही मे जानिये, ता तिय कमला सम मानिए।
ता सुत अति सुन्दर वरवीर उपजै दोऊगुण सायरधीर॥
दाता भुगता दीनदयाल, श्री जिनधर्म सदा प्रतिपाल।
रामचंद नंदलाल प्रवीन,सबगुण ग्यायक समकित लीन॥
—कवि काशीदास, सम्यक्त्व-कौमुदी; डा० ज्योतिप्रसाद, हिन्दी जैन साहित्य के कुछ कवि; अनेकांत, वर्ष १०, किरण १०।

तथा

भाईदास श्रावक परसिद्ध, उत्तम करणी कर जस लिद्ध।
नंदन दोइ भये तसु धीर, रामचद नन्दलाल सुवीर॥
सालिभद्र कलियुग मे एह, भाग्यवंत सब गुण को गेह।
—पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपचविंशतिका, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, अगस्त १९५०, पृ० २३३।

२. 'रामचद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ग्यायक भूप।' काशीदास, संम्यक्त्व कौमुदी, प्रशस्ति, अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०।

३. सुजानसिंघ नन्दलाल सुनन्द, जगतराय सुत है टेकचद।
जो लौ सागर ससि दिनकर,तोलौ अविचल एपरिवार॥'
—पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्ति, प्रशस्ति संग्रह, पृ० २३४।

४ अगरचन्द नाहटा, 'आगरे के साहित्य प्रेमी जगतराय जात और उनका छन्दरत्नावली ग्रन्थ", भारतीय साहित्य, वर्ष २, अंक २, अप्रैल १९५७, आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा, पृ० १८१।

५. सहर गुहाणावासी जोइ, पाणीपथ आइ है सोइ।
रामचद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ग्यायकभूप॥
सम्यक्त्व-कौमुदी, प्रशस्ति, अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०।

६. सहर आगरो है सुख थान, परतषि दीसे स्वर्ग विमान।
चारौ वरन् रहे सुख पाइ,तहाँ बहुशास्त्र रच्या सुखदाइ॥
—पद्मनन्दिपचविंशतिका, प्रशस्तिसग्रह, पृ० २३४।

७. अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०, पृ० ३७५।

दास ने तो उन्हें 'भूप' और 'महाराज' जैसी विशेषण-सूचक सज्ञाओं से अभिहित किया है।[८]

स्वयं राजा होते हुए भी उनमें अहंकार किंचित् भी नहीं था। वे काशीदास आदि अनेक कवियों के आश्रय-दाता थे। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार, 'जगतराय एक प्रभावशाली, धर्म-प्रेमी और कवि-आश्रयदाता तथा दानवीर सिद्ध होते है।'

जगतराम का साहित्यिक जीवन वि० सं० १७२० से १७४० तक रहा। जगतराम की रचनाओं के विषय में मतभेद है। पं० नाथूरामजी प्रेमी अपने 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' में जगतराय की तीन छन्दो-बद्ध रचनाओं का उल्लेख करते है: 'आगमविलास', 'सम्यक्त्व-कौमुदी' और 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका'। दिल्ली के नये मन्दिर और सेठ के कूंचे के मन्दिर की अनेकान्त के वर्ष ४, अंक ६, ७, ८ में प्रकाशित ग्रन्थ सूची के अनुसार, जगतराय 'छन्द रत्नावली' और 'ज्ञाना-नन्द श्रावकाचार, गद्य ग्रन्थ के भी रचयिता थे।

दिल्ली की ग्रन्थ-सूची के अनुसार, इनका 'आगम-विलास' एक काव्य सग्रह है जिसका संग्रह मैनपुरी में वि० सं० १९८४ की माघ सुदी १४ को किया गया था। यह कृति पुण्यहर्ष और उनके शिष्य अभयकुशल की है और उन्होने इसकी रचना फाल्गुन सुदी १०, वि० सं० १७२२ को आगरे मे जगतराय के लिए की थी।[११]

जगतराम ने 'चन्दररत्नावली' की रचना वि० सं० १७३० कार्तिक सुदी मे आगरे के नवाब हिम्मतखान की प्ररणा से आगरे में की थी। यह हिन्दी साहित्य का एक अनूठा ग्रन्थ है। जगतराय ने सभी उपलब्ध छन्द-शास्त्रों का अध्ययन करके इस ग्रन्थ की रचना की थी।[१२] इसकी एक हस्तलिखित प्रति दिगम्बर जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली के सरस्वती भण्डार मे सुरक्षित है। उसके शुरू के दो पद्यों में हिम्मतखान का गुणगान किया गया है।[१३]

जगतराम के रचे हुए अनेक पद भी मिले हैं। इनकी लघुमगल नाम की एक कृति भी मिलती है जिसमें केवल १३ पद्य हैं और दि० जैन मन्दिर, वड़ौत के गुटका स० ५४ में पत्र सं० ९९-१०२ पर अंकित हैं।

इनकी जैन-पदावली की सूचना काशी नागरी प्रचा-रिणी पत्रिका के पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरण मे संख्या ९४ की प्रविष्टि से प्राप्त होती है। यह रचना जैन मन्दिर, किरावली (आगरा) से उपलब्ध हुई थी। इसमें श्री जगतराम के रचे हुए २३३ पद है। उनके बारे में उक्त पत्रिका की आलोचनात्मक टिप्पणी में लिखा है कि 'इन्होने अष्टछाप कवियों की शैली पर पदो की रचनाएं की, जिनका एक सग्रह प्रथम खोज में प्रथम बार उपलब्ध हुआ हैं। इसमें तीर्थंकरो की स्तुतियाँ सुन्दर पदों में वर्णन की गई है"। जगतराम के पद छोटे किन्तु बड़े सरस और भावप्रवण है, मानो कवि ने उनमे अपना हृदय उंडेल दिया हो।

कविवर का एक पद इस प्रकार है—

'प्रभु बिन कौन हमारी सहाई ॥ टेक ॥
और सबै स्वारथ के साथी, तुम परमारथ भाई ॥१॥

---

८. काशीदास, सम्यक्त्व-कौमुदी, प्रशस्ति और पुष्पिका, अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०।

९. अग्रवाल है उमग्यानि, सिंघल गौत्र वसुधा विख्यात। पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपचविंशतिका, प्रशस्ति और संग्रह, पृ० २३३।

१०. श्री ज्ञानचंद जैनी, दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली, लाहौर, सन् १९०१ ई०, पृ० ४, नं० ८।

११. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्ति, भारतीय साहित्य, पृ० १८१।

१२. जुगतराई सो यों कह्यो, हिम्मतखान बुलाई। पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि बनाई ॥३॥
छदो ग्रन्थ जितेक है, करि इक ठौरे आनि।
समुझि सबको सार ले, रतनावली बखानि ॥४॥
छन्द रत्नावली, नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली की प्रति, सख्या ९१।

१३. 'उज्जल जस अबर कर्यो दस दिस हिम्मतखान।
मुकता तजि सुर सुन्दरिन, भूषन कियो कान।
हिम्मतखां सों अरि कपत, भाजत लै लै जीय।
अरि रि हमें हूं संग लै, बोलत तिनकी तीय॥
वही, पृ० १८३।

१४. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण, संख्या ९४।

भूल हमारी ही हमको इह, भयो महा दुखदाई ।
विषय कषाय सस्य संग सेयो, तुम्हरी सुध विसराई ॥२॥
उन डसियो विष जोर भयो तब, मोह लहरि चढि आई ।
भक्ति जड़ी ताके हरिवें कूं, गुर गारुड़ बताई ॥३॥
यातें चरन सरन आये है, मन परतीति उपाई ।
अब जगतराय सहाय की येही, साहिब सेवगताई ॥४॥'

इस पद में कवि अपनी भूल स्वीकार करते हुये कहता है कि हम आपके चरणा की शरण में आये है, हम पर कृपा कीजिए । आपके अतिरिक्त अन्य सब देवता स्वार्थ के साथी है ।

जगतराम के पदों में आध्यात्मिक फागुओं का अनोखा सौन्दर्य छोटे-छोटे रूपकों मे प्रस्तुत किया गया है,[१५] यथा—

'सुध बुधि गोरी संग लेय कर, सुरुचि गुलाल लगा रैते रे ।
समता जल पिचकारी, करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे ॥
अनुभव पानि सुपारी चरचानि, सरस रंग लगाय रे तेरे ।
राम कहे जे इह विधि षेले, मोक्ष महल में जाय रे ॥सु०॥'

जगतराम ने जैन पदावली के अतिरिक्त और भी अनेकों पदों की रचना की थी । बड़ौत के दि० जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार के एक पदसग्रह मे जगतराम के सैकड़ों पद अंकित है । उनके पद जयपुर के बधीचद जी के शास्त्र भण्डार के गुटका नं० १३४ मे भी निविष्ट है । जगतराम ने अपने नाम के स्थान पर कही 'राम' और कहीं 'जगराम' भी लिखा है । उनके पदों को आध्यात्मिक और भक्तिपरक पदों की कोटि मे रखा जा सकता है । कवि की रचना देखिए[१६]—

'मोहि लगनि लागी हो जिन जी तुम दरसन की ॥टेक॥
सुमति चातकी की प्यारी जो पावस ऋतु सम आनदघन बरसन की ॥१॥
बार-बार तुमको कहा कहिए तुम सब लायक हो मेटो विथा तरसन की ।
त्रिभुवनपति जगराम प्रभु, अब सेवक कौं द्यौ सेवा पद परसन की ॥२॥'

भक्त कवि को प्रभु की छवि अनुपम लगती है । उसे पूर्ण विश्वास है कि ऐसे प्रभु के स्मरण से ही मुक्ति मिलती है—

'अदभुत रूप अनूपम महिमा तीन लोक में छाजै ।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक चन्द्र सूर्य गण लाजैं ॥
धरि अनुराग विलोकत जाकौं अशुभ करम तजि भाजै ।
जो जगतराम बनै सुमरन तौ अनहद बाजा बाजै ॥'

निम्न पद मे भी कवि इसी आशय का भाव व्यक्त करते हुए कहता है कि प्रभु के स्मरण से सभी कार्य सिद्ध हो जाते है । अतः इसमें आलस्य नही करना चाहिए, क्योंकि यत्न के बिना कार्य बिगड़ जाते है—

'जतन विन कारज विगरत भाई ॥
प्रभु सुमरन तें सब सुधरत है, ता मे क्यो अलसाई ॥१॥
विषै लीनता दुख उपजावत, लागत जहां ललचाई ॥
चतुरन कौ व्योहार नय जहां, समझ न परत ठगाई ॥२॥
सतगुरु शिक्षा अमृत पीवौ, अब करन कठोर लगाई ॥
ज्यों अजरामर पद को पावौ, जगतराम सुखदाई ॥३॥'

कविवर ने स्वयं को प्रभु के दास के रूप में भी प्रस्तुत किया है । वे प्रभु के चरणों के निकट ही रहने की आकांक्षा रखते है—

'तुम साहिब मैं चेरा, मेरा प्रभुजी हो ॥
चूक चाकरी मो चेरा की, साहिब ही जिन मेरा ॥१॥
टहल यथाविधि बन नहीं आवे, करम रहे कर घेरा ।
मेरो अवगुण इतनो ही लीजे, निश दिन सुमरन तेरा ॥२॥
करो अनुग्रह अब मुझ ऊपर मेटो अव उरझेरा ।
'जगतराम' कर जोड़ वीनवै राखौ चरणन नेरा ॥३॥'

नेमीश्वर-राजुल के कथानक पर आधारित इसी प्रकार के एक अन्य पद मे राजुल नेमीश्वर की सुन्दर, श्यामल और सलौनी मुखाकृति पर आसक्त है तथा उससे उसे देखे बिना नहीं रहा जाता । वह भी नेमीश्वर के साथ तपश्चरण को जाना चाहती है । इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं सुहाता । पद इस प्रकार है—

'सखीरी विन देखे रह्यौ न जाय,
येरी मोहि प्रभु कौ दरस कराय ॥
सुन्दर स्याम सलौनी मूरति, नैन रहे निरखन ललचाय ॥१॥

---

१५. श्री महावीरजी अतिशयक्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज ८६, पृ० १६० ।

१६. मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुर, पद-संग्रह नं० ४९२, पत्र ७८।७४ ।

तन सुकमाल मार जिह मार्यो, तासो मोह रह्यो थरराय।।
जग प्रभु नेमिसंग तप करनो,

अब मोहि और न कछू सुहाय ।।२।।'

जगतराम हिन्दी के उच्च कोटि के कवि और विद्वान् थे। वे आगरे की अध्यात्म शैली के उन्नायक भी थे।

कविवर के सैकड़ों पद प्राप्त होते है। इनके अधिकांश पद भक्ति, स्तुति और प्रार्थना परक है। कुछ पदो में जैनाचार का विश्लेषण भी किया गया है। नेमीश्वर और राजुल के कथानक पर आधारित की अनेक पद है जो इनके शृंगारिक पदों की कोटि मे भी रखे जा सकते हैं। आध्यात्मिक पदों में मिथ्यात्व, राग-द्वेष एव क्रोधादि विकारों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इनके पद स्वोद्-बोधक भी हैं।

कविवर ने पद-रचना कब प्रारम्भ की थी, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख तो नहीं मिलता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपने जीवन के अन्तिम चरण में भजनानन्दी हो गए थे।

पदों की भाषा पर राजस्थानी एवं ब्रजभाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रायः सभी पद सरसता, भावप्रवणता एवं मार्मिकता मे एक से एक बढ़कर है।

३, रामनगर,
नई दिल्ली-५५

□ □ □

[पृष्ठ ६३ का शेषांश]

यन सहस्रनाम, दुर्वासा ऋषिकृत महिम्नः स्तोत्र, हनुमन्नाटक, रुद्रयामल तंत्र, गणेशपुराण, व्याससूत्र, प्रभातपुराण, मनुस्मृति, ऋग्वेद और यजुर्वेद में जैनधर्म का उल्लेख हुआ है और इसकी सनातन प्राचीनता को वैदिक पौराणिक मनीषियों ने साग्रह स्वीकार किया है।

'सिन्धुघाटी' सभ्यता के अन्वेषक श्रीरामप्रसाद चन्दा का कथन है कि—'सिन्धुघाटी में प्राप्त देवमूर्तियां न केवल बैठी हुई 'योगमुद्रा' में है अपितु खड्गासन देवमूर्तियां भी हैं जो योग की 'कायोत्सर्ग' मुद्रा मे हैं। कायोत्सर्ग की ये विशिष्ट मुद्राए 'जैन' है। 'आदिपुराण' और अन्य जैन ग्रन्थों में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या ऋषभनाथ के तपश्चरण के सम्बन्ध मे बहुधा किया गया है। ये मूर्तियां ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल की मिलती हैं और प्राचीन मिश्र के प्रारम्भिक राज्यकाल के समय की, दोनों हाथ लम्बित किये खड़ी मूर्तियों के रूप में मिलती हैं। प्राचीन मिस्र मूर्तियों में तथा प्राचीन यूनानी 'कुरोइ' मूर्तियों में प्रायः खड्गासन में हाथ लटकाये हुए समानाकृतिक मुद्राए है तथापि उनमें देहोत्सर्ग का (निःसंगत्क का) वह अभाव है जो सिन्धुघाटी की मूर्तियों में मिला है।'

प्राचीन युग की अपेक्षा आज मूर्त्ति पूजा की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र में आज का मानव पूर्वयुगीन मानव से पिछड़ा हुआ है। यह मानना कि आज स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय अधिक हैं तथा साक्षरता का प्रचार पूर्वापेक्षया व्यापक है, अतः ज्ञान बढ़ा है, नितान्त भ्रान्ति है। ज्ञान आत्मा का धर्म है और साक्षरता लोक व्यवहार चलाने का माध्यम है। ज्ञान का मार्ग चारित्र से मिलकर कृतार्थ होता है और साक्षरता से लोक के बहिरंग-रमणीय नश्वर उपकरणों के उपभोग की प्रवृत्ति अधिक जागृत होती है। मोक्ष के लिए 'तुष-माष' मात्र भेदज्ञान रखने वाला साक्षर न होते हुए भी ज्ञानवान् है और विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत भी मद्यमांसनिषेवी, व्यवसनाभिभूत, स्वपर-प्रत्यय रहित कार्यालयों में कामचलाऊ अधिकारी तो है, किन्तु ज्ञानी नहीं। साक्षर में और ज्ञानवान् में यही मौलिक भेद है। प्रत्येक पदनिक्षेप 'प्रगति' ही नहीं होता, अगति अथवा पश्चाद्गति भी हो सकता है। आज प्रगति का नाम लिया जाता है। परन्तु वास्तव में तो यह अगति है, अधोगति और 'पश्चाद् गति ही है। जितना व्यसनों से आज का मानव अभिभूत है, पूर्वकाल में नही था। पहले मनुष्य में सात्विकता और धर्माचरण की प्रवृत्ति थी, आज भोगलिप्सायें और स्वैराचरण बढ़ गया है। एतावतापूर्व का मानव स्वस्थ था, आज मानसिक रूप से घोर रुग्ण है। अतः चिकित्सा की आज अधिक आवश्यकता है। साक्षरता और ज्ञान का समन्वय होने से श्रेयोमार्ग की उपलब्धि सुलभ हो जाती है।

□ □ □

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए. डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५ ००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २ ००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १ ५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १ ५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३ ६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

अध्यात्मरहस्य पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १ ००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० [illegible]

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० [illegible] ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण ३ जुलाई-सितम्बर १९७६

वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का म :
१ रुपया २५ पैसा

विषयनुक्रमणिका

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर

समाज के ऐसे धर्मवत्सल १००० विद्यादानियों की आवश्यकता है जो सिर्फ एक बार अनुदान देकर जीवन भर शास्त्रदान के उत्कृष्ट पुण्य का संचय करते रहें।

'वीर सेवामन्दिर' की स्थापना आज से ४० वर्ष पूर्व स्व० श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्व० श्री छोटेलाल जैन तथा वर्तमान अध्यक्ष श्री शान्तिप्रसाद जैन प्रभृति जाग्रत चेतनाओं के सत्प्रयत्नों से हुई थी। तब से जैनदर्शन के प्रचार तथा ठोस साहित्य के प्रकाशन में **वीर सेवा मन्दिर** ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं वे सुविदित है और उनके महत्त्व को न सिर्फ भारत मे बल्कि विदेशों में भी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से माना है।

'वीर सेवा मन्दिर' के अपने विशाल भवन में एक सुनियोजित ग्रन्थागार है जिसका समय-समय पर रिसर्च करने वाले छात्र उपयोग करते है। दिल्ली से बाहर के शोधकर्ता छात्रों के लिए यहां ठहरकर कार्य करने के लिए छात्रावास की भी व्यवस्था है।

अब तक जो भी कार्य हुए हैं, आपके सहयोग से ही हो पाए है। यदि **'वीर सेवा मन्दिर'** की कमजोर आर्थिक स्थिति को आपका थोड़ा सम्बल मिल जाए तो कार्य अधिक व्यवस्थित तथा गतिमान हो जाए। **'आप २५१ रु० मात्र देकर आजीवन सदस्य बन जाएँ'** तो आपकी सहायता जीवन भर के लिए **'वीर सेवा मन्दिर'** को प्राप्त हो सकती है। सदस्यो को **'वीर सेवा मन्दिर'** का त्रैमासिक पत्र "अनेकान्त" नि:शुल्क भेजा जाता है तथा अन्य सभी प्रकाशन दो तिहाई मूल्य पर दिए जाते है।

हमे विश्वास है कि धर्म प्रेमी महानुभाव इस दिशा मे संस्था की सहायता स्वयं तो करेंगे ही, अन्य विद्या प्रेमियों को भी इस ओर प्रेरित करेंगे।

—महेन्द्रसेन जैनी, महासचिव

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली

मुद्रक-प्रकाशक —वीर सेवा मन्दिर के निमित्त

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय ३, रामनगर, नई दिल्ली-५५

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश, जैन प्रकाशक

स्थापित : १९२९

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागँज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति मे संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार है:—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थगार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा **वीर सेवा मन्दिर** गत ४६ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापो में हर प्रकार से आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एव पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि:—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमो मे सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनो को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य इतिहास एव पुरातत्व के शोधानुसन्धान मे योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वो एवं दानादि के अवसरो पर महत उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुल प्रसाद जैन (सचिव)

अनेकान्त मे प्रकाशित विचारो के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —सम्पादक

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २९ किरण ३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जुलाई-सितम्बर १९७६
वीर निर्वाण सवत् २५०२, वि० स० २०३२

उवसग्गहरं

उवसग्गहरं पासं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं ।
विसहर-विसणिण्णासं मंगल-कल्लाण-आवासं ॥१॥
विसहर फुलिंगमंतं कंठे धारेई जो सया मणुओ ।
तस्स गहरोगमारी दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥२॥
चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामोवि बहुफलो होइ ।
णरतिरिएसुवि जीवा पावंति ण दुक्खदोगच्चं ॥३॥
तुह सम्मते लद्धे चिंतामणि कप्पपायवब्भहिए ।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं ॥४॥
इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भर निब्भरेण हिअएण ।
ता देव दिज्ज बोहिं भवे भवे पास जिणचंद ॥५॥
ॐ अमरतरु कामधेणु चिन्तामणि कामकुंभमाइया ।
सिरिपासनाह सेवाग्गहाण सव्वे वि दासत्तं ॥६॥
'उपसर्गहरं स्तोत्रं कृतं श्रीभद्रबाहुना ।
ज्ञानादित्येन सघाय शान्तये मंगलाय च ॥'

—श्रीभद्रबाहु विरचितम्

अर्थ—मैं घातिय कर्मों से विमुक्त उपसर्गहारी भगवान् श्री पार्श्वनाथ की वन्दना करता हूं। भगवान् विषधर के विष का शमन करने वाले है तथा मंगल एव कल्याण के निवास हैं। विषहरण शक्ति से स्फुलिंग के समान दीप्तिमान् इस स्तोत्र को जो मनुष्य नित्य कण्ठ में धारण करता है (कण्ठस्थ रखता है, कण्ठ द्वारा उच्चारण करता है) उसके ग्रहपीड़ा, रोग, महामारी तथा वार्धक्य से उत्पन्न दुष्ट व्याधिया शान्त हो जाती हैं। हे भगवन् ! मन्त्रोपचार तो दूर की बात है, उसे रहने दें तो भी आपको श्रद्धाभक्ति मे किया गया एक प्रणाम भी बहुफलदायी होता है। नर और तिर्यक् गति में उत्पन्न जीव आपकी भक्ति मे दुःख तथा दुर्गति नहीं पाते। चिन्तामणि और कल्प पादप-समान आपके सम्यक्त्व को प्राप्त कर जीव निर्विघ्न अजर-अमर स्थान प्राप्त कर लेते है। हे महान् यशस्विन ! भक्ति की अतिशयता से भरित हृदय से मैं आपकी स्तुति करता हूं। हे पार्श्व जिनचन्द्र ! मुझे बोधिलाभ हो, ऐसी प्रार्थना है।

स्वाध्याय[1]

□ उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द

"णवि अत्थि णवि य होहदि,
सज्झायसमं तवो कम्मं ॥"
—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार १०/८२

'स्वाध्याय' तप के सामान दूसरा कोई कार्य न है और न होगा।

मनुष्य जीवन पशु जीवन से श्रेष्ठ है, क्योंकि पशु और मनुष्य के विवेक मे अन्तर है। पशु का विवेक आहार, निद्रा, भय और मैथुन तक सीमित है किन्तु मनुष्य का विवेक इससे ऊपर उठ कर चिन्तन की असीमता को मापता है। उसकी जिज्ञासा से दर्शन शास्त्रों का जन्म होता है, उसके ज्ञान से स्व-पर की भेद-विद्या का प्रादुर्भाव होता है। वह इह और अपरत्र लोकों के विषय में आत्ममन्थन की छाया मे नवीन उपलब्धियो से मानव समाज के बुद्धि, चिन्तन और चेतना के धरातल का नवीन निर्माण करता है। मैं कौन हू ? जन्म-मरण क्या है ? संसार से मेरा क्या सम्बन्ध है ? मुझे कहाँ जाना है ? अनन्तानुबन्धी कर्मशृंखला का अन्त कहा है ? इत्यादि दार्शनिक प्रश्नावली के ऊहापोह मनुष्य मे ही हो सकते है। चिन्तन की इस सहज धारा का उदय सभी मानवों में होना है किन्तु कुछ लोग ही इस अनाहत ध्वनि को सुन पाते है। सुनने वालो मे भी कुछ प्रतिशत व्यक्ति ही गम्भीरता से विचार कर पाते है और उन विचारकों में भी बहुत थोडे लोग होते है जो अपने चिन्तन की परिणति से चारित्र को कृतार्थ करते है, क्योंकि 'बुद्धेः फलं ह्यात्महित प्रवृत्तिः' अर्थात् आत्महित का ज्ञान चिन्तनशील मनीषियो ने ग्रन्थ भण्डारो के रूप अपनी उत्तराधिकारिणी मानव पीढी को सौंपा है। एक व्यक्ति किसी एक विषय पर जितना दे नही सकता, उतना अपरिमित ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजो ने और पूर्ववर्ती विचारको ने हमारे लिए छोडा है। जैसे जल कणों से कुम्भ भर जाता है उसी प्रकार अनेक दार्शनिको, चिन्तनशीलो, विचारकों एवं विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यों की एक-एक शब्द राशि से, भावसम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थ रूप में जन्म लेकर ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजो ने, पूर्ववर्ती विचारको ने, हमारे लिए छोड़ा है। जैसे जल-कणो से कुम्भ भर जाता है उसी प्रकार अनेक दार्शनिकों चिन्तनशीलो, विचारको एव विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यों की एक-एक शब्दराशि से, भाव सम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थरूप में जन्म लेकर ज्ञान-विज्ञान की अपार विभूतियों ने हमारे आत्मदर्शन के मार्ग को प्रशस्त किया है। उन सारस्वत महर्षियों के अपार ऋणानुबन्ध से हम उऋण नहीं हो सकते। जब किसी ग्रन्थ को पढ़ते है, उसे अल्पकाल मे ही पढ लेते है, किन्तु उसकी एक-एक शब्द-योजना मे, पंक्तिलेखन में, विषय प्रतिपादन मे और ग्रन्थ परियोजन की प्रतिपादन विधि में मूल लेखक को, विचारक को कितने दिन, मास, वर्ष लगे होगे, कितने काल की अधीत विद्या का निचोड़ उसने उसमे निहित किया होगा इसे परखने का तुलादण्ड हमारे पास क्या है ? तथापि यदि हमने किसी की रचना के एक शब्द को, आधे सूत्र को और एक पंक्ति-श्लोक को भी यथावत् समझने का प्रयास करने मे अपनी आत्मिक तन्मयता लगायी है तो निस्सन्देह वह लेखक स्वर्गस्थ होकर भी कृतकृत्य हो उठेगा। लेखक के श्रम को उस पर अनुशीलन करने वाले अनुवाचक ही सफल कर सकते है। जब तक शब्द प्रयुक्त होकर साहित्य मे

१. 'स्वाध्याय यदि निरन्तर करोति तथापि कर्म क्षय करोतीति भावः।'

नहीं उतरते और जब तक कोई कृति सहृदयों के हृदय का आकर्षण नही कर लेती तब तक शब्द का जन्म (निष्पन्नता) और कर्त्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से हमे विचारो मे नवीन शक्ति का उन्मेष होता हुआ प्रतीत होता है। नयी दिशा, नये विचार, नये शोध और वैदुष्य के अवसर निरन्तर स्वाध्याय करने वालों को प्राप्त होते है।

स्वाध्याय करते रहने से मनुष्य मेधावी होता है। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है। स्वाध्यायशील व्यक्ति उन विशिष्ट रचनाओ के अनुशीलन से अपने व्यक्तित्व मे विशालता को समाविष्ट पाता है। वह रचनाओ के ही नही, अपितु उन-उन रचनाकारो के सम्पर्क मे भी आता है जिनकी पुस्तके पढ़ता होता है, क्योकि व्यक्ति अपने चिन्तन के परिणामो को ही पुस्तक मे निबद्ध करता है। कौन कैसा है? यह उसके द्वारा निर्मित साहित्य को पढकर सहज ही जाना जा सकता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति की विचारशक्ति और चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है। मन, जो निरन्तर भटकने का आदी है, स्वाध्याय मे लगा देने से स्थिर होने लगता है, और मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि मे परम सहायक होती है। एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करते है।

पुस्तकालयो, व्यक्तिगत संग्रहालयों, ग्रन्थ-भण्डारों को दीमक लग रही है। नवयुवको का जीवन स्वाध्याय-पराङ्मुख हो चला है। जीवन रात-दिन यन्त्र के समान उपार्जन की चक्की मे पिस रहा है। स्वाध्याय की परिस्थितिया दुर्लभ हो गई है और बदलती परिस्थितियो के साथ मनुष्य स्वय भी स्वाध्याय के प्रति विरक्त हो चला है। उसका कार्यालयो से बचा हुआ समय सिनेमा, रेडियो, ताश के पत्तों और अन्य सस्ते मनोरजनो मे चला जाता है। स्वाध्याय शब्द की गरिमा से अनजाने लोग विचारको की रत्नसम्पदा समान ग्रन्थ माला से कोई लाभ नही उठा पाते।

स्वाध्यायशील न रहने से मन मे उदार सद्गुणो की पूजी जमा नही होती। शरीर का भोजनरूपी खुराक (अन्नमय आहार) तो मिल जाती है किन्तु मस्तिष्क भूखा रहता है। मानव केवल शरीर नही है वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से ही महान् है। अस्वाध्यायी इस महिमामय महत्त्व के अवसर से वचित ही रह जाता है। स्वाध्याय न करने के दुष्परिणाम स्वरूप ही कुछ लोग जो आयु मे प्रौढ होते है, विचारो मे बालक देखे जाते हैं। उनके विचार कच्ची उम्र वालो के समान अपक्व होते है और इस अपरिपक्वता की छाया उनके सभी जीवन-व्यवहारो मे दिखायी देती है। जो मनुष्य चलता रहता है उसके पास पाप नही आते। स्वाध्याय के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा और परलोक से अनायास सम्पर्क स्थापित कर लेता है। स्वाध्याय आभ्यन्तर चक्षुओं के लिए अंजनशलाका है। दिव्य दृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन मे उन्नति प्राप्त करने वाले नियमित स्वाध्यायी थे। एक बार एक महाशय को लोकमान्य तिलक की सेवा मे बैठना पड़ा। वह प्रातःकाल से ही ग्रन्थो के विविध सन्दर्भ-स्वाध्याय मे लगे थे और इस प्रकार दोपहर हो गई। उठकर उन्होंने स्नान किया और भोजन की थाली पर बैठ गये। आगन्तुक ने पूछा—क्या आप संध्या नही करते? तिलक महाशय ने उत्तर दिया कि प्रातःकाल से अब तक मैं 'सन्ध्या' ही तो कर रहा था। वास्तव मे स्वाध्याय से उपार्जित ज्ञान को यदि जीवन मे नही उतारा गया तो निरुद्देश्य 'जलताड़न क्रिया' से क्या लाभ? आंखो की ज्योति को मन्द किया, समय खोया और जीवन मे पाया कुछ नहीं तो 'स्वाध्याय' का परिणाम क्या निकला? स्वाध्याय स्व के अध्ययन के लिए है। संसार की नश्वर आकुलता से ऊपर उठने के लिए है। स्वाध्याय की थाली मे परोसा हुआ अमृतमय समय जीवन को अमर बनाने में सहायक है। स्वाध्याय से आत्मिक तेज जाग्रत होता है, पुण्य की ओर प्रवृत्ति होती है और मोहनीय कर्म का क्षय करने की ओर विचार दौड़ते हैं। पूर्वजो ने जिस वास्तविक सम्पत्ति का उत्तराधिकार हमे सौपा है उस 'वसीयतनामे' को पढ़ना वैसे भी हमारा नैतिक कर्त्तव्य है।

'श्रुत स्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्', यह मन वानर के समान चचल है, इसे जो शास्त्र स्वाध्याय मे एकतान कर देता है वही धन्य है। स्वाध्याय से हेय

और उपादेय का ज्ञान होता है। यदि वह न हो तो 'व्यर्थः श्रमः श्रुतौ', शास्त्राध्ययन से होने वाला श्रम व्यर्थ है। स्वाध्याय करने पर भी मन मे विचारमूढता है, ज्ञान पर आवरण है, तो कहना पड़ेगा कि उसने स्वाध्याय पर बैठकर भी वास्तव में स्वाध्याय नही किया। 'पाणौ कृतेन दीपेन कि कूपे पतता फलम्', दीपक हाथ मे लेकर चले और फिर भी कुएँ मे गिर पड़े तो दीपग्रहण का श्रम व्यर्थ नही तो क्या है? शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। यह सूर्य प्रभा से भी बढ़कर है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब मनुष्य दीपक से देखता है और जब दीपक भी निर्वाण हो जाता है तब सर्वत्र अन्धकार छा जाता है, किन्तु उस समय अधीतविद्या का स्वाध्याय ही आत्मभूमि मे आलोक का आविर्भाव करता है। यह स्वाध्याय से उत्पन्न आलोक तिमिरग्रस्त नही होता। अखण्ड ज्योतिर्मय यह ज्ञान स्वाध्याय-रसिको के समीप 'नन्दादीप' बनकर उपस्थित रहता है। स्वाध्याय की उपासना निरन्तर करते रहना जीवन को नित्य नियमित रूप से माँजने के समान है। एक अच्छे स्वाध्यायी का कहना है कि यदि मैं एक दिन नही पढ़ता हूं तो मुझे अपने आप में एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नही करता हूं तो पास-पड़ोस के लोग जान जाते है और एक सप्ताह न पढ़ने पर सारा ससार जान लेता है। वास्तव मे यह अत्यन्त सत्य है क्योंकि जिस प्रकार उदर को अन्न देना दैनिक आवश्यकता है उसी प्रकार मस्तिष्क को खुराक देना भी अनिवार्य है। शरीर और बुद्धि का समन्वय बना रहे इसके लिए दोनो प्रकार का आहार आवश्यक है। 'अज्झयणमेव झाणं', अध्ययन ही ध्यान है, सामयिक है, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द का मत है। संसार में जितने उच्च कोटि के लेखक, वक्ता और विचारक हुए है उनके सिरहाने पुस्तकों से बने है। विश्व के ज्ञान-विज्ञानरूपी तूलधार को उन्होने अश्रान्त भाव से आंखों की तकली पर अटेरा है और उसके गुणमय गुच्छो से हृदय-मन्दिर को कोषागार का रूप दिया है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करने वाले रात-दिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय मे तन्मय रहते है, बड़े-बड़े अन्वेषक और दार्शनिक रात-दिन भूख प्यास को भूलकर स्वाध्याय में लगे रहते है। स्वामी रामतीर्थ जब जापान गए तो व्याख्यान सभा मे उपस्थित होने पर उन्हे पराजित करने की भावना से मंच सयोजक ने बोर्ड पर शून्य (०) लिख दिया और भाषण के प्रथम क्षण स्वामी रामतीर्थ को पता चला कि उन्हें शून्य पर भाषण करना है। उन्होंने जापानियों की दृष्टि में शून्य प्रतीत होने वाले उस अकिंचन विषय पर इतना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया कि श्रोता उनके वैदुष्य पर धन्य-धन्य और वाह-वाह कह उठे। यह उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के स्वाध्याय का ही फल था। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है कि जो बहुज्ञ होता है वही व्युत्पत्तिमान होता है। जिसको स्वाध्याय का व्यसन है वही बहुज्ञ हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति के विषय मे कहा है कि जैसे कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती है और लोभी को पैसा प्रिय लगता है उसी प्रकार जिसे भक्ति प्रिय लगे वह भगवान को पा सकता है। ठीक यही बात स्वाध्याय के लिये लागू होती है। जो व्यक्ति अध्ययन के लिये अपने को अन्य सभी ओर से एकाग्र कर लेता है वही स्वाध्याय देवता के साक्षात्कार का लाभ उठाता है। पढ़ने वालों ने घर पर लैम्प के अभाव में सड़कों पर लगे 'बल्बों' की रोशनी मे ज्ञान की ज्योति को बढाया है। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् प० हरिनारायण जी पुरोहित ने बाजार मे किसी पठनीय पुस्तक को बिकते हुए देखा। उस समय उनके पास पैसे नही थे, अत. उन्होने अपना कुर्त्ता खोलकर उस विक्रेता के पास गिरवी रख दिया और पुस्तक घर ले गये। इसलिए उनका 'विद्याभूषण' नाम सार्थक था। भारत के इतिहास मे ऐसे अनेक स्वाध्यायपरायण व्यक्ति हो चुके है। विदेशों में अधिकाश व्यक्तियों के घरो मे 'पुस्तकालय' है। वे अपनी आय का एक निश्चित अंश पुस्तकें खरीदने मे व्यय करते है। धर्म-ग्रन्थों का दैनिक पारायण करने वाले स्वाध्यायी आज भी भारत मे वर्तमान है। वे धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। 'स्वाध्यायान् मा प्रमद', स्वाध्याय के विषय मे प्रमाद मत करो। स्वाध्यायशील अपने गन्तव्य मार्ग को स्वयं ढूँढ निकालते है। अज्ञान के गज पर स्वाध्याय

का अंकुश है। पवित्रता के पत्तन में प्रवेश करने के लिए स्वाध्याय तोरणद्वार है। स्वाध्याय न करने वाले अपनी योग्यता की डींग हांकते हैं, किन्तु स्वाध्यायशील उसे पवित्र गोपनीय निधि मानकर आत्मोत्थान के लिए उसका उपयोग करते है। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकराते रहते हैं, और जब वे बोलते है तो साक्षात् वाग्देवी उनके मुख-मंच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के अक्षरो का प्रतिबिम्ब उनकी आंखों पर लिखा रहता है और ज्ञान की निर्मलधारा से स्नात उनकी वाङ्माधुरी मे सरस्वती के प्रवाह पवित्र होने के लिए नित्याभिलाषी होते हैं। एक महान् तत्वद्रष्टा, सफल राजनेता और उत्तम सन्त स्वाध्याय-विद्यालय का स्नातक ही हो सकता है। स्वाध्याय एकान्त का सखा है; सभी स्थानों मे सहायक है; विद्वद्गोष्ठियो मे उच्च आसन प्रदान करने वाला है। जैसे पैसा-पैसा डालने पर भी कोषवृद्धि होती है, उसी प्रकार बिन्दु बिन्दु विचार संग्रह करने से पाण्डित्य की प्राप्ति होती है। शब्दों के अर्थ कोषों मे नही, साहित्य की प्रयोगशालाओं मे लिखे है। अनवरत स्वाध्याय करने वाला शब्दों के सर्वतोमुखी अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वाध्याय करने वाले की आंखों में समुद्रो की गहराई, पर्वत-शिखरों की ऊँचाई और आकाश की अनन्तता समायी होती है। वह जब चाहता है, बिना तैरे, बिना आरोहण-अवगाहन किये उनकी सीमाओ को बता सकता है। स्वाध्याय का तप: साधना के रूप मे सेवन करने वाला उससे अभीष्ट लाभों को प्राप्त करता है।

यद्यपि स्वाध्याय से आत्माभिमुखता की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे आत्मोपलब्धि साधन भी कहा जाता है तथापि प्रत्येक स्वाध्यायी निश्चित रूपसे आत्मा को प्राप्त करता है ऐसा नही माना जा सकता। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्'—पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहां धुआँ उठ रहा है। यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूम:'—जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहां वहा धूम है, यह सर्वथा सत्य नही, क्योंकि निर्धूम पावक मे धूम नही होता। अतः यह सम्भव है कि स्वाध्यायादि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जा सके, परन्तु निश्चय ही स्वाध्याय आत्मोपलब्धि का कारण होगा, यह नही कहा जा सकता। प्रत्युत अनुभवी व्यक्तियों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'शास्त्रों की उस अपार शब्द-राशि को पढ़ने से क्या शिवपुर मिलता है; अरे! तालु को सुखा देने वाले उस शुक-पाठ से क्या? एक ही अक्षर को स्वपर-भेद-विज्ञान बुद्धि से पढ, जिससे मोक्ष प्राप्ति सुलभ हो।'

> "बहुयइ पठियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
> एक्कुजि अक्खर तं पठहु शिवपुर गम्मइ जेण॥"
> हलवु ओदिदरेनायतु गिरिय सुत्तिदरेनायतु।
> पिरिव लांछन तोहरेनायतु, निजपरमात्मन्—
> ध्यानबनरियदे नरिकूगि बललो सत्तंते॥'

—रत्नाकर (कन्नड कवि)

—बहुत अध्ययन करने, तीर्थक्षेत्र (पर्वतादि) की प्रदक्षिणा करने तथा धर्म विशेष के चिह्न धारण करने से क्या? यदि स्वपरमात्मभाव का ध्यान नही किया तो उसके अभाव में ये बाह्य रूपक वृक के अरण्यरोदन के समान ही हैं।

□□□

भारतीय प्रमाण-शास्त्र के विकास में जैन परम्परा का योगदान

□ मुनि श्री नथमल

विचार-स्वातंत्र्य की दृष्टि से अनेक परम्पराओं का होना अपेक्षित है और विचार विकास की दृष्टि से भी वह कम अपेक्षित नहीं है। भारतीय तत्व-चिंतन की दो प्रमुख धाराएं है—श्रमण और वैदिक। दोनों ने सत्य की खोज का प्रयत्न किया है, तत्व चिंतन की परम्परा को गतिमान बनाया है। दोनो के वैचारिक विनिमय और संक्रमण से भारतीय प्रमाण शास्त्र का कलेवर उचित हुआ है। उसमें कुछ सामान्य तत्व है और कुछ विशिष्ट। जैन परम्परा के जो मौलिक और विशिष्ट तत्व है, उसकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। जैन मनीषियो ने तत्व-चिंतन में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया। उनका तत्व-चिंतन स्याद्वाद की भाषा मे प्रस्तुत हुआ। उसकी दो निष्पत्तियां हुई—सापेक्षता और समन्वय। सापेक्षता का सिद्धान्त यह है—इस विराट विश्व को सापेक्षता के द्वारा ही समझा जा सकता है और सापेक्षता के द्वारा ही उसकी व्याख्या की जा सकती है। इस विश्व मे अनेक द्रव्य है और प्रत्येक द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक है। द्रव्यों में परस्पर नाना प्रकार के सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से प्रभावित होते है। अनेक परिस्थितियां है और अनेक घटनाए घटित होती है। इस सबकी व्याख्या सापेक्ष दृष्टिकोण से किए बिना विसंगतियों का परिहार नहीं किया जा सकता।

सापेक्षता का सिद्धान्त समग्रता का सिद्धान्त है। वह समग्रता के सन्दर्भ मे ही प्रतिपादित होता है। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म का प्रतिपादन किया जाता है, तब उसके साथ 'स्याद्' शब्द जुड़ा रहता है। वह इस तथ्य का सूचक होता है कि जिस धर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह समग्र नही है। हम समग्रता को एक साथ नही जान सकते। हमारा ज्ञान इतना विकसित नही है कि हम समग्रता को एक साथ जान सकें। हम उसे खण्डों मे जानते है, किन्तु सापेक्षता का सिद्धान्त खण्ड की पृष्ठभूमि में रही हुई अखण्डता से हमें अनभिज्ञ नहीं होने देता। निरपेक्ष सत्य की बात करने वाले इस वास्तविकता को भुला देते है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वत्व में निरपेक्ष है किन्तु सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य मे कोई भी द्रव्य निरपेक्ष नही है।

व्याप्ति या अविनाभाव के नियमों का निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त पर ही होता है। स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् मे खण्डित हो जाते है। इसलिए विश्व की व्याख्या दो नयों से की गई। वास्तविक या सूक्ष्म सत्य की व्याख्या निश्चय नय से और स्थूल जगत् या दृश्य सत्य की व्याख्या व्यवहार नय से की गई। आत्मा कर्म का कर्ता है—यह सभी आस्तिक दर्शनों की स्वीकृति है, किन्तु यह स्थूल सत्य है और यह व्यवहार नय की भाषा है। निश्चय नय की भाषा यह नहीं हो सकती। वास्तविक सत्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्ता होता है। आत्मा का स्वभाव चैतन्य है, अतः वह चैतन्य-पर्याय का ही कर्ता हो सकता है। कर्म पौद्गलिक होने के कारण विभाव है, विजातीय हैं। इसलिए आत्मा उनका कर्ता नही हो सकता। यदि आत्मा उनका कर्ता हो तो कर्म-चक्र से कभी मुक्त नहीं हो सकता। अतः 'आत्मा कर्म का कर्ता है' यह भाषा व्यवहारसापेक्ष भाषा है।

हम किसी को हल्का मानते है और किसी को भारी, किन्तु हल्कापन और भारीपन देश-सापेक्ष है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा हल्की या भारी होती है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा का अतिक्रमण करने पर वस्तु भारहीन हो जाती है।

हम वस्तु की व्याख्या लंबाई और चौड़ाई के रूप मे करते है। मूर्त वस्तु के लिए यह व्याख्या ठीक है। अमूर्त की यह व्याख्या नहीं हो सकती। उसमे लंबाई और चौड़ाई नही है। वह आकाश देश का अवगाहन

करती है पर स्थान नही रोकती। अत: लंबाई और चौड़ाई मूर्त-द्रव्य-सापेक्ष है। उष्णता के रूप में विद्यमान ऊर्जा को गति में बदल देने पर भी उसकी मात्रा समान रहती है। यह उष्णता गति-विज्ञान (थर्मोडायनेमिक्स) का पहला सिद्धान्त है। इसका दूसरा सिद्धान्त यह है कि किसी यंत्र में निक्षिप्त ऊर्जा की मात्रा में कमी हो जाती है। वह क्रमश: क्षीण होती जाती है। इसलिए किसी ऐसे यंत्र का निर्माण संभव नहीं है जिसमे ऊर्जा का निक्षेप किया जाए और वह उसके द्वारा सदा गतिशील बना रहे। कुछ दार्शनिकों द्वारा यह संभावना व्यक्त की गई है कि हमारे देश और काल में व्यवहार में प्रयुक्त ऊर्जा की अक्षीणता निष्पन्न नहीं हुई है। पर संभव है किसी देश और काल में वह क्षीण न हो और उस देशकाल में यह संभव हो सकता है कि एक बार यंत्र मे ऊर्जा का निक्षेप कर देने पर सदा गतिशील बना रहे। इन कुछ उदाहरणों से हम समझ सकते है कि विशिष्ट देश और काल की व्याप्तियां सर्वत्र लागू नहीं होतीं। इसीलिए उनका निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है।

सांख्यिकी और भौतिक विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या सापेक्षता के सिद्धान्त से की जा सकती है।

स्याद्वाद की दूसरी निष्पत्ति समन्वय है। जैन मनीषियों ने विरोधी धर्मों का एक-साथ होना असभव नहीं माना। उन्होंने अनुभवसिद्ध अनित्यता आदि धर्मों को अस्वीकार नही किया, किन्तु नित्यता आदि के साथ उनका समन्वय स्थापित किया। तर्क से स्थापन और तर्क से उसका उत्थापन — इस पद्धति मे तर्क का चक्र चलता रहता है। एक तर्क परम्परा का अभ्युपगम है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है। जो कृतक होता है, वह नित्य होता है, जैसे घड़ा। दूसरी तर्कपरम्परा ने इसका प्रतिवाद किया और वह भी तर्क के आधार पर किया कि शब्द नित्य है, क्योंकि वह अकृतक है। जो अकृतक होता है, वह नित्य होता है, जैसे आकाश। इन दो विरोधी तर्कों में समन्वय को खोजा जा सकता है। विरोध समन्वय का जनक है। शब्द अनित्य है, यह अभ्युपगम इसलिए सत्य है कि एक क्षण में शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनता है और दूसरे क्षण में वह अतीत हो चुकता है। इस परिवर्तन की दृष्टि में शब्द को अनित्य मानना असंगत नही है। मीमांसकों ने शब्द के उपादानभूत स्फोट को नित्य माना, वह भी अनुचित नहीं है। भाषा वर्गणा के पुद्गल शब्दरूप में परिणत होते हैं और वे पुद्गल कभी भी अ-पुद्गल नहीं होते। इस अपेक्षा से उनकी नित्यता भी स्थापित की जा सकती है। सापेक्ष सिद्धान्त के अनुसार, वस्तु का निरपेक्ष धर्म सत्य नही होता। वे समन्वित हो कर ही सत्य होते हैं। सायण माधवाचार्य ने सर्व-दर्शन संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की। उसमें उन्होंने पूर्व दर्शन का उत्तर दर्शन से खण्डन करवाया है और अन्तिम प्रतिष्ठा वेदान्त को दी है। प्रखर तार्किक मल्लवादी (ई० ४-५ शती) ने द्वादशारनयचक्र की रचना की। उसमे एक दर्शन का प्रस्थापन प्रस्तुत होता है। दूसरा उसका निरसन करता है। दूसरे के प्रस्थापन का तीसरा निरसन करता है। इस प्रकार प्रस्थापन और निरसन का चक्र चलता है। उसमे अन्तिम प्रतिष्ठा किसी दर्शन की नही है। सब दर्शनों के नय समन्वित होते है तब सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है। एक एक नय की स्वीकृति मिथ्या है। उन सबकी स्वीकृति सत्य है। इस समन्वय के दृष्टिकोण ने तर्कशास्त्र को वितंडा के वात्याचक्र से मुक्त कर सत्य का स्वस्थ आधार दिया।

जैन प्रमाणशास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है— प्रमाण का वर्गीकरण। प्रत्यक्ष और परोक्ष —इस वर्गीकरण में संकीर्णता का दोष नही है। इसमे सब प्रमाणों का समावेश हो जाता है। हम या तो ज्ञेय को साक्षात् जानते है या किसी माध्यम से जानते है। जानने की ये दो पद्धतियां है। इन्ही के आधार पर प्रमाण के दो मूल विभाग किए गए है। बौद्ध और वैशेषिक तार्किकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान — दो प्रमाण माने तो आगम को उन्हें अनुमान के अन्तर्गत मानना पड़ा और आगम को अनुमान के अन्तर्गत मानना निर्विवाद नही है। परोक्ष प्रमाण मे अनुमान, आगम, स्मृति, तर्क आदि सबका

समावेश हो जाता है और किसी का लक्षण सांकर्य दोष से दूषित नहीं होता। इस दृष्टि से प्रमाण का प्रस्तुत वर्गीकरण सर्वग्राही और वास्तविकता पर आधारित है।

इन्द्रिय ज्ञान का व्यापार-क्रम (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा) भी जैन प्रमाणशास्त्र का मौलिक है। मानस-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

तर्कशास्त्र में स्वतः प्रामाण्य का प्रश्न बहुत चर्चित रहा है। जैन तर्क-परम्परा मे स्वतः प्रामाण्य मनुष्य का स्वीकृत है। मनुष्य ही स्वतः प्रमाण होता है, ग्रन्थ स्वतः प्रमाण नही होता। ग्रन्थ के स्वतः प्रामाण्य की अस्वीकृति और मनुष्य के स्वतः प्रामाण्य की स्वीकृति एक बहुत विलक्षण सिद्धान्त है। पूर्व मीमांसा ग्रन्थ का स्वतः प्रामाण्य मानती है, मनुष्य को स्वतः प्रमाण नहीं मानती। उसके अनुसार, मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता और वीतराग हुए बिना कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता और अ-सर्वज्ञ स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। जैन चिंतन के अनुसार, मनुष्य वीतराग हो सकता है और वह केवल ज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ हो सकता है। इसलिए स्वतः प्रमाण मनुष्य ही होता है। उसका वचनात्मक प्रयोग, ग्रन्थ का वाङ्मय भी प्रमाण होता है, किन्तु वह मनुष्य की प्रमाणिकता के कारण प्रमाण होता है, इसलिए वह स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। पुरुष के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त जैन तर्कशास्त्र की मौलिक देन है। समूची भारतीय तर्क-परम्परा में सर्वज्ञत्व का समर्थन करने वाली जैन परम्परा ही प्रधान है। समूचे भारतीय वांङ्मय में सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए लिखा गया विपुल साहित्य जैन परम्परा में ही मिलेगा। बौद्धों ने बुद्ध को स्वतः प्रमाण मान कर ग्रन्थ को परतः प्रामाण्य माना है। किन्तु वे बुद्ध को धर्मज्ञ मानते हैं, सर्वज्ञ नही मानते। पूर्वमीमांसा के अनुसार, मनुष्य धर्मज्ञ भी नहीं हो सकता। बौद्धों ने इससे आगे प्रस्थपान किया और कहा कि मनुष्य धर्मज्ञ हो सकता है। जैनों का प्रस्थापन इससे आगे है। उन्होंने कहा—मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। कुमारिल ने समन्तभद्र के सर्वज्ञता के सिद्धान्त की कड़ी मीमांसा की है। धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता पर तीखा व्यंग कसा है। उन्होंने लिखा है[1]—

'दूरं पश्यतु वा मा वा तत्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्हे॥'

'इष्ट तत्त्व को देखने वाला ही हमारे लिए प्रमाण है, फिर वह दूर को देखे या न देखे। यदि दूरदर्शी ही प्रमाण हो तो आइए, हम गीधो की उपासना करें, क्योंकि वे बहुत दूर तक देख लेते हैं।'

सर्वज्ञत्व की मीमासा और उस पर किए व्यंगो का जैन आचार्यों ने स्टीक उत्तर दिया है और लगभग दो हजार वर्ष की लम्बी अवधि में सर्वज्ञत्व का निरंतर समर्थन किया है।

जैन तर्क-परम्परा की देय के साथ-साथ आदेय की चर्चा करना भी अप्रासंगिक नही होगा। जैन तार्किको ने अपनी समसामयिक तार्किक परम्पराओं से कुछ लिया भी है। अनुमान के निरूपण में उन्होंने बौद्ध और नैयायिक तर्क-परम्परा का अनुसरण किया है। उसमे अपना परिमार्जन और परिष्कार किया है तथा उसे जैन परम्परा के अनुरूप ढाला है। बौद्धों ने हेतु क त्रैरूप्य लक्षण माना है, किन्तु जैन तार्किकों ने उल्लेखनीय परिष्कार किया है। हेतु का अन्यथा अनुपपत्ति लक्षण मानकर हेतु के लक्षण में एक विलक्षता प्रदर्शित की है। हेतु के चार प्रकारो की स्वीकृति भी सर्वथा मौलिक है:

१—विधि-साधक विधि हेतु ३—निषेध साधक निषेध हेतु
२—निषेध-साधक विधि हेतु ४—विधि साधक निषेध हेतु

उक्त कुछ निदर्शनों से हम समझ सकते है कि भारतीय चिन्तन मे कोई अवरोध नहीं रहा है। दूसरे के चिन्तन का अपलाप ही करना चाहिए और अपनी मान्यता की पुष्टि ही करनी चाहिए, ऐसी रूढ़ धारणा भी नहीं रही है। आदान और प्रदान की परम्परा प्रचलित रही है। हम संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में इसका दर्शन कर सकते हैं।

दर्शन और प्रमाण-शास्त्र : नई संभावनाएं

प्रमाण-शास्त्रीय चर्चा में कुछ नई संभावनाओं पर दृष्टिपात करना असामयिक नहीं होगा। इसमें कोई संदेह

---

१. प्रमाणवार्तिक १।३४ : हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः।
२. प्रमाणवार्तिक १।३५ : यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदः।

नहीं कि प्रमाण-व्यवस्था या न्यायशास्त्र की विकसित अवस्था ने दर्शन का अभिन्न अंग बनने की प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यह असंदिग्ध है कि उसने दर्शन की धारा को अवरुद्ध किया है, उसे अतीत की व्याख्या मे सीमित किया है। दार्शनिकों की अधिकांश शक्ति तर्क-मीमांसा मे लगने लगी। फलतः निरीक्षण गौण हो गया और तर्क प्रधान। सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव मे नए प्रमेयों की खोज का द्वार बन्द हो गया। सत्य की खोज के तीन साधन है—

१—निरीक्षण

२—अनुमान या तर्क

३—परीक्षण

ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाए है—दर्शन, भौतिक विज्ञान, मनो-विज्ञान वनस्पति विज्ञान—उन सबकी वास्तविकताओ का पता इन्ही साधनों से लगाया जाता है। इन्ही पद्धतियो मे हम सत्य को खोजते रहे हैं, जब से हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है।

दर्शन की धारा मे नए-नए प्रमेय खोजे गए है, वे निरीक्षण के द्वारा ही खोजे जा सके है। जब हमारे दार्शनिक निरीक्षण की पद्धति को जानते थे, तब प्रमेयो की खोज हो रही थी। जब तर्क-मीमासा ने बुद्धि की प्रधानता उपस्थित कर दी तर्क का अतिरिक्त मूल्य हो गया, तब निरीक्षण की पद्धति दार्शनिक के हाथ से छूट गई। वह विस्मृति के गर्त मे जा कर लुप्त हो गई। आज किसी को दार्शनिक कहने की अपेक्षा दर्शन का व्याख्याता कहना अधिक उपयुक्त होगा। दार्शनिक वे हुए है जिन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षणो के द्वारा प्रमेयों की खोज की है, स्थापना की है। इन पन्द्रह शताब्दियों मे नए प्रमेयों की खोज या स्थापना नही हुई है, केवल अतीत के दार्शनिकों के द्वारा खोजे गए प्रमेयो की चर्चा हुई है, आलोचना हुई है, खण्डन-मण्डन हुआ है। सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव में इससे अतिरिक्त कुछ होने की आशा भी नही की जा सकती। सूक्ष्म निरीक्षण की एक विशिष्ट प्रक्रिया थी। उसका प्रतिनिधि शब्द है—अतीन्द्रिय ज्ञाता। वर्तमान विज्ञान ने नए प्रमेयों, गुण-धर्मों और सम्बन्धों की खोज की है, उसका कारण भी अतीन्द्रिय ज्ञान है। मैं नही मानता कि आज के वैज्ञानिक ने अतीन्द्रिय ज्ञान की पद्धति विकसित नहीं की है। उसके विकास का मार्ग भिन्न हो सकता है, किन्तु जो तथ्य इन्द्रियो से नही जाने जा सकते, उन्हें जानने के साधन विज्ञान ने उपलब्ध किए है। अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन विषय है— सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट। इन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) तथ्य नहीं जाने जा सकते। आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म का निरीक्षण करता है। तर्क की भाषा में जो चाक्षुष नही है, जिन्हें हम चर्मचक्षु से नहीं देख सकते, उन्हे वह सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र के द्वारा देखता है। इस सूक्ष्मवीक्षण यत्र को मै अतीन्द्रिय उपकरण मानता हू, जो अतीन्द्रिय ज्ञान मे सहायक होता है। जो इन्द्रिय से नहीं देखा जाता, वह उससे देखा जाता है। व्यवहित को जानने के लिए 'एक्सरे' की कोटि के यंत्रों का आविष्कार हुआ है। उनके द्वारा एक वस्तु को पार कर दूसरी वस्तु को देखा जा सकता है। विप्रकृष्ट (दूरस्थ) को जानने के लिए दूरवीक्षण-टेलिस्कोप आदि यंत्रों का विकास हुआ है। जिस अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थ जाने जाते थे वह आत्मिक अतीन्द्रिय ज्ञान वैज्ञानिक को उपलब्ध नही है, किन्तु उसने उन तीनो प्रकार के पदार्थों को जानने के लिए अपेक्षित यान्त्रिक उपकरण (सूक्ष्म दृष्टि, पारदर्शी दृष्टि और दूरदृष्टि) विकसित कर लिए है। दार्शनिक के लिए ये तीनों बातें आवश्यक है। दार्शनिक वह हो सकता है जो इन्द्रियातीत सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथ्यों को उपलब्ध कर सके। किन्तु दर्शन के क्षेत्र में आज ऐसी उपलब्धि नही हो रही है। मुझे कहना चाहिए कि तर्क-परम्परा ने जहां कुछ अच्छाइया उत्पन्न की है, वहां कुछ अवरोध भी उत्पन्न किए है। आज हम अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में संदिग्ध हो गए है। जिन क्षणों में अतीन्द्रिय बोध हो सकता है, उन क्षणों का अवसर भी हमने खो दिया है। अतीन्द्रिय-बोध के दो अवसर होते है—

१—किसी समस्या को हम अवचेतन मन मे आरोपित कर देते हैं। कुछ दिनों के लिए उस समस्या पर अवचेतन मन में क्रिया होती रहती है। फिर स्वप्न में हमें उसका समाधान मिल जाता है। एक सम्भावना थी स्वप्नावस्था की, जिसका बीज अर्धजागृत अवस्था मे बोया जाता था, उसका प्रयोग भी आज का दार्शनिक नही कर रहा है। दूसरी संभावना थी निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव

की। जीवन में कोई एक क्षण ऐसा आता है कि हम विचारशून्यता की स्थिति मे चले जाते है। उन क्षणो मे कोई नई स्फुरणा होती है, असभावित और अज्ञात तथ्य संभावित और ज्ञात हो जाते है। ये दो संभावनायें थी, प्राचीन दार्शनिक के सामने। वह उन दोनों का प्रयोग करता था। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी यत्र-तत्र इन दोनों सम्भावनाओं की चर्चा की है। विकल्पशून्य अवस्था में चेतना के सूक्ष्म स्तर सक्रिय होते है और वे सूक्ष्म सत्यो के समाधान प्रस्तुत करते है। स्वप्नावस्था मे भी स्थूल चेतना निष्क्रिय हो जाती है। उस समय सूक्ष्म चेतना किसी सूक्ष्म तत्त्व से संपर्क करा देती है। मैं नही मानता कि आज के दार्शनिक मे क्षमता नही है। उसकी क्षमता तर्क के परतों के नीचे छिपी हुई है। वह दार्शनिक की अपेक्षा तार्किक अधिक हो गया है। उसके निरीक्षण की क्षमता निष्क्रिय हो गई है। दर्शन की नई संभावनाओ पर विचार करते समय हमे वास्तविकता की विस्मृति नही करनी चाहिए। तर्क को हम अस्वीकार नही कर सकते। दर्शन से उसका सम्बन्ध-विच्छेद नही कर सकते। पर इस सत्य का अनुभव हम कर सकते हैं कि तर्क का स्थान दूसरा है, निरीक्षण और परीक्षण का स्थान पहला। 'अनुमान' मे विद्यमान 'अनु' शब्द इसका सूचक है कि पहले प्रत्यक्ष और फिर तर्क का प्रयोग। तर्क-विद्या का एक नाम 'आन्वीक्षिकी' है। ईक्षण के पश्चात् तर्क हो सकता है, इसीलिए इसे 'आन्वीक्षिकी' कहा जाता है। निरीक्षण या परीक्षण के पश्चात् नियमो का निर्धारण किया जाता है। उन नियमो के आधार पर अनुमान किया जाता है। प्रायोगिक पद्धतियां हमारे लिए अन्तिम निर्णय लेने की स्थिति निर्मित कर देती है। वे स्वयं सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करती। तर्क ही वह साधन है, जिसके आधार पर निरीक्षित तथ्यों से निष्कर्ष निकाले जाते है और उनके आधार पर नियम निर्धारित किये जाते है। इस प्रक्रिया का अनुसरण दर्शन ने किया था और विज्ञान भी कर रहा है। वैज्ञानिकों ने परीक्षण के पश्चात् इस नियम का निर्धारण किया कि ठंडक से सिकुड़न होती है और उष्णता से फैलाव। यह सामान्य नियम सब पर लागू होता है, पर इसका एक अपवाद भी है। चार डिग्री से नीचे तक जल का फैलाव होता है। ठंडा होने पर भी वह सिकुडता नही है। यह विशेष नियम है। केवल सामान्य नियमो के आधार पर वास्तविक घटनाओं के बारे में विधानात्मक बात नही कही जा सकती। यह सिद्धात सैद्धातिक विज्ञान, चिकित्सा और कानून तीनो पर लागू होता है। विशेष नियम के आधार पर निर्णयक भविष्य-वाणियां की जा सकती है, जैसे एक वैज्ञानिक जल की चार डिग्री से नीचे की ठडक के आधार पर जल-वाहक पाइप के फट जाने की भविष्यवाणी कर देता है। यह सब तर्क का कार्य है। उसका बहुत बड़ा उपयोग है, फिर भी उसे निरीक्षण का मूल्य नही किया जा सकता। जब निरीक्षण के साक्ष्य हमारे पास नहीं है, तब हम नियमों का निर्धारण किस आधार पर करेंगे और तर्क का उपयोग कहां होगा? दर्शन के जगत् में मैं जिस वास्तविकता की अनिवार्यता का अनुभव कर रहा हूं, वह तीन सूत्रों में प्रस्तुत है :—

१. नए प्रमेयों की गवेषणा और स्थापना।
२. सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति का विकास।
३. सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता (चित्त की निर्मलता) का विकास।

इस विकास के लिए प्रमाणशास्त्र के साथ-साथ योग-शास्त्र, कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान का समन्वित अध्ययन होना चाहिए। इस समन्वित अध्ययन की धारणा मस्तिष्क में नही होती तब तक सूक्ष्म निरीक्षण की बात सफल नही होगी। योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका उपयोग केवल शारीरिक अवस्था तथा मानसिक तनाव मिटाने के लिए ही नही है, हमारी चेतना के सूक्ष्म स्तरो को उद्‌घाटित करने के लिए उसका बहुत बड़ा मूल्य है। सूक्ष्म सत्यो के साथ संपर्क स्थापित करने का वह एक सफल माध्यम है। महर्षि चरक पौधों के पास जाते और उनके गुण--धर्मों को जान लेते थे। सूक्ष्म यत्र उन्हे उपलब्ध नही थे। वे ध्यानस्थ होकर बैठ जाते और पौधों के गुण-धर्म उनकी चेतना के निर्मल दर्पण मे प्रतिबिम्बित हो जाते। जैन वाङ्मय मे हजारों वर्ष पहले वनस्पति आदि के विषय मे ऐसे अनेक तथ्य निरूपित है जो ध्यान की विशिष्ट भूमिकाओं मे उपलब्ध हुए थे। (शेष पृ० ११५ पर)

आदिपुराण में राजनीति

□ डा० रमेशचन्द जैन

आदिपुराण आचार्य जिनसेन का एक ऐसा सुविस्तृत महाकाव्य है जिसका भारतीय वाङ्मय की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। लोक जीवन के लगभग सभी विषयो का समावेश उसमें कथा-माध्यम से हुआ है। उसमे समाज-नीति व धर्मनीति के साथ-साथ राजनीति का और प्रकारान्तर से युद्धनीति का भी सागोपांग वर्णन मिलता है।

राजनीति और उसका महत्त्व—आदिपुराण में राजनीति के लिए राज्याख्यान[1] और राजविद्या[2] शब्दों का प्रयोग हुआ है। उस देश का यह भाग अमुक राजा के अधीन है अथवा यह अमुक राजा का नगर है, इत्यादि के वर्णन को जैनशास्त्रों मे राज्याख्यान कहा गया है।[3] राजविद्या के परिज्ञान से इहलोक-सम्बन्धी पदार्थों मे बुद्धि दृढ़ हो जाती है।[4] राजर्षि राजविद्याओ द्वारा अपने शत्रु के आवागमन को जान लेता है।[5] राजविद्या आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के भेद से चार प्रकार की होती है।[6] मन्त्रविद्या के द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की सिद्धि होती है। यह लक्ष्मी का आकर्षण करने में समर्थ है और इससे बड़े-बड़े फल प्राप्त होते है।[7]

राज्य—आदिपुराण मे राज्य के लिए जनपद[8], विषय[9] देश[10] तथा राज्य[11] शब्दो का प्रयोग हुआ है। जो राज्य आकार-प्रकार मे अन्य राज्यों से बड़े होते थे वे महादेश[12] कहलाते थे। सिंचाई की अपेक्षा से राज्य के तीन भेद किये जाते थे[13]—१. अदेवमातृक, २. देवमातृक और ३. साधारण। नदी, नहरो आदि से सींचे जाने वाले राज्य अदेवमातृक, वर्षा के जल से सींचे जाने वाले राज्य साधारण कहलाते थे। राज्यो की सीमाओं पर अन्तपालो (सीमारक्षको) के लिए बना दिये जाते थे।[14] राज्य के बीच कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अट्टालक से सुशोभित राजधानी होती थी।[15] राजधानीरूप किले को घेर कर गांव आदि की रचना होती थी।[16] आदिपुराण में ग्रामादि की जो परिभाषाएं हैं, उनके अनुसार जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमे अधिकतर शूद्र और किसान रहते हों तथा जो बगीचे और तालाबों से युक्त हो उसे ग्राम कहते है।[17] जिसमे सौ घर हों उसे निकृष्ट अथवा छोटा गाव कहते है तथा जिसमें पाच सौ घर हों और जिसके किसान धन-सम्पन्न हो उसे बड़ा गांव कहते हैं।[18] सामान्यत: गांव पास-पास बसे होते थे। ये इतने निकट होते थे कि एक गांव का मुर्गा दूसरे गाव आसानी से जा सके। इसी कारण गावों का विशेषण कक्कुटसम्पात्यान मिलता है।[19] छोटे गाव की सीमा एक कोस की और बड़े गांव की सीमा दो कोस की होती थी।[20] नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, कँटीलवृक्ष, वन और पुल से गांव की सीमा का विभाग किया जाता था।[21] जो परिखा, गोपुर, अट्टाल, कोट और प्राकार मे सुशोभित होता हो, जिसमे अनेक भवन हों, जो बाग और तालाबों से युक्त हो, जिसमे पानी का प्रवाह पूर्वोत्तर दिशा के बीच वाली ईशान दिशा मे हो और जो प्रधान पुरुषो के रहने योग्य हो उसे नगर कहते थे।[22] जो नगर नदी और पर्वत से घिरा होता था उसे खेट और जो पर्वत तथा दो सौ गावों से घिरा होता था उसे खर्वट कहते थे।[23] जो पाच सौ गावों से घिरा होता था उसे मडम्ब कहते थे तथा जो समुद्र के किनारे हो और और जहा पर लोग नावों के द्वारा उतरते हो उसे पत्तन कहते थे।[24] जो नदी के किनारे

यहाँ अंकित सब सन्दर्भ आदिपुराण से है।

१. ४.७ — २. ४२.३४, ४१ १३६ — ३. ४.७ — ४. ४२.३४ — ५. ११.८१ — ६. ४१.१३६ — ७. ११.३३ — ८. १६.१६२ — ९. १६.१५७ — १०. १६.१५२ — ११. ३४.५२ — १२. १६.१५१ — १३. १६.१२७ — १४. १६.१६० — १५-१८. १६.१६२-१६५ — १६. २६.१२४ — २०. १६.१६६ — २१. १६.१६७ — २२-२४. १६.१६९-१७३

होता था उसे द्रोणमुख और जहां मस्तक पर्यन्त ऊंचे-ऊंचे धान्य में ढेर लगे रहते थे, वह सवाह कहलाता था।[२५] एक राजधानी में आठ सौ, द्रोणमुख में चार सौ तथा खर्पट मे दो सौ गांव होते थे।[२६] दस गांवों के बीच के बड़े गांव को संग्रह (मण्डी) कहते थे।[२७] जिस राज्य के एक से अधिक व्यक्ति होते थे, वह द्वैराज्य कहलाता था। ऐसे राज्य में स्थिरता नहीं रहती थी। इसीलिए कहा गया है कि राज्य और कुलवती स्त्री का उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है। जो पुरुष इन दोनों का अन्य पुरुषों के साथ उपभोग करता है, वह नर नही, पशु है।[२८]

राजा की उत्पत्ति और उसका महत्त्व—भरतक्षेत्र में पहले भोगभूमि थी। उस समय दुष्ट पुरुषों का निग्रह तथा भले पुरुषों के पालन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि लोग निरपराध होते थे।[२९] भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। कर्मभूमि में दण्ड देने वाले राजा का अभाव होने पर प्रजा मत्स्यन्याय का आश्रय लेने लगेगी, अर्थात् बलवान निर्बल को निगल जायेगा। ये लोग दण्ड के भय से कुमार्ग की ओर नहीं जायेंगे, इसीलिए दण्ड देने वाले राजा का होना उचित है और ऐसा राजा ही पृथ्वी को जीत सकता है, ऐसा सोचकर भगवान ऋषभदेव ने कुछ लोगों को दण्डधर राजा बनाया, क्योंकि विभिन्न प्रजा के योग-क्षेम का विचार करना राजाओं का ही कार्य होता है।[३०]

राज्य के कार्य—आदिपुराण में राजसत्तात्मक शासन-व्यवस्था का दर्शन होता है। राजतन्त्र में राजा प्रमुख होता है तथा वह सारे कार्यों का नियमन करता है। अतः राजा के कार्यों को राज्य के कार्य कहा जा सकता है। इस दृष्टि से राज्य के निम्नलिखित कार्य माने जा सकते है[३१]—

१. गाव आदि के बसाने और उपभोग करने वालों के लिए नियम बनाना।
२. नई वस्तुओं के निर्माण एवं पुरानी वस्तुओं के रक्षण के उपाय करना।
३. प्रजा-जनों से बेगार लेना।
४. अपराधियों को दण्ड देना।
५. जनता से कर वसूल करना।

उत्तराधिकार और राज्याभिषेक—जब राजा किसी कारण विरक्त[३२] हो जाता था तो अपने सुयोग्य पुत्र को राज्यभार सौंप देता था।[३३] सामान्यतः बड़ा पुत्र राज्य का अधिकारी होता था, किन्तु मनुष्यों के अनुराग और उत्साह को देखकर राजा कनिष्ठ पुत्र को भी राजपट्ट बाध देता था।[३४] यदि पुत्र बहुत छोटा हुआ तो राजा उसे राजसिंहासन पर बैठाकर राज्य की सारी व्यवस्था सुयोग्य मन्त्रियों के हाथों मे सौंप देता था।[३५] पिता के साथ-साथ अन्य राजा[३६], अन्तःपुर, पुरोहित तथा नगर-निवासी[३७] भी अभिषेक करते थे। क्रमशः तीर्थजल, कषाय-जल तथा सुगंधित जल से अभिषेक किया जाता था।[३८] नगरनिवासी कमलपत्र से बने हुए द्रोणों और मिट्टी के घड़ों से भी अभिषेक करते थे।[३९] अभिषेक के अनन्तर राजा आशीर्वाद देकर पुत्र को राज्यभार सौंप देता था[४०] और अपने मस्तक का मुकुट उतारकर उत्तराधिकारी को पहना देता था।[४१] चक्रवर्ती के राज्याभिषेक मे बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के सम्मिलित होने का उल्लेख है।[४२] पट्टबन्ध की क्रिया मन्त्री और मुकुटबद्ध राजा करते थे।[४३] पट्टबन्ध के समय युवराज राजसिंहासन पर बैठता था। अनेक स्त्रियां उस पर चमर ढुराती थीं[४४] और अनेक प्रकार के आभूषणों से वह देदीप्यमान होता था।[४५] आदिपुराण के सोलहवें पर्व मे राज्याभिषेक की विधि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है।

राजाओं के भेद—आदिपुराण मे राजाओं के निम्न-निम्नलिखित भेद बतलाए गये है—

१. चक्रवर्ती—इसके राजराज अधिराट् और सम्राट्

---

२५. वही	२६. १६.१७५-१७६	३५. ८.२५४	३६. १६.२२४
२७. ३४.४५	२८. ३४.५२	३७. ३७.३	३८. १६.२२७-२२८
२९. १६.२५१	३०. १६.२५२-२५५	३९. १६.१२५	४०. ११.४५
३१. १६.१६८	३२. ४.१४४-१५०	४१. १६.२३२	४२. ७.३१८, ६.५६५
३३. ४.१५१, १४०	३४. ५.२०७	४३-४४. ११.३९-४०	४५. ११.४४

विशेषण भी प्राप्त होते है। यह छः खण्ड का अधिपति[46] और राजर्षियो का नायक सार्वभौम राजा होता है।[47] चौरासी लाख हाथी,[48] चौरासी लाख रथ[49], बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा[50], ३२ हजार देश[51], ९६ हजार रानिया[52], ७२ हजार नगर[53], ९६ करोड गांव[54], ९९ हजार द्रोण-मुख[55], ४८ हजार पत्तन[56], १६ हजार खेट[57], अन्तर्द्वीप[58], १४ हजार सवाह[59], एक लाख करोड़ हल[60], तीन करोड़ व्रज[61], सात सौ कुक्षिवास[62], (जहां रत्नो का व्यापार होता है), अट्ठाईस हजार सघन वन[63], अठारह हजार म्लेच्छ राजा[64] नौ निधियां[65], चौदह रत्न और दस प्रकार के भोगो का वह स्वामी होता है। आदिपुराण के सैंतीसवें पर्व मे उसकी नौ निधियों, चौदह रत्नों तथा अन्य वैभव और दस प्रकार के भोगो का विस्तृत वर्णन है। उसका शरीर वज्रवृषभनाराचसहनन का होता है तथा शरीर पर चौसठ लक्षण होते है।[66]

२. मुकुटबद्ध राजा[67]।

३. मुकुटबद्ध[68] (मौलिबद्ध)[69]।

४. महामाण्डलिक—चार हजार राजाओं का अधि-पति[70]।

५. मण्डलाधिप[71]।

६ अधिराज[72]।

७. भूपाल[73]।

८. नृप[74]।

शत्रु और मित्र की अपेक्षा राजा चार प्रकार के होते है[75] :—

१. शत्रु, २. मित्र, ३. शत्रु का मित्र और ४. मित्र का मित्र। अच्छे मित्र से सब कुछ सिद्ध होता है।[76] शत्रु का कितना ही विश्वास क्यों न किया जाए वह अन्त में शत्रु ही रहता है।[77]

राजा के कर्तव्य—न्यायपूर्ण व्यवहार : न्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले राजा को ससार मे यश का लाभ होता है, महान वैभव के साथ-साथ पृथ्वी की प्राप्ति होती है, परलोक मे अभ्युदय की प्राप्ति होती है तथा वह तीनों लोकों को जीतता है।[78] न्याय को धन कहा गया है। न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा (मनोरथों को पूर्ण करने वाली) कामधेनु के समान मानी गई है।[79] न्याय दो प्रकार का है— दुष्टो का निग्रह और शिष्ट पुरुषो का पालन।[80] एक स्थान पर कहा गया है कि धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढाना और योग्य पात्र मे दान देना इन चार प्रकार की प्रवृत्तियो को सज्जनों ने न्याय कहा है। जैन धर्मानुसार प्रवृत्ति करना संसार में सबसे उत्तम न्याय है।[81] अन्यायपूर्वक आचरण करने से राजाओं की वृत्ति का लोप हो जाता है।[82]

कुलपालन—कुलाम्नाय की रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण की रक्षा करना कुलपालन कहलाता है।[83] राजाओं को अपने कुल की मर्यादा का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिसे अपने कुल मर्यादा का ज्ञान नही है वह अपने दुराचारों से कुल को दूषित कर सकता है (३८.२७४)। द्वेष रखनेवाला कोई पाखण्डी राजा के सिर पर विषपुष्प रख दे तो उसका नाश हो सकता है। कोई वशीकरण करने के लिए उसके सिर पर वशीकरण-पुष्प रख दे तो यह मूढ़ के समान आचरण करता हुआ दूसरे के वश हो जायेगा। अतः राजा को अन्य मतवालो के शेषाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन आदि का परि-त्याग कर देना चाहिए, अन्यथा उसके कुल की हानि हो सकती है।[84]

---

४६. ३७.२०
४७. ४१.१५५
४८-४९. ३७.२३-२४
५०. ३७.३२
५१-५२. ३७.३३-३६
५३-५८. ३७.६०-६६
५९. ६०.६६
६०. ३७.३८
६१. ३७.६६
६२. ३७.७७
६३-६५. ३७.७१-७३
६६. ३७.२७, ३७.२८
६७. २६.७५
६८. ४४.१०७
६९. ४१.१६
७०. १६.१५७
७१. ३१.६५, ३७.८०
७२. १६.२६२
७३. १४.७०
७४. २०.१०९
७५. ३४.३६
७६. ४३.४१४
७७. ४३.३२२
७८. ३८.२६३
७९. ३८.२६९
८०. ३८.२५९
८१. ४२.१३-१४
८२. ३९.२५८
८३. ४२.५
८४. ४२.२१-२३

मत्यनुपालन—राजाओं को वृद्ध मनुष्यों की संगति-रूपी सम्पदा से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ज्ञान से अपनी बुद्धि सुसंस्कृत करना चाहिए (३८.२७२)। यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो हित अहित का जानकार न होने से बुद्धिभ्रष्ट हो जाएगा (३८.२७३)। इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थों के हित-अहित के ज्ञान को बुद्धि कहते है।[८५] अविद्या का नाश करने से उस बुद्धि का पालन होता है। मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते है और अतत्त्वों मे तत्त्व-बुद्धि का होना मिथ्या ज्ञान है।[८६]

आत्मानुपालन—इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायों से आत्मा की रक्षा करना आत्मा का पालन कहलाता है।[८७] राजा की रक्षा होने पर सबकी रक्षा हो जाती है (३८.२७५)। विष, शस्त्र आदि अपायो से रक्षा करना तो बुद्धिमानों को विदित है; परलोक सम्बन्धी अपायों से रक्षा धर्म के द्वारा ही हो सकती है, क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियों का प्रतिकार है।[८८] धर्म ही अपायों से रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देता है, धर्म ही परलोक मे कल्याण करने वाला है और धर्म से ही इस लोक मे आनन्द प्राप्त होता है।[८९] जिस राज्य के लिए पुत्र तथा सगे भाई भी निरन्तर शत्रुता किया करते है, जिसमे बहुत से अपाय है, वैसा राज्य बुद्धिमान पुरुषो को अवश्य छोड़ देना चाहिए।[९०] मानसिक खेद की बहुलता वाले राज्य मे सुखपूर्वक नहीं रहा जा सकता, क्योंकि निराकुलता ही सुख है। जिसका अन्त अच्छा नही है, जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते है ऐसे राज्य में सुख का लेश भी नही होता। सब ओर से शंकित रहने वाले पुरुष को राज्य मे भारी दुःख बना रहता है, अतः विद्वान् पुरुष को अपथ्य औषधि के समान राज्य का परित्याग कर देना चाहिए और पथ्य भोजन के समान तपश्चरण करना चाहिए। अतः राज्य के विषय मे पहले ही विरक्त होकर भोगोपभोग का त्याग कर दे; यदि वह ऐसा करने मे असमर्थ हो तो अन्त समय में उसे राज्य के आडम्बर का अवश्य त्याग कर देना चाहिए। यदि काल को जानने वाला निमित्तज्ञानी अपने जीवन का अन्त बतला दे अथवा अपने आप ही निर्णय हो जाए तो उस समय से शरीर परित्याग की बुद्धि धारण करे; क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्याग से ही इहलोक में कीर्ति और परलोक में ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है।[९१] आत्मा का स्वरूप न जानने वाला जो क्षत्रिय अपनी आत्मा की रक्षा नही करता उसकी विष, शस्त्र आदि से अवश्य ही अपमृत्यु होती है अथवा शत्रुगण तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित सेवकों से उसका अवश्य ही विनाश होता है और अपमृत्यु से मरा प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाई से पार होने योग्य इस संसाररूपी आवर्त में पड़कर दुर्गतियों का पात्र होता है।[९२]

प्रजापालन - जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर प्रयत्नपूर्वक गायो की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा का रक्षण करना चाहिए।[९३] उसके रक्षण कार्य की कुछ रीतियां निम्नलिखित है, जिन्हे ग्वाले के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है :—

१. अनुरूप दण्ड—यदि गायो के समूह में से कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वाला अंगच्छेदन आदि कठोर दण्ड न देकर अनुरूप दण्ड से नियन्त्रित करके उसकी रक्षा ही करता है, उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा की रक्षा करे। कठोर दण्ड देने वाला राजा अपनी प्रजा को अधिक उद्विग्न कर देता है, इसलिए प्रजा उसे छोड़ देती है तथा मन्त्री आदि भी विरक्त हो जाते है।[९४]

२. मुख्य वर्ग की रक्षा—जिस प्रकार ग्वाला अपनी गायो के समूह में मुख्य पशुओं के समूह की रक्षा करता हुआ पुष्ट (सम्पत्तिवान्) होता है; क्योंकि गायों की रक्षा करके ही वह विशाल गोधन का स्वामी हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्ग की प्रमुख रूप से रक्षा करता हुआ अपने और दूसरे के राज्य में पुष्टि को प्राप्त होता है।[९५] जो राजा अपने मुख्य बल से पुष्ट होता है वह बिना किसी यत्न के समुद्रान्त पृथ्वी को जीत लेता है।[९६]

३. घायल और मृत सैनिकों की रक्षा—यदि प्रमाद

८५-८६. ४२.३१-३२ ८७. ४२.११३ ९२. ४२.१३४-१३५, ३८.२७६
८८-८९. ४२.११४-११६ ९०-९१. ४२.११८, ११९-२४ ९३-९४. ४२.१३९-१४२ ९५-९६. ४२.१४३-१४५

से किसी गाय का पैर टूट जाए तो ग्वाला उपचार आदि से उस पैर को जोड़ता है, गाय को बांधकर रखता है, बँधी हुई गाय को तृण देता है और उसके पैर को मजबूत करने का प्रयत्न करता है तथा पशुओं पर अन्य उपद्रव आने पर भी वह उसका शीघ्र प्रतिकार करता है। इसी प्रकार, राजा भी अपनी सेना में घायल योद्धा को उत्तम वैद्य से औषधि दिलाकर उसकी विपत्ति का प्रतिकार करे और वह वीर जब स्वस्थ हो जाए तो उसकी आजीविका की व्यवस्था करे। ऐसा करने से भृत्यवर्ग सदा सन्तुष्ट रहता है। जैसे ग्वाला गांठ से गाय की हड्डी के विचलित हो जाने पर उस हड्डी को वही जमाता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है, वैसे ही राजा को भी संग्राम मे किसी मुख्य भृत्य के मर जाने पर उसके पद पर उसके पुत्र अथवा भाई को नियुक्त करना चाहिए। ऐसा करने से भृत्यगण राजा को कृतज्ञ मानकर अनुराग करने लगते है और अवसर पडने पर निरन्तर युद्ध करते रहते हैं।[९७]

४. सेवकों की दरिद्रता का निवारण तथा सम्मान—जैसे गायो के समूह को कोई कीड़ा काट लेता है तो ग्वाला योग्य औषधि देकर उसका प्रतिकार करता है, वैसे ही राजा भी अपने सेवक को दरिद्र अथवा खेदखिन्न जान उसके चित्त को सन्तुष्ट करे। जिस सेवक को उचित आजीविका प्राप्त नही होती है वह अपने स्वामी के इस प्रकार के अपमान से विरक्त हो जाएगा, अत: राजा कभी अपने सेवक को विरक्त न करे। सेवक की दरिद्रता को घाव मे कीड़े उत्पन्न होने के समान जानकर राजा को शीघ्र उसका प्रतिकार करना चाहिए। सेवको को अपने स्वामी से उचित सम्मान प्राप्त कर जैसा सन्तोष होता है वैसा सन्तोष बहुत धन देने पर भी नही होता है। जैसे ग्वाला अपने पशुओं के झुण्ड मे किसी बड़े बैल को अधिक भार वहन करने में समर्थ जानकर उसके शरीर की पुष्टि के लिए नाक मे तेल आदि डालता है वैसे ही राजा भी अपनी सेना मे किसी योद्धा को अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सम्मानित करे। जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करने वाले वीर पुरुष को उसके योग्य सत्कारों मे सन्तुष्ट रखता है उसके भृत्य सदा उस पर अनुरक्त रहते है और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते।[९८]

५. योग्य स्थान पर नियुक्ति—ग्वाला अपने पशुओं के समूह को कांटों और पत्थरो से रहित तथा सर्दी-गर्मी की बाधा से शून्य वन मे चराता हुआ प्रयत्नपूर्वक उनका पोषण करता है। इसी प्रकार, राजा को भी अपने सेवकों को किसी उपद्रवहीन स्थान मे रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। यदि वह ऐसा नही करेगा तो राज्य आदि का परिवर्तन होने पर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा उसके इन सेवको को पीड़ा देने लगेंगे।

६. कण्टकशोधन—राजा को चाहिए कि वह चोर, आदि की आजीविका बलात् नष्ट कर दें; क्योंकि कांटों के दूर करने से ही प्रजा का कल्याण संभव है।[१००]

७. सेवकों की आजीविका—जैसे ग्वाला नवजात बछड़े को एक दिन तक माता के साथ रखता है, दूसरे दिन दयायुक्त हो उसके पैर मे धीरे-से रस्सी बांधकर खूंटी से बांधता है, उसकी जरायु तथा नाभि के नाल को बड़े यत्न से दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होने की शंका होने पर उसका प्रतिकार करता है और दूध पिलाकर उसे प्रतिदिन बढ़ाता है, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि वह आजीविका के हेतु अपनी सेवा मे आगत सेवक को उसके योग्य आदर-सम्मान से सन्तुष्ट करे और जिन्हें स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिए क्लेश सहन करते है, ऐसे सेवको की प्रशस्त आजीविका आदि का विचार कर उनके साथ योग-क्षेम का प्रयत्न करे।[१०१]

८. योग्य पुरुषों की नियुक्ति—शकुन आदि का निश्चय करने मे तत्पर ग्वाला जब पशुओं को खरीदने के लिए तैयार होता है तब वह (दूध आदि की) परीक्षा कर उपयुक्त पशु खरीदता है, उसी प्रकार राजा को भी परीक्षा किए हुए उच्चकुलीन सेवकों को प्राप्त करना चाहिए और आजीविका के मूल्य से खरीदे हुए उन सेवकों को समयानुसार योग्य कार्यों मे लगा देना चाहिए, क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार पशुओ के खरीदने मे किसी को प्रतिभू (साक्षी) बनाया जाता है, उसी प्रकार सेवको के संग्रह में

९७. ४२.१४६-१५२ ९८. ४२.१५३.१६० ९९-१००. ४२.१६१-१६६ १०१. ४२.१६१-१६६

किसी बलवान पुरुष को प्रतिभू बनाना चाहिए।[१०२]

९. कृषि कार्यों में योग—जैसे ग्वाला प्रहरमात्र रात्रि शेष रहने पर उठकर जहां बहुत घास और पानी होता है, ऐसे किसी योग्य स्थान मे गायों को प्रयत्नपूर्वक चराता है तथा सबेरे ही वापिस लाकर बछड़े के पीने से बचे हुए दूध को मक्खन आदि प्राप्त करने की इच्छा से दुह लेता है, उसी प्रकार राजा को भी आलस्यरहित होकर अपने अधीन ग्रामों मे बीज देने आदि उपायों द्वारा किसानों से खेती करानी चाहिए। वह अपने समस्त देश में किसानों द्वारा भली भाँति खेती कराकर धान्य का संग्रह करने के लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अश ले। ऐसा होने से उसके भंडार आदि मे बहुत-सी सम्पदा इकट्ठी हो जाएगी। उससे उसका बल बढ़ेगा तथा सन्तुष्ट करने वाले उन धान्यों से उनका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली होगा।[१०३]

१०. अक्षरम्लेच्छों को वश में करना—अपने आश्रित स्थानो पर प्रजा को दुख देने वाले जो अक्षरम्लेच्छ है, उन्हें कुलशुद्धि प्रदान करने आदि उपायों से अपने अधीन करना चाहिए। अपने राजा से सत्कार पाकर वे फिर उपद्रव नही करेंगे। यदि राजाओं से उन्हें सम्मान प्राप्त नही होगा तो वे प्रतिदिन कुछ न कुछ उपद्रव करते रहेगे।[१०४] जो अक्षरम्लेच्छ अपने ही देश मे सचार करते हो, उनसे राजा को कृषको की तरह कर अवश्य लेना चाहिए।[१०५] जो अज्ञान के बल पर अक्षरों द्वारा उत्पन्न अहकार को धारण करते है, पापसूत्रो से आजीविका चलाते है वे अक्षरम्लेच्छ है। हिंसा करना, मास खाने में रुचि रखना, बलपूर्वक दूसरे का धन अपहरण करना और धूर्तता ही म्लेच्छो का आचार है।[१०६]

११. प्रजारक्षण—राजा को तृण के समान तुच्छ पुरुष का भी रक्षण करना चाहिए (४४.४५)। जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधन की व्याघ्र, चोर आदि के आतंक से रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा का रक्षण करना चाहिए। जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओं के देखने की इच्छा से राजा के आने पर भेंट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदा के द्वारा उसे सन्तुष्ट करता है, उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्य के सम्मुख आए तो वृद्ध लोगों के साथ विचार कर उसे कुछ देकर उसके साथ संधि कर लेनी चाहिए। चूंकि युद्ध बहुत से लोगो के विनाश का कारण है, उससे बहुत हानि होती है और उसका भविष्य भी बुरा होता है, अतः कुछ देकर बलवान शत्रु के साथ संधि करना उपयुक्त है।[१०७]

१२. सामंजस्य-धर्म का पालन—राजा अपने चित्त का समाधान कर जो दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करता है वही उसका सामञ्जस्य गुण कहलाता है। जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र का निग्रह करता है, जो किसी का पक्षपात नही करता, जो दुष्ट और मित्र सभी को निरपराध बनाने की इच्छा करता है और इस प्रकार माध्यस्थ भाव रखकर जो सब पर समान दृष्टि रखता है वह समंजस कहलाता है। प्रजा को विषम दृष्टि से न देखना तथा सब पर समान दृष्टि रखना सामञ्जस्य धर्म है। इस समजतत्व गुण से ही राजा को न्यायपूर्वक आजीविका चलाने वाले शिष्ट पुरुषों का पालन और अपराध करने वाले दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिए। जो पुरुष हिंसादि दोषो मे तत्पर रहकर पाप करते हैं, वे दुष्ट हैं और जो क्षमा, सन्तोष आदि के द्वारा धर्म धारण करने मे तत्पर है, वे शिष्ट हैं।[१०८]

१३. दुराचार का निषेध—दुराचार का निषेध करने से धर्म, अर्थ और काम तीनों की वृद्धि होती है, क्योकि कारण के विद्यमान होने पर कार्य की हानि नही देखी जाती।[१०९]

१४. लोकापवाद का भय—राजा को लोकापवाद से डरते हुए कार्य करना चाहिए, क्योंकि लोक यश ही स्थिर रहने वाला है, सम्पत्ति तो विनाशशील है[११०]।

इस प्रकार हम देखते है कि आदिपुराण मे विस्तार-पूर्वक राज्यधर्म या राजा के कर्तव्यो का वर्णन किया गया है। नवीं शताब्दी के इस आदिपुराण में वर्णित राज्यधर्म के आदर्श वर्तमानकालीन लोकतत्र के लिए भी बड़े उपयोगी हैं। □□

---

१०२. ४२.१७०-१७३ १०३. ४२.१७४-१७८ १०७. १९३-१९६ १०८. ४२.१९९-२०३
१०४-१०५. ४२.१७९-१८१ १०६. ४२.१८३-१८४ १०९. ४४.९६ ११०. ३४.२६

कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमाएं

☐ श्री शिवकुमार नामदेव

कारीतलाई, मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले की मुड़वारा तहसील से २६ मील उत्तर-पूर्व मे कैमूर की पूर्वीय पर्वतमालाओं मे स्थित है। प्राचीन काल में यह स्थान कर्णपुर के नाम से विख्यात था। यहां से उपलब्ध बहुसंख्यक हिन्दू, जैन एवं बौद्ध प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी हैं कि यहां हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों के साथ-साथ जैन-धर्म का भी व्यापक प्रचार रहा है।

कारीतलाई से प्राप्त जैन द्विमूर्तिका प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इनमें से प्रत्येक में दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में है। उनकी दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित है। इन द्विमूर्तिका प्रतिमाओं में तीर्थंकर के साथ अष्टप्रातिहार्यों के अतिरिक्त तीर्थंकर का लांछन एवं उनके शासन देवताओं की भी मूर्तियां हैं। जहां तक प्रतिमा द्रव्य का प्रश्न है, अधिकांश प्रतिमायें श्वेत बलुआ पाषाण की हैं।

ऋषभनाथ एवं अजितनाथ

भगवान् ऋषभनाथ एवं अजितनाथ की यह प्रतिमा श्वेत बलुआ पाषाण की है और कायोत्सर्गासन में ध्यानस्थ है। प्रथम एव द्वितीय दोनों तीर्थकरो के मुख तथा हस्त खंडित हो गए है। दोनों के हृदय पर श्रीवत्स चिह्न है तथा प्रभामण्डल भी अलग-अलग है। त्रिछत्र, दुन्दुभिक, हुस्ति एव पुष्पवृष्टि करते हुए विद्याधरों का अकन कलात्मक है। दोनों के परिचारक इन्द्र एवं पूजक अलग-अलन है। चौकियों पर सिंहयुग्म अंकित है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ की चौकी पर उनका लांछन वृषभ एवं यक्ष-यक्षी गोमुख तथा चक्रेश्वरी हैं। तीर्थंकर अजितनाथ की चौकी पर हस्ति एवं यक्ष-यक्षी महायक्ष तथा रोहिणी का अंकन है। प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से उक्त प्रतिमा का काल दसवीं शती ई० ज्ञात होता है। प्रतिमा ३'.७" ऊँची है।

अजितनाथ एवं संभवनाथ

द्वितीय जैन तीर्थंकर अजितनाथ एव तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ की इस ४'.७" ऊँची द्विमूर्तिका में दोनों तीर्थंकर कायोत्सर्गासन में स्थित हैं। दोनों के हाथ एव मस्तक खण्डित है। उनके मस्तक के पीछे प्रभामण्डल, एक-एक छत्र, एक-एक दुंदुभिक, हाथियों के युग्म एवं पुष्पमालायें लिए विद्याधर अंकित हैं। उनके अलग-अलग परिचारक के रूप में सौधर्म और ईशान चन्द्र चंवर धारण किये खड़े हैं। तीर्थकरों के चरणों के निकट भक्तजन उनकी अर्चा करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। तीर्थंकरों को अलग-अलग पादपीठ पर खड़े हुए दिखलाया गया है। अजितनाथ के पादपीठ पर हस्ति एवं संभवनाथ के पादपीठ पर वानर अंकित हैं। दोनो के साथ उनके यक्ष-यक्षी क्रमशः महायक्ष एवं रोहिणी तथा त्रिमुख एवं प्रज्ञप्ति हैं। चौकी पर सिंहों के जोड़े एवं धर्मचक्र है। प्रतिमा दसवीं शती की है।

पुष्पदंत एवं शीतलनाथ

३'.७" ऊँची, श्वेत बलुआ पाषाण की इस द्विमूर्तिका में नवें एवं दसवें तीर्थंकर पुष्पदन्त एवं शीतलनाथ कायोत्सर्गासन में ध्यानस्थ हैं। पुष्पदंत का दक्षिण एवं शीतलनाथ का वामहस्त खण्डित है। चौकियों पर उनके लांछन क्रमशः मकर एवं श्रीवत्स बने है। पुष्पदंत का यक्ष अभिजित एवं यक्षी महाकाली तथा शीतलनाथ का यक्ष ब्रह्म एवं यक्षी मानवी अंकित हैं।

धर्मनाथ एवं शांतिनाथ

महंत घासीराम स्मारक संग्रहालय, रायपुर (क्रमांक २५३१) में संरक्षित ३'.७" ऊँची दसवीं सदी में निर्मित इस द्विमूर्तिका में १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ एवं सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ कायोत्सर्गासन में हैं। धर्मनाथ की चौकी पर उनका लांछन वज्र एवं शांतिनाथ की चौकी पर उनका लांछन मृग उत्कीर्ण है। धर्मनाथ के यक्ष

किन्नर एवं यक्षी मानसी तथा शांतिनाथ के यक्ष गरुड और यक्षी महामानसी प्रतिमा के साथ अंकित है।

मल्लिनाथ एवं मुनिसुव्रतनाथ

इस द्विमूर्तिका में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ एव बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ कायोत्सर्ग ग्रासन मे ध्यानस्थ है। दोनों के हृदय पर श्रीवत्स अकित है। केश घुंघराले और कर्णलोर लंबी है। दोनों के परिचारक अलग-अलग है। मल्लिनाथ का दक्षिण एवं मुनिसुव्रतनाथ का वाम हस्त खण्डित है। अलग-अलग चारण, चौकियों पर लटकती हुई झूल पर कलश एवं कच्छप चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते है। मल्लिनाथ की चौकी पर उनका यक्ष कुबेर और यक्षी अपराजिता तथा मुनिसुव्रतनाथ की चौकी पर उनके यक्ष वरुण और यक्षी बहुरूपिणी ललितामन में स्थित है।

पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ

पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ की यह द्विमूर्तिका भी संभवतः कारीतलाई से उपलब्ध हुई है। सम्प्रति यह प्रतिमा फिलाडेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट मे सरक्षित है। कृष्ण-बादामी बलुआ पाषाण से निर्मित १०वी सदी की इस द्विमूर्तिका मे पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग आसन मे है। पार्श्वनाथ के मस्तक पर फैले हुए सात फणों का छत्र है। नेमिनाथ का लांछन शंख है। तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों मे भक्त एव चंवर लिए हुए परिचारक है। मस्तक के ऊपर छत्रावलि के दोनों पार्श्वों पर हस्तियों का अकन है।

अंबिका एव पद्मावती

रायपुर-संग्रहालय मे किसी एक जैन देवालय के चौखट का खण्ड संरक्षित है। उसकी दाहिनी ओर के अर्ध भाग मे कोई तीर्थंकर पद्मासनस्थ है। उनके दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ हैं। धुर छोर पर मकर एवं पुरुष है। बायी ओर एक विद्याधर अकित है एव नीचे ताख मे अम्बिका एवं पद्मावती एक साथ ललितासन मे है। दोनों देवियां क्रमशः नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की यक्षिणियां हैं। अबिका की गोद में बालक और पद्मावती के मस्तक पर सर्प का फण है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि कारीतलाई से प्राप्त जैन द्विमूर्तिका प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से सुन्दर है। प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर विवेच्य प्रतिमाओ का काल १०वी-११वीं सदी है। उक्त समयावधि में यह भूभाग मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवंश कलचुरियों के अन्तर्गत था। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये प्रतिमाएँ त्रिपुरी के कलचुरि-नरेशों के काल की है। यद्यपि कलचुरि-नरेश शैवमतानुयायी थे, परन्तु उनके काल मे अन्य धर्मों का भी पर्याप्त प्रभाव था, जो उनकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है।

प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन

जैन प्रतिमाओं में तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण अति प्राचीनकाल से होता रहा है। तीर्थंकर प्रतिमाओं में साम्य होने पर भी उन्हे उनके लांछन, वर्ण, शासनदेवता एवं केवलवृक्ष के आधार पर अलग-अलग समझा जा सकता है।

प्रायः सभी प्रतिमाशास्त्रीय ग्रथों में तीर्थंकरों के लांछन के विषय में मतैक्य है, परन्तु शासन देव-देवियों आदि के विषय में मतैक्य नही है। कारीतलाई से प्राप्त ऋषभनाथ एवं अजितनाथ की द्विमूर्तिका में ऋषभनाथ के यक्ष-यक्षी गोमुख एवं चक्रेश्वरी उत्कीर्ण है। यद्यपि अधिकाश ग्रथों जैसे रूपमण्डन, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोश, दिगम्बर जैन आइकोनोग्राफी (वर्जेश) एव हरिवशपुराण के अनुसार ऋषभनाथ का शासनदेव गोमुख बतलाया गया है, किन्तु अपराजितपृच्छा एवं वास्तुसार के अनुसार वह वृषवक्त्र है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि उक्त प्रतिमा के निर्माण का आधार अपराजितपृच्छा एवं वास्तुसार न होकर प्रथम पाच ग्रंथ थे।

कारीतलाई से प्राप्त मूर्ति अंबिका की गोद में बालक एवं पद्मावती के मस्तक पर सर्प-फण है। प्रतिमाशास्त्रीय ग्रथों के अनुसार, अबिका के वर्णन में अन्तर है। रूपमण्डन (६।१९) के अनुसार, अबिका का वर्ण पीत और आयुध नाग-पाश-अंकुश और चतुर्थ हस्त मे पुत्र बताया गया है। अपराजितपृच्छा (२२१-२२) में अंबिका को द्विभुजी और उसका वर्ण हरा बताया गया है। इनके दोनों हाथों में से एक में फल और दूसरा वरमुद्रा में बताया गया है। 'नेमिनाथचरित' (जैन आइकोनोग्राफी, पृ० १४२) में अबिका के दाहिने हाथ में पुत्र और दूसरे मे अंकुश बताया

गया है। इस प्रकार, हम देखते है कि रूपमडन एव नेमिनाथचरित मे बालक का होना बताया है जो कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमा मे है।

पार्श्वनाथ की यक्षी पद्मावती का वाहन अपराजितपृच्छा के अनुसार कुक्कुट, वास्तुसार के अनुसार सर्प एवं प्रतिष्ठासारोद्धार, अभिधान चिंतामणि, अमरकोश, दिगंबर जैन आइकोनोग्राफी एवं हरिवंशपुराण के अनुसार भैंसा बताया गया है। परन्तु कारीतलाई से प्राप्त पद्मावती के मस्तक पर वास्तुसार के ही अनुरूप सर्पफण है।

प्रतीकशास्त्रीय अध्ययन

भारतीय मूर्तिकला में प्रतीक के रूप मे पशु-पक्षी, मानव, अर्धदेव, लता, वनस्पति, अचेतन पदार्थ, शस्त्रास्त्र आदि को स्थान दिया गया है। इन प्रतीकों के अध्ययन से भारतीय कला के अनेक रूपों को समझा जा सकता है। प्रत्येक प्रतीक के पूर्व और अग्रिम इतिहास को जाने बिना भारतीय कला का मर्म एवं अर्थ समझना कठिन है।

देवी और देवताओ की प्रतिमाओ का लक्षण निश्चित करते समय धार्मिक प्रतीकों की आवश्यकता हुई। इसके लिए धार्मिक आचार्यो और शिल्पियों ने प्राचीन मांगलिक चिह्नों पर ध्यान दिया और उन्हे विभिन्न देवमूर्तियों के लिए स्वीकार किया, जैसे चक्र, सिंह और श्रीवत्स आदि को तीर्थंकर प्रतिमाओं मे। तीर्थकरों के हृदय पर श्रीवत्स अर्थात् चक्रचिह्न रहता है। यह धर्मचक्र है। इनके आसन के नीचे अंकित प्रतीक धारणधर्मा धर्म के प्रतीक है। प्रत्येक जिन की माता ने इनके जन्म के पूर्व स्वप्न मे कुछ-न-कुछ देखा था। यही देखी हुई वस्तु उस जिन का प्रतीक है। प्रत्येक जिन ने किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे केवल-ज्ञान प्राप्त किया था। वह ज्ञानवृक्ष कहलाता है।

उपरिवर्णित ऋषभनाथ एव अजितनाथ की द्विमूतिका प्रतिमा में से ऋषभनाथ की चोकी पर उनका लाछन वृषभ अंकित है। वृषभ धर्म का प्रतीक माना जाता है। उनके हृदय पर धर्म का प्रतीक श्रीवत्स अंकित है। दोनों के मस्तक के पीछे लगा हुआ प्रभामण्डल धर्मचक्र का प्रतीक है। यह वेद का कालचक्र है जो काल एवं धर्मचक्र के रूप मे हिन्दू, जैन एव बौद्धधर्म से सम्बद्ध है। दोनों के मस्तक पर तीन छत्रोवाला छत्र है जो त्रिशक्ति या तीन लोक के चक्रवर्तित्व का प्रतीक है। तीर्थंकर अजितनाथ की चौकी पर उत्कीर्ण उनका लाछन हस्ति आध्यात्मिक गौरव और वैभव का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रत्येक जिन का लाछन अंकित है। प्रतिमा-शास्त्र की दृष्टि से इन लाछनो का विशेष महत्त्व है। □□

(पृष्ठ २१२ का शेषांश)

सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति को विकसित करने के लिए कर्मशास्त्रीय अध्ययन भी बहुत मूल्यवान है। हमारे पौद्गलिक शरीर के भीतर एक कर्म शरीर है। वह सूक्ष्म है। उसकी क्रियायें स्थूल शरीर के प्रतिबिम्बो की सूक्ष्मतम व्याख्या कर सकते है और उनके कार्य-कारण भाव का निर्धारण भी कर सकते है।

मन की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसकी पृष्ठभूमि में रही हुई चेतना के विभिन्न परिवर्तनों और चेतना को प्रभावित करने वाले बाहरी तत्त्वों का अध्ययन कर हम निरीक्षण की क्षमता को नया आयाम दे सकते है।

इस समन्वित अध्ययन की परम्परा को गतिशील बनाने के लिए दार्शनिक को केवल तर्कशास्त्री होना पर्याप्त नहीं है। उसे साधक भी होना होगा। उसे चित्त की निर्मलता भी अर्जित करनी होगी। बहुत सारे वैज्ञानिक भी साधक होते है और वे तपस्वी जैसा निर्मल जीवन जीते है। जो सत्य की खोज मे निरत होते है, उनके मन मे कलुषतायें नही रहती, और यदि वे रहती है तो पग पग पर बाधायें उपस्थित करती है। सत्य की खोज के लिए निरीक्षण पद्धति का विकास आवश्यक है और उसके विकास के लिए चित्त की निर्मलता और एकाग्रता आवश्यक है। आज के वैज्ञानिक वातावरण मे निरीक्षण के द्वारा उपलब्ध प्रमेयो का परीक्षण भी होना चाहिए। विज्ञान को दर्शन का उत्तराधिकार मिला है, अत. दर्शन और विज्ञान मे दूरी का अनुभव क्यों होना चाहिए। निरीक्षण के पश्चात् परीक्षण और फिर तर्क का उपयोग इस प्रकार तीनों पद्धतियो का समन्वित प्रयोग हो तो दर्शन पुन: प्राणवान हो अपने पितृस्थान को प्रतिष्ठापित कर सकता है। इस भूमिका मे न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र का भी उचित मूल्याकन हो सकेगा। □□

कालिदास के काव्यों में अहिंसा और जैनत्व

□ श्री प्रेमचन्द रांवका

संस्कृत वाङ्मय में महाकवि कालिदास का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा इस महाकवि ने संस्कृत-साहित्य का भण्डार भरकर संस्कृत-जगत् को उपकृत किया और स्वयं भी अमर हो गया। इस अमर कवि के काव्य के माधुर्य-प्रवाह से भारतीयों के सरस हृदय ही परिप्लावित नहीं हुए हैं, अपितु पाश्चात्य पण्डितों के चित्त भी पूर्णरूप से सरसीकृत है।

विद्वान् इतिहासकारों ने कविवर कालिदास का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी—ईसा से लगभग ५०–६० वर्ष पूर्व का माना है। वह सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था। कवि के मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय नाटक इस तथ्य के साक्षी हैं। कालिदास के समय में जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रभाव था। इस विषय में बागीश्वर विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'कालिदास और उसकी काव्यकला' में लिखा है कि उस समय आर्य लोग प्रकृति की शक्तिरूप अदृश्य परमात्मा, आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास रखते थे। कालान्तर में यज्ञों में धीरे-धीरे पशुहिंसा का समावेश हुआ और जब वह बहुत बढ़ गई तो समाज में उसके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई। उस प्रतिक्रया का एक रूप वह ज्ञान-मार्ग था, जिसकी झाँकी उपनिषदों तथा आस्तिक दर्शनों के चिन्तन में मिलती है। दूसरा रूप अहिंसावादी जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव था। इन धर्मों के आचार्य बड़े प्रतिष्ठित कुलों के क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका व्यक्तित्व आकर्षक एव प्रभावशाली था और उन्होंने अपने प्रचार का माध्यम भी लोक-भाषा को बनाया, अत: उनकी शिक्षायें शीघ्र ही सारे देश में फैल गई।

महाकवि कालिदास शैव होते हुए भी जैनधर्म की शिक्षाओं से बहुत प्रभावित थे। रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तल और कुमारसम्भव आदि कृतियां इस तथ्य की प्रमाण हैं। रघुवंश इस कवि का प्रमुख महाकाव्य है। इस काव्य में राजा रघु का विशेष महत्त्व है। उसी के नाम से आगे चलने वाले वश का नाम रघुवंश पड़ा। उस वंश में उत्पन्न व्यक्ति राघव कहलाये। दिलीप तथा उसकी रानी सुदक्षिणा ने बड़ी साधना तथा व्रत करके रघु-सा पुत्र प्राप्त किया था। दिलीप ने जब अश्वमेघ यज्ञ का घोड़ा छोड़ा तो उसका रक्षक इस रघु को ही नियुक्त किया। घोड़े को इन्द्र ने हर लिया तो रघु ने उससे भी लोहा लिया और उसके दात खट्टे कर दिए। इन्द्र गुणज्ञ था। वह रघु के पराक्रम से प्रसन्न हुआ और उसने घोड़े के अतिरिक्त कुछ भी मांगने के लिए रघु से कहा। इस पर रघु ने प्रार्थना की कि यदि आप घोड़ा नहीं देना चाहते है तो मेरे पिता को उसके बिना ही अश्वमेघ यज्ञ का समग्र फल प्राप्त हो जाए, यह वर दीजिए।

यद्यपि इससे रघु के असाधारण बल-पराक्रम का पता चलता है, किन्तु क्या यह सम्भव नही कि शैव होते हुए भी कवि यज्ञों में होने वाली निरीह पशुओं की निर्मम हत्या को पसन्द नही करता? इसीलिए नायक की प्रतिष्ठा के साथ उसने अपनी अहिंसात्मक भावना को भी प्रकाशित करना अभीष्ट समझा।

कवि ने रघुवश के दूसरे सर्ग मे भी सिंह वाले प्रसग की रचना कर एक गाय (कामधेनु) की रक्षा के लिए दिलीप को अपनी देह प्रस्तुत करने के लिए उद्यत दिखलाया है। रघुवश के ही पांचवे सर्ग में हम पढते है कि स्वयंवर मे भाग लेने के लिए रघु का पुत्र अज विदर्भ जा रहा था। रास्ते मे उसके पड़ाव पर एक जगली हाथी टूट पड़ा। 'हाथी मर न जाए' इस बात का विचार कर, केवल उसे डराने के उद्देश्य से अज ने एक साधारण-सा तीर उस पर छोड़ा। तीर के लगने मात्र से हाथी गन्धर्व का रूप धारण कर अज के सम्मुख उपस्थित हो गया और बोला कि मैं प्रियवद नामक गन्धर्व हूं, जो मातङ्ग नामक ऋषि के शाप से हाथी बन गया था। तुमने क्षत्रिय के कर्तव्य का पालन करते हुए भी दया नहीं छोड़ी और मेरे प्राण नही लिए। अत: मैं आज से तुम्हारा मित्र हूं और इस मित्रता को स्मरणीय बनाने के लिए

तुम्हें यह सम्मोहन नामक अस्त्र देता हूं जो बिना हिंसा किए शत्रुओं को पराजित करने वाला है —

सम्मोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गांधर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ।।

—रघु० ५.५७

इसी प्रकार, रघुवंश के सातवें सर्ग में अज ने अपने शत्रुओं पर उस सम्मोहन अस्त्र का प्रयोग कर उन्हें हरा दिया, किन्तु मारा नहीं —

यशोहृतं सम्प्रति राघवेण न जावितं वः कृपयेतिवर्णा ।

—रघु० ७.६५

इन सब प्रकरणो से कविवर कालिदास की प्राणिमात्र के प्रति दया व अहिंसा की उत्कृष्ट भावना प्रकट होती है।

यही कारण है कि कविवर कालिदास ने दशरथ के उस शिकार खेलने की निन्दा की है, जिसमे उसके हाथो श्रवणकुमार का वध हो गया था। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल के दूसरे अंक मे भी माधव्य के मुख से शिकार खेलने को बुरा ठहराया है —**मन्दोत्साहः कृतोस्मि मृगयापवादिना माधव्येन**। इसी नाटक के छठे अंक में कोतवाल ने मछुवे के व्यवसाय को बुरा कह कर उसका मजाक किया है और फिर उसके मुह से यज्ञ में पशु मारने वाले 'श्रोत्रिय ब्राह्मण' के रूप मे व्यग्य से कटाक्ष किया गया है।

इससे तो इनकार नही किया जा सकता कि उस समय शिकार खेला जाता था। यज्ञो मे पशु-हिंसा की जाती थी। किन्तु यह सब कालिदास को रुचिकर न था। उस युग मे बलात् ठूसी गई अहिंसा के प्रति विद्रोह भावना होने पर भी भारतीय नागरिक के हृदय पर अहिंसा की गहरी छाप अवश्य पड़ गई थी। इसमे आश्चर्य नही कि कवि कालिदास की इस अहिंसा, प्रेम और दया की भावना के अन्तस्तल मे जैनधर्म का प्रभाव अन्तर्निहित है।

कवि ने अनेक स्थानो पर जैनों के आराध्य 'अर्हन्' शब्द का प्रयोग बड़े आदर पूवक किया है जो इस प्रसंग में विचारणीय है—

१. "**तवाहतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।**

—रघु० ५.११

२. **स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।**
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ।।

—रघु० ५.२५

३. **अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ।** —रघु० १.५५

४. **अद्यप्रभृति भूतानामभिगम्योस्मि शुद्धये ।**
यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ।।

—कुमारसम्भव, ६.५६

ये सब तथ्य स्पष्ट करते है कि महाकवि कालिदास अहिंसा-अनुरागी थे और जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्तो मे उनका अपना विश्वास एव आदर था। कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग में पार्वती की कठोर तपस्या का जो सुन्दर चित्रण कवि ने किया है और रघुवंश के आठवें सर्ग के अन्त में अज द्वारा आमरण उपवास करते हुए उसके शरीर-त्याग का जो वर्णन किया है, वह उस समय के समाज पर जैन धर्म के प्रभाव को ही सूचित करता है।

कालिदास के समय जैन धर्म हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि का विरोधी होते हुए भी सुधारवादी था, क्रान्तिकारी नही। उसने आचार की शुद्धता, कठोर तप एव सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा अपरिग्रह पर विशेष बल दिया समाज मे फैली हुई बुराइयो को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न किया कि उसका यह कार्य किसी को खटका नहीं; जब कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओ ने तात्कालिक समाज के मूल आधार पर ही कुठाराघात कर दिया, जिससे सब सामाजिक बधन टूट गये। समाज इस अवस्था को अधिक न सह सका और उसके विरोध का परिणाम यह हुआ कि भारत से बौद्ध धर्म बिलकुल ही लुप्त हो गया। जैनधर्म मे दीक्षित होने वालो को खान-पान, रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में कठोर नियमो का पालन करना पड़ता था। अतः अवसरवादी अवांछनीय व्यक्तियों के लिए उसमें कोई आकर्षण न था। इसलिए यद्यपि जैन धर्म का प्रचार उतना अधिक नही हुआ, जितना बौद्ध धर्म का, किन्तु वह आज भी जीवित है तथा भारतीय समाज पर उसका प्रभाव चिरस्थायी है। वर्तमान भारतीय समाज मे जो व्रत-उपवास तथा अहिंसा की परंपरा पाई जाती है उसका बहुत कुछ श्रेय जैनधर्म को ही है।

□□

मध्य युग में जैन धर्म और संस्कृति

☐ कुमारी रश्मिबाला जैन, एम० ए०, नई दिल्ली

मध्य युग में भक्ति का प्राधान्य रहा। सभी धर्मों में भक्ति के कारण अनेक विकासपथ निर्मित हुए। मध्य काल के साहित्य का स्वर धर्म और भक्ति ही था। उस काल के साहित्य में हमें वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के विकास और परिवर्तन के विविध रूप दृष्टिगोचर होते है। मध्य युग में वैदिक धर्म ने विशेषतया से दार्शनिक क्षेत्र मे प्रवेश किया। प्रभाकर और कुमारिल ने मीमासा के माध्यम से और शंकराचार्य ने वेदान्त के माध्यम मे वैदिक दर्शन का पुनरुत्थान किया। पौराणिक और स्मार्त धर्मो का समन्वयात्मक रूप सामने आया। वैष्णव धर्म विविध शाखाओं और उपसम्प्रदायों मे विभक्त हुआ जिसके अनेक भेद और प्रभेद परिलक्षित होते है जिनका विविध रूपों मे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे प्राबल्य रहा।

मध्य काल तक बौद्ध धर्म देश विदेशों मे हीनयान और महायान के रूप मे बट गया था। साधारणतया उत्तर मे महायान और दक्षिण मे हीनयान का जोर था। भारत में इस काल में महायानी परम्परा अधिक फली-फूली। ह्वेनसांग ने इसी काल मे बौद्ध धर्मानुयायी महाराजा हर्षवर्धन के राज्यकाल मे भारत यात्रा की। शाक्त सम्प्रदाय के प्रभाववश उसमे तान्त्रिक साधना के प्रवेश के कारण बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर अप्रिय होता गया।

मध्य युग तक जैन धर्म दो शाखाओं मे विभक्त हो चुका था—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर। इन दोनो परम्पराओं को विकसित होने का पर्याप्त अवसर भी मिला जिससे जैन साहित्य, कला और संस्कृति का पूर्ण रूप से विकास हुआ। उत्तरकालीन आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई०), नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ इसी समय के है तथा इसी काल में गुर्जर-प्रतिहार राजा वत्सराज के राज्य मे उद्योतन सूरि ने ७७८ ई० मे कुवलयमाला, जिनसेन ने स० ७८३ मे हरिवंश पुराण और हरिभद्र सूरि ने समराइच्चकहा आदि ग्रन्थो का निर्माण किया। कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी इस काल में उल्लेखनीय प्रगति हुई। दोनो परम्पराओं और उनके आचार्यों को परमार वंशी राजाओं ने विशेष राज्याश्रय दिया। अनेक राजा जैन धर्मावलम्बी भी रहे, जिनमें प्रमुख है राजा मुज, राजा भोज तथा राजा नवसाहसांक आदि। इन्होंने ही अनेकानेक जैन कवियों तथा विद्वानों को समुचित आश्रय दिया। उनमे से कवि धनपाल, अमितगति, प्रभाचन्द्र, नयनन्दी, धनञ्जय, आशाधर, माणिकनन्दी तथा महासेन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। हथूडी का राठोर वश जैन धर्म का परम भक्त था तथा इसी वश के आश्रय मे वासुदेव सूरि, शांतिभद्र सूरि आदि विद्वान रहे। मेवाड की राजधानी चित्तौड़ जैन धर्म का विशिष्ट केन्द्र थी। ऐलाचार्य, हरिभद्र सूरि, वीरसेन आदि विद्वानों ने यही पर अपने साहित्य का सृजन किया। चित्तौड़ के राजा-महाराजाओ ने अपने महलों के निकट सुविशाल जैन मन्दिरो का निर्माण करवाया।

चन्देल वंश के राजा भी जैन धर्म के परम अनुयायी थे। इसी शासनकाल मे खजुराहो के शांतिनाथ दि० जैन मन्दिर मे आदिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा विद्याधर देव ने की। महोबा, देवगढ़, अजयगढ़, अहार, पपोरा, मदनपुरा आदि जैन धर्म के केन्द्र-स्थल थे। ग्वालियर के कच्छपघट राजाओं ने भी जैन धर्म को पूर्ण प्रश्रय दिया।

जैन धर्म के केन्द्र के रूप मे कलिंग राज्य की महत्ता आरम से ही रही है। यद्यपि कलचुरी वश शैव धर्मावलम्बी था तथापि उसने जैन धर्म और कला की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। जैन धर्म के और भी कई केन्द्र थे। उनमें से रामगिरि, जोगीमारा, एलोरा, कारजा, धाराशिव, अचलपुर, कुलपाद, खनुपद्देव आदि प्रमुख है।

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने मे गुजरात का प्रमुख हाथ रहा है। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा जैन

धर्म के प्रति पर्याप्त श्रद्धा रखते थे। गुजरात—अन्हिल-पाटन के सोलंकी वंश ने भी जैन धर्म को अत्यन्त लोक-प्रिय बनाया। अमोघवर्ष और कर्क भी जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। राजा जयसिंह ने अन्हिलपाटन को ज्ञान केन्द्र बनाकर आचार्य हेमचन्द्र को उसका कार्यभार सौंपा। इस वंश के भीमदेव प्रथम के मंत्री और सेना-नायक विमलशाह ने आबू का कलानिकेतन १०३२ ई० में बनवाया। इसी शासनकाल में हेमचन्द्र ने द्वताश्रय काव्य, सिद्धहेम व्याकरण आदि बीसों ग्रन्थ तथा वाग्भट्ट ने अलंकार ग्रंथ की रचना की। कुमारपाल भी निर्विवाद रूप से जैन धर्म का अनुयायी था। कुमारपाल के मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल का सम्बन्ध आबू के सुप्रसिद्ध जैन मन्दिरों से है। उन्होने इन मन्दिरों को बनवाने में विशेष यत्न किया।

दक्षिण में पल्लव राज्य में जैन धर्म थोड़े समय फला-फूला, लेकिन शैव धर्म के प्रभाव से बाद में उसके साहित्य और कला के केन्द्रों को नष्ट कर दिया गया। बाद में, चालुक्य वंश ने जैन साहित्य और कला को लोकप्रिय बनाया। महाकवि जोइन्दु, अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि, रवि-षेण, पद्मनन्दि, धनञ्जय, आर्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, परवादि-मल्ल आदि प्रसिद्ध जैनाचार्य इस काल में हुए है जिन्होंने जैन साहित्य का सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त कन्नड, तमिल आदि भाषाओं मे निर्माण किया। इसी समय में चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोल में ९७८ ई० में गोम्मटेश्वर बाहुबली की सुविशाल प्रतिमा निर्मित करायी।

बंगाल में जैन धर्म का अस्तित्व ११-१२वी शती तक विशेष रहा है। बंगाल मे पाल वंश का साम्राज्य रहा। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसके राजा देवपाल ने जैन धर्म के कलाकेन्द्र नष्ट-भ्रष्ट किये। सिन्ध, काश्मीर, नेपाल आदि प्रदेशो मे भी जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार था।

राष्ट्रकूट वंश ने जैन धर्म को विशेष आश्रय दिया। इसी समय में गुणभद्र, महावीराचार्य, स्वयभू, जिनसेन, वीरसेन, पाल्यकीर्ति आदि ने प्रचुर जैन साहित्य की रचना की। कल्याणी के कल्चुरीकाल मे वासव ने शैव धर्म की कुछ परम्पराओं और जैन धर्म के सिद्धांतों का मिश्रण कर १२वीं शती में लिंगायत धर्म की स्थापना की। उन्होंने जैनों पर कठोर अत्याचार किये तथा बाद में वैष्णवो ने भी जैनों के ग्रंथालयो और मन्दिरों को जलवाया। इसका फल यह हुआ कि अधिकांश जैन धर्मा-वलम्बी धर्म परिवर्तन कर शैव और वैष्णव बन गये।

अरबों, तुर्कों और मुगलों ने भी जैनों पर भीषण अत्याचार किये। उनके भयंकर आक्रमणों का प्रभाव जैन साहित्य और मन्दिरों पर पड़ा। उन्हे भूमिसात् कर दिया गया अथवा मस्जिदो मे परिणत कर दिया गया। इन्ही परिस्थितियो के कारण भट्टारक-प्रथा का उदय और विकास हुआ। इस काल में मूर्ति-पूजा का भी विरोध हुआ। इस काल मे ही लोदी वंश के राज्यकाल में तारण स्वामी (१४४८–१५१५ ई०) हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और 'तारण-तरण" पंथ चलाया। आचार्य सकलकीर्ति, ब्रह्मजय सागर आदि विद्वान इसी समय हुए। इसी काल मे प्रबन्धों और चरितों का सरल हिन्दी और संस्कृत में लेखन कर जैन साहित्यकारों ने साहित्य क्षेत्र मे एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया जिसका उत्तरकालीन हिन्दी साहित्य पर काफी प्रभाव पड़ा। इस समय तक दिल्ली, जयपुर आदि स्थानों पर भट्टारक गद्दियां स्थापित हो चुकी थी। सूरत, भड़ौच, ईडर आदि अनेक स्थानों पर भी इन भट्टारकीय गद्दियों का निर्माण हो चुका था।

इस परिस्थिति के कारण जैन साहित्य की अपार एवं अपूरणीय हानि हुई, फिर भी अकबर (१५५६–१६०५ ई०)जैसे महान् शासक ने जैनाचार्यों को समुचित सम्मान दिया। इसी समय अध्यात्म शैली के प्रवर्त्तक बनारसीदास, कवि परमल्ल, ब्रह्म रायमल्ल, रूपचन्द पांडे राममल्ल पांडे आदि हिन्दी के अनेक जैन कवि हुए। साहु टोडरमल अकबर की टकसाल के अध्यक्ष थे। जहांगीर के समय मे भी अनेक जैन हिन्दी काव्यकार हुए जिनमें से ब्रह्मगुलाल, भगवतीदास, सुन्दरदास, रायमल्ल आदि विशेष प्रसिद्ध है। इस काल मे एक ओर जहा जैनेतर कविगण तत्कालीन परिस्थितियो के वश मुगलों और अन्य राजाओं को शृंगार और प्रेम-वासना के सागर में डुबो कर उनकी दूषित वृत्तियों को निखार रहे थे, वही दूसरी ओर जैन

(शेष पृ० १२२ पर)

शुँग-कुषाणकालीन जैन शिल्पकला

□ श्री शिवकुमार नामदेव

प्राचीन भारत के शुंग एवं कुषाण दो राजवंशों का कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शुंगों का काल वैदिक धर्म के पुनरुत्थान एव कुषाणों का काल बौद्धधर्म के लिए स्वर्णकाल था। फिर भी दोनों वशों के नरेशों का दृष्टिकोण संकुचित नही था। वे अन्य धर्मों के प्रति भी काफी उदार और सहिष्णु थे। इसी का यह परिणाम था कि उनके काल मे अन्य मतो के साथ जैन धर्म भी उन्नति के शिखर पर था।

शुंगकाल (१८५ ई० पू० से ७२ ई० पू०) यद्यपि ब्राह्मणधर्म के उत्कर्ष का काल था, तथापि इस युग की कलाकृतियों में जैन-अवशेष भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हुए है। शुगकाल मे जैनधर्म के अस्तित्व की द्योतक कतिपय प्रतिमाएं उपलब्ध हुई है। लखनऊ-संग्रहालय[1] में संरक्षित मथुरा से प्राप्त एक फलक पर ऋषभदेव के सम्मुख अप्सरा नीलांजना का नृत्य चित्रित है। इसका दृष्टांत इस प्रकार है—एक दिन, चैत्र कृष्ण नवमी को राजा ऋषभदेव सहस्त्रों नरेशों से घिरे राजसिंहासन पर आरूढ थे। सर्वसुन्दरी अप्सरा नीलांजना का नृत्य चल रहा था। उस मनोहारी नृत्य को देखकर ऋषभदेव सहित समस्त सभासद विमुग्ध थे। तभी अचानक नीलांजना की आयु समाप्त हो गई। उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसके जैसी ही अन्य देवांगना का नृत्य प्रारम्भ करा दिया। यद्यपि यह सब इन्द्र ने इतनी चतुराई एव शीघ्रता से किया कि किसी को पता भी न चल सका, किन्तु यह सब सूक्ष्मदर्शी ऋषभदेव की दृष्टि से ओझल न रह सका। संसार की नश्वरता का विचार आते ही रस फीका पड़ गया और वे वैराग्य के रंग में सराबोर हो गए। उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा लेने का संकल्प किया। चित्रित फलक में अनेक नरेशों सहित ऋषभदेव को बैठे दिखाया गया है। नर्तकी का दक्षिण पैर नृत्य-मुद्रा में उठा हुआ है तथा दक्षिण हस्त भी नृत्य की भगिमा को प्रस्तुत कर रहा है। संगत करनेवाले निकट बैठे है।

प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई मे जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक प्राचीन कांस्य-प्रतिमा है। प्रतिमा खड्गासन मे है। उसके सर्पफणों का वितान एवं दक्षिण कर खंडित है। ओष्ठ मोटे है एव हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित नही है। श्री यू० पी० शाह ने इस प्रतिमा का काल १०० ई० पूर्व के लगभग माना है।

शुंगकालीन कंकाली टीला (मथुरा) से जैन स्तूप के अवशेष मिले है तथा उसी समय के प्रस्तर के पूजापट्ट भी उपलब्ध हुए है, जिन्हे आयागपट्ट कहा जाता था। यह प्रस्तर अलंकृत है तथा आठ मागलिक चिह्नों से युक्त है। पूजा-निमित्त अमोहिनी ने इसे प्रदत्त किया था।

शुंगकालीन कला का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र उड़ीसा प्रदेश में था। जिस समय पश्चिमी भारत में बौद्ध शिल्पी लेणों (गुफाओं) का निर्माण कर रहे थे, लगभग उसी समय कलिंग मे जैन शिल्पी कुछ गुफाओं का उत्खनन कर रहे थे। ये गुफाएं भुवनेश्वर से ५ मील उत्तर-पश्चिम में उदयगिरि और खण्डगिरि नामक पहाड़ियों में बनाई गई हैं। ये गुफाएँ जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। गुफाओं के संरक्षक कलिंग-नरेश खारवेल (ई० पू० २ री सदी) थे। यद्यपि इस काल के शिल्प-विषयक अवशेष उपलब्ध नहीं होते किन्तु खारवेल के लेख से ज्ञात होता है कि वह मगध के नन्द राजा द्वारा कलिंग से ले जाई गई एक जैन मूर्ति को अपनी राजधानी वापस ले आया था। यह उल्लेख महत्त्व-पूर्ण है क्योंकि इससे द्वितीय सदी ई० पू० में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

शुंग एव कुषाण-काल मे मथुरा जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र था। ब्राह्मणो एव बौद्धों के समान जैन धर्मानुयायियों ने भी अपने धर्म और कला के केन्द्र स्थापित किए।

१. स्टडीज इन जैन आर्ट—यू० पी० शाह, चित्रफलक २, आकृति ५.
२. जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २, पृ० १३.

कंकाली टीले के उत्खनन से बहुसंख्या में मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। ये मूर्तियां किसी काल में मथुरा के दो स्तूपों मे लगी हुई थीं। अर्हत् नंद्यावर्त की एक प्रतिमा जिसका काल ८९ ई० है, इस स्तूप के उत्खनन से प्राप्त हुई है।

यहाँ से प्राप्त जैन मूर्तियां बौद्ध मूर्तियों के इतनी सदृश हैं कि दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। यदि श्रीवत्स पर ध्यान न दिया जाए तो ऊपरी अंगों की समानता के कारण जैन मूर्ति को बौद्ध एवं बौद्ध मूर्ति को जैन मूर्ति आसानी से कहा जा सकता है। कारण यह था कि कुषाणयुग के प्रारम्भ में कला के क्षेत्र में धार्मिक कट्टरता नहीं थी।

मथुरा से प्राप्त आयागपट्ट कला की दृष्टि से अतीव सुन्दर हैं। जैनधर्म में प्रतीक-पूजा की सतत प्रवाही धारा इनसे सिद्ध होती है और किस प्रकार मूर्ति-पूजा का समन्वय उस धारा के साथ हुआ, यह ज्ञात होता है। आयागपट्ट पूजा-शिलाएं थे। ये जैन-कला की प्राचीनतम कृतियां है।

कुषाण-युग के अनेक कलात्मक उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए हैं। यहां से प्राप्त एक आयागपट्ट[3] पर महास्वस्तिक का चिह्न बना है जिसके मध्य में छत्र, नीचे पद्मासन में तीर्थङ्कर मूर्ति है, उनके चारों ओर स्वस्तिक की चार भुजाएं हैं। तीर्थङ्कर के मण्डल की चारों दिशाओं में चार त्रिरत्न दिखाए गए हैं। महास्वस्तिक की लहराती चार भुजाओं के मोड़ों में भी चार धार्मिक चिह्न मीन-मिथुन, वैजयंती, स्वस्तिक एवं श्रीवत्स हैं। स्वस्तिक के बाहर मण्डल में वेदिकान्तर्गत बोधिवृक्ष, स्तूप, एक अस्पष्ट वस्तु और सोलह विद्याधर-युगलों से पूजित तीर्थङ्कर मूर्ति ये चार धार्मिक चिह्न हैं। बाहर के चार कोनों में गुह्यक मुद्रा में चार महोरग हैं। चोकोर चौखटे को एक ओर बढ़ाकर अष्ट मांगलिक चिह्नों की पंक्ति का अंकन है जिनमें स्वस्तिक, मीन-मिथुन और श्रीवत्स सुरक्षित हैं।

कला की दृष्टि से लखनऊ संग्रहालय[4] में संरक्षित आयागपट्ट क्रमांक जे २४९ विशेष उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना सिंहवादिक ने अर्हत्-पूजा के लिए की थी। तीर्थङ्कर-प्रतिमा से युक्त होने के कारण इसकी संज्ञा 'तीर्थंकर-पट्ट' हुई। उसके मध्य में पद्मासनस्थ तीर्थङ्कर-मूर्ति है। उसके चारों ओर चार त्रिरत्न है। इस पट्ट के बाह्य चौखट पर अष्ट-मांगलिक चिह्न—मीन-मिथुन, देवग्रह-विमान, श्रीवत्स, रत्नपात्र ऊर्ध्व पंक्ति में एवं अधोपंक्ति में त्रिरत्न पुष्पस्त्रक, वैजयंती तथा पूर्णघट है।

कुषाण संवत् ५४ में स्थापित देवी सरस्वती की प्रतिमा भी प्रतिमा-शास्त्रीय दृष्टि से जैन कला की मौलिक देन है। इसका दक्षिण कर अभय-मुद्रा में है एवं वाम कर में पुस्तक है।

आयागपट्ट पर अंकित मांगलिक चिह्नों की स्थिति से मूर्ति को जैन प्रतिमा मानने में संदेह नहीं रह जाता। चिह्न ये हैं—१. स्वस्तिक, २. दर्पण, ३. भस्मपात्र, ४. बेत की तिपाई (भद्रासन), ५-६. दो मछलियां, ७. पुष्पमाला, ८. पुस्तक। औपपातिकसूत्र में अष्टमांगलिक चिह्नों के नाम इस प्रकार हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, दर्पण तथा मत्स्ययुग्म।

इस युग के अन्य आयागपट्ट पर जो मांगलिक उत्कीर्ण हैं उनमें दर्पण तथा नंद्यावर्त का अभाव है। संभवतः कनिष्क के काल तक (ई० प्रथम शती) अष्टमांगलिक की अंतिम सूची निश्चित न हो सकी थी। दिगम्बर शाखा में निम्नलिखित अष्टमांगलिक चिह्न वर्णित है—भृङ्गार, कलश, दर्पण, चामर, ध्वज, व्यजन, छत्र, सुप्रतिष्ठ।

कुषाण-काल में प्रधानतः तीर्थङ्कर की प्रतिमाएं तैयार की गई जो कि कायोत्सर्ग एवं पद्मासन-अवस्था में है। मथुरा के शिल्पियों के सम्मुख यक्ष की प्रतिमाएं ही आदर्श थीं। अत: कायोत्सर्ग स्थिति में तीर्थंकर की विशालकाय नग्न मूर्तियां बनने लगीं। कंकाली टीले के उत्खनन से उपलब्ध बहुसंख्यक नग्न प्रतिमाएं लखनऊ के संग्रहालय में संरक्षित हैं। नग्न प्रतिमाओं की स्थिति से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में दिगम्बर जैनों की प्रधानता थी तीर्थंकर-प्रतिमाओं में अधोवस्त्र का समावेश कुषाण-युग के

३. भारतीय कला—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २७१-८२, चित्रफलक ३१६.

४. वही, पृ० २८२-८३, चित्रफलक ३१८.

पश्चात् हुआ। इस युग में तीर्थंकरों के विभिन्न प्रतीकों का परिज्ञान न हो सका था। विभिन्न तीर्थंकरों को पहचानने के लिए चौकियों पर अंकित लेखों में नाम का उल्लेख ही पर्याप्त था।

कंकाली टीले के दूसरे स्तूप से उपलब्ध तीर्थंकर-मूर्तियों की संख्या अधिक है, जिनकी चौकियों पर कुषाण संवत् ५ से ९५ तक के लेख हैं। प्रतिमाएं चार प्रकार की हैं—

१. खड़ी या कायोत्सर्ग मुद्रा मे, जिनमें दिगम्बरत्व के लक्षण स्पष्ट हैं, २. पद्मासन में आसीन मूर्तियां, ३. सर्वतोभद्रिका प्रतिमा या खड़ी मुद्रा में चौमुखी मूर्तियां; ये भी नग्न है, एव ४. सर्वतोभद्रिका प्रतिमा बैठी हुई मुद्रा मे।

कुषाणकालीन मथुरा-कला में तीर्थंकरों के लांछन नहीं मिलते हैं, जिनसे कालांतर में उनकी पहचान की जाती थी। केवल ऋषभनाथ के कंधों पर खुले हुए केशों की लटें दिखाई गई है और सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्प-फणों का आटोप है। तीर्थंकर-मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स एव मस्तक के पीछे तेजचक्र या प्रभा-मण्डल मिलता है। फणाटोपवाली मूर्तियों में प्रभाचक्र नहीं रहता। चौकी पर केवल चक्र या चक्रध्वज या जिन-मूर्ति या सिंह का अंकन पाया गया है।

□□□

(पृष्ठ ११६ का शेषांश)

कवि ऐसे राजाओं की दूषित वृत्तियों को अध्यात्म और वैराग्य की ओर मोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे।

मध्य युग का समाज कठोर वर्ण-व्यवस्था में जकड़ा हुआ था। इस काल की स्मृतियों मे सामाजिक नियमो का विधान किया गया। । विदेशी आक्रमणों के कारण सामाजिक कट्टरता और अधिक बढती गई। समाज में धार्मिक स्वतन्त्रता तो विद्यमान थी किन्तु सती प्रथा, बहुपत्नीत्व आदि कुरीतियां प्रचलित थीं। तथापि वैदिक संस्कृति के विपरीत श्रमण संस्कृति मे वर्ण-व्यवस्था 'जन्मना' न मानकर 'कर्मणा' मानी जाती थी। नौवीं शताब्दी में आचार्य जिनसेन ने वैदिक व्यवस्था मे अन्य सामाजिक और धार्मिक संकल्पों का जैनीकरण करके जैन धर्म और संस्कृति को वैदिक धर्म और संस्कृति के साथ लाकर खड़ा कर दिया, जो व्यवस्था कालान्तर में लोकप्रिय भी हो गई। बाद में आचार्य सोमदेव ने भी प्रारम्भ में तो उसका विरोध करने का प्रयत्न किया किन्तु अन्ततः उन्होंने भी आचार्य जिनसेन के स्वर में ही अपना स्वर मिला दिया। बाद के जैनाचार्यों ने आचार्य जिनसेन और आचार्य सोमदेव से द्वारा मान्य वर्ण-व्यवस्था को सहर्ष स्वीकार कर लिया। भट्टारक सम्प्रदाय में विशेष प्रगति हुई। आचार के स्थान पर बाह्य क्रिया-काण्ड बढ़ने लगा। ११वीं और १२वीं शताब्दी से वैदिक समाज व्यवस्था और जैन समाज व्यवस्था में बहुत अन्तर नहीं रहा। जैन समाज मे अनेक सुधारक आन्दोलन भी हुए। समाज में प्रचलित अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों का व्यापक विरोध हुआ। इस काल में जो जैन साहित्य रचा गया उसमें ये सब विविध प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती है।

३, रामनगर, नई दिल्ली-५५

□□□

५. भारतीय कला—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २८३।

छीहल की एक दुर्लभ प्रबन्ध कृति

□ श्री अशोककुमार मिश्र

जैन प्रबन्ध-काव्यों[1] की परम्परा का मूल स्रोत अपभ्रंश में विद्यमान है। इसका पूर्ण विकास भक्तिकालीन हिन्दी जैन काव्यों में पाया जाता है। सोलहवीं शताब्दी के जैन कवि छीहल की अब तक प्रायः मुक्तक रचनायें उपलब्ध होने के कारण उन्हें मुक्तक काव्य का रचयिता समझा गया। उल्लेखनीय है कि कवि ने दोनों ही प्रकार की रचनायें की। उनकी एक प्रबन्ध कृति हारवर्ड विश्वविद्यालय अमेरिका के संग्रहालय में उपलब्ध हुई है। यह कृति सर्वथा अज्ञात रही, भारतवर्ष में इसकी पांडुलिपि मिलने की सूचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। इस प्रबन्ध कृति का नाम है—माधवानल कथा। कवि ने अपने समय की सर्वाधिक लोकप्रिय कथा को लेकर इस काव्य की रचना की, जो उनकी अब तक उपलब्ध समस्त रचनाओं की तुलना में अधिक विस्तृत और सरस कही जा सकती है। इसका आदि और अन्त इस प्रकार है —

आदि

गणपति गरुवो गुणह असेस, उंदर वाहन चढ्यो नरेस।
घुघुर पाय करै झुणकार, पणऊ सिधि बुधि दातार।१।
सुमरै ब्रह्मा रच्यो संसार, फुणि सुमिरै सकर त्रिपुरारि।
सुर तैतीस ··· गंती माह, कर जोरै अर लागै पाहं।२।
कासमीर गिरि थानर बन्न, वाहण हंस छत्र सो वर्ण।
बीणा पुस्तक नेवर पाय, नमस्कार वुति सारद माय।३।
तुम तुण मति होई घणी, कथै कथा नल माधव तणी।
थोरी मति तुम तै होई घणी, करी प्रसाद माता भार होण।४।

अन्त

कथा जु पबल अरथ असेस, नर अबोध मति नही प्रवेस।
अगम अभेव कठिण सी खरी,
सरस बहुत कवि छीहल करी।१६४।
पुरब कथा मति देखी जीसी, लिहि पट तरि मौ जंपी तीसी।
पंडित देखी न धरहु विचारी, छोटे पदे लीज्यो सवारी।१६५।
काम कथा रस रसीक पुराण, लहै भेद सो चतुर सुजाण।
पठत गुणन जा होई बीस्तार, जयो सवनि कै ऐकाकार।१६६।

—इति श्री माधवानल की कथा कंदला की कथा संपूर्ण समाप्त ॥

रचनाकाल—कवि ने कथा के अन्त मे इसका रचना काल इस प्रकार दिया है—

पन्द्रा सै इकहतरी सार, भोरी पाचै मास कुवार।
जथा सकति मति सार कही, कवि छीहल जंपी चौपही।१६३।

अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि ने इसकी रचना संवत् १५७१ (१५१४ ई०) में की है।

कथानक—गणपति की वदना करने के पश्चात् कवि माधवानल-कामकदला की कथा लिखते हुए कहता है—पुहपावती नगरी का राजा गोविदचन्द अत्यन्त शक्तिशाली तथा वैभव-सम्पन्न था। उसके रनिवास मे सात सौ सुन्दर रानियां थी। उसकी पट्टमहिषी का नाम रुद्र महादेवी था। उसकी नगरी मे सभी लोग सुख से जीवन व्यतीत करते थे। कही पर भी कोई दुःखी अथवा निर्धन नही था। उसी नगरी मे कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक तथा सर्वकलासम्पन्न ब्राह्मण कुमार माधव भी निवास करता था। उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर नगर की स्त्रियाँ व्याकुल होकर अपने तन की सुधि-बुधि भी बिसरा देती थी। किन्ही-किन्ही के तो गर्भपात भी हो जाते थे। यह देखकर नगर निवासियो का एक प्रतिनिधि-मण्डल राजा के पास गया और वहा जाकर उससे माधव को राज्य से निष्कासित करने के लिए विनय की। उन्होंने कहा कि यदि माधव राज्य से बाहर नहीं जायेगा तो वे सभी राज्य को छोड़कर चले जायेंगे। राजा ने परिस्थिति

१. (प्र—बंध् (बांधना)+घञ्) यहाँ प्रबन्ध से हमारा तात्पर्य कथाप्रधान रचना से है, महाकाव्य आदि से नहीं।

की गम्भीरता देखकर माधव को बुलवाया। राजा ने उससे कहा कि तुम अपनी कला प्रदर्शित करो। आदेशानुसार माधव वीणा-वादन करने लगा जिसे सुनकर सारी सभा विमोहित हो गई। उस पंचम नाद को सुनकर दुःखी अपना दुःख भूल गया, सुखी और अधिक सुखी हुआ। किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार माधव की सुन्दरता व कला भी उसके लिए अभिशाप सिद्ध हुई। राजा ने माधव से कहा कि तुम हमारे देश में मत रहो। माधव ने राज-भय से राजा के इस आदेश का पालन किया और सारी सभा को आशीष देकर विदेश की ओर प्रस्थान कर गया।

वन-उपवन, वन-खण्ड तथा गुफा व पर्वतों को पार करता हुआ वह कामावती नगरी में पहुंचा जहां कामसेन राजा राज्य करता था। इसी राज्य मे कामकंदला नाम की नर्तकी भी निवास करती थी। कवि ने यहाँ कामकंदला के सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया है—

ता पटतरि रंभा उनहारि, रूप अछंग लखु गुणीत नारि।
सोवा न मंछ कीर गु पीडुरी, जहा सघल कवली समसरी।
गुरु व पीत खीण कटि तीरी, मंडल नाभि कमल गंभीर।
कुच कठोर अम्रत रस भास, मुसि मुह ढलि चानि सो थर्यो।
मुगफली साम सरी आगुली, कह नुह वणी कणी रह कली।
धो दुरम अहिर डसण जणु हीर, तीख सुरग नासिका कीर।
कुटिल भौंह धनहर उपमान, चकोत कुरग नयण जणु सरवाण
वदन सकोमल ऊडपति तोल, काम पासी जाणे सरवण सलोल
होया तन चंदन [illegible]बर वास, वेणी वीसहर लुपो तास।
इण दिन अवसर दीनें राई, कामकंदला हरखीत भई।
चवन मय कंचुक ना सीयो, सीस तीलकु कीस थुरी व दीयो।
मोती माणीक माग भराई, षोडस तन सिंगार कराई।
कुंडल श्रवण झलकहि तास, जाणे रवि किरणि दिपे आकास।
रहट नासिका तुलई साथोर, जणु रस अहि रहहु कै चोर।
कुच ऊपर मोती कै हार, नेवर चलण करै झुणकार।
नेत्र मेखला खंचि विहारी, करि सिंगार चली सुन्दरी॥

एक दिन राज-दरबार में उसका नृत्य हो रहा था। उसकी बहुविध कला को देखकर सभी सभासद हर्षित हो रहे थे। इतने मे माधव राजसभा के सिंहद्वार पर आया। उसने सभा मे हो रहे उस नृत्य तथा संगीत की ध्वनि को जब सुना तो वह समस्त सभा को मूर्ख बताने लगा। प्रतिहारी ने जब यह सुना तो वह राजा के पास गया और उससे बोला कि महाराज! एक परदेशी ब्राह्मण सभा को मूर्ख कहता है। राजा को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। उसने प्रतिहारी से कहा कि माधव से जाकर पूछो कि वह सभा को मूर्ख क्यों समझता है। प्रतिहारी के पूछने पर माधव ने कहा—"..... द्वादश तुर जस न वाजंत। मध्य तुर पुरव मख जासु। कर आगुली नही है तासु।" यह सुनकर प्रतिहारी राजा के पास गया। समस्त वृत्तान्त जान लेने के पश्चात् राजा ने माधव को राजसभा में बुलवाया और उसे अर्द्धसिंहासन पर बैठाकर उसका भव्य स्वागत किया, साथ ही अपने आभूषण भी उसे उपहार मे दे दिये। कामकंदला ने भी यह अनुभव किया कि यह पुरुष सर्व कलाओं का ज्ञाता है, अतः वह पहले से भी कही अधिक उत्साह मे अपना एक विशेष प्रकार का नृत्य प्रस्तुत करने लगी—

जल भरि कुभ सीस लै धरै, ऐक चरण की भावरि फीरै।
दुई कर चक्र फिरावै आणि, करै नीरत राजा आगे वाणि।
ईही अंतर मधुकर इक दीठ, कुच ऊपर सो आनि बैठ।
वास लुद्ध परमल कै संग, लागे डसन सुकोमल अग।
कला भंग करि छीनो होई, व्याकुल अंग पीडवै सोई।
पवन खंचि पसु विद्या करी, इणी परि भवर उड़ायो तीरी॥

माधव उसकी इस कला पर विशेष प्रसन्न हुआ, लेकिन भ्रमर-रहस्य को उसके सिवाय कोई न जान सका। मूर्ख राजा ने भी यह भेद नही जाना। अतः माधव ने कामकदला की इस कुशलता पर राजा द्वारा दिये गये उपहार कामकदला पर न्यौछावर कर दिये। यह देखकर राजा ने क्रोधित होकर पूछा कि मेरे द्वारा प्रदत्त उपहारों को तूने एक वेश्या को क्यो दे डाला? माधव ने हरिण आदि के उदाहरण देते हुए अपनी बात की पुष्टि की। किन्तु राजा ने क्रोधित होकर उसे निर्वासन का आदेश दे दिया। दुःखी माधव कामावती नगरी छोड़कर जाने लगा, तभी मार्ग में कामकंदला ने उसे रोककर सविनय अपने घर चलने का आग्रह किया। माधव ने उसका

प्रगाढ़ प्रेम देखकर यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वहाँ दोनों ने प्रेमालाप किया तथा दोहा, गाहा, समस्या आदि कहते हुए रति-सुख प्राप्त किया।

प्रभात होने पर माधव विदेश-गमन के लिए प्रस्तुत हो गया। कामकंदला से उसकी विदाई न देखी गई। वह अत्यन्त दुःखी होकर मूर्छित हो गई। मूर्च्छा दूर होने पर माधव के विरह में क्रंदन करने लगी। यहाँ कवि ने उसकी विरहावस्था का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है। विरही माधव भी कामकंदला की स्मृति को संजोए भटकता हुआ उज्जैन पहुंचा। क्या करे ? अपना दुःख किससे कहे ? देखने, सुनने वाला भी कोई नहीं, अतः जब विरह की पीड़ा घनी हो गई तो शिवमन्दिर की दीवार पर ही निम्नलिखित पंक्तियाँ अंकित कर दी—

कहा करै कहै दुष तास, सुहन कंण देख्यो चोह पास।
सोय वीयोग दुख देख्या भारी, सोई व राम नही संसारी।
विरला तप करि कष्टै देह, विरला आरति भंजन हेह।
विरला करै सिघ सौ नेह, परदुख विरला भंजन ऐह।।

प्रातः काल होने पर राजा विक्रम शिवमन्दिर में आराधना करने के लिए आया तो उसने दीवार पर उक्त पक्तियों को पढ़ा और आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगा कि मेरी इस नगरी मे कौन ऐसा दुःखी व विरही व्यक्ति है, जिसका पता मुझे नही। उसने नगर मे यह घोषणा करवा दी—'इस नगरी मे एक विरही व्यक्ति है। उसका पता यदि कोई बतायेगा तो मनवांछित फल पायेगा'। यह घोषणा सुनकर अनेक गुप्तचर तथा गणिकाए विरही को ढूढ़ने के लिए प्रयत्नशील हो गईं। विरही की खोज मे सध्या हो गई, लेकिन कुछ परिणाम न निकला। अत मे रात्रिवेला मे एक गणिका ने एक ब्राह्मण को सोते हुए देखा जो निद्रा में भी दुःखी निश्वास छोड़ रहा था। गणिका ने उसके हृदय पर अपना चरण रखा। यह व्यक्ति माधव ही था जो गणिका को कामकंदला ही समझकर उसे कामकंदला कहकर पुकारने लगा। गणिका समझ गई कि यही विरही व्यक्ति है, जिसकी राजा को तलाश है। वह तुरंत राजा के पास गई और सारी बातें बताई। राजा ने उसे बहुत-सा द्रव्य देकर विदा किया और माधव को बुलवाया। राजा ने वेश्या-प्रेम की असारता बतलाते हुए माधव से कहा कि मेरे नगर में कामकंदला के समान अनेक सुन्दरियां हैं, तुम अपनी रुचि के अनुसार उनका वरण कर लो। यह सुनकर माधव ने कहा कि मेरे हृदय में कामकंदला का ही निवास है, उसे छोड़कर मैं किसी को वरण नहीं कर सकता—

बोलै माधव संभलि राई, अवर तीरी मोहि न सुहाइ।
जिहि रंणी हीर चूण्या प्रसंस, क्यों छालर रति मानै हंस।
जाणै सरद संपूर्ण चंद, कमल उघारि पीयो मकरंद।
रस भायो केतुकी समीर, सो मनुकर किम रमै करीर।।

यह सुनकर राजा प्रसन्न होकर बोला—मैं तुम्हें कामकंदला से अवश्य मिलाऊँगा। राजा प्रतिज्ञा करके उज्जैन से चलकर कामावती आया और गुप्त रूप से कामकंदला से मिलने गया। विरहिणी कामकन्दला सो रही थी। राजा ने उसके हृदय पर अपने पैरों का स्पर्श किया जिससे कामकन्दला की निद्रा भग्न हो गई और वह माधव-माधव कहकर बिलखने लगी। राजा ने उससे कहा कि ए वेश्या! तू नहीं जानती कि मैं कौन हूं ? कामकन्दला बोली—मेरे हृदय मे केवल माधव का ही निवास है, अन्य कोई इस हृदय में विश्राम नही कर सकता। मेरे हृदय को पैर से स्पर्श करने का अर्थ है ब्राह्मण का अनादर करना। अतः हे राजन्! क्रोध मत करो। राजा ने पूछा—कौन माधव ? क्या वह ब्राह्मण तो नहीं जो कि एक स्त्री के वियोग में उज्जैन में मर गया। इतनी बात सुनते ही कामकन्दला ने आह भरी और वह मर गई। राजा दुःखी होकर वहां से वापस आया और यह दुःखद समाचार माधव को दिया जिसे सुनते ही माधव की मृत्यु हो गई। यह देखकर राजा और अधिक संतप्त हुआ। उसे लगा उसने ही इन दोनों की हत्या की है। प्रायश्चित-स्वरूप वह खड्ग लेकर अपना बलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो गया। जब वह खड्ग से अपना मस्तक काटने वाला था तभी महाबली बेताल ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। उसने कहा—हे राजा! वर माग, मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूं। राजा ने कहा, 'जै सन्तुष्ट हुवो तु भाई। तौरी बंभण वेहौ जीवाई।।' उसी समय वह वीर पाताल गया और वहा से

अमृत ले आया। माधव और कामकंदला के मुख में अमृत की बूंदें डाली गईं और वे दोनों जीवित हो गये।

राजा यह देखकर हर्षित हो गया। अब उसने ससैन्य कामावती नगरी पर चढ़ाई कर दी। कामावती नगरी के समीप पहुंचकर राजा ने कामसेन के पास संदेश भिजवाया कि वह कामकन्दला को सौंप दे, किन्तु कामसेन ने इसे अपमान समझा और युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो गया। घमासान युद्ध हुआ। इसमे कामसेन की पराजय हुई। विक्रम ने कामकन्दला को प्राप्त कर लिया। कामसेन की याचना पर राजा विक्रम ने उसे भी क्षमा कर दिया। इसके बाद कामक दला सहित राजा उज्जैन आया और फिर वहां माधव तथा कामकन्दला का पाणिग्रहण करवा दिया। सारी नगरी मे हर्षोत्सव मनाया गया। माधव तथा कामकन्दला भौतिक ऐश्वर्य भोगते हुए सानन्द जीवन यापन करने लगे।

स्रोत एवं आधार—इस कथा पर आधारित अन्य रचनायें भी लिखी गई। छीहल के पूर्व भी अन्य दो कवि आनन्दधर तथा नारायनदास ने यह कथा लिखी। इस कथा का मूल स्रोत क्या रहा होगा इस पर विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार इसका मूल स्रोत विक्रम की पहली शती हो सकता है। उनका कथन है कि माधव और कामकन्दला की कहानी सम्भवतः प्राकृत और अपभ्रंश के सधिकाल मे रची गई थी।[१] पं० उदयशंकर शास्त्री से भी इस कथानक के स्रोत पर लेखक ने विचार-विनिमय किया था, जिसके अनुसार इस कथा के मूल मे अपभ्रंश की कोई लोक प्रचलित कथा रही होगी। श्री कृष्ण सेवक ने माधव और कामकन्दला को ऐतिहासिक पात्र बताया है।[२] श्रीकृष्ण सेवक के कथन को ही उद्धृत करते हुए डा० हरिकांत श्रीवास्तव ने इसे ऐतिहासिक घटना माना है। किन्तु इस तथ्य को मानने में दो आपत्तियां हैं—

(१) श्रीकृष्ण सेवक ने जिस खण्डहर को कामकन्दला का महल बताया है उसे 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' ने सिद्ध कर दिया है कि वह महल न होकर शिव-मन्दिर था।

(२) कामावती और पुष्पावती के राज्यों के विवरण विक्रमकालीन होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

अतः इस कथा का मूल स्रोत ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। इस परम्परा के प्रथम हिन्दी कवि नारायनदास ने अपने आश्रयदाता का निर्देश करते हुए लिखा है—

मनि धरि बीरा दीनो राउ, मोहि भेद माधवा सुनाउ।
ताहि वियोग कौन विधि भयो, कैसे निकरि दिसंतरि गयो।
क्यों सुन्दरी सो भयो मिलाउ, क्यों आराध्यो विक्रम राउ।
क्यों दुष सहि बहुरे सुख लहयो, सब समुझाइ बेव यों कह्यो॥

इन पंक्तियों से यह तो स्पष्ट है कि यह लोक प्रचलित सरस कथा रही होगी, तभी आश्रयदाता ने कवि से इस कथा को लिखने की इच्छा व्यक्त की। इसके पूर्व आनन्दधर भी इस काव्य की संस्कृत में रचना कर चुके थे। अतः कवि छीहल ने संभवतः इन्ही दो कवियों की रचनाओं को अपने इस प्रबन्ध का मूल आधार बनाया होगा।

□ □ □

१. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य (डा० श्रीवास्तव, हरिकांत), पृ० २२०.
२. Seventh Oriental Conference, Baroda, 1933 pp. 995-999.

जैन वाङ्मय में आयुर्वेद

□ आचार्य श्री राजकुमार जैन

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से आयुर्वेद की परम्परा चली आ रही है। आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वैद्यक शास्त्र या आयुर्वेद का मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय है। वेदों में आयुर्वेद सम्बन्धी पर्याप्त उद्धरण मिलते है। सर्वाधिक उद्धरण अथर्ववेद में मिलते है। इसीलिए आयुर्वेद को उपवेद माना गया है। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता में प्राप्त वर्णन के आधार पर आयुर्वेद की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी द्वारा हुई। ब्रह्मा ने आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को उपदेश दिया और अश्विनीकुमारों से देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण किया। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक देव लोक में आयुर्वेद का प्रसार रहा। तत्पश्चात् भूलोक मे व्याधियो से पीड़ित आर्त प्राणियों की रोग मुक्ति करने की दृष्टि से मुनिश्रेष्ठ भारद्वाज देवलोक में गये और वहां इन्द्र से अष्टांग आयुर्वेद का उपदेश ग्रहण कर पृथ्वी पर उसका प्रसार किया। उन्होंने कायचिकित्सा-प्रधान आयुर्वेद का उपदेश पुनर्वसु अत्रेय को दिया, जिससे अग्निवेश आदि छः शिष्यों ने विधिवत आयुर्वेद का अध्ययन कर उसका ज्ञान प्राप्त किया और अपने-अपने नाम से पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण किया। इसी प्रकार, दिवोदास धन्वन्तरि ने सुश्रुतप्रभृति शिष्यो को शल्यतन्त्रप्रधान आयुर्वेद का उपदेश दिया। उन सभी शिष्यो ने भी अपने अपने नाम से पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण किया, जिनमें से केवल सुश्रुतसंहिता ही आज उपलब्ध है। तत्पश्चात् अनेक आचार्यों, विद्वानों और भिषकश्रेष्ठों द्वारा यह परम्परा विस्तार और प्रसार को प्राप्त कर सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त हुई।

जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय और उससे सम्बन्धित साहित्य में आयुर्वेद के बीज प्रकीर्ण रूप से विद्यमान है, उसी प्रकार जैन वाङ्मय और इतर जैन साहित्य मे पर्याप्त रूप से आयुर्वेद सम्बन्धी विभिन्न विषयों का उल्लेख मिलता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक तथ्य यह है कि जैन धर्म के विशाल वाङ्मय के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से आयुर्वेद का विकास हुआ है। बहुत ही कम लोग इस तथ्य से अवगत है कि वैदिक साहित्य और हिन्दू धर्म की भांति जैन साहित्य और जैन धर्म से भी आयुर्वेद का निकटतम सम्बन्ध है। जैन धर्म में आयुर्वेद का क्या महत्व है और उसकी कितनी उपयोगिता है, इसका अनुमान इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का समावेश द्वादशांग वाङ्मय में किया गया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय में अन्य शास्त्रों या विषयों की भांति आयुर्वेद-शास्त्र या वैद्यक विषय की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित है। जैनागम में वैद्यक (आयुर्वेद) विषय को भी आगम के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्राचीन भारतीय वाङमय का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि भारत में आयुर्वेद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। समय-समय पर विभिन्न जैनेतर विद्वानों द्वारा प्रचुर रूप में आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की गई है। वैद्य समाज उन ग्रन्थों से भली भांति परिचित है। किन्तु अनेक जैन विद्वानों ने भी आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है जिनमें दो चार को छोड़ कर शेष सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों से वैद्य समाज अपरिचित ही है। इसका एक कारण यह भी है कि उनमें से अधिकांश ग्रन्थ आज भी अप्रकाशित ही है। गत कुछ समय से शोधकार्य के रूप में राजस्थान के जैन मन्दिरो में विद्यमान शास्त्र भण्डारों का विशाल पैमाने पर अवलोकन किया गया और उनकी बृहदाकार सूची बनाई गई। यह सूची गत दिनों विशाल ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित की गई है। यह ग्रन्थ चार भागों मे विभक्त है। इस सूची-ग्रन्थ के चारों खण्डों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इनमें अनेक ऐसे ग्रन्थ विद्यमान है जो आयुर्वेद विषयक है और जिनकी रचना जैनाचार्यों द्वारा की गई है।

जैन दर्शन के विभिन्न आगम ग्रन्थों का अध्ययन

करने से ज्ञात होता है कि इनमे भी आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों के पर्याप्त उद्धरण विद्यमान हैं। स्थानांगसूत्र और विपाक-सूत्र में आयुर्वेद के आठ प्रकार (अष्टांग आयुर्वेद), सोलह महारोगों और चिकित्सा सम्बन्धी विषयों का बहुत अच्छा वर्णन है। संक्षेप में, यहां उनका उल्लेख किया जा रहा है।

आयुर्वेद के आठ प्रकार—१. कौमारभृत्य (बाल चिकित्सा), २. काय चिकित्सा (शरीर के सभी रोग और उनकी चिकित्सा), ३. शालाक्य चिकित्सा (गले से ऊपर के भाग में होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा—इसे आयुर्वेद में 'शालाक्य तन्त्र' कहा गया है), ४. शल्य चिकित्सा (चीड़-फाड़ सम्बन्धी ज्ञान जिसे आजकल 'सर्जरी' कहा जाता है—इसे आयुर्वेद में शल्यतन्त्र' की संज्ञा दी गई है), ५. जिगोली विषविघात तन्त्र (इसे आयुर्वेद में 'अगदतन्त्र' कहा जाता है—इसके अन्दर सर्प, कीट, लूता, मूषक आदि विषों का वर्णन तथा चिकित्सा एवं विष सम्बन्धी अन्य विषयों का उल्लेल रहता है), ६. भूतविद्या (भूत-पिशाच आदि का ज्ञान और उनके शमनोपाय का उल्लेख), ७. क्षारतन्त्र (वीर्य सम्बन्धी विषय और तद्गत विकृतियों की चिकित्सा—इसे आयुर्वेद में वाजीकरण की संज्ञा दी गई है), ८. रसायन (इसके अन्तर्गत स्वस्थ पुरुषों द्वारा सेवन योग्य ऐसे प्रयोगों एवं विधि-विधानों का उल्लेख है जो असामयिक वृद्धावस्था को रोक कर मनुष्य को दीर्घायु, स्मृति, मेधा, प्रभा, वर्ण, स्वरोदार्य आदि स्वाभाविक शक्तियां प्रदान करते हैं।)

इसी प्रकार, जैन आगम ग्रन्थों में सोलह महारोग—श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अलस, भगासीर, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरोचक, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, कण्डू-खुजली, दकोदर-जलोदर, कुष्ट-कोढ़ गिनाए गए हैं। रोगों के चार प्रकार बतलाए गए हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, श्लेष्मजन्य और सन्निपातज। चिकित्सा के चार अंग प्रतिपादित हैं—वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक। जैनागमानुसार चिकित्सक चार प्रकार के होते हैं—स्वचिकित्सक, परचिकित्सक, स्वपर चिकित्सक और सामान्य ज्ञाता। जैन आगमों में प्राप्त विवेचन के अनुसार रोगोत्पत्ति के नौ कारण होते हैं—१. अतिआहार, २. अहिताशन, ३. अति निद्रा, ४. अति जागरण, ५. मूत्रावरोध, ६. मलावरोध, ७. अध्वगमन, ८. प्रतिकूल भोजन और ९ कामविकार। यदि इन नौ कारणों से मनुष्य बचता रहे तो उसे रोग उत्पन्न होने का भय बिल्कुल नहीं रहता। इस प्रकार, जैन ग्रन्थों में आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों का उल्लेख प्रचुर रूप में मिलता है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि जैनाचार्यों को आयुर्वेद शास्त्र का भी पर्याप्त ज्ञान रहता था।

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उसमें अहिंसा तत्त्व की प्रधानता है और अहिंसा को सर्वोपरि प्रतिष्ठापित किया गया है। आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति में यद्यपि आध्यात्मिकता को पर्याप्त रूपेण आधार मानकर वही भाव प्रतिष्ठापित किया गया है और उसमें यथासम्भव हिंसा को वर्जित किया गया है, किन्तु कतिपय स्थलों पर अहिंसा की मूल भावना की उपेक्षा भी की गई है, जैसे भेषज के रूप मे मधु, गोरोचन, विभिन्न आसव, अरिष्ट आदि का प्रयोग। इसी प्रकार, वाजीकरण के प्रसंग में चटकमांस, कुक्कुटमांस, हंसशुक्र, मकरशुक्र, मयूरमांस आदि के प्रयोग एवं सेवन का उल्लेख मिलता है। कतिपय रोगों मे शूकरमांस, मृगमांस तथा अन्य पशु-पक्षियों के मांस सेवन का उल्लेख मिलता है। ऐसे प्रयोगों से आयुर्वेद में अहिंसा भाव की पूर्णतः रक्षा नही हो पाई है। अतः ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि जैन साधुओं के लिए इस प्रकार का आयुर्वेद और उसमें वर्णित चिकित्सा उपादेय नहीं हुई। जैन साधुओं के अस्वस्थ होने पर उन्हें केवल ऐसे प्रयोग ही सेवनीय थे जो पूर्णतः अहिंसक, अहिंसाभाव प्रेरित एवं विशुद्ध रीति से निर्मित हों। जैनाचार्यों ने इस कठिनाई का अनुभव किया और उन्होंने सर्वांग रूपेण आयुर्वेद का अध्ययन कर उसमें परिष्कारपूर्वक अहिंसाभाव को दृष्टिगत रखते हुए आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। वे ग्रन्थ जैन मुनियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए। जैन गृहस्थों ने भी उनका पर्याप्त लाभ उठाया। इसका एक प्रभाव यह भी हुआ कि जैन साधुओं, साध्वियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं की चिकित्सार्थ जैन साधुओं-विद्वानों को भी चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा।

पहले पहल दिगम्बर भट्टारकों ने वैद्यक विद्या को ग्रहण कर चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। कालान्तर मे श्वेताम्बर जैन यतियों ने इसमें अत्यन्त दक्षता प्राप्त की। बाद में ऐसा समय भी आया कि उनमें क्रमशः शिथिलता आती गई। दिगम्बर आचार्यों और विद्वानों ने आयुर्वेद के जिन ग्रन्थो का निर्माण किया है वे अधिकांशत: प्राकृत-संस्कृत भाषा मे है। चूंकि उन ग्रन्थों के रख-रखाव एवं प्रकाशन आदि की ओर समुचित ध्यान नही दिया गया, अतः उनमे से अधिकांश नष्ट या लुप्तप्राय हो चुके है; जो बचे हुए है उनके विषय मे जैन समाज की रुचि न होने के कारण वे अज्ञात है। श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा जो ग्रन्थ रचे गये है वे गत चार सौ वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं है। अतः उनकी रचना हिन्दी मे दोहा, चौपाई आदि छन्दों मे हुई है। इस प्रकार के ग्रन्थो मे योग चिन्तामणि, वैद्यमनोत्सव-विनोद, रामविनोद, गंगयतिनिदान आदि हिन्दी वैद्यक ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है।

संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थो मे पूज्यपाद विरचित वैद्यसार और उग्रादित्याचार्य विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थो का भी हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन हो चुका है। इनमे वैद्यसार के विषय मे विद्वानो का मत है कि वह वस्तुत: पूज्यपाद की मौलिक कृति नही है, किसी अन्य व्यक्ति ने उनके नाम से इस ग्रन्थ की रचना की है।

हिन्दी में रचित वैद्यक ग्रन्थ

१. वैद्यमनोत्सव—यह ग्रंथ पद्यमय है और दोहा, सोरठा व चौपाई छन्दो में है। इस ग्रन्थ के रचयिता कविवर नयनसुख है जो केशवराज के पुत्र थे। उन्होने इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६४१ में की है। ग्रंथ में प्राप्त उल्लेख के अनुसार, अकबर के राज्य में सीहनन्द नगर में चैत्र शुक्ला द्वितीया (स० १६४१) को उन्होने इस ग्रंथ की रचना पूर्ण की। ग्रन्थ के आरम्भ में 'श्रावककुल ही निवास' लिख कर उन्होंने अपना श्रावक होना प्रतिपादित किया है। ग्रन्थ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य ग्रन्थ का अनुवाद मात्र ही नही है, अपितु मौलिक रूप से इसकी रचना पद्य रूप में की गई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त की रचना की मौलिकता का सहज ही आभास मिलता है इतना अवश्य है। कि कवि ने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन करने के उपरान्त ही इसकी रचना की है। ग्रन्थ के आदि मगलाचरण से भी यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ रचना से पूर्व कवि ने आयुर्वेद शास्त्र का गहन अध्ययन किया है, अनेक ग्रन्थो का मनन किया है और उससे अर्जित ज्ञान को अनुभव द्वारा परिमार्जित किया है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सात समुद्देशों में विभक्त है। इसमें कुल ३३२ गाथाएं है। इस ग्रन्थ की एक अन्य प्रति में, आद्यन्त मंगलाचरणरहित अनेक आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रमाण सहित १६७ गाथाओं का एक और ग्रन्थ है। उसके अन्त में भी इति वैद्यमनोत्सवे लिखा है। ये दोनों ग्रन्थ दोहा, सोरठा एवं चौपाई में है। इनमें से एक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है, किन्तु वह भी अब सम्भवतः उपलब्ध नहीं है।

२. वैद्यहुलास—इसका दूसरा नाम तिब्बसाहबी भी है। इसका कारण यह है कि लुकमान हकीम ने फारसी में तिब्बसाहबी नामक जिस ग्रन्थ की रचना की है उसी का यह हिन्दी पद्यानुवाद है। तिब्बसाहबी एक प्रामाणिक एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। अत: ऐसे ग्रन्थ का अनुवाद निश्चय ही उपयोगी साबित होगा। हिकमत के फारसी ग्रन्थो का अनुवाद उर्दू भाषा में तो हुआ है, किन्तु हिन्दी में यह कार्य बिलकुल नही हुआ। ऐसी स्थिति में यह एक साहसिक प्रयास ही माना जायगा कि हिकमत विषयक प्रधान ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो, वह भी पद्यमय शैली में। इस ग्रंथ के अनुशीलन से अनुवादक का फारसी भाषा का विद्वान होना और हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार होना निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। अनुवादक में काव्य प्रतिभा का होना भी असंदिग्ध है।

इस ग्रंथ के रचयिता कविवर मलूकचन्द्र है। 'श्रावक धर्मकुल को नाम मलूकचन्द' इन शब्दो के द्वारा अनुवादक ने अपने नाम का उल्लेख किया है। ग्रंथ के आदि मगलाचरण के अनन्तर लेखक ने उपर्युक्त रूप से संक्षेपत: अपना उल्लेख किया है, अपना व्यक्तिगत विशेष परिचय कुछ नही दिया। यही कारण है कि कवि का कोई विशेष परिचय प्राप्त नही होता। इस ग्रंथ में अन्य ग्रंथों की भांति अन्त्य प्रशस्ति भी नही है। इससे ग्रंथ रचना का काल और रचना स्थान दोनों अज्ञात हैं।

□□□

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५.००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्मरहस्य : पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १.००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक— वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९७६

विषयानुक्रमणिका

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए, एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य :
१ रुपया २५ पैसा

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर

समाज के ऐसे धर्मवत्सल १००० विद्यादानियों की आवश्यकता है जो सिर्फ एक बार अनुदान देकर जीवन भर शास्त्रदान के उत्कृष्ट पुण्य का संचय करते रहें।

'वीर सेवामन्दिर' की स्थापना आज से ४७ वर्ष पूर्व स्व० श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्व० श्री छोटेलाल जैन तथा वर्तमान अध्यक्ष श्री शान्तिप्रसाद जैन प्रभृति जाग्रत चेतनाओं के सत्प्रयत्नों से हुई थी। तब से जैनदर्शन के प्रचार तथा ठोस साहित्य के प्रकाशन मे वीर सेवा मन्दिर ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये है वे सुविदित है और उनके महत्त्व को न सिर्फ भारत मे बल्कि विदेशो मे भी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से माना है।

'वीर सेवा मन्दिर' के अपने विशाल भवन मे एक सुनियोजित ग्रन्थागार है जिसका समय-समय पर रिसर्च करने वाले छात्र उपयोग करते है। दिल्ली से बाहर के शोधकर्ता छात्रों के लिए यहां ठहरकर कार्य करने के लिए छात्रावास की भी व्यवस्था है।

अब तक जो भी कार्य हुए है, आपके सहयोग से ही हो पाए है। यदि 'वीर सेवा मन्दिर' की कमजोर आर्थिक स्थिति को आपका थोड़ा सम्बल मिल जाए तो कार्य अधिक व्यवस्थित तथा गतिमान हो जाए। **'आप २५१ रु० मात्र देकर आजीवन सदस्य बन जाएँ'** तो आपकी सहायता जीवन भर के लिए 'वीर सेवा मन्दिर' को प्राप्त हो सकती है। सदस्यों को 'वीर सेवा मन्दिर' का त्रैमासिक पत्र "अनेकान्त" निःशुल्क भेजा जाता है तथा अन्य सभी प्रकाशन दो-तिहाई मूल्य पर दिए जाते है।

हमें विश्वास है कि धर्म प्रेमी महानुभाव इस दिशा में संस्था की सहायता स्वय तो करेंगे ही, अन्य विद्या प्रेमियो को भी इस ओर प्रेरित करेंगे।

—**महेन्द्रसेन जैनी**, महासचिव

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय ३, रामनगर, नई दिल्ली-५५
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश, जैन प्रकाशक

स्थापित : १९२९

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति मे संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार है:—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थो का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यो का प्रसाधन और उनके प्रोत्साहनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनो; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थगार, जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एव पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियो द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४६ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि:—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमो मे सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनो को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेट मे देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य इतिहास एव पुरातत्व के शोधानुसन्धान मे योग दें।
४. विविध धार्मिक, सास्कृतिक पर्वो एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यो की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—**गोकुल प्रसाद जैन (सचिव)**

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —सम्पादक

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २९ किरण ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर
वीर निर्वाण संवत् २५०२, वि० सं० २०३३ | १९७६

ज्ञान की गरिमा

स एव परमं ब्रह्म स एव जिनपुंगवः ।
स एव परमं तत्त्वं स एव परमो गुरुः ।।
स एव परमं ज्योतिः स एव परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानं स एव परमात्मकः ।।
स एव सर्वकल्याणं स एव सुखभाजनं ।
स एव शुद्धचिद्रूप स एव परमं शिवः ।।
स एव परमानन्दः स एव सुखदायकः ।
स एव परमं ज्ञानं स एव गुणसागरः ।।
परमाह्लादसम्पन्नं रागद्वेषविवर्जितम् ।
सोऽहं तं देहमध्येषु यो जानाति स पण्डितः ।।

अर्थ—वह स्वात्मा ही शुद्धावस्थापन्न होने पर परम ब्रह्म है, वही जिनश्रेष्ठ है, वही परम तत्त्व है, वही परम गुरुदेव है, वही परम ज्योति, परम तप, परम ध्यान और वही परमात्मा है। वही सर्व-कल्याणात्मक है, वही सुखों का अमर पात्र है, वही विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वही परम शिव है, वही परम आनन्द है, वही सुख प्रदाता है, वही परम ज्ञान है और गुणसमूह भी वही है। उस परम आह्लाद से सम्पन्न, रागद्वेषवर्जित आत्मा को, जिसके लिए 'सोऽहं' का व्यवहार किया जाता है और जो देह में स्थित है, जो जानता है वह पण्डित है ।।

आकाररहितं शुद्धं स्वस्वरूपे व्यवस्थितम् ।
सिद्धमष्टगुणोपेतं निर्विकारं निरंजनम् ।।
तत्सदृशं निजात्मानं यो जानाति स पंडितः ।
सहजानन्दचैतन्यप्रकाशाय महीयसे ।।
पाषाणेषु यथा हेम दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं देहमध्ये तथा शिवः ।।
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः ।।

अर्थ—यह आत्मा निराकार, शुद्ध, स्वस्वरूप में स्थित, सिद्ध, अष्टगुणयुक्त, विकारनिरस्त और निरंजन है। अपने आत्मा में विद्यमान महान् सहजानन्द स्वरूप चैतन्य के प्रकाशनार्थ जो सिद्ध आत्मा के सदृश अपने आत्मा को जानता है, वह पण्डित है, जैसे पाषाण में सुवर्ण, दुग्ध में घृत तथा तिलों में तैल है वैसे इस देह में शिव है, आत्मा विद्यमान है। और जैसे काष्ठ में अग्नि है उसी प्रकार शक्तिरूप में इन शरीरों में आत्मा का निवास है इसे जानने वाला ही विद्वान है ।।

वारंगल के काकातीय राज्य संस्थापक जैन गुरु

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

जैन साधु प्रायः निवृत्तिमार्गी, निस्पृह, निष्परिग्रह, और ज्ञान-ध्यान-तपोरत वीतरागी होते रहे हैं। किन्तु कभी-कभी वे सद्वृत्तियों के भी पोषक रहे है और धर्मसंरक्षणार्थ किन्ही सुराज्यों की स्थापना में भी प्रेरक हुए हैं। विशुद्ध इतिहासकाल मे सुप्रसिद्ध मौर्य साम्राज्य के संस्थापक वीर चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पथप्रदर्शक, राजनीति गुरु एवं मन्त्रीश्वर आर्य चाणक्य दोनों ही जैन धर्मानुयायी थे।[1] वीर विक्रमादित्य द्वारा उज्जयिनी मे शब्दों का उच्छेद करके मालवगण की पुन: स्थापना में आर्य कालक प्रेरक रहे थे।[2] दूसरी शती ई० के अन्त के लगभग गंगवाड़ि (मैसूर) के गंग राज्य की स्थापना दड्डिग एव माधव नामक भ्रातृद्वय ने मुनीन्द्र सिंहनन्दि के आशीर्वाद, प्रेरणा और सहायता से की थी[3]। यह राजवंश हजार-बारह सौ वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। आठवीं शती में संस्थापित हुमच्च के सान्तर-वंश के प्रथम पुरुष जिनदत्तराय के धर्मगुरु एवं राजगुरु जैनाचार्य सिद्धांतकीर्ति थे,[4] और ९वी शती में सौन्दत्ति के रट्ट राज्य का संस्थापक पृथ्वीराम रट्ट इन्द्रकीर्ति स्वामी का विद्या-शिष्य था।[5] गुजरात-सौराष्ट्र में ७४५ ई० चापोत्कट (चावड़ा) राज्यवंश की स्थापना वनराज चावड़ा ने स्वगुरु शीलगुरुसूरि के आशीर्वाद, उपदेश और सहायता से की थी।[6] ग्यारवीं शती के प्रारम्भ में वीर सल (पोयसल या होयसल) ने द्वारसमुद्र के होयसल राज्य की स्थापना स्वगुरु सुदत्त वर्धमान के आशीर्वाद, प्रेरणा और सहायता से की थी।[7] अन्य भी कई उदाहरण हैं, जिनमे से एक का आगे वर्णन किया जायेगा। यों जैन धर्म की अल्पाधिक प्रवृत्ति तो पूर्व मध्यकाल के अनेक छोटे-बड़े राज्य वंशो मे रही।[8]

१४वी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में दिल्ली मे खिलजी और तुगलुक सुल्तानों के भीषण एवं विध्वंसक प्रहारों को दक्षिणापथ की जिन राज्यसत्ताओ को झेलना पड़ा उनमें देवगिरि के यादव, द्वारसमुद्र के होयसल और वारंगल के काकातीय प्रमुख थे। इन तीनों ही राज्यों का उदय कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य सम्राटो के रूप में १०वीं शती के अन्त अथवा ११वी शती ई० के प्रारम्भ के आसपास हुआ था। १२वी शती के अन्त के लगभग उक्त साम्राज्य की समाप्ति के कुछ पूर्व ही ये तीनों राज्य स्वतन्त्र हो गए थे। अतएव दक्षिणापथ पर मुसलमानों के आक्रमण के समय उस क्षेत्र मे यही तीन राज्य सर्वोपरि, स्वतन्त्र, वैभवसम्पन्न, शक्तिशाली और विस्तृत थे। मुसलमानो द्वारा इनमे से सर्वप्रथम देवगिरि का यादव राज्य समाप्त किया गया, तदन्तर द्वारसमुद्र के होयसलों की बारी आई और अन्त मे वारंगल के काकातीय भी समाप्त कर दिए गए।[9] किन्तु अन्तिम दो

---

१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, (द्वि० सं), पृ० ७६ ६१; प्रमुख ऐति० जैन, पृ० ३४-४४।
२. वही, पृ० ६०-६२
३. वही, पृ० ७१-७२; भा० इ० ए० ह० पृ० २५६-२५८
४. प्रमुख ऐति० जैन, पृ० १७१
५. वही, पृ० १७७
६. वही, पृ० २२८-२२६
७. वही, पृ० १३४-१३५
८. देखिए हमारी उपरोक्त दोनो पुस्तकें तथा साल्तोर-कृत मेडीवल जैनिज्म, प० कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत 'दक्षिण भारत मे जैनधर्म', देसाई कृत 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया', शेषगिरि राव कृत 'आन्ध्र कर्नाटक जैनिज्म', इत्यादि,
९. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ३६२, ४१०, ४१३

के अवशेषों में से ही प्रायः तत्काल सुप्रसिद्ध विजयनगर साम्राज्य का उदय हुआ था।[10]

पूर्व मध्यकालीन दक्षिणापथ के उक्त तीन प्रमुख भारतीय राज्यों मे से देवगिरि के यादव जैन धर्म के अनुयायी नही थे, किन्तु उसके अच्छे प्रश्रयदाता रहे। होयसल राज्यवंश में प्रारम्भ से प्रायः अन्त पर्यन्त जैन धर्म की अल्पाधिक प्रवृत्ति रहती रही, राज्य परिवार के अनेक सदस्य परम जैन और जैन बन्धुओ के भक्त भी होते रहे। इस राज्य एवं वश की स्थापना का श्रेय ही, जैसाकि ऊपर कथन किया जा चुका है, एक जैनाचार्य को है।[11]

जहा तक वारगल के काकातीय राज्यवंश का प्रश्न है, उसके विषय मे आधुनिक इतिहासकार प्रायः यही प्रतिपादित करते है कि वह हिन्दू या शैवमत का अनुयायी था। किन्तु ऐसे सकेत भी मिलते है कि काकातीय नरेश गणपतिदेव (११९८–१२६१ ई०) के शासन काल मे तेलुगु महाभारत का रचयिता टिक्कन सोमय्य नामक हिन्दू विद्वान ने राजसभा मे जैनो को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। परिणामस्वरूप राजा कट्टर शैव बन गया और जैनो पर उसने भारी अत्याचार किये तथा तभी से इस राज्य मे जैन धर्म की अवनति प्रारम्भ हुई।[12] इससे यह भी विदित होता है कि उसके पूर्व वहां जैनधर्म उन्नत अवस्था मे था, और राज्यवंश मे भी जैन धर्म की प्रवृत्ति थी। वस्तुतः इस प्रान्त से सम्बन्धित पुरानी 'कैफियतों' (निबद्ध अनुश्रुतियो) के आधार पर प्रो० शेषगिरिराव ने, जो स्वयं आन्ध्र प्रदेशवासी थे, यह प्रमाणित किया था कि वारगल एक समय जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा था।[13] उस काल मे उक्त प्रदेशो के जैन सम्बन्धो और वहाँ जैनो द्वारा किए गये कार्यकलापों का हमने अन्यत्र उल्लेख किया है।[14]

अभी हाल मे, श्री भंवरलाल नाहटा द्वारा अनुवादित 'विविध-तीर्थकल्प'[15] की प्रस्तावना लिखते समय हमारा ध्यान एक ऐसे विवरण की ओर आकर्षित हुआ, जिसकी ओर संभवतया अभी तक किसी अन्य इतिहास-विद्वान का ध्यान नहीं गया प्रतीत होता, और जिससे सिद्ध होता है कि पूर्वोल्लिखित होयसल प्रभृति कई राज्यों की भांति वारंगल के काकातीय की स्थापना का श्रेय भी एक जैनाचार्य को ही था।

'कल्पप्रदीप' (अपरनाम 'विविध तीर्थकल्प') को श्वेताम्बराचार्य जिनप्रभसूरि ने वि० सं० १३८९ (सन् १३३२ ई०) की भाद्रपद कृष्ण दशमी बुधवार के दिन श्री हम्मीर मुहम्मद (सुलतान मुहम्मद बिन तुगलुक) के शासनकाल में योगिनीपत्तन (दिल्ली) मे रचकर पूर्ण किया था।[16] इस ग्रन्थ मे कुल कल्प या प्रकरण सकलित है, जिनमे से अधिकांश स्वयं जिनप्रभसूरि द्वारा रचित है – कई एक ऐसे भी है जो अन्य विद्वानो द्वारा रचित है। अधिकतर कल्प किसी न किसी पवित्र जैन तीर्थ, अतिशय क्षेत्र आदि से सम्बन्धित है, और भिन्न-भिन्न समयों मे रचे गये है। कुछ एक कल्पो के अन्त मे उनकी रचना तिथि भी दी हुई है, जिनमे से सर्वप्रथम तिथि[17] वि० स० १३६४ (सन् १३०७ ई०) कल्प न० ११—वैभारगिरि-कल्प के अन्त मे प्राप्त होती है, और अन्तिम वि० स० १३८९ (सन् १३३२ ई०) कल्प न०३९—श्री महावीर गणधरकल्प के अन्त में सूचित की गई है।[18] कल्प न० ६३ मे जो वास्तव मे ग्रन्थ की अन्त्य प्रशस्ति है, ग्रन्थ समाप्ति की तिथि भी सन् १३३२ ई० प्राप्त होती है। उक्त ६३ कल्पो में से ४० प्राकृत भाषा मे रचित है और शेष २३ सस्कृत में।

---

१०. वही, पृ० ३६२-६३; विन्सेंट स्मिथ-आक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया, पृ० ३०१

११. देखिए हमारी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें।

१२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ३३५

१३. वही, पृ० ३३५-३३६; शेषगिरि राव : आन्ध्र-कर्नाटक जैनिज्म

१४. प्रमुख ऐति० जैन, पृ० १९१

१५. 'विविध तीर्थकल्प', मुनि जिन विजय द्वारा सम्पादित तथा सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९३४ ई० में विश्वभारतीय सिंघी जैन ज्ञानपीठ शांति निकेतन द्वारा प्रकाशित।

१६. वही, पृ० १०९

१७. वही, पृ० २३

१८. वही, पृ० ७७

ग्रंथ का कल्प संख्याक ५३, 'आमरकुण्ड पद्मावती देवी कल्प'[१९] है जो संस्कृत भाषा मे निबद्ध है और स्वयं ग्रन्थकार आचार्य जिनप्रभसूरि विरचित है, किन्तु इस कल्प के रचनाकाल का कोई सकेत उसमे नही है। ग्रथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप मे 'तिलङ्ग'[२०] नामक जनपद के आभूषण, अमरकुण्ड नामक सुन्दर नगर मे गिरिशिखर पर स्थित भवन (देवालय) के मध्य भाग मे विराजमान पद्मिनीदेवी (पद्मावती देवी) की जय मनाई है। तदन्नतर समस्त गुणगणों के आकर, आन्ध्रदेश के आमरकुण्ड नगर के सौन्दर्य का वणन किया है। अनेक रमणीक भवनों एव प्रासादों की सुव्यवस्थित पंक्तियो से सुसज्जित, नानाविध वृक्षों से भरे उद्यानो एवं वाटिकाओं से अलंकृत, निर्मल जलपूरित सरोवरों से शोभित, शत्रुओं को शोभित करने वाले दुर्गम दुर्ग से युक्त इस उत्तम नगर का कहां तक वर्णन करें? उसकी पण्यबीथिया (बाजार) करवीर आदि सुगन्धित पुष्पों से, मीठे इक्षुदण्डों, मोटे-मोटे केलों, चङ्ग नारङ्ग, सहकार, पनस, पुन्नाग, नागवल्ली, पूग, उत्तम नारिकेल आदि स्वादु खाद्य फलों से जो ऋतु-ऋतु मे फलते है और दशो दिशाओं को सुवासित करते थे, उत्तम शालि-धान्यादि, पट्टांशुक (रेशमी वस्त्रों) मुक्ताओ एव नानाविध रत्नों से भरी हुई थी। इस देश की यह राजधानी 'मुरंगल'[२१] तथा 'एकशिलापत्तन' नामो से प्रसिद्ध थी। नगर के निकट सब ओर से रमणीक; अपने सौन्दर्य से पर्वराज सुमेरु का गर्व खर्व करने वाला, पृथ्वी का अलकार विष्णुपदचुम्बिशिखर ऐसा एक पर्वत था। उसके ऊपर ऋषभ, शान्तिनाथ आदि जिनेन्द्रो की प्रतिमाओ से अलंकृत, मनुष्यो के हृदयो को आह्लादित करने वाले जिनालय विद्यमान थे। उस पवित्र जिनालय मे, सर्व प्रकार के छद्म से मुक्त जिनका मन था, जिनका हृदय विषयसुख वांछा से क्षुभित नहीं था, जो सहृदय जनों के हृदयों को आह्लादित करते थे, कामविजेता थे, जिन्होंने विस्मयकारी चरणचर्या से पद्मावती देवी को स्ववश करके सिद्ध कर लिया था—उसका इष्ट प्राप्त कर लिया था, ऐसे मेघचन्द्र नाम के अनेकान्ती दि० व्रतिपति अपने शिष्य समुदाय के साथ निवास करते थे। एकदा श्रावकगोष्ठी की प्रार्थना पर उन्होने किसी अन्य स्थान के लिए विहार किया। कुछ ही दूर चले थे कि अपने हाथ में अपनी पुस्तक (जो हस्ताभरण रूप ही थी) न देखकर बोले कि अहा! प्रमादवश वह अपनी पुस्तक पीछे मन्दिर में ही भूल आए है। अस्तु, उन्होंने माधवराज नामक अपने एक क्षत्रियजातीय छात्रशिष्य को उक्त पुस्तक को लाने के लिए भेजा। वह छात्र दौड़ा-दौड़ा मठ मे गया, किन्तु भीतर पहुचने पर उसने देखा कि अद्भुत रूपवती कल्याणी स्त्री उक्त पुस्तक को अपनी गोद मे रखे बैठी है। उस अक्षुब्धचेता निर्भीक युवक ने स्त्री की जघा पर से पुस्तक उठानी चाही तो क्या देखा कि पुस्तक तो स्त्री के कंधे पर रखी है। तब उस छात्र ने उक्त स्त्री को माता मानकर पुत्रवत् उसकी गोद मे पैर रक्खा और पुस्तक उसके कन्धे पर से उतार ली। देवी ने यह जानकर कि यह युवक राज्यारोहण करेगा, उससे कहा कि 'वत्स! मैं तेरी साहसिकता को देखकर सन्तुष्ट हुई। जो चाहे, वर मांग।' छात्र ने उत्तर दिया 'मेरे जगद्वन्द्य गुरुदेव ही मेरे समस्त मनोरथो को पूर्ण करने मे समर्थ है, फिर मैं और क्या चाहूं? और पुस्तक लेकर वह गुरु की सेवा मे आ उपस्थित हुआ, तथा मन्दिर मे जो घटा था वह भी कह सुनाया। तब उन क्षपणक गणाधिपति ने कहा 'भद्र! वह

१९. वही पृ० ६८-६६

२०. आन्ध्रदेश का यह भाग—तेलंग—तेलगाना कहलाता रहा है, किन्तु इस नाम का प्राचीन मूलरूप त्रिकलिंग रहा प्रतीत होता है। एक त्रिकलिंगाधिपति की पूर्वी समुद्रतट पर स्थित राजधानी रत्नसंचयपुर मे अकलक देव का बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ हुआ था।

२१. ग्रन्थ मे नगर का नाम पाठ 'मुरगल' मिलता है, जबकि उसका सुप्रसिद्ध नाम वार[illegible] है। सम्भव है विविधतीर्थकल्प का मूलपाठ 'उरंगल' रहा होगा। स्वय वारंगल भी मूल नाम 'ओरुक्कुल' का अपभ्रष्ट रूप है (ओरुक्कुल-उरुकुल-उरगल-ओरगल-वारगल) और उसका अर्थ तेलुगु भाषा में एकाकी पर्वत होता है, जैसाकि स्मिथ साहब ने लिखा है (आक्सफोर्ड हि० इ०, पृ० २८६ फुटनोट); सम्भवतया इसी कारण उक्त नगर का अपर नाम 'एकशैलगिरि', एकशिलापत्तन या एकशैलपुर प्रसिद्ध रहा।

कोई सामान्य स्त्री नहीं थी, वरन् वे तो स्वय भगवती पद्मावती देवी थीं जो तुझे प्रत्यक्ष हुईं। मैं तुझे एक पत्र लिखकर यह पत्र देता हूं तू तुरन्त वापस जा और देवी को वह पत्र दिखाना।' गुरु का आदेश मानकर वह पत्र सहित फिर मठ में पहुचा और पत्र देवी को समर्पित कर दिया। उसमे लिखा था कि 'मुझे अष्ट सहस्र हाथी, नव कोटि पदाति, एक लक्ष रथाश्व और विपुल कोश प्रदान करो।' भगवती ने पत्र पढ़कर उस युवक को एक अत्यन्त तेजस्वी अश्व दिया और कहा कि 'तुझे जो पत्र में लिखा है, प्राप्त होगा, यदि तू घोड़े पर चढ़कर द्रुतवेग से चला जाएगा और पीछे मुड़कर नही देखेगा।'' उसने ऐसा ही किया, किन्तु बारह योजन ही जा पाया था कि पीछे घटे-घड़ियाल आदि का तुमुलख सुना और कौतूहल-वश पीछे मुड़कर देखने लगा। घोड़ा वहीं स्थिर हो गया। यही उसके राज्य की अन्तिम सीमा हो गई।

तदनन्तर उस परम जैन माधवराज ने नगर में प्रविष्ट होकर देवी के भवन मे जाकर उसकी पूजा की। फिर आनमत्कुण्ड या आमरकुण्ड[२२] नगर मे आकर राज्यलक्ष्मी का उपभोग और प्रजा का पालन न्यायपूर्वक किया। उसने इष्टदेवी पद्मावती का स्वर्णमयी दण्ड-कलश-ध्वजादि से चमचमाता, ऊचे शिखर वाला मनोरम प्रासाद बनवाया और भक्तिपूर्वक देवी की नित्य पूजा होने लगी।

जिनप्रभसूरि कहते है कि भुवनव्यापी महात्म्य और अमन्द तेजवाला भगवती का वह मन्दिर आज भी वहां विद्यमान है और भव्यजन उसकी पूजा भी करते है। किन्तु मन्दिर तक पहुंचने के लिए पर्वत की एक गंभीर गुफा को पार करना पड़ता है। गुफाद्वार पर एक भारी विशाल शिलापट्ट लगा है जिसके कारण हर कोई उसमें प्रवेश नहीं पा सकता। जो विशिष्ट बलशाली एवं साहसी है वे ही शिलाद्वार खोलकर भीतर जाते है और देवी सदन में भगवती की भक्तिपूर्वक उपासना करते है। अन्य गुफाद्वार पर ही देवी की पूजा करके अपने मनोरथ सिद्ध करते है।

उक्त माधवराज कंकति ग्राम[२३] का निवासी था। उसके वंशज-पुरटिरित्तमराज-पिण्डिकुण्डिराज-प्रोल्लराज रुद्रदेव-गणपतिदेव की पुत्री रुद्रमहादेवी, जिसने पैंतीस वर्ष राज्य किया, उसके पश्चात् प्रताप-रुद्रये प्रसिद्ध काकतीय नरेश हुए हैं। यह आरामकुण्ड की पद्मावती का जिन-प्रभसूरि ने जैसा सुना (*यथाश्रुतम्*) वैसा ही लिखा है।

सम्भव है कि उल्लेखित गुफाद्वार के शिलापट्ट पर देवी के अतिशय का उपरोक्त विवरण अंकित रहा हो।

अंतिम राजा प्रतापरुद्र ने १२९६ से १३२६ ई० तक राज्य किया था और उसके पूर्व उसकी मातामही रुद्र महादेवी ने १२६१ से १२९६ तक राज्य किया था। सन् १३०८-९ मे अलाउद्दीन खिलजी की सेनाओ ने वारंगल पर आक्रमण किया और लूटपाट की थी और १३२१-२२ मे जूनाखां (मुहम्मद बिन तुगलक) ने तो राजा को हराकर बन्दी बना लिया था, किन्तु फिर राज्य का कुछ भाग और बहुत-सा धन लेकर छोड़ दिया था। इससे लगता है कि जिनप्रभसूरि ने इस कल्प की रचना १३०० और १३०८ ई० के बीच किसी समय की थी। अतएव उनका यह विवरण बहुत कुछ समसामयिक है। एक जीवित समकालीन राज्य एवम् राज्यवंश के सम्बन्ध में ततःप्रचलित एव लोकप्रसिद्ध अनुश्रुति को आचार्य ने निबद्ध किया है, अतएव उसकी ऐतिहासिकता

(शेष पृ० १३६ पर)

२२. आरामकुण्ड—आमरकुण्ड—आनमकुण्ड से अभिप्राय आन्ध्रदेश के प्रसिद्ध एवं अतिप्राचीन जैन केन्द्र रामकोण्ड अपरनाम रामतीर्थ या रामगिरि से रहा प्रतीत होता है। तेलुगु भाषा की अनभिज्ञता से 'कोण्ड' का कुण्ड हो गया और प्रतिलिपिकारों ने 'राम' का आराम, आमर, आममत् आदि कर दिया। 'रामकोण्ड' के लिए देखें हमारी जैना सोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेंट इण्डिया, पृ० २०३

२३. भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित भारतीय इतिहास (भाग ५, पृ० १९८) मे इस ग्राम का नाम काकतिपुर दिया है और कारिकलचोल को इसका मूल निर्माता बताया है; काकातीय वंश का अपर-नाम दुर्जय वंश दिया है और उसे शूद्रजातीय बताया है; जो वंशावली ही उसमे भी विविधतीर्थकल्प में उल्लिखित प्रथम तीन नाम नही है, शेष है, बल्कि कुछ अतिरिक्त भी।

जैन साहित्य और शिल्प में वाग्देवी सरस्वती

☐ श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

संगीत, विद्या और बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती भारतीय देवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। भारतीय देवियों मे केवल लक्ष्मी (समृद्धि की देवी) एवं सरस्वती ही ऐसी देवियां है जो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों प्रमुख धर्मों में समान रूप से लोकप्रिय रही है। ब्राह्मण धर्म में सरस्वती को कभी ब्रह्मा की (मत्स्यपुराण) और कभी विष्णु की (ब्रह्मवैवर्तपुराण) शक्ति बताया गया है। ब्रह्मा की पुत्री के रूप में भी सरस्वती का उल्लेख किया गया है। बौद्धों ने प्रारम्भ में सरस्वती की पूजा बुद्धि की देवी के रूप मे की थी, पर बाद में उसे मंजुश्री की शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया। ज्ञातव्य है कि मंजुश्री बौद्धदेव-समूह के एक प्रमुख देवता रहे है। जैनों में भी सरस्वती प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रही है, जिसके पूजन की प्राचीनता के हमें साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त होते है।

प्रारंभिक जैन ग्रन्थो मे सरस्वती का उल्लेख मेधा और बुद्धि की देवी के रूप में किया गया है, जिसे अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करने वाली बताया गया है। संगीत, ज्ञान और बुद्धि की देवी होने के कारण ही संगीत ज्ञान और बुद्धि से सम्बधित लगभग सभी पवित्र प्रतीकों (श्वेत रंग, वीणा, पुस्तक, पद्म, हंसवाहन) को उससे सम्बद्ध किया गया था। जैन ग्रन्थों में सरस्वती का अन्य कई नामों से स्मरण किया गया, यथा श्रुतदेवता, भारती, शारदा, भाषा, वाक्, वाक्देवता, वागीश्वरी, वाग्वाहिनी, वाणी और ब्राह्मी। उल्लेखनीय है कि जैनों के प्रमुख उपास्य देव तीर्थंकर रहे है, जिनकी शिक्षाएँ 'जिनवाणी', 'आगम' या 'श्रुत' के रूप में जानी जाती थीं। जैन आगम ग्रंथों के संकलन एवं लिपिबद्धीकरण का प्राथमिक प्रयास लगभग दूसरी शती ई० पू० के मध्य में मथुरा में प्रारम्भ हुआ था। ऐसी धारणा है कि मथुरा में प्रारम्भ होनेवाले सरस्वती-आन्दोलन के कारण ही जैन आगमिक ज्ञान का लिपिबद्धीकरण प्रारम्भ हुआ था और उसके परिणाम-स्वरूप ही आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे सरस्वती को उसका प्रतीक बनाया गया और उसकी पूजा प्रारम्भ की गई। आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी होने के कारण ही उसकी भुजा मे पुस्तक के प्रदर्शन की परम्परा प्रारम्भ हुई। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती की प्राचीनतम जैन प्रतिमा मे भी देवी की एक भुजा मे पुस्तक प्रदर्शित है। कुषाणयुगीन उक्त सरस्वती मूर्ति (१३२ ई०) सम्प्रति राजकीय संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे-२४) मे संकलित है।

साहित्य में :

अंगविज्जा, पउमचरिउ और भगवतीसूत्र जैसे प्राचीन जैन ग्रंथों मे सरस्वती का उल्लेख मेधा और बुद्धि की देवी के रूप मे है। **एकाणसा सिरी बुद्धी मेधा कित्ती सरस्वती।** (अंगविज्जा, अध्याय ५८)।

देवी के लाक्षणिक स्वरूप का निर्धारण आठवीं शती ई० में ही पूर्णता प्राप्त कर सका था। आठवी शती ई० के ग्रन्थ चतुर्विशतिका (बप्पभट्टिकसूरिकृत) मे हंसवाहना सरस्वती को चतुर्भुज बताया गया है, और उसकी भुजाओ में अक्षमाला, पद्म, पुस्तक एवं वेणु के प्रदर्शन का निर्देश है। वेणु का उल्लेख निश्चित ही अशुद्ध पाठ के कारण हुआ है। वास्तव में इसे वीणा होना चाहिए था।

प्रकटपाणितले जपमालिका कमलपुस्तकवेणुवराधरा।
धवलहंससमा श्रुतवाहिनी हरतु मे दुरितं भुविभारती॥

—चतुर्विशतिका

दशवी शती ई० के ग्रन्थ निर्वाणकलिका (पादलिप्त-सूरिकृत) मे समान विवरणों का प्रतिपादन किया गया है। केवल वेणु के स्थान पर वरदमुद्रा का उल्लेख है। १४१२ ई० के ग्रंथ आचारदिनकर (वर्धमानसूरिकृत) में

भी समान विवरणों का उल्लेख है। केवल वरदमुद्रा के स्थान पर वीणा के प्रदर्शन का निर्देश है।

भगवती वाग्देवते वीणापुस्तकमौक्तिक क्षवलयश्वेताब्ज-मण्डितकरे। —आचारदिनकर

श्वेताम्बर ग्रंथो के विपरीत दिगम्बर ग्रन्थ प्रतिष्ठा-तिलकम् (१५४३ ई०) में सरस्वती का वाहन मयूर बताया गया है। प्रतिमानिरूपण सम्बन्धी ग्रंथो के अध्ययन से स्पष्ट है कि हंसवाहना (कभी-कभी मयूरवाहना) सरस्वती चतुर्भुजा होंगी और उनके करो मे मुख्यतः पुस्तक, वीणा तथा पद्म प्रदर्शित होगा।

मूर्त अकनों में :

जैन परम्परा मे सरस्वती की मूर्तियों का निर्माण कुषाण-युग से निरन्तर मध्ययुग (१२वी शती ई०) तक सभी क्षेत्रों मे लोकप्रिय रहा है। मूर्त चित्रणो मे सरस्वती को मुख्यत तीन स्वरूपो मे अभिव्यक्त किया गया है—द्विभुज, चतुर्भुज और बहुभुज। ग्रथों के निर्देशों के अनुरूप ही मूर्त अकनो मे सरस्वती का वाहन हंस (या मयूर) है और उनकी भुजाओं मे मुख्यतः वीणा, पुस्तक एवं पद्म प्रदर्शित है। सरस्वती को या तो पद्म पर एक पैर लटकाकर ललित मुद्रा मे आसीन निरूपित किया गया है, या फिर स्थानक मुद्रा मे खड़े रूप मे।

सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कुषाणकाल (१३२ ई०) की है, जो मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त हुई है। जन परम्परा की यह सरस्वती-मूर्ति भारतवर्ष मे सरस्वती-प्रतिमा का प्राचीनतम ज्ञात उदाहरण है। द्विभुज सरस्वती को दोनों पैर मोडकर पीठिका पर बैठे दर्शाया गया है। देवी का मस्तक और दक्षिण भुजा भग्न है। देवी की वामभुजा मे पुस्तक प्रदर्शित है। भग्न दक्षिण भुजा मे अक्षमाला के कुछ मनके स्पष्ट दिखाई पड़ते है। सरस्वती के दोनों पार्श्वों मे दो उपासक आमूर्तित है, जिनमे से एक की भुजा मे घट प्रदर्शित है और दूसरा नमस्कारमुद्रा मे अवस्थित है। उल्लेखनीय है कि इस मूर्ति के बाद आगामी लगभग ४५० वर्षों तक, यानी गुप्तवश की समाप्ति तक, जैन परम्परा की एक भी सरस्वती-मूर्ति प्राप्त नही होती। सरस्वती-मूर्ति का दूसरा उदाहरण सातवी शती ई० का है। राजस्थान के वसतगढ़ नामक स्थान से प्राप्त मूर्ति में द्विभुज सरस्वती को स्थानक मुद्रा मे पद्मासन पर आमूर्तित किया गया है। पद्मासन के दोनो ओर मंगल-कलश उत्कीर्ण हैं। सरस्वती की भुजाओ मे पद्म और पुस्तक प्रदर्शित है। सरस्वती भामण्डल, हार, एकावली एव अन्य सामान्य अलंकरणो से सज्जित है। द्विभुज सरस्वती की एक अन्य मूर्ति राजस्थान के ही राणकपुर जैन मन्दिर (जिला पाली) से प्राप्त है। इसमे सरस्वती को दोनों हाथो से वीणावादन करते हुए दर्शाया गया है। समीप ही हंसवाहन उत्कीर्ण है।

सरस्वती की संगमरमर की एक मनोहारी प्रतिमा राजस्थान के गगानगर जिले के पल्लू नामक स्थान में है। १०वी-११वी शती ई० की इस मूर्ति मे चतुर्भुज सरस्वती को साधारण पीठिका पर खड़ा दर्शाया गया है। पीठिका पर हंसवाहन और हाथ जोड़े उपासक आकृतियां निरूपित है। अलकृत कांतिमण्डल से युक्त देवी के शीर्ष भाग मे तीर्थंकर की लघु आकृति उत्कीर्ण है। देवी ऊर्ध्व दक्षिण और वाम करो मे क्रमशः सनालपद्म और पुस्तक प्रदर्शित है, जब कि निचले करों में वरद-अक्षमाला और कमण्डल स्थित है। सरस्वती के दोनों पार्श्वों में वेणु और वीणावादिनी स्त्री आकृतियाँ आमूर्तित हैं। सरस्वती मूर्ति के दोनों पार्श्वों और शीर्ष भाग मे अलकृत तोरण उत्कीर्ण है, जिस पर जैन तीर्थंकरों, महाविद्याओ, गन्धर्वों और गज-व्यालो की आकृतियाँ उत्कीर्ण है। देवी कई प्रकार के हारों, करण्डमुकुट, वनमाला, धोती, बाजूबन्द, मेखला, कगन और चूड़ियो जैसे अलकरणो से सुशोभित है। मूर्ति सम्प्रति बीकानेर के गगा गोल्डेन जुबिली संग्रहालय (क्रमांक २०३) मे है। समान विवरणो वाली कई मूर्तियाँ खजुराहो (मध्यप्रदेश), तारगा (गुजरात) एव विमल-वसही और सेवाड़ी (राजस्थान) जैसे जैन स्थलो मे है। ऐसी एक मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (क्रमाक-१।६।२७८) में भी शोभा पा रही है।

झांसी जिले के अन्तर्गत देवगढ़ मे भी ग्यारहवी शती ई० की एक मनोज्ञ सरस्वती-मूर्ति है। जटामुकुट से सुशोभित चतुर्भुज सरस्वती स्थानक मुद्रा मे सामान्य पीठिका पर खड़ी है। सरस्वती की भुजाओ मे अक्षमाला-व्याख्यानमुद्रा, पद्म, वरदमुद्रा और पुस्तक प्रदर्शित है।

मूर्ति के शीर्ष भाग मे तीन लघु तीर्थंकरमूर्तियां और पार्श्वों मे चार सेविकाएँ आमूर्तित हैं। सरस्वती की दो मूर्तियां ब्रिटिश संग्रहालय मे भी संकलित है। राजस्थान से प्राप्त ११वी-१२वी शती ई० की पहली मूर्ति मे चतुर्भुज सरस्वती त्रिभंग मे खडी है। देवी की दो अवशिष्ट वाम भुजाओं में अक्षमाला और पुस्तक प्रदर्शित है। शीर्ष भाग में पांच लघु तीर्थंकर-मूर्तियां एव पीठिका पर सेवक और उपासक आमूर्तित है। दूसरी मूर्ति संवत् १०६१ (१०३४ ई०) मे तिथ्यंकित है। लेख मे स्पष्टत. वाग्देवी का नाम खुदा है। बड़ोदा-संग्रहालय की ११वीं-१२वी शती ई० की हंसवाहना चतुर्भुज सरस्वती-मूर्ति मे देवी के हाथों मे वीणा वरद-अक्षमाला, पुस्तक एव जलपात्र प्रदर्शित है। पार्श्ववर्ती चामरधारिणी सेविकाओं से सेव्यमान सरस्वती विभिन्न अलकरणों से सज्जित है।

राणकपुर की चतुर्भुज मूर्ति में देवी को ललित मुद्रा में आसीन दिखाया गया है। देवी की भुजाओं मे अक्षमाला, वीणा, अभयमुद्रा और कमण्डलु है। एक अन्य उदाहरण मे चतुर्भुज सरस्वती हंस पर आरूढ़ हैं और उनकी एक भुजा मे अभयमुद्रा के स्थान पर पुस्तक है। चतुर्भुज सरस्वती की एक सुन्दर प्रतिमा राजपूताना संग्रहालय, अजमेर में है। बासवाडा जिले के अर्थुणा नामक स्थान से प्राप्त मूर्ति मे देवी वीणा, पुस्तक, अक्षमाला और पद्म धारण किए है। समान विवरणों वाली मूर्तियां कुंभारिया के नेमिनाथ एवं पाटण के पचासर मन्दिरों (गुजरात) और विमलवसही में है। विमलवसही की एक चतुर्भुज मूर्ति मे हंसवाहना सरस्वती की तीन अवशिष्ट भुजाओं में पद्म, पद्म और पुस्तक है। चतुर्भुज सरस्वती की १३वीं शती ई० की एक स्थानक मूर्ति हैदराबाद संग्रहालय में है। हंसवाहना देवी के करों मे पुस्तक, अक्षमाला, वीणा और अंकुश (या वज्र) है। परिकर मे उपासक और तीर्थंकर पार्श्वनाथ की आकृतियां उत्कीर्ण है। राजस्थान के भरतपुर जिले के बयाना नामक स्थान से प्राप्त चतुर्भुज मूर्ति में देवी का वाहन मयूर है। देवी के करों में पद्म, पुस्तक, वरद और कमण्डलु है।

सरस्वती की बहुभुजी मूर्तियों के उदाहरण मुख्यतः गुजरात (तारंगा) और राजस्थान (विमलवसही एवं लूणवसही) के जैन स्थलों में है। षड्भुज सरस्वती की दो मूर्तियां लूणवसही मे है। दोनो उदाहरणों मे सरस्वती हंस पर आसीन है। एक मूर्ति में देवी की पांच भुजाएँ खण्डित हैं और अवशिष्ट एक भुजा में पद्म है। दूसरी मूर्ति में दो ऊपरी भुजाओ में पद्म प्रदर्शित है, जब कि मध्य की भुजाएँ ज्ञानमुद्रा में है। निचली भुजाओं में अभयाक्ष और कमण्डलु चित्रित है। अष्टभुज सरस्वती की हंसवाहना मूर्ति तारंगा के अजितनाथ मन्दिर में है। त्रिभंग में खड़ी देवी के ६ अवशिष्ट करों मे पुस्तक, अक्षमाला, वरदमुद्रा, पद्म, पाश एव पुस्तक प्रदर्शित है। सरस्वती की एक षोडशभुज मूर्ति विमलवसही के वितान पर उत्कीर्ण है। नृत्यरत पुरुष आकृतियो से आवेष्टित देवी भद्रासन पर आसीन है। देवी के अवशिष्ट हाथों में पद्म, शंख, वरद, पद्म, पुस्तक और कमण्डलु प्रदर्शित हैं। हंसवाहना देवी के शीर्ष भाग में तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण है।

□ □ □

(पृ० १३३ का शेषांश)

में सन्देह नही होना चाहिए—विस्तारों और घटनाओं के वर्णन में कथंचित् पौराणिकता या अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु वारंगल के काकातीय राज्य के संस्थापक माधवराज के, जिसका अपरनाम सम्भवतया बेतराज था,[२४] परम जैन होने और स्वगुरु दिगम्बराचार्य मेघचन्द्र के आशीर्वाद, प्रेरणा एवं सहायता से राज्य स्थापन करने वाला तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विश्वसनीय है।

□ □

२४. भा० वि० भवन वाले इतिहास में वंश के सर्वप्रथम ज्ञात नरेश का नाम 'बेत' दिया है और उसका समय १०२५ ई० के लगभग अनुमान किया है। अतएव या तो माधवराज का ही अपरनाम बेत होगा, अथवा वह बेत का पूर्वज होगा, और इस प्रकार आचार्य मेघचन्द्र, माधवराज, काकातीय और उक्त राज्य की स्थापना सन् १२०५ ई० के आसपास होनी चाहिए।

उज्जयिनी की दो अप्रकाशित महावीर प्रतिमाएं

□ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

भगवान् महावीर के जीवन-काल मे ही उज्जयिनी पश्चिमी भारत के एक महान् सांस्कृतिक नगर के रूप मे प्रमुख व्यापारिक स्थल बन चुका था। जैन ग्रन्थों मे कहा गया है कि भगवान् महावीर ने उज्जयिनी मे कठोर तपस्या की थी और रुद्र ने अपनी पत्नी सहित इनकी तपस्या भंग करने का निष्फल प्रयास किया था। यद्यपि विद्वानों का मत है कि भगवान महावीर अपने भ्रमण मे कभी भी उज्जैन नहीं आये थे, फिर भी यदि प्रतीकात्मक अर्थ लिया जाय तो यह स्पष्ट है कि महावीर के चलाये जैन धर्म को यहां बड़ी साधना से प्रस्थापित किया गया और पूर्व के प्रचलित शैव धर्म ने बाधा डाली, पर वह इस धर्म के चतुर्दिक प्रसार में रोक न लगा सका और जैन धर्म निर्बाध प्रसारित हुआ। मौर्यकाल में संप्रति द्वारा इसे राज्याश्रय में मिलकर और फैलाव मिला और यही से वह दक्षिण भारत की ओर बढ़ा व दक्षिण भारत मे भी पर्याप्त विकसित हुआ।

जैन परम्पराओं मे उज्जैन के शासक चंडप्रद्योत को जैन धर्मानुयायी व जैन धर्म का कुसुम कहा गया है। डा. एस. बी. देव के अनुसार, मौर्य सम्राट् संप्रति ने पूर्ण उत्साह लेकर जैन धर्म का विस्तार पूर्वी भारत से हटाकर मध्य व पश्चिमी भारत मे किया और एक प्रकार से उज्जयिनी को ही उसका केन्द्र-बिंदु बनाया और दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रसारित होने का मार्ग खोल दिया[1]। संप्रति ने आचार्य सुहस्तिन के मार्गदर्शन मे उज्जयिनी से जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया। उज्जयिनी के ही परम्पराश्रुत एवं अनेक कथाओं के नायक विक्रमादित्य ने सिद्धसेन दिवाकर के द्वारा जैन-धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् जैन धर्म के प्रसार में विशेष योगदान दिया। संपूर्ण प्राचीन मालवा मे जैन धर्म का प्रसार उज्जयिनी से ही सम्पन्न हुआ। और यह समृद्ध काल ९वी से १३वी शताब्दी तक अपनी चरम सीमा पर रहा। १३वी शताब्दी में उज्जयिनी का देवधर जैन-संघ का प्रधान था। इससे पुष्टि होती है कि उस समय उज्जैन जैन प्रचार का प्रधान केन्द्र था। उज्जैन जिले के लगभग ४० स्थल मैंने व पुरातत्त्ववेत्ता पद्मश्री डा० विष्णु श्रीधर वाकणकर ने खोजे हैं। जहां जैन मंदिर व तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं, प्रायः सभी प्रतिमाएं अप्रकाशित हैं। इन स्थानों में जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से निम्नलिखित स्थान महत्त्वपूर्ण हैं :—

१. उन्हेल २. रुणीजा ३. महतपुर ४. झारड़ा ५. धुलेद ६. कायदा ७. खाचरोद ८. विक्रमपुर ९. हासामपुरा १०. इंदोख ११. मक्सी १२. सोढ़ंग १३. करेड़ी १४. सुंदरसी १५. इंगोरिया १६. दंगवाड़ा १७. खरसोद १८. नरवर. १९. ताजपुर. २०. टुकराल. २१. जैथल. २२. पानबिहार[2]।

उज्जैन में अखिल भारतीय दिगम्बर सभा के तत्वावधान में एक जैन-मूर्ति संग्रहालय की स्थापना सन् १९३० में की गई और निकटवर्ती स्थानो से जैन अवशेष एकत्रित किये गये। इसमें प० सत्यंधर कुमार जी सेठी का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। अब यह संग्रहालय ५८० मूर्तियों से सम्पन्न है। यहां की दो अप्रकाशित भगवान् महावीर प्रतिमाओं का विवरण यहा पर दिया जा रहा है।

संग्रहालय की मूर्ति क्रमांक ८३ में प्रथम प्रतिमा है। संपूर्ण संग्रहालय की तीर्थंकर प्रतिमाओं में यह विशेष कलात्मक है। भगवान् महावीर पद्मासन मे बैठे है। नेत्र उन्मीलित हैं और मुखाकृति पर सौम्य भाव व गहन

(शेष पृ० १४० पर)

---

१. डा. एस. बी. देव : हिस्ट्री आफ जैन मोनाकिज्म, पृ. ९२.

२. प्राच्य विद्या निकेतन, बिड़ला म्यूजियम, भोपाल द्वारा आयोजित जैन सेमिनार में पढ़ा गया डा. वाकणकर का शोधलेख।

कर्णाटक में जैन शिल्पकला का विकास

□ श्री शिवकुमार नामदेव

कर्णाटक मे जैन धर्म के अस्तित्व का प्रमाण प्रथम सदी ई० पू० से ११वी सदी ई० तक ज्ञात होता है। तत्पश्चात् वहाँ वीरशैव मत का प्रचार हुआ। होयसल आदि वंश के नरेश इस मत के प्रबल समर्थक थे। पूर्व-कालीन जैन देवालय एवं गुफाएँ ऐहोल, बादामी एव पट्टडकल आदि स्थलो मे उपलब्ध होती है। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त लकुण्डी (लोकिगुडी), बंकपुर, बेलगाम, हल्शी, बल्लिगवे, जलकुण्ड आदि मे भी जैन देवालय है। ये देवालय विभिन्न देव-प्रतिमाओ से विभूषित है। इन देवालयों में श्रवणबेलगोल का शांतिनाथ मदिर, हलेबिद का पार्श्वनाथ मंदिर एवं अगदि का मल्लिनाथ मदिर उल्लेख-नीय है। इस काल की बृहदाकार प्रतिमाएं श्रवणबेलगोल, कार्कल एवं बेनूर मे है।

कर्णाटक के हायलेश्वर देवालय से दो फर्लांग की दूरी पर जैनों के तीन मदिर है जिनमे चौबीस तीर्थकरो की प्रतिमाएँ संरक्षित है।

कर्णाटक में पद्मावती सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षी रही है।[1] यद्यपि पद्मावती का सम्प्रदाय काफी प्राचीन रहा है, परन्तु दसवीं सदी के पश्चात् के अभिलेखीय साक्ष्यों में निरंतर पद्मावती का उल्लेख प्राप्त होता है। कर्णाटक के विभिन्न स्थलों से ग्यारहवीं सदी से तेरहवी सदी के मध्य की कई प्रतिमाएँ उपलब्ध होती है।[2] धारवाड जिले मे ही मल्लिसेन सूरि ने 'भैरव-पद्मावतीकल्प' एवं 'ज्वालिनी-कल्प' जैसे तांत्रिक ग्रन्थों की रचना की थी, जो पद्मावती एवं ज्वालिनी की विशेष प्रतिष्ठा की सूचक है।[3]

कन्नड क्षेत्र से प्राप्त पार्श्वनाथ-मूर्ति (१०वी-११वीं सदी) मे एक सर्पफण-युक्त पद्मावती की दो भुजाओ में पद्म एव अभय प्रदर्शित है।[4] कन्नड शोध संस्थान संग्रहालय की पार्श्वनाथ-मूर्ति मे चतुर्भुज पद्मावती पद्म, पाश, गदा या अंकुश एव फल धारण किए हुए है।[5] उक्त संग्रहालय मे चतुर्भुजी पद्मावती की ललितमुद्रासीन दो स्वतंत्र मूर्तियाँ भी सुरक्षित है। प्रथम प्रतिमा (के० एम० ८४) मे सर्पफण से मडित यक्षी का वाहन कुक्कुट-सर्प है। यक्षी की दोनो दक्षिण भुजाएं खडित है एवं वाम मे पाश एवं फल प्रदर्शित है। प्रतिमा के किरीट (मुकुट) मे लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है।[6] द्वितीय प्रतिमा मे पांच सर्पफणों से सुशोभित पद्मावती की भुजाओं मे फल, अंकुश, पाश एवं पद्म प्रदर्शित है। यक्षी का वाहन हंस है।[7] बादामी की पाँचवी गुहा के समक्ष की दीवार पर भी ललितमुद्रा में आसीन चतुर्भुज यक्षी आमूर्तित है। आसन के नीचे उत्कीर्ण वाहन सभवत हस या क्रौंच है। सर्पफण से विहीन यक्षी के करों मे अभय, अंकुश, पाश एवं फल प्रदर्शित है।[8]

कर्णाटक से उपलब्ध तीन चतुर्भुजी पद्मावती की प्रतिमाएँ सम्प्रति प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बंबई मे हैं।[9] तीनों उदाहरणो मे एक सर्पफण से सुशोभित पद्मावती ललितमुद्रा मे विराजमान है। पहली मूर्ति मे यक्षी की तीन अवशिष्ट भुजाओ मे पद्म, पाश एव अंकुश प्रदर्शित है।

---

१. जैनिज्म इन साउथ इंडिया—देसाई, पी० बी०, पृ० १६३।
२. वही, पृ० १६३। ३. वही, पृ० १०।
४. नोट्स आन टू जैन मेटल इमेजेज : हाडवे, डब्ल्यू. एस., रूपम., अक १७, जनवरी १९२४, पृ० ४८-४९
५. ए गाइड टू द कन्नड रिसर्च इंस्टिट्यूट म्यूजियम, धारवाड़, १९५८, पृ० १९—अन्निगेरी
६. वही, पृ० १९ ७. वही
८. जैन यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, बुलेटिन डेक्कन कॉलेज—रिसर्च इंस्टिट्यूट, खंड १, १९४०, पृ० १६१ एच. डी. सांकलिया।
९. जैन यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, पृ० १५८-५९

दूसरी मूर्ति की एक अवशिष्ट भुजा में अंकुश तथा तीसरी मूर्ति में आसन के नीचे उत्कीर्ण वाहन संभवतः कुक्कुट या शुक है। यक्षा वरद, अंकुश, पाश एव सर्प से युक्त है।

बादामी में तीन ब्राह्मण गुफाओं के साथ पूर्व की ओर एक जैन गुहा भी है, जिसका निर्माण काल ६५० ई० के लगभग है। उक्त गुफा में पीछे की दीवाल में सिंहासन पर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर विराजमान हैं। उनके दोनों ओर दो चवरधारी है और बरामदे के दोनों छोरों पर क्रमशः पार्श्वनाथ एवं बाहुबली ७ फुट ऊँचे उत्कीर्ण है। इसी प्रकार, स्तंभो पर तीर्थंकर मूर्तियां उत्कीर्ण है।[10]

बादामी की ही तरह ऐहोल में भी जैन गुफाएँ है। इसमें सहस्त्र फणयुक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण है। पार्श्वनाथ के अतिरिक्त भगबान् महावीर की भी आकृति यहाँ दृष्टिगोचर होती है। उपर्युक्त दोनों स्थल—बादामी एवं ऐहोल चालुक्य नृपतियों की राजधानी रहे है। इससे ज्ञात होता है कि चालुक्यों के काल मे निर्मित जैनकला उनके जैन धर्मावलम्बी अथवा धर्म-सहिष्णु होने का परिणाम था।

कर्णाटक मे गोम्मट की अनेक मूर्तियाँ है। चालुक्यो के काल मे निर्मित ई० सन् ६५० की गोम्मट की एक प्रतिमा बादामी मे स्थित है। तलकाडु के गग राजाओ के शासनकाल में गगराज रायमल्ल सत्यवाक्य के सेनापति व मत्री चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल मे ई० सन् ९८२ मे स्थापित विश्व-प्रसिद्ध गोम्मट मूर्ति है। यह ५७ फुट ऊँची है। मैसूर के समीप गोम्मट गिरि मे १४ फुट ऊँची एक गोम्मट प्रतिमा है जो १४वीं सदी की है। इसके समीप ही कन्नंबाड़ी (कृष्णसागर) के उस पार १२ मील की दूरी पर स्थित बसदि होस-कोटे हल्ली मे गग-कालीन गोम्मट की एक अन्य १८ फुट ऊँची प्रतिमा है। कार्कल में ४२ फुट ऊँची १४६२ ई० में वीरपाण्ड द्वारा निर्मित गोम्मट प्रतिमा है। श्रवण-बेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति की प्रेरणा से तिम्मराज अजिल ने वेणूर मे ई० सन् १६०८ मे ३५ फुट ऊँची गोम्मट मूर्ति की स्थापना कराई।

कार्कल की गोम्मट मूर्ति का निर्माण पहाड़ी शिला से हुआ है। अनुमान है कि मूर्ति का वजन करीब ४०० टन है। मूर्तिकार का असली नाम अज्ञात है। कार्कल की इस मूर्ति के निर्माण के सम्बन्ध मे 'चन्द्रम कवि' ने अपने 'गोम्मटेश्वरचरित' मे बहुत कुछ लिखा है। कार्कल के गोम्मटेश्वर प्रतिष्ठापन समारोह मे विजयनगर के तत्कालीन राजा द्वितीय देवराज उपस्थित थे। मूर्ति के दाहिनी ओर अकित सस्कृत लेख से ज्ञात होता है कि शालिवाहन शक १३५३ (ई० सन् १४३१-३२) में विरोधिकृत संवत् की फाल्गुन शुक्ला ११ बुधवार को, कार्कल के भैररसो के गुरु मैसूर के हनसोगे देशी गण के ललितकीर्तिजी के आदेश से चन्द्रवश के भैरव राजा के पुत्र वीर पांड्य ने इसे स्थापित किया।

वेणूर स्थित गोम्मट-मूर्ति को वहा के समीपवर्ती कल्याणी नामक स्थल की शिला से निर्मित किया गया है। श्रवणबेलगोल मे चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मट मूर्ति को देखकर तिम्मण अजिल ने अपनी राजधानी में ऐसी ही एक मूर्ति स्थापित करने का निश्चय किया और यह मूर्ति खुदवाई। मूर्ति के दाहिनी ओर उत्कीर्ण संस्कृत लेख में बताया गया है कि चामुण्डराय के वश के तिम्मराज ने श्रवणबेलगोल के अपने गुरु भट्टारक चारुकीर्ति के आदेशानुसार शालिवाहन शक १५२५ शोधकृत सवत् के गुरुवार १ मार्च १६०४ को इसका प्रतिष्ठापन कराया। मूर्ति के बायी ओर कन्नड पदो मे भी यही बात उल्लिखित है।[11]

श्रवणबेलगोल के उत्तराभिमुख स्थित मूर्ति विश्व की प्रसिद्ध आश्चर्यजनक वस्तुओ मे से एक है। लम्बे बड़े कान, लम्बबाहु, विशाल वक्षस्थल, पतली कमर, सुगठित शरीर आदि ने मूर्ति की सुन्दरता को और अधिक बढ़ा दिया है। कायोत्सर्ग मुद्रा मे ५७ फुट ऊची तपोरत यह प्रतिमा मीलो दूर से ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

इस विशालकाय प्रतिमा के निर्माण के विषय में हमे एक अभिलेख से जानकारी उपलब्ध होती है, जो मूर्ति के पार्श्वभाग मे उत्कीर्ण है। अभिलेख से यह ज्ञात होता

---

१०. आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, भाग १, पृ० २५

११. कर्नाटक की गोम्मट मूर्तियाँ—प० के० भुजबली शास्त्री, अनेकान्त अगस्त १९७२

है कि इस प्रतिमा का निर्माण चामुण्डराज ने कराया था। चामुण्डराज गगनरेश राजमल्ल (रायमल्ल) चतुर्थ (६७४–६८४ ई०) के मंत्री और सेनापति थे। चामुण्डराज ने कन्नड भाषा में 'चामुण्डरायपुराण' की रचना की थी जिसमें उन्होंने २४ तीर्थकरों का चरित्र वर्णित किया। इस प्रतिमा के निर्माता शिल्पी अरिष्टनेमि हैं। उन्होंने मूर्ति के निर्माण में अंगों का विन्यास ऐसे नपे-तुले ढंग से किया है कि उसमे किसी प्रकार का दोष निकालना संभव नहीं है; जैसे कर्ण का अधोभाग, विशाल स्कंध एवं आजानुबाहु। प्रतिमा के स्कंध सीधे हैं, उनसे दो विशाल भुजाएं अपने स्वाभाविक ढंग से प्रलंबित हैं। हस्त की अंगुलियां सीधी एवं अंगूठा ऊर्ध्व को उठा हुआ अंगुलियों से विलग है।

इस विशालकाय प्रतिमा का निर्माण श्रवणबेलगोल के इन्द्रगिरि के कठोर हल्के भूरे प्रस्तर से हुआ है। उत्तराभिमुख सीधी खड़ी इस दिगम्बर प्रतिमा के जानु के ऊपर का भाग बिना किसी सहारे के अवस्थित है। प्रतिमा का निर्माणकाल लगभग ६८० ई० के निकट है।

विश्व की सर्वोच्च ५७ फुट ऊंची प्रतिमा के विभिन्न अंगों के विन्यास से इसकी विशालता का स्वतः अनुमान लगाया जा सकता है—

	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक ...	५०	००
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक ...	६	०६
चरण की लम्बाई ...	९	००
चरण के अग्रभाग की चौड़ाई ...	४	०६
चरण का अंगूठा ...	२	०९
वक्ष की चौड़ाई ...	२	०६
पांव की उंगली की लम्बाई ...	२	०९
मध्य की उँगली की लम्बाई ...	५	०३
एड़ी की ऊंचाई ...	२	०९
कर्ण का पारिल ...	५	०६
कटि ...	१०	००

इस प्रकार प्रतिमा-निर्माण के क्षेत्र में शिल्पी ने अपूर्व सफलता पाई है। इतने भारी व कठिन पत्थर पर चतुर शिल्पी ने अपनी जो निपुणता दिखाई है उससे भारतीय शिल्पियों का चातुर्य प्रदर्शित होता है।

□□□

(पृ० १३७ का शेषांश)

चिंतन है। अलकावली सुचिक्कण व वर्तुलाकार है और ओष्ठ-भाग मे प्रस्तर के कटाव की बरीकी देखते ही बनती है। ऊपर माला लिए विद्याधर है व हर्ष व्यक्त करते किन्नर व दुंदुभिक है। मृदग, झाझ व तुरही लिए वादक-वृंद सजीव जान पड़ते है। ऊपर कोनो मे दो तीर्थङ्कर पद्मासन मे, छोटे आकार मे उत्कीर्ण है। चंवर-धारी चवर डुला रहे है। वाहन शेर है व नीचे के दोनों कोनों मे क्रमशः मातंग यक्ष और सिद्धायिका यक्षिणी अंकित है। मूर्तिशिल्प के आधार पर यह प्रतिमा दसवी से ग्याहरवी शताब्दी के मध्य की है जबकि परमार शासक यहां के राजा थे। आकार ७५×४५×२२ से० मी०। लाल पत्थर मे निर्मित यह महावीर प्रतिमा मालवा की जैन तीर्थङ्कर मूर्तिकला का प्रतिनिधित्व करती है।

दूसरी प्रतिमा मे भगवान महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड्गासन में अंकित है। विद्याधर व दुंदुभिक प्रथम प्रतिमा की भाति ही है। ऊपर व पार्श्वभाग मे २३ तीर्थङ्कर अकित है, पर सभी दिगम्बर प्रतीक या वाहनों पर आसीन है। मूर्तिशिल्प की दृष्टि से यह प्रतिमा भी अभूतपूर्व है। यह विक्रम संवत् १०५० में निर्मित हुई थी जैसा कि उसकी पाद-पीठ पर अंकित अभिलेख से पुष्ट होता है। इस प्रतिमा का आकार ६८×४३×२२ से. मी. है। प्रतिमा थोड़ी-सी भग्न है। मूर्ति क्रमांक ३ है। इसमें भी मातंग यक्ष व सिद्धायिका यक्षिणी स्पष्ट है।

उपरोक्त दोनों महावीर प्रतिमाएं श्रेष्ठ मूर्तिकला का ज्ञापन करती है और प्राचीन मालवा के जैनधर्म के गौरवशाली पक्ष को प्रकट करती है।

विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (मध्य प्रदेश)

□□□

अहिंसा के रूप

(आध्यात्मिक और व्यावहारिक)

— श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम० ए० दिल्ली,

आध्यात्मिक—स्वानुभूति रूपी स्वानुभाविकी परिणति में लीन सम्यग्दृष्टि समस्त-वैभाविकी-बन्धरूप अर्थात् आत्मानुभूति में विघ्नभूत क्रियाओं के प्रति सर्वथा मौन है। आत्माभिमुखी की रुचि पर-पदार्थों में न हो, सर्वथा स्वभाव में ही है। प्रकारान्तर से इस तथ्य को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्माभिमुखी एक ऐसा मौनी मुनि है जिसके आत्मानुभूति के सिवाय बाह्य (सावद्य) का लेश नहीं।

मुनि और मौनी दोनों शब्द आध्यात्मिक और भाव अभिन्न तो है ही, साथ ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बतलाने में भी समर्थ है, अर्थात् मुनि वह है जो मौनी (पर से निवृत्त) हो। जो मौनी नहीं वह मुनि भी नहीं। कोष-कारों ने मौन शब्द का व्युत्पत्तिपुरस्सर जो विश्लेषण किया है वह मनन योग्य है। वे लिखते हैं—

"मुनेरयं मौन"। मुनेर्भावः वा मौनम्। मौनं चाशेष सर्वदयानुष्ठानवर्जनम्। मौनमविकल मुनिवृत्त तन्नैश्चायिकं सम्यक्त्वम्"।

इसका भाव ऐसा हुआ कि अशेष (सम्पूर्ण) सावद्य[1] (पापसहित) के अनुष्ठान का त्याग करना मौन है और यह मौन पूर्णरूप से मुनि का चारित्र है और यह निश्चय सम्यक्त्व है। जैसे लौकिक व्रती जन को समस्त लौकिक सावद्य क्रियाओं के प्रति मौनी होना लाभदायक है। आत्माभिमुखी मुनि और सम्यग्दृष्टि को भी आत्मसाधक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सभी विभावो से मौन (विमुखता) आवश्यक है। जिसने आत्मातिरिक्त समस्त रुचियों (प्रमाद, कषाय और पापरूप) का परिहार किया वही सम्यग्दृष्टि (लब्धिरूप में ही क्यों न हो) है।

स्मरण रहे कि आध्यात्मिक प्रकरण में मौन का भाव केवल वाचिक मौन तक ही सीमित नहीं रहता। वहां तो मन और काय भी गर्भित हो जाते है, और जब मौन की सीमा मन-वचन-काय तीनों के व्यापार रुद्ध करने तक पहुंच जाती है तब "सावद्य" के अर्थ की सीमा भी विस्तृत क्षेत्र को घेर लेती हैं। लोक में "सावद्य" शब्द प्रायः पर-पीडन, हिंसा आदि पापाचार और लोकर्गाहत क्रियाओं के भाव में लिया जाता है। परन्तु जहां आत्माभिमुखता संबंधी मौन प्रकरण है" सावद्य" का अर्थ उक्त न लें। मन-वचन-काय तीनो की उन सभी प्रवृत्तियों में लिया जायेगा तो पर-रूप हैं, फिर वे लोक-विरुद्ध अथवा लोक विरोधातीत जैसी भी हों।

आचार्य कहते है—

तत्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वयं सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वः सहायं निर्विकल्पम्॥ पंचाध्यायीठ॥

तत्व सत् लक्षणवाला है, सत् मात्र और स्वयंसिद्ध है, इसलिए वह अनादि है, अनिधन है, स्व-सहाय और निर्विकल्प है।

उक्त प्रमाण के आधार से सभी द्रव्य स्वतन्त्र और लक्षण भिन्नत्व को लिये हुए है एतावता अपने में ही हैं। कोई "पर" अन्य किसी "पर" का कर्त्ता या हानि-लाभ दाता नही।

यदि प्रमाद है तो वह अशुद्ध जीव का अनादि संसार रूप अपना, और हिंसा है तो वह अपनी। जब जीव अपनी स्वाभाविकी मौनवृत्ति को छोड़कर प्रमाद भाव जन्य दोष से आत्मानुभूति के विमुख होता है तब वह अपनी ही हानि—अपने ही हिंसा रूपकर्म (पाप) सावद्य-कर्म को करता है, उसका मुनित्व भग होता है। पर का अहित तो व्यवहार से कहा जाता है—निश्चिय में जीव का स्वयं का ही बिगाड़ होता है।

इसी प्रसग में जब हम हिंसा आदि पापों पर विचार करते है तब यही फलित होता है कि वहा भी आचार्य का अभिप्राय पर.घात आदि की प्रमुखता से नहीं, अर्थात् हिंसा का मूलभूत अभिप्राय आत्मघात से रहा है और पर

---

१. *अवद्यं पाप सह तेन वर्तते। पांशयति मलिनयति जीवमिति पापम्।* कर्मबन्धो अवज्जं सहतेण सोसावज्जो जोगोत्ति वा वावारो"—अभि० राजेन्द्र कोष।

घात को गौण कर दिया गया है। पाठक इसका अभिप्राय ये न लें कि व्यवहारिकी हिंसा हिंसा नहीं। अपितु ऐसा भाव लें—कि वह भी अपना घात किये बिना नही हो सकती। एतावता अपने परिणाम शुद्ध रखें। आचार्य कृत (प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपम् हिंसा) सूत्र द्वारा प्रतिपादित हिंसा का लक्षण पारमार्थिक और लौकिक दोनों ही दृष्टियों से युक्तिसगत है। जब हम प्राणों का घात करने से लौकिक दश प्राणों (५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास) का भाव लेते है तब इन प्राणों का छेद होने से प्राण व्यपरापण (पर-पीडन आदि) व्यवहार में सावद्य नाम पाते है और जब हमारी दृष्टि तत्व (तत्वं सल्लाक्षणिकं) की ओर होती है, तब प्रमाद को सावद्य संज्ञा दी जाती है, यतः जीव अपना ही घात करता है।

आत्मरसरसिक निश्चयावलम्बी अहिंसा आदि महाव्रत इसलिए तो धारण करता नही कि वह इनके कारण पर-घात आदि को कर पुण्य उपार्जन करेगा। वह तो अपनी दृष्टि "निज" में केन्द्रित करने के लिए "पर"—प्रमाद का परिहारमात्र करता है, और प्रमाद का परिहार होने मे आत्म-हिंसा का अभाव होने पर, उसके लिए पर-हिंसा का प्रश्न ही नही उठता। फिर व्यावहारिकी हिंसा मे भी तो अपनी हिंसा (प्रमाद) की ही प्रमुखता है। इसीलिए कहा है—" प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाऽधर्माय इति ज्ञापनार्थम् अर्थात् केवल प्राण व्यपरोपण अधर्म हेतु नहीं है, अपितु प्रमाद विशेषण ही अधर्म हेतु है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्माभिमुखी का प्रमाद ही उसकी स्वयं की हिंसा है और इसी के प्रति पूर्ण मौन होना अहिंसा—सावद्य का त्याग है।

शास्त्रों में जहां प्रमाद के भेदों को गिनाया है वहां भी किसी मे कोई ऐसी झलक नही मिलती जिससे पर में कृत-कर्म मात्र हिंसा सिद्ध हो। सभी स्थानों पर स्व-हिंसा (प्रमाद जन्य) को ही मुख्य बतलाया है। यदि हिंसा में मात्र प्राणव्यपरोपण अभीष्ट होता तो आचार्य प्रमाद विशेषण का समावेश नही ही करते। वे कहते हैं—"ननु च प्राण व्यपरोपणाऽभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते", अर्थात् प्राण घात के न होने पर भी प्रमाद योग मात्र में ही हिंसा है। वे स्पष्ट लिखते हैं—" स्वयमेवात्मात्मानमात्मना हिनस्ति प्रमादवान्'—प्रमादी आत्मा स्वयं ही अपने से अपना घात करता है। वे कहते है—

"अत्रापि प्राणव्यपरोमणमस्ति भावलक्षणम्"—प्राण व्यपरोपण भावरूप है। इसलिए आत्मदर्शी मुनि—सम्यग्दृष्टि के प्रमाद के प्रति मौनी होने के कारण मन-वचन-काय की क्रिया रोककर आत्मालीन होने की स्थिति मे हिंसा आदि (सावद्य) का स्वय ही त्याग है। सच्चे मुनि कहो, सम्यक्त्वी कहो, वे ही है।

जिनवाणी मे जहा हिंसादि पच पापों संबंधी रौद्र-ध्यानों का वर्णन है वहा इन अशुभ ध्यानों के सद्भाव का विधान पंचम गुणस्थान तक ही है। मुनि (षष्ठम्गुणस्थान) में सर्वथा ही नहीं। कहा भी है—तद्रौद्रध्यानमविरत देश-विरतयोर्वेदितव्यं" अर्थात् रौद्र ध्यान अविरत और देश विरत गुण स्थानो में ही होता है। मुनि के अर्थात् षष्ठम गुण स्थानवर्ती के नही होता। इससे यह भी समझना चाहिए कि मुनि में जोमहाव्रत रूप मे व्रत का विधान है वह मुख्यतः अभ्यन्तर संभाल की दृष्टि से ही है और वास्तव में मुनि प्रमत्त विरत होने के कारण हिंसा आदि से रहित ही है, अर्थात् जब प्रमाद नही तब हिंसा कैसी? यदि कदाचित् कहा जाय कि अपने व्रतो मे दोष आने पर मुनिगण को भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है तो वहां भी दोष (हिंसा) की उत्पत्ति प्रमाद जन्य ही है और इसलिए (प्रमाद टालने के हेतु) आचार्यों ने अहिंसा महाव्रत की भावनाओ मे सर्वप्रथम वाङ्मनो गुप्तियो का विधान कर बाद मे कायगुप्ति को अगभूत ईर्यादि समितियो का उल्लेख किया है—वाङ्० मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपण—समित्यालोकित पानभोजनानि पच"।

उक्त सभी प्रसगो से स्पष्ट होता है कि निश्चय दृष्टि से मुनि—मौनी व सम्यग्दृष्टि पर के प्रति अशुभ व शुभ दोनों मे पूर्ण मौन है—वह अपने में ही जागरुक है। इसीलिए "मौनमविकलमुनिवृत्तं तन्नश्चयिकं सम्यक्त्वम्" ऐसा विधान किया गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सच्चा मुनि सम्यक्त्वी ही होता है और सम्यक्त्वी ही मुनि हो सकता है। शास्त्रों में मुनियो के भेदों मे द्रव्य-लिंगी का जो पाठ आया है वह केवल जनसाधारण के बोध को बाह्यलिंग मात्र की अपेक्षा से दिया गया मालूम

होता है, वास्तव में "द्रव्यलिंगी मुनि" शब्द नही केवल "द्रव्यलिंगी" समझा जाना चाहिए।

जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है :
जिसको तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है—

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी आत्म-हिंसा को ही प्रमुखता दी है। वे कहते है—

"आत्मपरिणामहिंसन् हेतुत्वात् सर्वमेवहिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय॥ ४२॥

अर्थात् आत्म परिणामो (स्वभाव) की हिंसा होने के कारण ही अन्य प्रवृत्तिया हिंसा नाम पाती है। अनृत आदि का विधान भी केवल शिष्यों के बोध के लिए है—सभी हिंसा में गर्भित हो जाते है। और भी अन्य अनेकों दिगम्बर-श्वेताम्बर शास्त्रों मे इसी भाव के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें हिंसा को ही प्रमुखता दी गई है। यथा—

आयाचेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छयो एमो।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ इयरो॥ ओ० नि० ७५४॥"

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।"

"नय हिंसा मेत्तेण सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती अफलाभणिया जिणवरेहि॥ ओ०नि० ७५८॥"

केवल बाहर मे दृश्यमान पाप रूप हिंसा से कोई हिंसक नही हो जाता। यदि साधक अन्दर में राग-द्वेष रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवों ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबंध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।"

"जा जयमाणस्सभवे, विराहणा सुत्त विहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थ विसोहि जुत्त स्स॥७५९॥"

जो यातानावान् साधक अन्तरा विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (हिंसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है।"

"मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो, हिंसा मेत्तेण समिदस्स॥ प्रवचन० ३/१७॥"

बाहर से प्राणी मरे या जिये, अयताचारी—प्रमत्त को अन्दर मे हिंसा निश्चित है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समिति वाला है, उसको बाहर से प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबंध नहीं है, अर्थात् वह हिंसा नहीं है।"

"वीरतो पुण जो जाणं कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थ वि अज्झत्थसमा संजायति णिज्जरा ण चओ॥
बृ ह० भा० ३९३९॥"

अप्रमत्त संयमो (जागृत साधक) चाहे जान में (अपवाद स्थिति में ?) हिंसा करे या अनजान मे, उसे अतरंग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नही।

"अज्झत्थ विसोहिए, जीवनिकाएहि संथडे लोए।
देसियमहिंसं गत्त, जिणेहि तेलोक्क दरसीहि॥
ओ० नि० ७४७॥"

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेकानेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नही।"

"उच्चालियम्मि पा, इरियासमियस्स सकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्जतं जोगमासज्ज॥ ओ० नि० ७४८॥

यदा कदा ईर्यासमिति लीन साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतंग आदि क्षुद्रप्राणी आ जाते है और मर जाते हैं। परन्तु—

"न य तस्स तन्निमित्तो, बन्धो सुहुमोवि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण सत्वभावेण सो जम्हा॥ ओ० नि० ७४९॥"

उक्त हिंसा के निमित्त मे उस साधु को सिद्धात मे सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नही बताया है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन उस हिंसा व्यापार में निर्लिप्त होने के कारण अनवदयनिष्पाप है।

"जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स या जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जते नियमा, तेसि सो हिंसओ होई॥
ओ० नि० ७५२॥"

जे बिन वावज्जती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सोउ।
सावज्जो उ पओगेण, सत्वभावेण सो जम्हा॥
ओ० नि० ७५३॥

जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो

भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। परन्तु जो प्राणी नहीं मारे गये हैं वह प्रमत्त उनका भी हिंसक है क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति (प्रमाद) के कारण सावद्य है।

"तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमसि नाम तं चेव जं परियावेमव्वं ति मन्नासि॥
अ० चा० १/५/५॥

जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है; जिसको तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है।

"जे ते अप्पमत्त संजया ते णं नो आयारंभा,
नो परारंभा, जाव अणारंभा॥ (भग० १११)

आत्मसाधना में अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरों की हिंसा करते है। वे सर्वदा अनारंभ—अहिंसक रहते है।

"अज्झत्थ विसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्त जिणेहिं तिलोक्क दरसीहिं॥
ओ० नि० ७४७॥

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेकानेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर से अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं।

उक्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अध्यात्म में हिंसा-अहिंसा के कथन का साक्षात् सम्बन्ध आत्म-लक्ष्य से ही रहा है, बाह्य पर-लक्ष्य से नही। साथ ही यह भी तो विचारणीय है कि क्या अध्यात्मरसिक—मौनी या मुनि के लिये जिस चारित्र का विधान किया गया है वह आत्म-कल्याण—मोक्ष की दृष्टि से किया गया है या सांसारिक-पुण्य-शुभप्राप्ति की दृष्टि से किया गया है? जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न है, मुनिव्रत—वीतरागरूपचरित्र धारण का उद्देश्य, परनिवृत्ति—स्व-प्रवृत्ति रूप है और स्व-प्रवृत्ति में पर-हेतुक प्रयत्न कैसा? यदि कोई जीव 'पर-रक्षारूप' अपनी प्रवृत्ति करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि अपने मार्ग में पूर्ण स्वस्थ नहीं। कहा भी है—भूतवृत्तनुकंपा च सद्वेद्यास्रव हेतवः—(तत्वार्थसार आश्रवप्रकरण), अर्थात् पर मे अनुकम्पा—दया (अहिंसा) साता वेदनीय कर्म के आश्रव का कारण है, यानी उस दया से निर्जरा नही, अपितु पुण्यबन्ध होता है; और जब बन्ध होता है तब विचार उठता है कि क्या मुनिव्रत का उद्देश्य बन्ध करना था, या संवर-निर्जरा? और भी 'जीवेसुसाणकम्पो उवओगो सो सुहोतस्स, अर्थात् जीवो मे अनुकम्पा करना शुभोपयोग है।

यह तो माना जा सकता है कि जब तक साधु निवृत्ति में नहीं तब तक अशुभ-प्रवृत्ति न कर के शुभ-प्रवृत्ति करता है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह उसका कार्य कर्त्तव्य रूप नहीं अपितु शिथिलता-जन्य है, क्योंकि मुनि को चारित्र-धाम कहा है और वह चारित्र 'स्वरूपेचरणं चारित्रं' रूप है। जब तक स्वरूप में रमण नही तब तक उसका मुनिपद किसी भी दृष्टि से कहो, सदोष ही है, क्योंकि सम्यक् चारित्र का उत्कृष्ट स्वरूप ही इस श्रेणी का है कि वह पर-आश्रित बाह्य-अभ्यन्तर दोनो प्रकार की क्रियाओं से विरक्त-विराम रूप है। कहा भी है—संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो ब्राह्यभ्यन्तर क्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्', यानी संसार की निवृत्ति के प्रति उद्यत ज्ञानवान जीव का वाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार की (शुभ-अशुभ) क्रियाओं से विराम लेना सम्यक् चारित्र है। व्रत संज्ञा भी विरति को दी गई है प्रवृत्ति को नहीं। कहा भी है—'विरत्तिर्व्रतम्।'

यदि कोई जीव व्यवहार मे हिंसा से 'विरत' होता है तो उसे कहा जाता है कि अहिंसा मे प्रवृत्त हुआ, अर्थात् जो पहिले हनन् रूप क्रिया कर रहा था वह उससे विरत होकर अहनन् रूप क्रिया मे प्रवृत्त हो रहा है। पर यह व्यवहार ही है। वास्तव मे तो वह क्रिया कर ही नहीं रहा। जो हिंसा रूप क्रिया मे उसका उपयोग था वह हिंसा से हटा अर्थात् तत्क्रिया से विरमित हो गया। उसे उसका विकल्प ही नहीं रहा, और जब विकल्प नही रहा तब हिंसा रूप क्रिया की विरोधी 'अहिंसा' रूप क्रिया से भी उसे क्या सरोकार रहा। वह तो अपने भाव में आ गया। जहां तक प्रवृत्ति और निर्वृत्ति का सम्बन्ध है दोनों ही परस्परापेक्षी-विरुद्ध होने से एक के विकल्प में दूसरे के प्रादुर्भाव की सिद्धि करते है। जहां एक है वहां दोनों (अपेक्षा दृष्टि से) ही है। एक स्थल पर चारित्र के 'वर्णन में' 'पंचिदिय संवरणं' पद आया है। पाठक विचारेंगे कि

वहां भी 'संवरणं' पद को चारित्र रूप महत्त्व दिया गया है, न कि पंचेन्द्रियों की प्रवृत्ति को चारित्र रूप दिया गया हो, फिर चाहे वह प्रवृत्ति शुभ रूप ही क्यों न हो ? बंध में कारण-भूत होने से त्याज्य ही है। यदि आचार्य को प्रसंग (चरित्र पाहुड २७) में प्रवृत्ति इष्ट होती तो वे स्पष्ट लिखते कि पंच-इन्द्रियों को शुभ से सम्बद्ध करना चारित्र है। पर ऐसा उन्होंने लिखा नही। उन्होंने तो शुभ-अशुभ दोनों प्रवृत्तियों से विमुख 'संवरण' पद दिया। अन्यत्र एक स्थान पर भी 'रायादीपरिहरणं चरणं'— समय-१५५ ; द्वारा परिहार को ही चारित्र बतलाया न, कि उनमें बिहार को। यदि राग है, चाहे वह शुभ ही है तो भी वह परिहार नही, बिहार ही है। अत: अध्यात्म में उस शुभ को भी स्थान नही दिया गया क्योकि वह पर से ही सबन्धित होगा।

कहा जाने में आता है कि यदि व्रत में प्रवृत्ति निषिद्ध है तो अणुव्रती की अपेक्षा महाव्रती के असख्यात गुनी निर्जरा सिद्धान्त में क्यों कही गई है ? यह तो व्रत का ही प्रभाव है कि उसके असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। पर इस स्थल में भी हमें विचार रखना चाहिये कि उक्त असंख्यातगुनी निर्जरा मे भी 'विरति' रूप व्रत ही कारण है 'प्रवृत्ति रूप' नहीं। जैसी-जैसी प्रवृत्ति का अभाव है वैसी-वैसी और उस रूप में निर्जरा है। वास्तव में तो जैन दर्शन में प्रवृत्ति सर्वथा ही निषिद्ध है। साधु व्रत ग्रहण करता है यह तो व्यवहार में कहा जाता है अन्यथा करता तो वह निवृति ही है। किसी साधु ने 'अहिंसा महाव्रत' धारण किया इस कथन में भी विचारा जाय तो अहिंसा नामक कोई पदार्थ नहीं— स्वभाव नहीं : वह तो हिंसा क्रिया और हिंसा भाव के अभाव का ही नाम है और अभाव को क्या, कैसे ग्रहण किया जायेगा ? ये सब प्रश्न हैं, जो हमें अन्ततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि निर्वृत्ति ही चारित्र है, प्रवृत्ति चारित्र नहीं।

उक्त सभी बातों से स्पष्ट है कि अध्यात्म में महाव्रती—मुनि, मौनी व सम्यग्दृष्टि में भेद-बुद्धि का सर्वथा अभाव है, पर निर्वृत्ति ही है प्रवृत्ति नहीं। इतना ही क्यों एक स्थान पर तो आचार्य महाव्रत और तप आदि को (पर-सापेक्ष होने के कारण) भार तक घोषित कर देते है। वे कहते है—'क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्"—अमृत० ॥ १४२ ॥ अर्थात्...महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश करें तो करो। भाव ऐसा है कि जब तक पर-निवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति रूप महाव्रत व तप नही तब तक दुःख से छुटकारा नही, क्योंकि जब सर्वपरिग्रह-बाह्याभ्यन्तर विकल्प मात्र के त्याग में दीक्षा का विधान है तबदीक्षा से संभावित मुनि और मौनी अथवा सम्यग्दृष्टि के विकल्प कैसा ? वहां तो सर्व परिग्रह का त्याग होना ही चाहिये। कहा भी है—'पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता' अर्थात् सर्व संग (परिग्रह-पर-ग्रह, विकल्प भी) का त्याग ही 'प्रव्रज्या' है। एतावता जहां मौन का सम्बन्ध है, मौनी, मुनि, सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में अहिंसा आदिक महाव्रतों का भाव आत्मभाव से ही है पर-शुभाशुभ विकल्पों से नहीं।

आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवति तो चारित्र के लक्षणों में स्पष्ट उल्लेख कर रहे हैं। उनका भाव है कि अध्यात्म में चारित्र का जो स्थान है वह व्यवहार में नही है और व्यवहार में चारित्र का जो स्थान है वह अध्यात्म में नहीं है। जब एक और समस्त क्रियाओं की निर्वृत्ति चारित्र है तो दूसरी ओर प्रवृत्ति को चारित्र समझा जाता है। वे लिखते है व्यवहार में—

'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ॥ द्रव्य ४५।

अशुभ से निर्वृत्ति शुभ मे और में प्रवृत्ति—व्रत-समितिगुप्तिआदिरूप व्यवहार चारित्र है। फलितार्थ यह हुआ कि उक्त प्रवृत्ति रूप चारित्र उन जीवों की अपेक्षा से है जो अध्यात्म स्वरूप मे नहीं पहुंच पाये है और पर-वश हों, जिन्हें प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं मिल सका है। जिन जीवों ने पर को पर समझा और अनुभवा है, ऐसे सम्यग्दृष्टि की दृष्टि (आध्यात्मिक दृष्टि) में तो प्रवृत्ति, प्रवृत्ति ही है—पर-रूप और विकल्पात्मक है, वहां मौन अथवा मुनित्व नही है। उनके लिए तो आचार्य कहते है—

'वहिरब्भन्तरकिरिया रोही भव कारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तम् ॥ द्रव्य ४६ ॥

बहिरंग और आभ्यंतर दोनों प्रकार की क्रियाओं का

रोध संसार के कारणों—आश्रव-बंध को नष्ट करने वाला है और वह जिनेन्द्र देव ने ज्ञानी को बतलाया है। वही पूर्ण और सच्चा चारित्र है। एतावता ऐसे चारित्र को धारण करना अपना कर्तव्य मान आध्यात्मिक दृष्टि, प्रवृत्ति मार्ग में सर्वथा दूर—मौनी रहता है और इसीलिए वह सम्यग्दृष्टि और मुनि भी है और इसीलिए मुनित्व में मुक्ति भी है। वह निर्ग्रन्थ है, परिग्रह और सांसारिक वासनाओं से विरक्त है। उसमे जो कुछ भी आश्रव-बंध की छटा होती है वह सब प्रवृत्ति रूप की ही है—मुनि अथवा मौन रूप की नही। इससे स्पष्ट है कि अध्यात्म में अहिंसा आदि, स्वकी अपेक्षा से ही है पर की अपेक्षा से नहीं। कहा भी है—

'परमट्ठो खलु समग्रो'—समय सार १५१।—निश्चय से आत्मा ही परमार्थ है। अतः आत्मा के ही सन्मुख होना चाहिए। यदि कोई जीव आत्मा का लक्ष्य तो करे नहीं और पाप निवृत्ति कर पुण्य रूप शुभ कर्म में प्रवृत्त हो, उसे ही कल्याण—परमपद मोक्ष—का हेतु मानने लग जाय—जिन वचनों का लोपकर स्वच्छन्द हो जाय—तो उसके व्रत-तप आदि बाह्याचार बालतप ही कहलायेंगे, क्योंकि—

'परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वद च धारेई।
सव्वं बाल-तवं बाल-वदं विति सव्वण्हू ॥'
—समयसार, १५२॥'

'जो जीव परमार्थ—आत्मा मे स्थिर नही रहते और बाह्य में व्रत-तप को धारण करते है, उनकी समस्त व्रत-तप रूप क्रियाओं को सर्वज्ञ देव ने बाल-तप और बाल-व्रत कहा है।' अर्थात् ऐसा तप शुभ मे प्रवृत्तिरूप होने से संसार का ही कारण है। यदि कोई जीव ऐसा मानें कि पुण्य की प्राप्ति मे भी मोक्ष हो तो उसका मानना भ्रम ही है। आचार्य कहते है कि—

"परमट्ठि वाहिराजे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति।
संसार गमण हेदु विमोक्ख हेदुं अजाणन्ता ॥
—समयसार, १५४॥'

जो जीव परमार्थ से विमुख हैं वे अज्ञानी होने के कारण पुण्य की इच्छा करते हैं। वास्तव मे पुण्य तो ससार गमन—परिभ्रमण का ही हेतु है। ऐसे जीवों को मोक्ष-मार्ग से अज्ञ ही समझना चाहिये।' जिन व्रतों को अशुभ निवृत्ति और शुभ-प्रवृत्ति रूप में लिया जाने का चलन सा चल चुका है। वास्तव में उनकी स्थिति संसा-रलाभ प्रदान करने तक ही सीमित है और इसीलिये आचार्यों ने उन व्रतादिकों को आश्रव-अधिकार-रूप सप्तम अध्याय में ही प्रदर्शित किया है, संवर और निर्जरा रूप नवम अधिकार मे नही। पंचाध्यायी कार भी व्रतादि को सर्वथा बन्ध का कारण ही घोषित करते है। वे लिखते हैं—

'सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रत बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा ॥ ७५२ ॥'

प्राणियों में दया—अहिंसा भाव करना बाह्य (लौकिक-व्यवहार) व्रत है। वास्तविक व्रत तो अंतरंग की कषायों (रागद्वेषादि विकल्पों) का त्याग ही है।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मोव्रतच्युतिः।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ ७५४ ॥'

अर्थात् रागादिभाव ही हिंसा है, रागादिभाव ही अधर्म है, और रागादिभाव ही व्रत-च्युति हैं और रागादि-भावों का त्याग ही अहिंसा है, रागादिभावों का त्याग ही धर्म है, रागादि भावों का त्याग ही व्रत है।

'रूढ़े शुभोपयोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया।
स्वार्थ क्रियामकुर्वाणः सार्थनामास्ति दीपवत् ॥ ७५६ ॥

यद्यपि रूढ़ि से शुभोपयोग भी चारित्रनाम से प्रसिद्ध है परन्तु ऐसा चारित्र निवृत्ति रूप न होने के कारण निश्चय से चारित्र नहीं है।

"किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं, वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ ७६० ॥'

रूढ़ि के वश से चारित्र सज्ञा को धारण करने वाला चारित्र, बन्ध का हेतु होने के कारण श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ तो वह है जो अपकार अथवा उपकार कुछ भी न करे अर्थात् श्रेष्ठता परापेक्षीपन मे न होकर स्वाश्रय में ही है और शुभ-अशुभ दोनों पर होने से सर्वथा हेय है।

'नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतु रंजसा।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभोनाप्यशुभा वहः ॥ ७६२ ॥'

बुद्धि विभ्रम से ऐसा भी विचार नही करना चाहिए कि ऐसा शुभोपयोग रूप चारित्र एकदेश निर्जरा का

कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही अबन्ध का हेतु है और न अशुभोपयोग ही अबन्ध हेतु है।

आचार्यकुन्द कुन्द प्रवचनसार मे लिखते है—

'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध सपओगजुदो।
पावदि णिव्वाण सुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ प्रव० ॥'

'धर्म (निश्चय और व्यवहार) से परिणत आत्मा जब शुद्धोपयोगी होता है तब निर्वाण पद को प्राप्त करता है और जब शुभोपयोग युक्त होता है तब स्वर्ग (आदि) के सुखों को प्राप्त करता है।' इसमे भी निश्चय (अध्यात्म) मार्ग मे निवृत्ति (शुभ से भी) को ही प्रमुखता दी है। आचार्य अमृतचन्द्र जी लिखते है—

'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणतया संगच्छते तदा स प्रत्यनीक शक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्त-पुरुषोदाहदुखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति। अतः शुद्धो-पयोगः उपादेयः शुभापयोगो हेयः।

अर्थात् धर्मपरिणत स्वभाव वाला यह आत्मा जब शुभोपयोग परिणित से परिणत होता है तब विरुद्ध (बाधक) शक्ति के उदय मे कथचित् विरुद्ध कार्यकारी चारित्र के कारण स्वर्ग सुख के बधन को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे अग्नि से तप्त घृत से स्नान करने पर पुरुष उसके दाह से दुखी होता है; अर्थात् इसके सवरनिर्जरा के विरोधी आश्रव और बन्ध होते है। अतः ज्ञानी जीवों को मात्र शुद्धोपयोग (आत्मरूप) उपादेय और शुभ उपयोग हेय है।'

इसी प्रसंग मे श्री जयसेनाचार्य का अभिमत भी देखिए—

'...यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिण-मति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमा-कुलोत्पादक स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्री सद्भावे मोक्ष च लभते इति सूत्रार्थ. हेय.।

अर्थात् जब शुभ योग रूप सराग चारित्र में परिणमन करता है तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख के स्थान पर उससे विपरीत अर्थात् आकुलता को उत्पन्न करने वाले स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है। बाद मे परम समाधि सामग्री के सद्भाव मे मोक्ष भी प्राप्त करता है। भाव ऐसा है कि इसे शुभ से आत्म-लाभ त्रिकाल मे भी नही होता। क्योंकि इस प्रकार के शुभ तो ये अनादि काल से अनन्तों बार करता रहा। अतः निष्कर्ष ऐसा लेना चाहिए कि इस जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिये परम समाधि लेने मे सम्यग्दृष्टि का विश्वास होता है। अतः सम्यग्दृष्टि वस्तुतः शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, परापेक्षीव्रत-अव्रत आदि परकृत भावों मे समता भाव रखकर उनके प्रति मौनी है। एतावता सम्यग्दृष्टि को मौनी और मुनि भी कहा जाता है।

प्रकृति के विभिन्न रूपो की समष्टि ससार है और इस समष्टि के आधार पर ही यह चर-अचर जगत् अपने विभिन्न रूपो मे दृष्टिगोचर हो रहा है। थोड़ी देर के लिये हम ऐसी कल्पना करें कि ससार का प्रत्येक पदार्थ हमें अपने-अपने शुद्ध—एकाकी रूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है और किसी से किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी हमारी कल्पना हमे अन्ततोगत्वा ससार से दूर पहुं-चाने की साधन ही बनेगी। इसका भाव ऐसा है कि जब प्रत्येक पदार्थ के शुद्ध रूप की झलक ससार, शरीर और भोगों से विरक्त करा मुक्त पद प्राप्त कराती है तो इससे विपरीत अर्थात् अशुद्ध रूप अवस्था की कल्पना हमे ससार करायेगी। तात्पर्य ऐसा है कि मिलाप का नाम संसार और पृथक्त्व का नाम मोक्ष है।

जब हम ससार मे हे और संसार व्यवहार मे आये बिना हम इस संसार मे सुखी नही रह सकते, तब यह आव-श्यक है कि हम अपने ससार-व्यवहार को सही बनाने का प्रयत्न करें। जब हम पर के सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का ध्यान नही रखते तब हमे भी अधिकार नही कि अपने सुखदुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का ध्यान रखने की दूसरो से अपेक्षा करें।

स्वभावतः ही प्राणी मे चार सज्ञाये पाई जाती है। इन्हें पूर्व जन्म के संस्कार कहो, या जीव का अपना मोह-अज्ञान कहो, इनसे सभी ससारी प्राणी बद्ध है, चाहे वे मनुष्य हों या तिर्यच। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा जीव आहार करता है—यहां तक कि दृष्टव्य भौतिक शरीर छोड़ने (मरने) पर, जब यह जीव जन्मातर मे नवीन शरीर को धारण करने जाता है, तब भी इसे अधिक से अधिक तीन समय तक निराहारी रहने का अधिकार है, अन्यथा सर्वकाल और सब-स्थितियों मे इसका आहार से छुटकारा नही। शेष तीन सज्ञायें इसी आहार पर अवलम्बित है।

लोक में (स्थूल रीति से) मुख द्वारा अन्न-पान, खाद्य-अखाद्य का ग्रहण करना 'आहार' रूढ़ि में प्रचलित हो गया है। परन्तु वास्तव में यदि हम आहार की परिभाषा करें तो ऐसा कह सकते हैं कि उन सब पदार्थों का, जो इस 'स्व'—जीव से 'पर' है, ग्रहण करना आहार है।

संसारी जीव आहार पर आश्रित है। यदि आहार नही तो उसका संसार भी नही। यह आहार विभिन्न रूपों का है, अतः इसके ग्रहण करने के साधन भी विभिन्न है और वे हैं—इन्द्रियां (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण), मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छवास। इस प्रकार ये दश प्राण कहलाते है। क्योंकि जीव को संसार-धारण में कारण ये ही है। इनके द्वारा जीव अपने योग्य आहार (वर्गणाओं) का ग्रहण करता है और जीता है। अतः जीवन के कारण-भूत आहार ग्रहण कराने वाले इन साधनों से किसी जीवधारी को वंचित करना हिंसा कहलाता है, क्योंकि आहार संसारी जीव की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। इसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता।

जीव के द्वारा अनुभव किये जाने वाले ऐसे ससारी सुख-दुख भी जिनका संबंध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, चिन्तन, आयु और श्वास से है, एक प्रकार के आहार ही हैं, क्योंकि ये जीव की स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य रूप परिणति से भिन्न है और जीव इनका आहार—हरण, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास आदि के द्वारा करता है, और पर को ग्रहण करना ही आहार है। कहा भी है—आ—समन्तात् हरणं, आहारः। अर्थात् संसार मे अनेको प्रकार की वर्गणाएं भरी हुई है। आकाश मे कोई एक प्रदेश भी ऐसा नही, जो इन वर्गणाओं से शून्य हो। जब यह जीव विभिन्न प्रकार की इन वर्गणाओं मे से अपने संसारानुकूल किन्ही स्व-विजातीय वर्गणाओ को ग्रहण करता है तब कहने मे आता है कि जीव ने आहार ग्रहण किया। ऐसे जीव के आहार में बाधा देने की क्रिया हिंसा है, क्योंकि आहार की कमी मे उसका वर्तमान सामान्य संसारी जीवन सन्देह मे पड़ जाता है।

यदि कोई जीव किसी अन्य जीव के आहार में बाधा उपस्थित करता है—उसके साधनभूत प्राणों का नाश करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि वह उसके सांसारिक रूप को दुखी बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसे अनधिकार को प्रयत्न लोक में हिंसा नाम दिया गया है और विवक्षा भेद से इसके अनेकों भेद हो जाते हैं।

आहार की व्याख्या के प्रसंग मे एक स्थान पर इसी लक्षण को अनुसरण करने वाला उल्लेख मिलता है। वहाँ कहा गया है—'औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तीन शरीर तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते है।' ऊपर गिनाये गये दश प्राण उक्त आहार-ग्रहण में कारण है। अतः उक्त दश प्राणों का हरण करना लोक मे हिंसा कहलाता है। जैन धर्म ने इस प्रकार की हिंसा के त्याग का उपदेश दिया है।

यद्यपि साधारणतया भारतीय-सस्कृति और आचार मे सर्वत्र ही अहिंसा को स्पर्श किया गया गया है तथापि इसमे अवगाहन करने वाले अनेकों ऋषि, महर्षि अहिंसा के स्थूल अश को भी स्पर्श नही कर पाये है। यदा-कदा तो उनकी दृष्टि, स्वार्थपरक होने के कारण, हिंसा मे ही अहिंसा की मान्यता करने को वाध्य हो, विपरीत मार्ग का अनुसरण कर गई है। 'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसे सिद्धान्तों की उपज निजी स्वार्थ—स्वर्ग-सुख की कामना नहीं, तो और क्या है? यह सत्य है कि प्राणी स्वार्थ में लीन होकर दूसरो के सुख-दुख का ध्यान नही रखता, अथवा अपने स्वार्थों के सन्मुख होने पर वास्तविकता से अपनी दृष्टि हटा लेता है; अन्यथा 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं' जैसे विशद और निर्मल तथ्य मानने से कौन इन्कार कर सकता है?

आहार के भेदों के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है—

'णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

—नोकर्म आहार, कर्म आहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मनसाहार।

१. नोकर्म आहार—नो कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करना।
२. कर्माहार—कर्म वर्गणाओ को ग्रहण करना।
३. कवलाहार—मुख द्वारा पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करना। (क्रमशः)

गिरनार की ऐतिहासिकता

□ श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

गिरनार जी जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। यहा से २३वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया था। कुछ और ऋषि मुनियों ने यहां घोर तपस्या कर मुक्ति प्राप्त की, अतः यह सिद्धक्षेत्र भी कहलाता है। गिरनार जी भारत के पश्चिम मे काठियावाड़ प्रान्त में स्थित है जो पहले सोरठ प्रदेश कहलाता था। इतिहास में गिरनार रैवतक पर्वत, उर्जयन्त गिरि, रेवन्तगिरि आदि नामों से विख्यात है।

यों तो प्राकृतिक सम्पदा के रूप में गिरनार की प्राचीनता हजारो-लाखों वर्ष पुरानी है, पर नेमि प्रभु के निर्वाण के कारण इसकी ऐतिहासिकता लगभग तीस हजार वर्ष प्राचीन तो सुनिश्चित ही है।

नेमि प्रभु अब केवल पौराणिक कथा नायक ही नही रह गए हैं अपितु प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों और शोधों के आधार पर वे भी भ० महावीर और बुद्ध की भांति एक सुनिश्चित एव प्रामाणिक इतिहास पुरुष सिद्ध हो गए है। अतः नेमि प्रभु के साथ गिरनार क्षेत्र की ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता सुस्पष्ट और सुनिश्चित है।

हाल ही में नागेन्द्रगच्छीय विजयसेन सूरि (सम्वत् १२८७) कृत रैवन्तगिरि रास नामक रचना देखने को मिली। इस रचना से गिरनार जी पर सीढ़ियों का निर्माण, मंदिरों की रचना तथा उनके जीर्णोद्धार सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन होता है।

चालुक्यराज महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा उनके उत्तराधिकारी सम्राट् कुमारपाल के समय मे गिरनारजी के विकास में बड़े-बड़े कार्य हुए थे। पोरवाड़-वंशी आसाराज के पुत्र वास्तुपाल तेजपाल ने यहां पर्वत की तलहटी में तेजलपुर नगर बसाया था। ये वही वास्तुपाल तेजपाल प्रतीत होते है जिन्होने देलवारा (आबू) का आदिनाथ जिनमंदिर बनवाया था जो अपनी कलात्मक विभूति के लिए जगत्प्रसिद्ध है।

महाराज जयसिंह सिद्धराज के जो सं० ११६० में राज्यासीन हुए थे 'दण्डनायक खंगार साजन ने यहा के नेमि प्रभु के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था तथा सम्राट् कुमारपाल के, जिसने सं० १२०६ मे अजयमेरु पर आक्रमण किया था और सं० १२२६ मे जो स्वर्गवासी हुए थे दण्डनायक की माता ने स० १२४२ में इस क्षेत्र की सीढ़ियों का निर्माण कराया था और वास्तुपाल ने आदि प्रभु ऋषभ देव का मंदिर भी बनवाया था।

कहते है कि इन्ही दिनों काश्मीर से अजित और रत्न नामक दो सघाधिपति नेमि प्रभु की वंदनाहेतु गिरनार पधारे थे। उन्होंने जब मूर्ति का अभिषेक किया तो वह तुरन्त ही गल गई। इससे दोनों व्यक्ति आन्तरिक वेदना एवं आत्मग्लानि से पीड़ित हो उठे और उन्होंने प्रायश्चितस्वरूप अन्नजल का परित्याग कर आमरण अनशन व्रत धारण कर लिया। उनकी इस घनघोर तपस्या के जब २१ दिन बीत गए तो अम्बिका देवी ने उन्हे दर्शन दिए और उनसे नेमि प्रभु की मणिमय प्रतिमा ग्रहण करने का अनुरोध किया। दोनो सघाधिपतियो ने प्रसन्नता पूर्वक देवी प्रदत्त प्रतिमा स्वीकार की और उसे यथास्थान प्रतिष्ठित कर स्वदेश लौट गए।

उपर्युक्त घटना से आश्चर्य होता है कि अब से हजार वर्ष पूर्व जबकि यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव था, लोग काश्मीर जैसे दूर-दराज प्रदेश से भी गिरनारजी की यात्रा करने आया करते थे। इतना अधिक आकर्षण था गिरनार जी के प्रति। गिरनार (रैवतक) के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन संस्कृत के विख्यात कवि माघ ने अपने 'शिशुपाल वध' नामक काव्य में भी बड़ी रोचकतापूर्वक किया है। इस तरह गिरनार प्राकृतिक दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण है उतना ही धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक पूजनीय एवं आदरणीय है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में यह अत्यधिक अभिनन्दन एवं गौरव का केन्द्र है।

उपर्युक्त रेवंतगिरि रास इस प्रकार हैं :—

रेवंतगिरि रास

नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरिकृत (सं० १२८७)

प्रथम कडवम्

परमेसर तित्थे सरह पय पंकय पणमेवि ।
भणि सुरासु रेवत गिरे अंबिक दिवि सुमरेवि ॥ १ ॥
गामागर पुरवण गहण सरि सरवरि सुपएसु ।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ॥ २ ॥
जिणु (जणु) तहि मंडल मंडणउ मरगय मउड महंतु ।
निम्मल सामल सिहर भरे रेहइ गिरि रेवंतु ॥३
तसुसिरि सामिउ सामलउ सोहग सुन्दर सारु ।
जाइव निम्मल कुल तिलउ निवसइ नेमि कुमारु ॥ ४ ॥
तसु मुह दसण दए दिसि विदेस देसंतरु संघ ॥ ५ ॥
आवइ अव रसाल भण, उट्टलि (?) रंग तरग ।
पोरवाड कुल मडणउ नंदणु आसाराय ।
वस्तुपाल वरमंति तहि तेजपालु दुइ भाय ॥ ६ ॥
गुरजरधर धुरि धवलकि वीरधवलदेव राजि ।
बिहु बंधवि अवयारिऊ सुरायु दूसमु मांझि ॥ ७ ॥
नायल गच्छइ मडणउ विजय सेण सूरिराऊ ।
उवएसिहि बिहुनर पवरे धम्मि धरिउ दिटु भावु ॥ ८ ॥
तेजपाल गिरनार तले तेजलपुरु नियनामि ।
कारिउ गढ गढपव पवरु मणहरु धरि आरामि ।९
तहि पुरि सोहिउ पास जिणु आसाराय विहारु ॥ ९ ॥
निम्मिउ नामिहि निज जणणि कुमर सरोवरु कारु ॥ १० ॥
तहि नयरह पूरब दिसिहि उग्रसेण गढ़ दुग्गु ।
आदि जिणेसर पमुह जिण मदिरि भरिउ समग्गु ॥११ ॥
वाहिरिगढ़ दाहिण दिसिहि चउरिउ वेहि विसालु ।
लाडुकलह (?) हिय ओरडिय तडि पसुठाइ(?)करालु ।
तहि नयरह उत्तर दिसिहिं साल थंभ संभार ॥ १२ ॥
मंडण महि मंडल सयल मंडप दसह उसार ॥ १३ ॥
जोइउ जोइउ भविय यण, पेमि गिरिहि दुयारि ।
दामोदरु हरि पचमउ सुवन्नरेह नई पारि ॥ १४ ॥
अगुण अंजण अंविलीय अवाउय अंकुल्लु ।
उंबरु अंबरु आमलीय अगरु असोय अहुल्लु । १५ ॥
करवर करपट करुणतर करवंदी करवीर ।
कुडा कडाह कयंब कड करय कदल कंपीर ॥ १६ ॥
वेयलु वंजलु वडल वडो वेडस वरण विडंग ।
वासंती वीरिणि विरह वंसियालि वण वंग ॥ १७ ॥
सीसमि सिवलि सिरस सभि सिंधु वारि सिरखंड ।
सरल सार साहार सय सागुसिगु (?) सिणदड ॥ १८ ॥
पल्लव फुल्ल फलुल्लसिय रेहइ ताहि (?) वणराइ ।
हिउज्जिल तलि धम्मियह उलटु अंग न माइ ॥ १९ ॥
बोलाबो संघहतणीय कालमेघन्तर पंथि (?) ।
मेल्हविय (?) तहि दिढ्धणीय वस्तुपाल वरमंति ॥ २० ॥

द्वितीयम् कडवम्

दुहविहि गुज्जर देसे रिउराय विहंडणु ॥
कुमारपाल भूपाल जिण सासण मंडणु ।
तेण मंठाविओसुरठ दंडाहिवो अंब ओसिरे सिरिमाल कुल संभवो ।
पाज सुविसाल तिणि नठिय अंतरे धवल पुणुपरव मराविय ॥
धनु सुधवलह भीड जिणि पाग पयासिय ।
बार विसोतर वरसे जसु जसिदिसि वासिय ॥
जिम जिम चढ़इ तडि कडणि गिरनारह ।
तिम तिम ऊडइ जण भवण सतारह ॥
जिम जिम सेउजलु अगि पालाट एं ।
तिम तिम कलिमलु सयल ओट्टह ए ।
जिम जिम वायइ वाऊं तहि निज्झर सीयलु ।
तिम तिम भव दुह दाहो तरकणि तुट्टइ निच्चलु ॥
कोइल कलयलो मोर केकाओ सुमए महयरु महुरु गुंजाओ ।
पाजचडतह सावयालोयणो लाखारामु (?) दिसि दीसए दाहिणी ।
जलद जाल बंबाले नीझरणिरमाउलु ।
रेहइ उज्जिल सिहरु अलि कज्जल सामलु ॥
बहल वहु धातु रस भेडणी जत्थ उल दलइ सोवन्नमइ मेडणी
जत्थ दिप्पंति दिवोसही सुंदरा गुहिरवर गरुय गंभीर गिरि कंदरा ॥
जाइ कुदुं विहसन्तो जं कुसुमिहि संकुलु ।
दीसई दसदिसि दिवसो किरि तारा मंडलु ॥
मिलिय नवलवलि दल कुसुम झलहालिया ।
ललिय सुरमहिवलय चलणकल तालिया ।
गलिय थल कमल मयरंद जल कोमल ।

विडल सिलवह सोहंति तहि संमला ।।
मणहर घणवण गहणे रसिरहसिय किंनरा ।
गेड मुहुरू गायतो सिरि नेमि जिणेसरा ।। ५ ।।
जत्थ सिरि नेमि जिणु अच्छय अच्छरा ।
असुर सुर उरग किंनरयं विज्जाहरा ।।
मउडमणि किरण पिंजरिय गिरि सेहरा ।
हरसि बहु आवंति बहुभलि भर निब्भरा ।
सामिय नेमि कुमार पय पंकय लंबिउ ।
धरधूलिविजिण धन्न मन पूरइ वंछिउ ।। ६ ।।
जोभव कोडा कोडि अनु सोवन्नु धणुदाणु जडदिज्जए ।
सेवउ जड़कम्मघण गंठि जड तिज्जए ।
तउ उज्जित सिहरु पाविज्जए ।।
जम्मणु जोव जाविय तसि तहि कवत्थू ।
जेनर उज्जित सिहरु पेक्खइ वर तित्थू ।।
आसि गुरजर धरय जेण अमरेसरु ।
सिरि जयसिंघ देउ पवर पुहवी सरु ।
हणकि सोरठु तिणि राउ खंगारउ ठविउ साजण उवंडाहि व सारइ ।
अहिणवु नेमि जिणिव तिण भवण करावि‌उ ।
निम्मल चंदरु बिंबे निय नाऊं लिहाविउ ।। ८ ।।
थोर विरकंभ वायभरमाउलं ललिय पुभालिय कलसनुमकुल ।
मंडपु वंड धकु तुंगतर तोरणं ।
धवलिय वज्झि रुण भणिरि किंकणि घणं ।
इक्कारसम सहीउ पंचासीय वच्छरि ।
नेमि भुयणु उद्धरिउ साजणि नर सेहरि ।। ९ ।।
मालव मंडले गुहगुह मंडणु भावउ साहु दालिधु खंडणु ।
आमलसार सोवन्नु तिणि कारिउ ।
किरि गमणगण सूरु अवयारिउ ।
अवर सिहर वरणकलस झलहलइ मनोहर ।
नेमि भुयण तिगि दिट्ठइ दुह गलइ निरंतर ।। १० ।।

तृतीय कडवम्

दिसि उत्तर कसमीर देसु नेमिहि उज्झहिय ।
अजिउ रतन दुइ बंधु गरुय संघाहिव आविय ।
हरसवसिण घण कलस भरिवि तिहन्हवणु करंतह ।
गलिउ लेवमु नेमि बिंबु जलधार पडंतह ।
संघाहिवु संघेण सहिय निय मणि संतविउ ।
हा हा धिगु धिगु मह विमल कुल गंजण ग्गाविउ ।
सामिय सामल धीर चरण मह सरणि भवंतरि ।
इभ परिहरि आहार नियमु लइउ संघ धुरंधरि ।
एक बीसि उपवासि तासु अंबिक दिवि आविय ।
पभणइ सपसन्न देवि जय जय सद्दाविय ।
उह विणु सिरि नेमि बिंबु लिउ तुरंतउ ।
पच्छल मन जोएसि वच्छतुं भवणि वलतउ ।
णइवि अंबिक देवि कंचण बलाणउ ।
सिरिनेमि बिंबु मणिमउतहि आणइ ।
पठम भवणि देह लिहि देउ छुडि पुंडि आरोबिउ ।
संघा विहि हरिसेण तम दिसि पच्छलु जोइउ ।
ठिउ निच्चलु वेहलिहि देवु सिरि नेम कुमारो ।
कुसुम बुद्धि मिल्हेवि देवि किउ जइ जइ कारो ।
वइसाहि पुंनिमह पुंनवतिण जिणु थप्पिउ ।
पच्छिम दिसि निम्मविउ भवणु भव दुह तरु कप्पिउ ।
न्हवण विलेवण तणीयवंछ भवियण जणपूरिय ।
संघाहिवि सिरि अजितु रतनु निय देसि पराइय ।
सयल विपति कम्हि कालि काल कलुसे जाणविछाहिउ ।
भुलहलति मणि बिंब कलि अबि कुरु आइय ।
समुद्दविजय सिवदेवि पुत्र जायव कुल मडणु जरासिंध दल ।
मलणु मयणु भंड माण विहंडणु ।
राइ मइ भण हरणु रमणु सिव रमणि मण्मेहरु ।
पुन्नवंतपण मंति नेमि जिणु सोहण सुंदरु ।
वस्तुपाल वरमति भूयणु कारिउ रिसहे सरु ।
अट्ठावय समेय सिहर वर मंडपु मणहरु ।
कउडिजक्खु (रकु) मरुदेवि दुह वितुंगु पासाइउ ।
धम्मिय सिरु धूणंति देव वलिवि पलोइउ ।
तेजपालि निम्मविउ तत्थ तिहुवण जणु रजणु ।
कल्याणउ तउ तुंगु भुयणु लघिउ गयणंगयु ।
वीसइ दिसि विसि कुंडि कुंडि नीभरण उमालो ।
इन्द्र मंडप देपालि मत्रि उद्धारिउ विसालो ।
अइ रावण गय राय पाय मुद्दा समटकिउ ।
विहु गयंद मुकुंड विमलु निज्झर समलंकिउ ।
गउण गग जयसल तित्थ अवमार भणिज्जइ ।
पक्खा लिवि तहि अंगु दुक्ख जल अजलि दिज्जइ ।

सिंदुवार मंदार कुरवक कुंविहि सुंदरु ।
जाइ जूह सयवन्नि विन्नि पुलेहि निरंतरु ।
विहुय छत्र सिल कडगि अवरवणि सह सारासु ।
नेमि जिणेसर विक्ख नाण निव्वाण हठायु ।

चतुर्थ कडवम्

गिरि! गरु आ(ए) सिहरि चडेवि अब जंवाहि बबालिउए।
संमिणि णिए अवि देवि देउल कडु रम्माउलंए ।। १ ।।
वज्जइ एताल कंसाल वज्जइ मदल गुहिर सर ।
रंगिहि नच्चइ बाल पेरिवत्रि अंबिक मुहकमलु ।। २ ।।
सुमकरु एक ठविउ उछंगि विमकरो नंवणु पासिकए ।
सोहइ एऊजिलि सिगि सामिणिसीह सिंघासणीए ।। ३ ।।
दावइ ए दुक्खहं मगु पुरइए वंछिउ भविय जण ।
रक्खइ ए उविहु संघु सामिणि सीह सिंघासणीए ।। ४ ।।
दस दिसि ए नेमि कुमारि आरोही अवलोइ पडंए।
बीजइ एतहि गिरिनारि गयणांगणु अवलोण सिहरो ।। ५ ।।
पहिलइ ए सांब कुमारु बीजड सिहरि पज्जून पुण ।
पणभइं ए पामइं पारु भवियण भीसणभव भमण ।। ६ ।।
ठामिहि ए ठामि रयण सोवन्न बिंबजिणेसुरतहिं ठविय ।
पणभइ ए ते नर धन्न जेन कलिकान्नि मल भयलियए ।।७।।
जं फलु ए सिहर सभेय अट्ठावय नंदी सरिहिं ।
तं फलु ए भवि पामेइं पोवेविणु रेवंत सिहरो ।। ८ ।।
गहगण एमाहि जिम भाणु पव्वय माहि जिम मेरुगिरि ।
त्रिहुभुवणे तेय पहाणु तित्थं माहि रेवंतगिरि ।। ९ ।।
धवले धय चमर सिंगार आरत्ति मंगल पईव ।
तिलव मऊड कुंडलहार मेघाडंबर जाविये ए ।। १० ।।
विर्याहं नर जो पवर चन्द्रोय नेमि जिणेसरि वर भुयभि ।
इह भविए भुंजवि भोय सो तित्थे सर सिरि लहइए ।। ११ ।।
चहु विहए संघु करेइ जो आवह उज्जित गिरि ।
विविसवहु रागुकरेइ सो मुंचइ चउगहे गयणि ।। १२ ।।
अहविहएज्जय करति अट्ठाई जो तहिं करइ ए ।
अट्ठ विहए करम हणंति सो अट्ठभाव सिज्झाइ ।। १३ ।।
अंबिल एजो उपवास एगासण नीवी करइं ए ।
तसुमणिए अच्छइं आस इह भव परभव विहुव परे ।। १४ ।।
पेमिहि मुनि अन्नहदाणु धम्मियबच्छलुकरइं ए ।
तसु कही नहीं उपमाणु परभाति सरण तिणउ ।। १५ ।।
आवइ ए जेन उज्जितिधर घरह धंधोलियाए ।
आविहीएहीयइ न जं संतितिनिपफल जीविउसासतणऊं ।।१६।।
जीविउ ए सोजि परधन्नु तासु समच्छर निच्छणु ए ।
सोपरिए मासु परिधन्नु वलिहीजइ नहिं वासर ए ।। १७ ।।
ज(जि)ही जिणुए उज्जिलठामि सोहग सुंदर सामलु ए ।
दीसइ ए तिहुवण सामिनयण सलूणऊं नेमिजिण ।। १८ ।।
नीझरण ए चमर ढुलंति मेघाडंबर सिरी धरीइं ।
तित्यह ए सउ रेवदी सिंहासणि जयइ नेमि जिण ।। १९ ।।
रंगिहि ए रमइ जो रासु (सिरि)विजयसेण सूरि निमविउए ।
नेमिजिणुतूसह तासु अबिक पूरह मणिरलीए ।। २० ।।

।। समत्तुरेवंतगिरि रासु ।।

(पृ० १५३ का शेषांश)

पाठ के मूलभूत अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म के विशेष गुण पढ़ने पड़ने है । यथा—

'स्वस्ति' त्रिलोकगुरुवे जिनपुंगवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदयसुस्थिताय ।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भूतवैभवाय ।।
स्वस्त्युच्छलद्विमलबोधसुधाप्लवाय,
स्वस्ति स्वभावपरभावविभासकाय ।
स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिद्रुद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ।।'—
इत्यादि ।

उक्त प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी श्लोकों में ग्रहीत पद 'स्वस्ति' ही है, जो हमें 'स्वस्तिक' नाम में मिलता है, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'स्वस्ति एवं स्वस्तिकम्' में ऊपर के वर्णन में हमें देव (अरहंत-सिद्ध) और धर्म (बोध) की स्पष्ट झलक मिल रही है और इनको मंगल कहा गया है ; तथा 'स्वस्ति' और स्वस्तिक दोनों का अर्थ मंगल है। आगे चलकर इसी पूजा प्रसंग मे हम साधुओं की 'स्वस्ति-रूपता' उनकी ऋद्धियों के वर्णन में पढते है । अरहंत रूप में तीर्थंकरों की 'स्वस्ति'-रूपता पढ़ने को मिलती है। अरहंत और साधुओ के लिए निम्न 'स्वस्ति' विधान है—

अरहंत स्वस्ति—

श्री वृषभो नः स्वस्ति, स्वति श्री अजितः ।
श्री संभवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनंदनः ।।

इत्यादि । —क्रमशः

स्वस्तिक रहस्य

□ श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम. ए.

आस्तिक भारतीयो में, चाहे वे वैदिक मतावलम्बी हों या सनातन जैन मतावलम्बी, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी की मांगलिक क्रियाओं में (जैसे विवाह आदि षोडश संस्कार, चूल्हा-चक्की स्थापना, दुकानदारों के खाता-बही, तराजू-बांट के मुहूर्त में) तीन परिपाटियां मुख्य रूप से देखने को मिलती है। कुछ लोग 'ॐ' लिखकर कार्य प्रारम्भ करते है और कुछ स्वास्तिक अंकित कर कार्य का श्री-गणेश करते है। इसके सिवाय कुछ लोग ऐसे भी है, जो दोनों को प्रयोग मे लाते है। वे 'ॐ' भी लिखते है और स्वस्तिक भी अंकित करते है। ग्रामीण अनपढ़ स्त्रियां भी इन विधियो को सादर अपनाती है। जैनियों के आगमो मे 'ॐ' और 'स्वस्तिक' को प्रमुख स्थान दिया गया है। वेदों मे भी ऊँकार को 'प्रणव' माना गया है, और प्रत्येक वेद मन्त्र का उच्चारण ॐकार से प्रारम्भ होता है। 'स्वस्ति' शब्द भी वेदों मे अनेक बार आता है जैसे— 'स्वस्ति न इन्द्रः' इत्यादि। जब एक ओर भारत मे इनका इतना प्रचार है, तब दूसरी ओर जर्मन देश भी 'स्वस्तिक' से वंचित नही है। वहा स्वस्तिक चिह्न को राजकीय सन्मान मिला हुआ है। गहराई से खोज की जाय तो अंग्रेजो के क्रास चिह्न मे भी 'स्वस्तिक' की मूलक झलक मिल सकती है। सम्भावना हो सकती है कि ईसा की फाँसी के बाद चिह्न का नामान्तर या भावान्तर कर दिया गया हो।

'ॐ' के सम्बन्ध में विविध मतावलम्बी विविध-विविध विचार प्रस्तुत करते है और विचार प्रसिद्ध भी है यथा 'ॐ' परमात्मा वाचक है, 'मंगल स्वरूप है' इत्यादि। जैनियों की दृष्टि से 'ॐ' पंचपरमेष्ठी वाचक एक लघु संकेत है। इसे पंचपरमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। वह इस प्रकार जिन शासन मे णमोकार मन्त्र की अपार महिमा है। प्रत्येक जैन, चाहे वह किसी पन्थ का हो, हिमालय से कन्याकुमारी तक इस मन्त्र को एक स्वर से पढ़ता है। मन्त्र इस प्रकार है—

'णमो अरहंताण णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्व साहूण॥'

अरहन्तो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार और लोक में सर्व साधुओ (श्रवण जैन) मुनियों को नमस्कार।

ॐ में परमेष्ठी

यदि उक्त मन्त्र को सर्वगुण सम्पन्न रखते हुए, एकाक्षर मे उच्चारण करना हो तो 'ॐ' मात्र कह देने से निर्वाह हो जाता है, क्योंकि 'ॐ' को शास्त्रों में बीजाक्षर माना गया है। जिस प्रकार छोटे से बीज मे वृक्षरूप होने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार 'ॐ' मे पूरे णमोकार मन्त्र की सामर्थ्य है, क्योंकि 'ॐ' में पांचो परमेष्ठी गर्भित है। तथाहि—

'अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो
पढ़मक्खर णिप्पण्णो ऊँकारो पंचपरमेष्ठी॥"

अरहन्त, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि, इन पांचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर से सम्पन्न 'ऊँ' है, और यह 'ऊँ' परमेष्ठी वाचक है। तथाहि—

अरहन्त, का अ, अशरीर (सिद्ध) का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनि का म्।

अ + अ = आ (अकः सवर्ण दीर्घः) +
आ + आ = („ „ „) +
आ + उ = ओ (आद्गुणः)
ओ + म् = ओम् = अनुस्वारयुक्त रूप = ॐ

पंच परमेष्ठियों के आद्यक्षरों से निष्पन्न 'ॐ' की महिमा इस प्रकार निर्दिष्ट है—

ऊँकारं बिन्दुसंयुक्त नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ऊँकाराय नमो नमः॥

बिन्दु सहित ऊँकार का योगीजन नित्य ध्यान करते

हैं। यह ऊँकार इच्छित पदार्थ-दाता और मोक्षप्रदाता है। उस ऊँकार को नमस्कार हो।

उपनिषद्कार के शब्दो मे- ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढ़ामैकाग्र्यलक्षणां मति सन्तनुयात-छांदोग्योपनिषद् शांकर भाष्य।' १ १, १। इसे 'प्रणव' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, क्योकि यह कभी भी जीर्ण नही होता। इसमें प्रतिक्षण नवीनता का संचार होता है और यह प्राणों को पवित्र और संतुष्ट करता है। 'प्राणान् सर्वान् परमात्म निप्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः।'

ऊपर कहे गये णमोकार मन्त्र की मंगल-रूपता मन्त्र के साथ पढ़े जाने वाले माहात्म्य से निर्विवाद सिद्ध होती है। आगमों मे अन्य अनेकों मन्त्रों की मगलरूपता प्राप्त है, पर मुख्यतः दो ही प्रसग ऐसे आते है, जिनमे मंगल शब्द का स्पष्टतः उल्लेख है—'णमोकार मन्त्र' और 'मंगलोत्तमशरणपाठ।' णमोकार मन्त्र के सबन्ध मे कहा गया है—

'एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसि पढ़मं हवइ मंगल॥'

यह पच नमस्कार सर्व पापो को नाश करने वाला और सर्व मगलो मे प्रथम मगल है।

उक्त विवरण के प्रकाश मे, मंगल कार्यों मे 'ॐ' का प्रयोग किया जाना स्पष्टतः परिलक्षित होता है, जो उचित ही है। पर 'स्वस्तिक' के सबन्ध मे अभी तक निर्णय नही हो पाया है। कोई इसे चतुर्गति भ्रमण और मुक्ति का प्रतीक मानता चला आ रहा है तो कोई ब्राह्मी लिपि के 'ऋ' वर्ण के समाकार मानकर इसे ऋषभदेव का प्रतीक सिद्ध करने के प्रयत्न मे है। मत ऐसा भी है कि यह 'सस्थापक' के भाव मे है। तात्पर्य यह कि अभी कोई निष्कर्ष नही मिल रहा है। अतः उसकी वास्तविकता पर विचार करना श्रेयस्कर है।

स्वस्ति, स्वस्तिक या सांथिया

'स्वस्तिक' सस्कृत भाषा का अव्ययपद है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इसे वैयाकरण कौमुदी मे ५४ वे क्रम पर अव्यय पदों मे गिनाया गया है। यह 'स्वस्तिक' पद 'सु' उपसर्ग तथा 'अस्ति' अव्यय (क्रम ६१) के सयोग मे बना है, यथा— सु+अस्ति=स्वस्ति। इसमें 'इकोयणचि' सूत्र से इकार के स्थान में वकार हुआ है।

बहुत से लोग 'अस्ति' को क्रियापद मानकर उसका 'है' या 'हो' अर्थ करते हैं, जो उचित नही है, क्योंकि यहां 'अस्ति' पद क्रियारूप में नही है, अपितु 'तिनत प्रतिरूपक अव्यय' है। जैसे कि 'अस्तिक्षीरा' में तिनत प्रतिरूपक अव्यय' है। वैसे 'स्वस्ति' मे भी 'अस्ति' को अव्यय माना गया है, और 'स्वस्ति' अव्यय पद का अर्थ कल्याण, मगल, शुभ आदि के रूप मे किया गया है। प्रकृत में उच्चरित 'स्वस्तिक' शब्द भी इसी 'स्वस्ति' का वाचक है। जब 'स्वस्ति' अव्यय से स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय हो जाता है, तब यही 'स्वस्ति' प्रकृत में 'स्वस्तिक' नाम पा जाता है। परन्तु अर्थ में कोई भेद नही होता। 'स्वस्ति एवं स्वस्तिक' की इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो 'स्वस्ति' है वही 'स्वस्तिक' है और जो 'स्वस्तिक' है वही 'स्वस्ति' है। उक्त प्रसंग से ऐसा फलित हुआ कि सभी 'स्वस्ति' 'स्वस्तिक' है और सभी 'स्वस्तिक' 'स्वस्ति' है, अर्थात् 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' मे कोई भेद नहीं है। यतः— 'स्वस्ति एवं स्वस्ति'।

प्राकृत भाषा मे 'स्वस्ति' या 'स्वस्तिक' के विभिन्न रूप मिलते है। जिन रूपो का प्रयोग मंगल, क्षेम, कल्याण जैसे प्रशस्त अर्थो मे किया गया है, उनमे कुछ इस प्रकार है—

(१) सत्थि (स्वस्ति) 'सत्थि करेई कविलो'।
--पउमचरिउ, ३५।६२.

(२) सत्थि (स्वस्ति क्षेम, कल्याण, मंगल, पुण्य आदि), हे० २।४५, स० २१।

(३) सत्थिअ (स्वस्तिक) प्रश्न व्याकरण, पृ० ६८, सुपासनाह चरिअ ५२, श्रा. प्र. सू २७।

(४) सत्थिक, ग (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पंचासक प्रकरण ४।२३।

(५) सोत्थय (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पचासक प्रकरण।

(६) सोवत्थिअ (स्वस्तिक) उववाई सूत्र, ज्ञातृ धर्मकथा, पृष्ठ ५४।

उक्त सभी शब्द-रूपों में मंगल भाव ध्वनित है। अतः यह निश्चय सहज ही हो जाता है कि 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' का प्रयोग भी 'ॐ' की भांति मगल निमित्त होना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि जैसे 'ॐ' को पंच परमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वैसे स्वस्तिक को किसका प्रतिनिधित्व प्राप्त है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि:—

जब यह निश्चय हो चुका कि 'स्वस्तिक' निर्माण मे मंगल कामना निहित है, तो यह भी आवश्यक है कि इसमें भी 'ॐ' की भांति कोई मगल निहित होना चाहिए। इसकी खोज के लिए जब हम णमोकार मन्त्र से आगे चलते है, तब हमे उसी पाठ परम्परागत चतुःशरण पाठ मिलता है और इस पाठ को स्पष्ट रूप से मंगल घोषित किया गया है, यथा —'चत्तारिमगल' इत्यादि। इस पाठ को आज सभी जैन आबालवृद्ध पढ़ते है। पूरा पाठ इस भांति है—

'चत्तारि मंगलं'। अरहन्ता मगलं। सिद्धा मंगलं, साहू मगल, केवलि पण्णत्तो धम्मो मगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा। अरहन्ता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारिसरण पवज्जामि। अरहते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरण पवज्जामि। साहूसरणं पवज्जामि। केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

उक्त पूरा पाठ 'मंगलोत्तमशरण' या 'चतुःशरण' पाठ के नाम से प्रसिद्ध है और णमोकार मन्त्र के क्रम से उसी के बाद बोला जाता है। यह मगल अर्थात् 'स्वस्ति पाठ' णमोकार मन्त्र की भाति प्राचीनतम प्राकृत भाषा मे निबद्ध और मंगल शब्द के निर्देश से युक्त है। अन्य स्थलो पर हमें बहुत से अन्य मंगल भी मिलते है। पर वे न तो प्रतिदिन नियमित रूप से सर्व साधारण मे पढ़े जाते है और न ही मूल मन्त्र—णमोकारगत पच परमेष्ठियो का बोध कराते है। अतः 'मंगल' मे चत्तारि-पाठ की प्रमुखता णमोकार मन्त्र की भाति सहज सिद्ध हो जाती है।

स्थानकवासी संप्रदाय मे 'चत्तारिमंगलं' पाठ 'मगली' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यत: जब कोई श्रावक मगल कामना में साधु-साध्वियों से प्रार्थना करता है कि महाराज ! 'मंगली' सुना दीजिए, तो वे सहर्ष 'चत्तारिपाठ' द्वारा उसे आशीर्वाद देते है। इस मंगल पाठ का भाषान्तर (हिन्दी रूप) भी बहुत बहुलता से प्रचारित है, यथा—

'अरिहत जय जय, सिद्ध प्रभु जय जय।
साधु जीवन जय जय, जिन धर्म जय जय।।
अरिहंत मंगलं, सिद्ध प्रभु मगल।
साधु जीवन मंगलं, जिन धर्म मगल।
अरिहत उत्तमा, सिद्ध प्रभु उत्तमा।
साधु जीवन उत्तमा, जिन धर्म उत्तमा।।
अरिहंत शरणा, सिद्ध प्रभु शरणा।
साधु जीवन शरणा, जिन धर्म शरणा।।
ये ही चार शरणा, दुःख दूर हरना।
शिव सुख करना, भवि जीव तरणा।।'

इस सर्व प्रसंग का तात्पर्य ऐसा निकला कि उक्त मूल-पाठ जो प्राकृत मे है और 'चतुः मंगल' रूप मे है, वह मंगल, कल्याण, शान्ति और सुख के लिए पढ़ा जाता है तथा 'स्वस्ति या स्वस्तिक' (मगल कामना) से सम्बन्धित है।

'दिगम्बर आम्नाय' में पूजा को श्रावक के दैनिक षट्कर्मों मे प्रथम गिनाया गया है। वहा प्रथम ही देवशास्त्र-गुरु की पूजा की जाती है और पूजा का प्रारम्भ दोनो (णमोकारमत्र और चतुःशरण पाठ) और उनके माहात्म्य से होता है। जैसे णमोकार मन्त्र वाचन का प्रथम क्रम है, वैसे उसके माहात्म्य वाचन का क्रम भी प्रथम है, यथा—

अपवित्रः पवित्रो वा सु-स्थितो दु-स्थितोऽपि वा।
ध्यायेत् पचनमस्कार सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
य. स्मरेत् परमात्मान सः बाह्याऽभ्यतरैः शुचिः।
अपराजितमन्त्रोऽय सर्वविघ्नविनाशनः।
मगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः।।
एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसिं, पढ़म हवइ मगलं।।

इसी क्रम मे जब हम पूजन प्रारम्भ करते है, हमे 'मगलोत्तमशरण पाठ का माहात्म्य और मंगलोत्तमशरण

(शेष पृ० १५२ पर)

हिन्दी के आधुनिक जैन महाकाव्य

☐ कु० इन्दु राय, एम. ए., शोधछात्रा, लखनऊ

भारतवर्ष की विविध संस्कृतियों में अवस्थित है जैन संस्कृति, जिसका अपना विशेष दर्शन है, विशिष्ट दृष्टि है। जैन मतावलम्बियों की अपनी पृथक् आचार-विचार संहिता है, निजी जीवन पद्धति है। उन आचार-विचारों, दर्शन, आदर्शों व मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाला वाङ्मय ही "जैन साहित्य' है। अखिल भारतीय ज्ञान-संवर्धन एवं साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में जैन साहित्यकारों ने प्राचीन एवं अर्वाचीन समस्त भारतीय भाषाओं में विविध विषयक, बहुविद्यात्मक विपुल साहित्य का सृजन करके भारती के भंडार को सुसमृद्ध एव समलंकृत किया है। "संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में तो अगणित जैन साहित्य रचा ही गया, पर आधुनिक देशी भाषाओं की जननी अपभ्रंश पर तो जैन साहित्यकारो का एकाधिकार-सा ही रहा है। पुरातन हिन्दी भाषा मे भी गद्य एवं पद्य साहित्य का बहुभाग जैन प्रणीत है।"[1] परन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय साहित्य के इतिहास में जैन साहित्य की उपेक्षा की जाती रही है। इस उपेक्षा का एक प्रमुख कारण स्वयं जैनियों की धर्मान्धता व रूढ़िवादिता भी था।

इतिहासकारो के अनुसार, मुद्रण कला का कार्य सन् ८६८ ई० में चीन में प्रारम्भ हुआ था। भारतवर्ष मे उसका श्रीगणेश सन् १५५६ ई० मे हुआ तथा देवनागरी लिपि का प्रथम लेख सन् १६७८ में छापा गया। मुद्रण का यह कार्य अद्यावधि द्रुत वेग से प्रवाहमान है।[2] १७वीं शती तक अनेकानेक ज्ञान-क्षेत्रों व साहित्यिक विधाओं में जैन वाङ्मय का प्रभूत मात्रा में सृजन हो चुका था, किन्तु अधिकांश जैन धर्मानुयायियों ने संकुचित प्रवृत्तिवश ग्रन्थों के मुद्रण का विरोध किया। परिणामस्वरूप जैन साहित्य का अपेक्षित प्रचार एवं प्रसार नहीं हो सका। अन्ततोगत्वा १९वीं शती के अन्त तथा २०वी शती के आरम्भ में कई जैन तथा जैनेतर विद्वान् 'जैन वाङ्मय' के प्रकाशन की ओर आकृष्ट हुए और तब से यह साहित्य समस्त विधाओं व क्षेत्रों मे विपुल मात्रा मे प्रकाश मे आ रहा है, रचा जा रहा है। यही कारण है कि अब भारतीय साहित्य का सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखने वाले मनीषी 'जैन साहित्य' की पूर्ण उपेक्षा करने मे हिचकने लगे है। वर्तमान समय में रचे जा रहे साहित्य के इतिहास में जैन कृतियो का परिचय समाविष्ट हो रहा है।[3]

जैन साहित्य अत्यन्त व्यापक, अनेक रूपात्मक और बहुमुखी है। अन्यान्य विधाओं की भाति जैन प्रबन्धकाव्यों (महाकाव्य तथा खण्डकाव्य) की भी एक सुदीर्घ एवं सुसमृद्ध परम्परा है। सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश वाङ्मय की श्रीवृद्धि करने वाली, जैन काव्यों की परम्परा, सम्प्रति हिन्दी भाषा में भी प्रगतिमान है। गत सौ वर्षों मे खड़ी बोली हिन्दी मे अनेकानेक जैन प्रबन्धकाव्यों की सृष्टि हुई है, जिनमें उल्लेखनीय है --कवि कृष्णलाल विरचित 'वियोग मालती', श्री दयाचन्द गोयलीय कृत 'सीता चरित्र', कवि राजधरलाल जैन केवलारी कृत 'वीर चरित्र', पन्नालाल जैन विरचित 'मनोरमा चरित्र' व 'भरतेश्वर काव्य', भंवरलाल सेठी द्वारा रचित 'अंजना पवनञ्जय' कवि मंगलसिंह रचित 'तीर्थंकरार्चन', युवा कवि बालचन्द्र

---

१. तीर्थंकरो का सर्वोदय मार्ग—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, पृ० ५९

२. प्रकाशित जैन साहित्य—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, पृ० ५-६

३. (क) हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल
   (ख) हिन्दी साहित्य का इतिहास—सम्पादक डा० नगेन्द्र
   (ग) हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड)—सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि

जैन प्रणीत 'राजुल', कविरत्न गुणभद्र आगास विरचित 'राम वनवास', 'प्रद्युम्नचरित्र' तथा 'कुमारी अनन्तमती', कविवर धन्यकुमार सुधेश कृत 'विराग' और 'परम ज्योति महावीर', कवि नाथूलाल त्रिवेदी का 'महावीर चरित्रामृत', महाकवि अनूप शर्मा प्रणीत 'वर्द्धमान', राजस्थानी कवि मूलदास मोहनदास नीमावत कृत 'वीरायण', श्री यति मोती हंस जी कृत 'तीर्थंकर श्री वर्द्धमान', कविवर वीरेन्द्रप्रसाद जैन विरचित 'तीर्थंकर भगवान महावीर' और 'पार्श्व प्रभाकर', श्री मोतीलाल 'मार्तण्ड' ऋषभ प्रणीत 'श्री ऋषभ चरित्र सार', गुजराती कवि हीराचन्द झवेरी कृत 'त्रिभुवन तिलक', श्री गणेश मुनि का 'विश्व ज्योति महावीर', महाकवि रघुवीर शरण 'मित्र' विरचित 'वीरायन' तथा डा० छैल बिहारी गुप्त प्रणीत 'तीर्थंकर महावीर'। उपर्युक्त प्रबन्ध काव्यों मे से बीसवी शताब्दी में रचे गये हिन्दी के प्रमुख जैन महाकाव्यो का सक्षिप्त विवरण अग्रिम पंक्तियों मे दिया गया है।

आधुनिक युग मे खड़ी बोली हिन्दी मे, सर्वप्रथम जैन महाकाव्य प्रणयन का श्रेय जैनेतर कवि पण्डित अनूप शर्मा को प्राप्त है। महाकवि अनूप प्रणीत महाकाव्य "वर्द्धमान" वीर शासन जयन्ती, श्रावण कृष्ण एक, वीर निर्वाण सवत् २४७७ (जुलाई सन् १९५१) को भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस से मुद्रित हुआ था। सम्प्रति यह महाकाव्य भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कनाट प्लेस, नई दिल्ली से प्राप्त किया जा सकता है। १७ सर्गों मे निबद्ध इस महाकाव्य के कुल १९९७ छन्दों मे जैन तीर्थंकर परम्परा के अन्तिम अर्थात् २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर, के जिनका एक नाम वर्द्धमान भी है, पूर्व भवों से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक के जीवन को काव्यात्मक रूप मे अनुस्यूत किया गया है। महाकाव्यकार ने भगवान वर्द्धमान के इतिवृत्त चित्रण मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर मान्यताओं मे समन्वय स्थापन का प्रयास किया है।[1] समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाने के अनन्तर भी जैन मान्यतायें अक्षुण्ण नहीं रह पाई है, स्थल-स्थल पर कवि का ब्राह्मणत्व काव्यावरण से बाहर झलकने लगा है। भगवान महावीर के सम्पूर्ण जीवन की प्रमुख कथा 'अघारव्य लहिदर्प-मर्दन', 'चन्दना-उद्धार' तथा 'अनंग-परीक्षा' आदि गौण प्रकरण सुष्ठु रूप से सुनियोजित है।

शिल्प सौष्ठव एवं काव्यगत उत्कृष्टता की दृष्टि से 'वर्द्धमान' एक सफल महाकाव्य है। महाकवि ने केवल चार प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। १९९७ छन्द संयुत प्रस्तुत महाकाव्य में १९२२ वंशस्थ, ७० द्रुतविलम्बित, ३ शार्दूलविक्रीडित तथा २ मालिनी छन्द हैं। हिन्दी में इतने अधिक वशस्थ छन्दो का प्रयोग और किसी काव्यकार ने एक कृति मे नही किया है।[1] काव्य की भाषा आद्योपांत प्रांजल व सस्कृतनिष्ठ है। अत्यधिक सामासिक पदावली के प्रयोग से काव्यार्थ में दुरुहता आ गई है, कथा प्रवाह भी स्थान-स्थान पर अवरुद्ध हो गया है। शृंगार एव शात रस प्रधान इस महाकाव्य मे अन्य सभी रसों का भी प्रसंगानुकूल परिपाक हुआ है।

महाकवि अनूप के उपर्युक्त महाकाव्य के उपरांत सन् १९५४ ई० मे कवि धन्यकुमार 'सुधेश' ने 'परम ज्योति महावीर' नामक महाकाव्य का सृजन प्रारम्भ किया, परन्तु काव्य की समाप्ति व प्रकाशन से पूर्व सन् १९५६ मे कवि वीरेन्द्रप्रसाद जैन प्रणीत महाकाव्य "तीर्थंकर भगवान महावीर" प्रकाशित हो गया था। ९ वर्ष के अन्तराल पर, यत्किंचित् परिवर्द्धन के साथ सन् १९६५ मे 'तीर्थंकर भगवान महावीर' महाकाव्य का द्वितीय संस्करण 'श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज से प्रसारित हुआ। प्रस्तुत महाकाव्य में कुल ७ सर्ग है जिनका नामकरण क्रमशः—पूर्वाभास, जन्म महोत्सव, शिशुवय, किशोरवय, तरुणाई एवं विराग, अभिनिष्क्रमण एवं तप, तथा निर्वाण एवं वन्दना-रूप मे किया गया है। सर्ग शीर्षकों से ही तदन्तर्गत निहित कथ्य का आभास मिल जाता है। महाकाव्यकार ने लोक रजक भगवान

१. "... कवि ने दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नाय मे ही नही, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म में भी सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है।"

—"वर्द्धमान" का 'आमुख'—लेखक लक्ष्मीचन्द्र जैन, पृ० १७

१. अनूप शर्मा : कृतियाँ और कला—सम्पादक डा० प्रेमनारायण टण्डन, पृ० २०८

महावीर के पावन चरित्र का सरल, आडम्बर-रहित, सरस भाषा में मनोग्राही चित्रण किया है। विवेच्य महाकाव्य में छन्द संख्याबद्ध नहीं हैं, किन्तु महाकाव्यकार के शब्दों में—"···वास्तव में यह भक्ति की शक्ति ही है जिसने मुझसे मेरे आराध्य के प्रति ११११ छन्द लिखवा लिए।" महाकाव्य के परम्परागत लक्षण का अनुकरण करते हुए कवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन-क्रम का निर्वाह किया है। काव्य में आद्योपाँत गेयता व लयात्मकता का भी ध्यान रखा है।

'वर्द्धमान' तथा 'तीर्थंकर भगवान महावीर' के ही वर्ण्य-विषय पर लिखा जाने वाला तीसरा हिन्दी जैन महाकाव्य है, कविवर धन्यकुमार जैन 'सुधेश' विरचित "परम ज्योति महावीर", जो सन् १९६१ मे 'श्री फूलचन्द जवरचन्द गोधा जैन ग्रथ माला', इन्दौर से प्रकाशित हुआ। कवि ने अपने इस ग्रन्थ को 'करुण, धर्मवीर एवं शांत रस प्रधान महाकाव्य' संज्ञा प्रदान की है।

"परम ज्योति महावीर" महाकाव्य मे सर्गों की संख्या २३ है। इस वहुसर्गात्मक ग्रथ मे कुल २५१६ छन्द है जिनका नियमपूर्वक विभाजन किया गया है। प्रत्येक आशीर्षित सर्ग में १०८ छन्द है। इसके अतिरिक्त ३३ छन्द प्रस्तावना में पृथक् रूप से निबद्ध है।[२] महाकवि ने इस बात का ध्यान रखा है कि तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन व तद्सम्बन्धित घटनाओं के सम्यक् निर्वाह के साथ-साथ महावीर युगीन राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का भी समुचित निरूपण हो। अपने इस प्रयास मे कवि पर्याप्त सफल हुआ है। जैन संहिता, दर्शन, धर्मादि से भलीभाँति भिज्ञ कवि 'सुधेश' ने जिनेन्द्र भगवान की दिव्य वाणी की मौलिकता को अक्षुण्ण रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर अवधारणाओं के सत् समन्वय के सम्बन्ध में महाकाव्यकार ने लिखा है—"दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों से जो कुछ सत्, शिव, सुन्दर प्राप्त हुआ है, उससे इस महाकाव्य को अलंकृत करने का प्रयत्न किया है।"[३]

कथा वस्तु की दृष्टि से 'परम ज्योति महावीर' में अपने पूर्वरचित महाकाव्यों से पृथकता इस बात में है कि केवल इस कृति में सन्मति भगवान के ४१ चातुर्मासों व साधनाकाल का विशद वर्णन कर नायक के जीवनवृत्त को सम्पूर्णता प्रदान की गई है। उल्लेख्य महाकाव्य मे आदि से अन्त पर्यन्त केवल एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ को माधुर्य एवं प्रसाद गुण सम्पन्न बनाए रखने के लिए सुबोध, सुकोमल व जन प्रचलित भाषा का आश्रय लिया गया है। काव्य मध्य मे प्रसंगानुकूल आगत जैन पारिभाषिक शब्दो, यथा—आस्रव, निर्जरा, पुद्गल, प्रासुक, निगोद, पड़गाहना, कुलकर, पचास्तिकाय, अनगार, मानस्तम्भ, द्वादश भावनाए आदि, की महाकाव्यान्त में सरल व्याख्या दी गई है। इसी प्रकार, परिशिष्ट २ व परिशिष्ट ३ मे क्रमशः काव्यान्तर्गत प्रयुक्त ऐतिहासिक स्थलों व पात्रों का भी परिचय कवि ने दिया है। सारांशतः काव्यशास्त्रीय दृष्टि व महत् प्रयोजन दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत महाकाव्य उत्कृष्ट है।

पूर्व विवेचित महाकाव्यों से भिन्न कथ्य व पृथक् शैली मे कवि मोतीलाल 'मार्तण्ड' ऋषभदेव ने 'श्री ऋषभ चरितसार' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना की है। प्रस्तुत कृति को लघु आकार का महाकाव्य मानना अनुचित न होगा। विवेच्य महाकाव्य १५ फरवरी, सन् १९६४ में 'श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगज' से प्रकाशित किया गया।

'श्री ऋषभ चरितसार' की कथावस्तु आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अथवा ऋषभनाथ के पावन चरित्र पर आधृत है। हिन्दी भाषा मे तीर्थंकर वृषभदेव पर रचा जाने वाला कदाचित् उपरोक्त काव्य ग्रन्थ ही प्रकाश में आया है। प्रस्तुत महाकाव्य का आकार शास्त्र-ग्रन्थों के समान है तथा इसे तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' की शैली का अनुसरण करते हुए दोहा, चौपाई, सोरठा

१. 'तीर्थंकर भगवान महावीर': "दो शब्द"—श्री वीरेन्द्रप्रसाद जैन, पृ० ३

२. विस्तृत विवरण हेतु देखिए—
'कृति की कथा'—'परम ज्योति महावीर' में—श्री धन्यकुमार जैन 'सुधेश', पृ०२०-२१

३. 'कृति की कथा' : 'परम ज्योति महावीर' में –श्री धन्यकुमार 'सुधेश' पृ० २०-२१

आदि छन्दों में संवारा गया है। काव्यारम्भ से पूर्व भूमिका में बाबू कामताप्रसाद जैन ने वेद, उपनिषदादि संस्कृति ग्रन्थों के उद्धरणों का उल्लेख करते हुए महाकाव्य के महानायक ऋषभदेव की ऐतिहासिकता प्रमाणित कर दी है। भूमिका के उपरांत कवि 'मार्तण्ड' जी की शुद्ध संस्कृत भाषा में 'श्रुत वन्दना' निबद्ध है, तदन्तर काव्य प्रारम्भ हुआ है। विवेच्य महाकाव्य मे ९ सर्ग है जिनके शीर्षक क्रमशः है—मंगल सर्ग, पूर्वभव सर्ग, अवतरण सर्ग, उपकार सर्ग, तप सर्ग, उपदेश सर्ग, विजय सर्ग, स्वप्न सर्ग तथा निर्वाण सर्ग। इन नौ सर्गों मे छन्दो की कुल संख्या लगभग ७३५ है। महाकाव्यकार ने प्रत्येक सर्ग में छन्दों की उनके प्रकार के अनुसार पृथक् संख्या दी है, जिससे क्रम विशृंखलित व सम्भ्रमकारी हो गया है।

पौराणिक महाकाव्यो के लक्षणों का निर्वाह करते हुए, प्रथम सर्ग का आरम्भ मंगलाचरण, वृषभवन्दना एवं देवशास्त्र गुरु-स्तुति से किया गया है। धीर, प्रशांत नायक तीर्थंकर ऋषभनाथ के साधना एवं अनुचिंतक प्रधान जीवन पर आधृत काव्य मे भी कवि ने बहुल घटनाओं का समावेश करके ग्रन्थ को रोचक व ग्राह्य बना दिया है। भगवान ऋषभ के साथ-साथ उनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत तथा महायोगी बाहुबलि के जीवनवृत्त को भी प्रस्तुत काव्य में चारु रूप से सयोजित कर लिया है और कथा प्रवाह अबाधित रहा है। कवि ने प्रत्येक छन्द के उपरान्त हिन्दी गद्य मे अर्थ व्याख्या दे दी है जिसकी प्रबुद्ध पाठक के लिए आवश्यकता नही थी।

'श्री ऋषभ चरित सार' के पश्चात् साहित्यालोक में आने वाला उल्लेख्य हिन्दी जैन महाकाव्य है कवि वीरेन्द्रप्रसाद जैन प्रणीत "पार्श्व प्रभाकर"। प्रस्तुत महाकाव्य २२ जनवरी, सन् १९६४ मे पूर्ण हो चुका था किंतु आर्थिक कठिनाइयों वश मुद्रित न हो चुका।[1] अन्तत: सन् १९६७ में गौहाटी की दिगम्बर जैन पचायत के आर्थिक सहयोग से, श्री अखिल विश्व-जैन मिशन, अलीगंज (एटा) से प्रकाशित हुआ। आकार-प्रकार, भाषा एवं शैली-विधा के परिप्रेक्ष्य में अवलोकें तो 'पार्श्व-प्रभाकर' कवि के पूर्व रचित महाकाव्य 'तीर्थंकर भगवान महावीर से पर्याप्त साम्य रखता है, परन्तु काव्य का वर्ण्य विषय पूर्णतः पृथक् है। 'पार्श्व प्रभाकर' मे कवि ने जैन तीर्थंकर परम्परा के २३वें तीर्थंकर 'पार्श्वनाथ' के पूर्व जन्मों से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक के जीवन को काव्य का आधार बनाया है।

कवि वीरेन्द्रप्रसादजी ने महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण या प्रभु वन्दना से न करके भारत देश स्थित प्राकृतिक सुषमा सम्पन्न काशी-राज्य के वैभव वर्णन से किया है; परन्तु काव्यारम्भ से पूर्व पृथक् रूप से 'प्रणत प्रणाम' शीर्षक से ८ पंक्तियों की स्तुति लिखी है। प्रभु पार्श्वनाथ के प्रणमन वन्दना को समर्पित इस लघु स्तुति में अनुप्रासिक सौन्दर्य दृष्टव्य है—कवि ने 'प्रणत प्रणाम' में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का प्रारम्भ 'प' वर्ण से किया है। 'पार्श्व प्रभाकर' महाकाव्य पर कविवर भूधरदास विरचित 'पार्श्व पुराण' का प्रभाव परिलक्षित होता है, कई छन्द तो 'पार्श्व-पुराण' के भाषानुवाद मात्र प्रतीत होते है। विवेच्य कृति मे सर्गों की कुल सख्या १० है तथा तदन्तर्गत निबद्ध छन्द लगभग १३८५ है। सर्गो का नामकरण अग्रलिखित क्रम से हुआ है—प्रथम सर्ग 'पूर्वाभास', दूसरा 'गर्भकाल', तीसरा 'जन्म-महोत्सव', चौथा सर्ग 'शिशुवय', पांचवाँ 'किशोरवय', षष्ठम सर्ग 'तरुणवय एवं विराग', सप्तम 'पूर्व-भव दर्शन एवं लौकान्तिक देवार्चन', अष्टम सर्ग 'अभिनिष्क्रमण, तप एवं केवल-ज्ञान', नवम 'धर्मोपदेश' तथा दशम सर्ग 'निर्वाण वन्दना'।

'पार्श्व प्रभाकर' के उपरान्त कई वर्षों तक कोई हिंदी जैन महाकाव्य साहित्य जगत मे नही आया, किन्तु अब तीर्थंकर भगवान महावीर के पच्चीस-सौवे निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य मे विगत दो-तीन वर्षो के भीतर साहित्य की कथा, नाटक, उपन्यास आदि समस्त विधाओं में विपुलात्मक जैन साहित्य सृजित हुआ तथा निरन्तर रचा जा रहा है। इसी अवधि-अन्तराल मे महाकाव्य विधा मे प्रणीत दो अत्यन्त उत्कृट कृतियाँ प्रकाश मे आई है। कविवर रघुवीर शरण मित्र विरचित 'वीरायन' तथा डा० छैलबिहारी गुप्त कृत 'तीर्थंकर महावीर'।

महाकाव्यकार रघुवीरशरण मित्र ने अपने 'वीरायन'

१. 'पार्श्व-प्रभाकर का 'प्राक्कथन'—श्री वीरेन्द्रप्रसाद जैन

(महावीर मानस महाकाव्य) को हिन्दी साहित्येतिहास के छायावाद-युगीन अप्रतिम कवि जयशंकर प्रसाद की अमर कृति 'कामायनी' के रूप में टाँकने का प्रयास किया है। महाकाव्य का शीर्षक 'वीरायन' ही इस ओर संकेत करता है। प्रस्तुत कहाकाव्य वीर निर्वाण सम्वत् २५०० (सन् १६७५) में भारतोदय प्रकाशन, वेस्ट एण्ड रोड, मेरठ से प्रकाशित किया गया है। महाकवि ने जिनेन्द्र भगवान महावीर की वन्दना, अर्चना तथा उनकी अमरवाणी, आप्त वचनों के सुदूरगामी व दीर्घकालीन प्रभाव-प्रसार के उद्देश्य से ही प्रस्तुत महाकाव्य की रचना की है। स्वयं महाकाव्यकार के शब्दों में—"श्रद्धा ने तपस्या का व्रत लिया, संकल्प किया कि तपालोक वीर भगवान पर महाकाव्य रचूंगा। 'वीरायन' महाकाव्य से भगवान महावीर का अर्चन किया है और काव्य रचने का उद्देश्य है जन-जन में भगवान महावीर की वाणी का सन्देश देना।...मेरी यह रचना स्वान्त:सुखाय होते हुए भी लोक हितकारी है।"[1]

महाकाव्य सम्बन्धी नवीन लक्षणों, नवीन मूल्यों पर आधारित प्रस्तुत बृहदाकार ग्रन्थ मे १५ सर्ग है, जिनके शीर्षक तद्निहित वर्ण्य विषय के अनुरूप निम्नलिखित है:

पुष्प प्रदीप, पृथ्वी पीड़ा, बाल कुमुदनी, जन्म-ज्योति, बालोत्पन्न, जन्म-जन्म के द्वीप, प्यास और अंधेरा, सन्ताप, विरक्ति, वनपथ दिव्य दर्शन, ज्ञान-वाणी, उद्धार, अनन्त तथा युगान्तर। जैसा कि सर्ग के नामों से स्पष्ट है, तीर्थंकर महावीर की प्रमुख कथा चौथे सर्ग से ही प्रारम्भ होती है; उससे पूर्व तो महाकवि के विविध शब्द पुष्पों से देवादेव इष्टों की अभ्यर्थना, प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा का विशद वर्णन तथा सतयुग से कलियुग तक के आवर्तन-परिवर्तन की विस्तृत विवेचना की है। अन्तिम सर्ग 'युगांतर' में निर्वाणोपरांत भगवान महावीर के अमर वचनों व सिद्धान्तों की जीवन एवं जगत को देन तथा उनकी उपलब्धि और उपयोगिता का आकलन किया गया है। कथा-वस्तु की अपेक्षा प्रस्तुत महाकाव्य काव्यगत उत्कृष्टता की दृष्टि से अधिक सफल है। बहुलछन्दात्मक इस काव्य में स्थान-स्थान पर स्वतन्त्र प्रगीतों का नियोजन स्पृहणीय है। प्रकृति का स्वतन्त्र, आलम्बन तथा उद्दीपन सभी रूपों मे मर्मस्पर्शी चित्रण कवि ने किया है। भगवान महावीर के जीवन को सम-सामयिक सन्दर्भ में देखने के परिणामस्वरूप वर्त्तमानकालीन भारत की समस्याओ, अभावों कुरीतियों आदि के निरूपण व उनके समुचित समाधान के उपायों का भी निर्देश इतस्ततः प्राप्य है। परन्तु स्थान-स्थान पर प्रभु महावीर की, प्रकृति की, दृश्यादृश्य शक्तियों, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शारदा आदि दिव्यादिव्य देवों की, काव्य-साफल्य, जनकल्याण तथा राष्ट्रोद्धार के लिए अभ्यर्थना, वन्दना, प्रार्थना कथा-प्रवाह के व्यवधान है।

'अवन्तिका के शब्द शिल्पी' महाकाव्यकार डा० छैल बिहारी गुप्त विरचित 'तीर्थंकर महावीर' महाकाव्य, हिन्दी जैन महाकाव्यो की नवीनतम उपलब्धि है। मुनि श्री विद्यानन्द को समर्पित उपर्युक्त ग्रन्थ का प्रणयन १७ अक्टूबर, १६७४, गुरुवार को प्रातः ७ बजकर १० मिनट पर प्रारम्भ हुआ तथा इसकी परिसमाप्ति हुई १७ फरवरी, १६७५, सोमवार को प्रात: ८ बजकर १० मिनट पर।[2] प्रस्तुत महाकाव्य इसी वर्ष, अर्थात् १६७६ ई० के मार्च महीने मे 'श्री वीर निर्वाण-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर' से प्रकाशित हुआ है। 'सर्गबद्धो महाकाव्यम्' सूत्र के आधार पर कवि ने तीर्थंकर भगवान महावीर के इतिवृत्त को आठ सर्गो मे विभाजित किया है। महाकाव्यकार ने कथा-निर्वाह में ऐतिहासिक सत्यता, साम्प्रदायिक एवं पारम्परिक जैन मान्यताओ की अक्षुण्णता का पूरा ध्यान रखा है। काव्य का कोई भी प्रसंग या कल्पना इतिहास विसंगत नही है। इतर प्रकरणो को अनावश्यक विस्तार न देकर धीर, प्रशात, धीरोदात्त, सन्मति भगवान महावीर के जीवनवृत्त को प्रसाद तथा माधुर्य सयुत काव्य शैली में

---

१. 'वीरायन' (महावीर मानस महाकाव्य) का "पूर्वालोक"— लेखक— श्री रघुवीर शरण 'मित्र', पृ० ६-१०

२. 'तीर्थंकर महावीर' (महाकाव्य)—डा० छैलविहारी गुप्त—'उपक्रमणिका' के उपरांत में

चित्रित किया गया है। महाकाव्य को सर्व बोध गम्य बनाने के लिए विद्वान् कवि ने दुरूह, क्लिष्ट संस्कृतगर्भित शब्दावली का मोह परित्याग कर जन-प्रचलित, सरल खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया है और उसके परिणामस्वरूप प्रस्तुत महाकाव्य सरस, सुग्राह्य व प्रवाहशील बन सका है।

'तीर्थंकर महावीर' में महाकाव्यकार ने न सर्गों को शीर्षक दिए हैं, न छन्दों की संख्या। 'वीरायन' की भांति बहुछन्दात्मक इस ग्रन्थ मे भी एकाधिक स्थलों पर मुक्तक गीतों की संयोजना हुई है। द्वितीय सर्ग मे सन्मति प्रभु महावीर द्वारा अभिचिंतित, जीवन की क्षणभंगुरता, वस्तुओं व स्वजनो के प्रति मोह-मायादिक की निस्सारता को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने वाले १० गीत अत्यधिक प्रभावकारी है। यद्यपि इन गीतो से कथा-प्रवाह अवरुद्ध हो गया है तदपि प्रभावोत्पादन मे वे पूर्ण सफल हुए है। महाकाव्यान्त में भी कवि ने एक स्वतन्त्र गीत भगवान महावीर के ढाई हजारवें निर्वाण-वर्ष पर विशेषतः रचा है। इस प्रकार कथ्य, विषय-वर्णन तथा शिल्प-सौष्ठव सभी दृष्टियो से डा० छैलबिहारी गुप्त प्रणीत 'तीर्थंकर महावीर' उच्च कोटि का महाकाव्य हैं। आशा है कि निकट भविष्य मे न केवल भगवान महावीर पर ही, अपितु 'जिन' परम्परा के पोषक अन्य महानायकों के पावन-वृत पर भी, उत्कृष्ट महाकाव्य साहित्य प्रांगण मे पदार्पण करेंगे।

□ □ □

प्राकृत, अपभ्रन्श तथा अन्य भारतीय भाषाएं

भाषा व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जीवन का हरेक क्षण भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यदि भाषा स्वाभाविक, सुबोध और सम्प्रेषणयुक्त है तो व्यक्ति का जीवन दर्पण की भाँति उजागर होता रहेगा और यदि भाषा क्लिष्ट, थोपी हुई तथा रूढ हो तो जीवनदर्शन सामान्य जन की परिधि से बाहर ही घूमता रहता है। उसमे लोकतन्त्रात्मक विकास की संभावनाएं क्रमशः कम होती जाती है। मानव इतिहास मे भाषा का यह उतार-चढ़ाव संस्कृति को बहुत परिवर्तित करता रहा है। भारत मे प्राचीन समय से ही शिष्ट और जन-सामान्य की भाषा का समानान्तर, प्रयोग होता रहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भी यही स्थिति थी। इन दोनों महापुरुषों ने भाषा की इसी महत्ता को समझते हुए जनभाषा को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। तत्कालीन वह जनभाषा इतिहास में मागधी (पालि) व अर्द्धमागधी (प्राकृत) के नाम से जानी गयी है। भारतीय आधुनिक भाषाओ का विकास इसी जनभाषा से जुड़ा हुआ है।

प्राकृत भाषा का सबन्ध भारतीय आर्य शाखा परिवार से है। विद्वानों ने भारतीय आर्य शाखा परिवार की भाषाओं के विकासको तीन युगों मे विभक्त किया है:—

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल (१६०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक),
२. मध्यकालीन आर्य भाषाकाल (६०० ई० पू० से १००० ई० तक) तथा
३. आधुनिक आर्य भाषाकाल (१००० ई० से वर्तमान समय तक)

प्राकृत भाषा का जो विकास हुआ है वह किसी न किसी रूप में भारतीय भाषाओं के इन तीनो कालो से जुड़ा हुआ है। इस संबन्ध का अध्ययन करने से प्राकृत और भारतीय आधुनिक भाषाओं के परस्पर साम्य—वैषम्य का पता चलता है।

□ □ □

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १ ५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १ ५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्मरहस्य : पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२ ००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ५ ००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २० ००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी मे अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३० : किरण १

जनवरी-मार्च १९७७

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

□

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया ५० पैसा

स्थापित : १९२९

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति में संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

- □ जैन-जैनेतर पुरातत्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- □ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- □ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- □ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- □ जैन साहित्य, इतिहास और तत्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्सेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थगार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४६ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य इतिहास एवं पुरातत्व के शोधानुसन्धान में योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुल प्रसाद जैन (सचिव)

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३० किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जनवरी-मार्च
वीर-निर्वाण संवत् २५०३, वि० सं० २०३३ | १९७७

अहिंसा के आयाम

विचारेऽनेकान्तश्चरितपरिपाटीस्ववधिकः ।
परिग्राह-ग्राह्यान्मथनपरिमाऽऽचारसरणौ ॥
समर्थः स्याद्वादो वचसि तनु सापेक्षसजुषां ।
समीचीनः पन्था जयति जिनसर्वोदयकृताम् ॥

अर्थ —सर्वोदय धर्म के आविष्कर्ता तीर्थंकर जिनेन्द्र ने विचारों में अनेकान्त, आचार में अहिंसा तथा परिग्रह-रूप ग्राह को उन्मथन करने वाले समाज की रचना करने में चतुर अपेक्षा-दृष्टि से वचन (वाणी) में स्याद्वाद समीचीन रूप तीर्थ को रचना की है, उसकी जय हो।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोत ।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगम् ॥
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्ततोऽन्ये त्यजन्ति ।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥

अर्थ —साम्यभाव पर आरूढ़, निष्पाप और मोहरहित योगी के पवित्र सान्निध्य से प्राणियों में निर्वैर अहिंसा का संचार होता है। उसके समीप हरिणी सिंहशिशु को और गो व्याघ्र के बालक को पुत्र-भाव से स्पर्श करती है। बिल्ली हंसशावक को और मयूरी सर्प को प्रेम करने लगती है। इतना ही नहीं, और-और जन्तु भी स्वाभाविक जन्मजात बैर भूल जाते हैं।

य लोका असकृन्नमन्ति ददते यस्मै विनम्रांजलिम् ।
मार्गस्तीर्थकृतां स विश्वजगतां धर्मोऽस्त्यहिंसाभिधः ॥
नित्यं चामरधारिणाविवबुधाः यस्यैकपार्श्वे महान् ।
स्याद्वादः परतो बभूवतुरथाऽनेकान्त-कल्पद्रुमः ॥

अर्थ —जिसे संसार निरन्तर नमस्कार करता है, जिसे अपनी विनम्र अंजलि समर्पित करता है, वह तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण संसार का मान्य धर्म 'अहिंसा' है। उस अहिंसा धर्म के एक पार्श्व में स्याद्वाद और दूसरे पार्श्व में अनेकान्तरूप कल्पद्रुम स्थित है। मानो, किसी सम्राट् के दोनों ओर दो चामरधारी स्थित हों।

□ □ □

मध्यप्रदेश में मध्ययुगीन जैन शिल्पकला

☐ डा० शिवकुमार नामदेव, माडला

भारत की प्राच्य संस्कृत के लिये जहा जैन साहित्य का अध्ययन आवश्यक है वही जैन कला के अध्ययन का भी कुछ कम महत्व नही है। जैन कला अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताओं के कारण भारतीय कला मे एक अद्वितीय स्थान रखती है। जैन धर्म की स्वर्णिम गौरव-गरिमा की प्रतीक प्रतिमायें, पुरातन मंदिर, विशाल स्तभादि प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृत के ज्वलंत उदाहरण है। अतीत उनमें अंतर्निहित है। प्रत्येक जाति और समाज की उन्नत दशा का वास्तविक परिचय इन्हीं खडित अवशेषों के गंभीर अध्ययन, मनन और अन्वेषण पर अवलंबित है। सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा एव अभिवृद्धि में साहित्यकार जहां लेखनी के माध्यम से समाज में अपने भावो को व्यक्त करता है, वही कलाकार पार्थिव उपादानो के माध्यम द्वारा आत्मस्थ भावों को अपनी सधी हुई छेनी से व्यक्त करता है।

मध्यप्रदेश के अतीत की कहानी का विश्लेषण करना सुगम नहीं है। प्राच्य युग से ही यह प्रदेश भारत की गौरवमयी संस्कृति के चहुंमुखी विकास का क्षेत्र रहा है। विवेच्ययुगीन शिल्पकला इस विस्तृत प्रदेश के विभिन्न भागों में बहुतायत से उपलब्ध हुई है। उपलब्ध शिल्पकला इस बात की ओर इगित करती है कि मध्ययुग में इस विशाल प्रदेश मे जैन धर्म का अच्छा वर्चस्व था।

मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवश कलचुरियो, परमारों एव चंदेलों के काल मे उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप अन्य धर्मों की भांति जैन धर्म भी पुष्पित एवं पल्लवित होता रहा। अखिल भारतीय परंपराओ के साथ-साथ मध्यप्रदेश की अपनी विशेषताओं को भी यहां की कला में उचित स्थान दिया गया।

मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवश कलचुरियो के काल में उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप अन्य मतों के साथ-साथ जैन धर्म भी फला-फूला[1]। कलचुरि-युगीन जैन प्रतिमायें अड़भार, आरग, पेन्ड्रा, मल्लार, रतनपुर, सिहपुर एवं शहपुरा आदि स्थलों से प्राप्त हुई है। उपलब्ध प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्रतिमाये प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की है। कारीतलाई (जबलपुर) से तीर्थंकरों की द्विमूर्तिकायें भी प्राप्त हुई है।

कलचुरिकालीन तीर्थंकर प्रतिमायें आसन एवं स्थानक मुद्रा में प्राप्त हुई है। तीर्थंकरो की सयुक्त प्रतिमायें भी इस कला में उपलब्ध हुई हैं। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की सर्वाधिक मूर्तियां कारीतलाई से प्राप्त हुई है[2]। प्रतिमायें श्वेत बलुआ पाषाण से निर्मित की गई है।

उक्त स्थल से प्राप्त ४½' ऊँची ऋषभनाथ की प्रतिमा मे भगवान को उच्च चौकी पर पद्मासन मे ध्यानस्थ बैठे हुए दिखाया गया है। उनकी दक्षिण भुजा एव वाम घुटना खंडित है। हृदय पर श्रीवत्स एव मस्तक के पृष्ठभाग मे तेजोमण्डल है। तेजोमण्डल के ऊपर त्रिछत्र सौन्दर्यपूर्ण ढंग से बना है, जिसके दोनों पार्श्व मे एक-एक महावतयुक्त हाथी उत्कीर्ण है। छत्र के ऊपर दुदुभिक एव हाथियों के नीचे युगल विद्याधर हैं जो नभभाग से पुष्प-वृष्टि कर रहे है। विद्याधरो के नीचे दोनो पार्श्व पर भगवान के परिचारक सौधर्मेन्द्र एव ईशानेन्द्र अपने हाथो मे चवर लिए हुए खड़े है।

प्रतिमा की चौकी पर अलकृत पड़ी झूल पर ऋषभनाथ का लाछन वृषभ अङ्कित है। वृषभ के नीचे चौकी के ठीक मध्य मे धर्मचक्र अङ्कित है, जिसके दोनों ओर

१. कलचुरिकाल म जैन धर्म—शिवकुमार नामदेव (अनेकान्त, अगस्त १९७२); कलचुरिकाल मे जैन धर्म की स्थिति—शिवकुमार नामदेव (अनेकान्त, जुलाई-अगस्त १९७३)।

२. कारीतलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव (अनेकान्त, अक्टूबर-दिसम्बर १९७३)।

एक-एक सिंह है। सिंहासन के दाहिने पार्श्व पर भगवान का शासन-देव गोमुख एवं वाम पार्श्व पर उनकी शासन देवी चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा मे बैठी हुई है।

इसी स्थल से प्राप्त एक अन्य प्रतिमा यद्यपि उपरिवर्णित प्रतिमा की तरह है किन्तु इसका मस्तक खंडित नहीं है। प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में है। केश घुंघराले है। अष्टप्रतिहार्ययुक्त इस प्रतिमा मे शासन-देव गोमुख एवं शासन-देवी चक्रेश्वरी गरुड़ासीन है।

एक अन्य २' ३" ऊँची प्रतिमा के दक्षिण एवं वाम पार्श्व मे अन्य तीर्थङ्करों की लघु प्रतिमायें कायोत्सर्ग अथवा खड्गासन में है।

कारीतलाई की एक अन्य प्रतिमा जो रायपुर सग्रहालय की निधि है, ३' ६" ऊँची है। कलात्मक दृष्टि से कारीतलाई से उपलब्ध जैन प्रतिमाओं में यह सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि इसके सिंहासन पर सिंहों के जोडों के साथ हस्तियों का भी एक जोड़ा दिखलाया गया है।

तेवर (जबलपुर) से उपलब्ध ७' ४' ऊंची एवं सम्प्रति जबलपुर के हनुमानताल जैन मंदिर मे सुरक्षित ऋषभनाथ को प्रतिमा अति कलापूर्ण एव प्रभावोत्पादक है। प्रतिमा के अग-प्रत्यग सुन्दर एव सुडौल है। मस्तक पर चित्रित घुघराले केश आकर्षक है। उभय स्कध पर केश-गुच्छ लटक रहे है।

सपरिकर पद्मासनस्थ इस प्रतिमा के प्रभावली के मध्य मे छत्र-दण्ड है जो ऊपर की ओर जाकर क्रमश: तीन ओर वर्तुलपन लिये हुए है। छत्रदण्ड के ऊपर विशाल छत्र लगभग २' ८" के लगभग है। सब से ऊपर दो हस्ति शुण्ड से शुण्ड सटाये इस प्रकार से चित्रित कियेगये है मानो वे छत्र को थामे हुए हो। हस्तियों के सूर्प कर्ण के उठे हुए भाग उनके गाल की खिंची रेखायें एवं आंखो के ऊपर का खिचाव कला की उच्चता का द्योतक है। परिकर पर हस्ति पद्म पर आधृत है। छत्र के नीचे दोनो पार्श्व पर यक्ष एव चार अप्सरायें आकाश मे उड़ती हुई चित्रित है। गधर्व पुष्पमाल लिए हुए है। परिचारक के नीचे दोनो पार्श्व मे नारियों की खड़ी आकृतिया है। नारियों के अंग-प्रत्यग पर चित्रित आभूषणो की भरमार है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा कलचुरि कला की प्राण है।

बघेलखड से उपलब्ध एवं राजकीय सग्रहालयधुबेला मे संरक्षित ऋषभनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर त्रिरत्न का प्रतीक अंकित है जोशोश्पद से अपनाया गया बौद्ध प्रतीक है। रतनपुर (बिलासपुर) की प्रतिमा मे यक्षी चक्रेश्वरी को वाम पार्श्व मे ललितासन मुद्रा मे दिखाया गया है।

कलचुरि-कालीन द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की रीवा क्षेत्र से उपलब्ध एव धुबेला सग्रहालय मे सरक्षित प्रतिमा मे तीर्थङ्कर आसन मे ध्यानस्थ बैठे है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल तथा तीन छत्र है एवं छत्रों के दोनों पार्श्व मे पुष्पमालायें लिए विद्याधर है। आसन के पादपीठ पर तीर्थङ्कर का वाहन हस्ति अंकित है। यक्ष-यक्षी, महावत एवं रोहिणी भी अकित है। अजितनाथ की दूसरी प्रतिमा सिंहपुर (शहडोल) से उपलब्ध हुई है जो उपरिवर्णित प्रतिमा की तरह है।

जैन धर्म के आठवे तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ एव सोलहवें तीर्थङ्कर शातिनाथ एव बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की आसनमुद्रा मे एक-एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। रतनपुर से उपलब्ध चन्द्रप्रभ की प्रतिमा २' ५" ऊँची है। उनके केश घुघराले है। उनके दक्षिण पार्श्व मे सौधर्मेन्द्र एवं वाम मे ईशानेन्द्र है। चौकी के कीर्तिमुखयुक्त झूल पर उनका लाछन चद्रमा अकित है। चौकी के दोनो पार्श्व पर यक्ष-यक्षी श्याम एवं ज्वालिनी बैठे है।

जबलपुर सग्रहालय मे संरक्षित सोलहवें तीर्थङ्कर शातिनाथ[3] की प्रतिमा के पादपीठ पर दो सिंहो के मध्य उनका लांछन हिरण उत्कीर्ण है। चौकी पर यक्ष, गरुड़ एव यक्षी महामानसी भी उत्कीर्ण है। शातिनाथ की स्थानक प्रतिमाएँ कारीतलाई एव बहुरीबद (जबलपुर) से उपलब्ध हुई है। बहुरीबद की प्रतिमा १३' ऊंची एव लेखयुक्त है।

बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की कलचुरि-युगीन एक प्रतिमा धुबेला[4] संग्राहालय मे है। तीर्थङ्कर ध्यानस्थ बैठे

३. कलचुरि-कालीन भगवान शांतिनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त १६७२।
४. धुबेला संग्रहालय की जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, जून १६७४।

हैं। उनके मस्तक के ऊपर एक छत्र तथा उसके दोनों पार्श्व में गज तथा उनके ऊपर तीर्थङ्करों की तीन प्रतिमाएँ हैं। तीर्थङ्करों की संख्या २२ है। इनमें संभवत: दो, पार्श्वनाथ एवं महावीर का अंकन नही है। पादपीठ पर तीर्थङ्कर का लांछन शंख है।

भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ सिहपुर (शहडोल), पेण्ड्रा (बिलासपुर), कारीतलाई (जबलपुर), शहपुरा (मण्डला) आदि से उपलब्ध हुई है। उपलब्ध प्रतिमाओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रतिमा कारीतलाई की है जो रायपुर संग्रहालय में है। इस चतुर्विंशति-पट्ट मे मूलनायक प्रतिमा पार्श्वनाथ की है। तीर्थङ्कर के दायें-बायें सौधर्मेन्द्र एवं ईशानेन्द्र चँवरी लिए खड़े है। पार्श्वनाथ की तीन ओर की पट्टियों पर अन्य तीर्थङ्करो की लघु प्रतिमाएँ है। दक्षिण पार्श्व की पट्टी पर ६ एव वाम पर ८ तथा शेष ६ प्रतिमाएँ ऊपर की आड़ी पट्टी पर है।

जैन धर्म के अंतिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर की आसन प्रतिमाओ में कारीतलाई से उपलब्ध प्रतिमा महत्वपूर्ण है। इस प्रतिमा में उन्हें उच्च सिंहासन पर उत्थित पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे दिखाया गया है। तीर्थङ्कर के परिचारक सौधर्मेन्द्र तथा अन्य तीर्थङ्करो की प्रतिमाएँ दक्षिण पार्श्व की पट्टी पर अंकित है। उच्च चौकी पर मध्य मे उनका लाछन सिंह अंकित है। महावीर का यक्ष मातग अजलिबद्ध एव यक्षी सिद्धायिका चँवरी लिए है। महावीर की एक अन्य प्रतिमा जो जबलपुर से उपलब्ध हुई थी, सम्प्रति फिलेडेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट मे संगृहीत है।

कलचुरिकालीन विवेच्य तीर्थङ्कर प्रतिमाओ के अतिरिक्त द्विमूर्तिकायें[5] भी प्राप्त हुई है। प्रत्येक मे दो-दो तीर्थङ्कर कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा मे है। इन द्विमूर्तिका प्रतिमाओं में तीर्थङ्कर के साथ अष्टप्रतिहार्यों के अतिरिक्त तीर्थङ्कर का लांछन एवं उनके शासन देवताओ की भी मूर्तियां है। इन द्विमूर्तिकाओ मे ऋषभनाथ एव अजितनाथ, अजितनाथ एवं सभवनाथ, पुष्पदंत एव शीतलनाथ, धर्मनाथ एव शातिनाथ, मल्लिनाथ एवं मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमायें हैं। भगवान पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ की एक द्विमूर्तिका फिलडेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट में संरक्षित है।

कलचुरियुगीन तीर्थङ्करों के अतिरिक्त जैन शासन-देवियों[6] की मूर्तिया भी प्राप्त हुई है जो स्थानक एवं आसन दोनो मुद्राओं मे है। ये प्रतिमायें कारीतलाई, पनागर (जबलपुर), और सोहागपुर (शहडोल) से उपलब्ध हुई है।

नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका की एक प्रतिमा कारीतलाई से प्राप्त हुई है। श्वेत छीटेदार रक्त बलुआ प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा में उन्हें ललितासन में सिंहारूढ़ दिखलाया गया है। द्विभुजी प्रतिमा के दाहिने हाथ मे आम्रलुंबि एव बायें मे पुत्र प्रियशंकर को लिए है। उनका ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर दाहिने पैर के निकट बैठा है। अंबिका की एक अन्य प्रतिमा पनागर (जबलतुर) से उपलब्ध हुई है। सोहागपुर से उपलब्ध जैन शासन देवियो की मूर्तिया महत्वपूर्ण है, परन्तु लाछनों के अभाव में उनका समीकरण कठिन है।

मध्यप्रदेश का विश्व-प्रसिद्ध कलातीर्थ खजुराहो-पन्ना से २५ मील उत्तर एव छतरपुर से २७ मील पूर्व तथा महोबा से २४ मील दक्षिण मे स्थित है। १०वी ११वी सदी के मध्य यशस्वी चदेल नरेशो के काल मे निर्मित यहा के देवालय नागर शैली के उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट उदाहरण है। वास्तु-वैशिष्ट्य एव मूर्ति-संपदा के कारण ये देवालय अपूर्व गौरवशाली है।

चदेल नरेश यद्यपि वैष्णव और शिव के उपासक थे परन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप हिन्दू धर्म के साथ-साथ जैन धर्म के मन्दिरो का भी निर्माण हुआ। खजुराहो में निर्मित ये मन्दिर उनकी धार्मिक सहिष्णुता के जीवंत उदाहरण है।

खजुराहो के जैन देवालय पूर्वी समूह के अतर्गत रखे जाते है। इनमे घटई, आदिनाथ एव पार्श्वनाथ के देवालय मुख्य है। खजुराहो के जैन मन्दिरों मे जिन मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। प्रवेश द्वार एवं रथिकाओं मे विविध जैन

---

५. कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, सितम्बर १९७५।

६. कलचुरि कला मे जैन शासन-देवियो की मूर्तियां—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त १९७४।

देवियों को उत्कीर्ण किया गया है। देवालयों के ललाटबिंब मे यक्षी चक्रेश्वरी प्रदर्शित है तथा द्वारशाखाओं और रथिकाओं मे अधिकांशतः जैन देवी-देवता, जैसे विद्याधर, शासन देव आदि। दिगबर परम्परा के अनुसार वर्धमान की मा ने जो सोलह स्वप्न देखे थे वे सब जैन देवालयों (पार्श्वनाथ को छोड़कर) के प्रवेश द्वार पर प्रदर्शित है। जैन मूर्तिया प्रायः तीर्थंकरों की है, जिनमे वृषभ, अजित, सभव, अभिनंदन, पद्मप्रभु, शातिनाथ एव महावीर की मूर्तियां अधिक है[७]।

खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के भीतरी ओर तीन आगार है। इस देवालय की बाह्य भित्ति पर चतुर्दिक तीन पंक्तियो मे तीर्थंकर प्रतिमाये, कुबेर, द्वारपाल, गजारूढ एवं अश्वारूढ़ जैन शासन-देव आदि अंकित है। देवालय के द्वार के उत्तरी तोरण पर द्वादशभुजी चक्रेश्वरी एवं शासन-देविया तथा मुख्य तोरण पर युगादिदेव ऋषभनाथ एवं दो अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ है।

यहां के आदिनाथ देवालय की बाह्य भित्ति पर ऊर्ध्वभाग की लघु पंक्ति मे गंधर्व, किन्नर एव विद्याधर तथा शेष दो पक्तियो मे शासनदेव, अप्सरायें आदि है। नेमिनाथ की यक्षी अंबिका सिंहारूढ़ आम्रवृक्ष के नीचे आम्रमंजरी धारण किये शिशु को स्तनपान करा रही है। यहा आसीन पद्मावती की चतुर्भुजी प्रतिमा अभय, पाश, पद्मकलिका एवं जलपात्र से युक्त है।

घटई मन्दिर के प्रवेश द्वार के ललाटबिंब पर गरुड़ासीन अष्टभुजी जैन देवी की एक मूर्ति है और उत्तरग के दोनो किनारों पर एक-एक जैन तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। उत्तरग के वामार्ध मे नवग्रहों और दक्षिणार्ध मे अष्टवसुओं के अंकन है। उत्तरग के ऊपर की पट्टिका मे उत्कीर्ण सोलह शुभ लक्षण तीर्थंकरों की माताओ के १६ स्वप्नो के प्रतीक है।

शातिनाथ देवालय के आगन में धरणेन्द्र एव पद्मावती की एक सुन्दर युगल-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। देवालय की भित्ति पर देवी-देवताओ तथा अप्सराओ की आकृतियों के साथ शार्दूल भी है। प्रदक्षिणा-पथ की भित्ति पर भिन्न-भिन्न शासन-देवो, गधर्वों, किन्नरों एवं सुर सुन्दरियों का अंकन है। बाहुबली स्वामी की भी एक प्रतिमा यहा उत्कीर्ण है। देवालय के तोरण पर भगवान चन्द्रप्रभु है, जिनके दोनो पार्श्वों पर तीर्थङ्कर मूर्तियां हैं, जिनमे से पांच पद्मासन एवं छः कायोत्सर्गासन में हैं। वेदिका पर दोनों पार्श्वों मे पार्श्वनाथ की प्रतिमायें हैं। देवालय मे मूल-नायक के रूप में सोलहवें तीर्थङ्कर शांतिनाथ की १२' ऊँची खड्गासन मुद्रा में प्रतिमा है। मन्दिर के आगन मे वाम पार्श्व की ओर दीवाल पर तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र एवं पद्मावती है। शांतिनाथ की मूर्ति के परिकर में पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थङ्करों की प्रतिमायें है।

बुन्देलखण्ड का जैनतीर्थ अहार, टीकमगढ़ से १२ मील पूर्व की ओर स्थित है। इस भूभाग पर तीन देवालय है जिनमे से प्राचीन देवालय में २२' फुट की एक शिला है। इस शिला पर अठारह फुट की भगवान शांतिनाथ की एक कलापूर्ण मूर्ति सुशोभित है। इसे परमार्दिदेव चंदेल (११६३–१२०२ ई०) के काल मे संवत १२३७ वि० मे स्थापित किया गया। बायी ओर १२' की कुन्थुनाथ की मूर्ति है।

खजुराहो से उपलब्ध १०वीं सदी की पार्श्वनाथ की एक विलक्षण प्रतिमा प्रयागनगर सभा सग्रहालय मे है। ३८ × २१ इंच आकार की इस खड्गासनस्थ प्रतिमा के मस्तक पर सप्तफण स्पष्ट है। उभय ओर पार्षद है। लाछन के स्थान पर शख है। नागफण और शंख लांछन ये दो विरोधी तत्त्व है, अतः समीकरण निश्चित रूप से नही हो पाता।

प्रतिहारो के पतन के पश्चात् मालवा मे परमारों का राज्य स्थापित हुआ। इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी नरेश भोज था। परमारों के काल मे जैन धर्म मालवा में अधिक प्रचलित था। भोजपुर के महान शिव मन्दिर के पूर्व मे एक जैन मन्दिर है। भोजपुर से तीन मील की दूरी पर आशापुरी नामक गांव मे शांतिनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा है। ऋक्ष पर्वत श्रेणियो के सिरे के निकट निमाड़ के मैदान मे ऊन नामक ग्राम है। यहां के अवशेषों मे लगभग एक दर्जन मन्दिर परमार राजाओं

७. खजुराहो की अद्वितीय जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अनेकान्त, फरवरी १९७४।

की स्थापत्य कला के उत्तम नमूने हैं। यहां के जैन मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध चौबार-डेरा नामक मन्दिर है, निकट ही एक दूसरा जैन मन्दिर है। इन देवालयों में जैन धर्म की अनेक सुन्दर मूर्तिया है। केन्द्रीय संग्रहालय, इन्दौर मे परमार-युगीन अनेक जैन प्रतिमायें सरक्षित है। इनमें आदिनाथ, श्रेयांसनाथ, धर्मनाथ, शातिनाथ, नेमिनाथ, नमिनाथ, पार्श्वनाथ एव महावीर की प्रतिमायें है।

उपरोक्त स्थलो के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के अनेक स्थलों से जैन प्रतिमायें उपलब्ध हुई है। मुरैना जिले मे स्थित सिहपानिया (सुहानिया) तथा पढ़ावली गुना जिले के तिराही एवं इन्दार स्थलो से मध्ययुगीन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। पन्ना जिले में स्थित टूंडा ग्राम से उपलब्ध बहुसंख्यक प्रतिमायें इस बात की साक्षी है कि यह स्थल मध्यकाल में जैन मतावलम्बियो का केन्द्र रहा होगा। यहा से उपलब्ध प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की प्रतिमा पद्मासन मे ध्यानस्थ है। पादपीठ पर दक्षिण पार्श्व की ओर गोमुख यक्ष तथा वाम मे यक्षी चक्रेश्वरी की लघु आकृतिया है। स्तभाकृतियों के मध्य शार्दूल एवं पादपीठ पर भक्ति-विभोर श्राविका है। यहीं से उपलब्ध तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की २' ४" ऊँची मूर्ति के दोनो पार्श्व मे विद्याधर आदि हैं। टूडा ग्राम के सन्यासियों के मठ के निकट एक वृक्ष के नीचे अनेक प्रतिमायें रखी है। आदिनाथ की एक प्रतिमा जो चार फुट ऊँचे, एक फुट छः इच चौड़े तथा एक फुट मोटे शिलाफल पर उत्कीर्ण है, कायोत्सर्गासन मे है। आसन के शार्दूलों के पार्श्व मे श्रावक-श्राविका के ऊर्ध्व भाग मे एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थङ्कर प्रतिमा तथा उनके ऊपर दोनों पार्श्व मे गजमुख, व्यालमुख का सुन्दर अकन है। यहीं से आदिनाथ की एक भव्य प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है।

महाकोशल में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाओं की बहुलता है। सिवनी के जैन मदिर में धमोर से लायी १३वी सदी की सात मूर्तियां है। सिवनी जिले के छारा नामक स्थान के दिगंबर जैन मंदिर मे धमोर से लायी गयी ११वी सदी की एक सुन्दर प्रतिमा है। तीन वर्ष पूर्व सिवनी जिले के लखनादौन से कलचुरि-युगीन महावीर की एक अत्यत मनोज्ञ एव अष्ट प्रतिहार्य युक्त प्रतिमा प्राप्त हुई थी।

कालाकोट नामक स्थल से जो भानपुरा से मन्दसौर की ओर मार्ग मे स्थित है, पार्श्वनाथ की पांच फुट ऊँची एवं तीन फुट चौड़ी स्लेटी रग की पद्मासन प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रतिमा लेखयुक्त है। प्रतिमा पर अकित लेख इस प्रकार है—सवत १३०२ वर्षे पो० १५ गम लाडवागडा पौरपटान्वये साहु शहन······सा········ तेनेदं··· · प्रतिष्ठिता। प्रतिमा के लेख की लिपि में खड़ी पाई मिलती है।

ग्वालियर के निकट मुरार नामक स्थल मे श्री हरिहरनाथ द्विवेदी के उद्यान मे भगवान पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी खड्गासन पाषाण प्रतिमा बड़ी ही मनोज्ञ एव कलापूर्ण है इसकी कायोत्सर्ग-मुद्रा एव नासाग्र-दृष्टि बड़ी ही कलापूर्ण है। इसकी पादपीठिका पर कुछ उत्कीर्ण है जो अस्पष्ट है।

विन्ध्य भूभाग प्राचीन काल से ही भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला से सम्पन्न रहा है। विन्ध्य भूभाग के अनेक स्थलों से मध्ययुगीन जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई है। नागौद एवं जसो में मुनि कातिसागर ने ऐसी प्रतिमायें देखी थी जिनके परिकर उनके जीवन के विशिष्ट प्रसगों—ऋषभदेव के पुत्रों का राज्य विभाजन, दीक्षा प्रसंग, भरत बाहुवली युद्ध आदि से चित्रित थे। जसो से प्राप्त एक प्रतिमा में एक नग्न स्त्री वृक्ष पर चढने का प्रयास करती हुई बनाई गई है। यह अंबिका देवी की प्रतिमा है। उच्चकल्प (उचहरा) से प्राप्त एक शिला पर एक सघन फल सहित आम्र वृक्ष उत्कीर्ण है। देवी अंबिका को इसकी डाल पर बैठा हुआ दिखाया गया है। सर्वोच्च भाग मे भगवान नेमिनाथ पद्मासन मे है। दोनो ओर एक-एक खड्गासन भी है। रीवा क्षेत्र जैन धर्म से सम्बंधित पुरातन प्रतिमाओं का भडार है। यहां से उपलब्ध बहुसंख्यक प्रतिमाये इस बात की द्योतक है कि यह भूभाग मध्यकाल मे जैन धर्म से प्रभावित था। आधुनिक तुलसी तीर्थ रामवन, सतना से रीवा जाने वाले मार्ग पर अवस्थित है। यहाँ पार्श्वनाथ मल्लिनाथ एव ऋषभदेव की प्रतिमायें सगृहीत है।

दक्षिण कोशल मे जैन धर्म के प्रसार के प्रमाण वहाँ से उपलब्ध बहुसंख्यक प्रतिमाये है। रायपुर से २२ मील

दूर आरंग में एक जैन देवालय है, जिस पर चतुर्दिक देव-देवियां उत्कीर्ण हैं। सिरपुर (रायपुर) एक प्राचीन नगर था। यहां से उपलब्ध ऋषभदेव की धातु प्रतिमा महत्व-पूर्ण है। इसकी रचना शैली स्वतन्त्र, स्वच्छ एवं उत्कृष्ट कलाभिव्यक्ति की परिचायक है। मूल प्रतिमा पद्मासन लगाये है। निम्नभाग में वृषभ चिह्न स्पष्ट है। स्कंध पर अतीव सुन्दर केशावलि है। दक्षिण पार्श्व में देवी अंबिका के वाम चरण के निकट लघु बालक की आकृति है, जो हंसली धारण किए हुए है। दक्षिण चरण की ओर जो बालक की आकृति है उसके दाहिने हाथ मे संभवतः मोदक एवं वाम मे उत्थित सर्प है।

ग्वालियर किले का जैन पुरातत्व जैन धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। किले के हाथी दरवाजे और सास-बहू मन्दिरो के मध्य एक जैन मन्दिर है, जिसे मुगलकाल मे मस्जिद के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया था। उत्खनन के अवसर पर यहा नीचे एक कमरा मिला था जिसमे कई नग्न जैन मूर्तियां और ११०८ ई० का एक लेख मिला था। ये मूर्तिया कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनों प्रकार की है। उत्तर की वेदी मे दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तिया है। किले के उर्वाही द्वार की मूर्तियो मे आदि-नाथ की विशाल मूर्ति है उसके पैरों की लम्बाई ९' एव मूर्ति ५७' ऊंची है। ग्वालियर से ही उपलब्ध तीर्थंकर नेमिनाथ की एक प्रतिमा उल्लेखनीय है। आसन के नीचे विश्व धारण करने वाला धर्म दो सिंहो के रूप मे प्रदर्शित है। प्रतिमा के दाहिने ओर वाले सिंह के ऊपर धर्मचक्र अंकित है। मूर्ति पद्मासन मे है। पार्श्व मे दो पार्श्वचर व पार्श्व देवता है। हृदय पर धर्मचक्र है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल एवं मस्तक पर त्रिछत्र है। इसी क्षेत्र से उपलब्ध चक्रेश्वरी एवं गोमुख यक्ष की प्रतिमा भी महत्व-पूर्ण है। गोमुख चतुष्कोण पाद पीठ पर बैठा है। इसके दाहिने हाथ मे त्रिशूल के स्थान मे तीन लपेटों की मूठ वाला दण्ड है। बाये हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। चक्रेश्वरी के दाहिने हाथ में भी इसी तरह का कोई अस्त्र है।

रायपुर जिले मे स्थित राजिम छत्तीसगढ क्षेत्र का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। राजिम से जैन धर्म से सम्बन्धित मात्र एक प्रतिमा का ही उदाहरण उपलब्ध हुआ है। यह स्थानीय सोमेश्वर देवालय के अहाते में संरक्षित है। पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा कुंडलित नाग पर पद्मासन मे बैठी हुई है। सिर पर सप्तफण वाले नाग की छत्र-रूप मे छाया है। अधोभाग पर मध्य में चक्र और इनके दोनों पार्श्वो मे परस्पर एक दूसरे की ओर पीठ किए सिंह मूर्तियाँ है। तीर्थंकर के दोनों पार्श्व मे एक-एक परिचारिका एव ऊपर गंधर्व आदि है।

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में मालव भूमि का विशिष्ट महत्व है। साची, धार, दशपुर, बदनावर, कानवन, बड़नगर, उज्जैन, मक्सी, नागदा, भौंरासा, देवास, आष्टा, कायथा, सीहोर, सोनकच्छ, गंधावल, नेवरी, कन्नौद, जावरा, बड़वानी, आगर, महिदपुर आदि ऐसे कलाकेन्द्र है, जहा ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओ के साथ जैन धर्म की मूर्तियां मिलती है। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन मे निर्मित पुरातत्व सग्रहालय की तीर्थंकर दीर्घा मे विद्यमान तीर्थंकर प्रतिमायें महत्वपूर्ण है। इस संग्र-हालय में उज्जयिनी से प्राप्त ६७ तीर्थंकर प्रतिमाओं को कालक्रमानुसार रखा गया है। यहां की मूर्ति क्रमांक २०६ मे आदिनाथ का अंकन है। इस सर्वतोभद्र प्रतिमा में जटायें तो कधे तक है जिन्हे कर्ण भी कहा जा सकता है। पद्मासन में ध्यानस्थ इस प्रतिमा का आकार २६ × २० × १० से० मी० है। संगमर्मर से निर्मित यह प्रतिमा १५वीं सदी की है, जो पारदर्शी झीने वस्त्र पहने है। पादस्थल पर पद्म व पुष्प अलंकरण है। क्रमांक २०७ में मुनिसुव्रत की प्रतिमा है। वाहन या पादस्थल पर कच्छप उत्कीर्ण है। पद्मासन व ध्यानमुद्रा में निर्मित इस प्रतिमा के प्रभामण्डल में चंपक वृक्ष है तथा दोनों ओर वरुण यक्ष एवं नरदत्ता यक्षिणी है। प्रस्तर फलक का आकार २९ × २२ × १० से० मी० है। यह प्रतिमा कंठालवन से जिसे मेडम क्राउझे ने 'कान्तारवन' कहा है, उपलब्ध हुई थी। लेख के आधार पर इस प्रतिमा का काल १४१५ ई० के आसपास निश्चित किया जाता है। यहां संगृहीत तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की सगमर्मर निर्मित प्रतिमा विशेष कलात्मक है। २५ × १८ × ११ से० मी० आकार की इस प्रतिमा के नीचे चंद्रमा उत्कीर्ण है।

(शेष पृ० १६ पर)

नारी-मुक्ति के क्रांतिकारी प्रवर्तक

भगवान महावीर

☐ डा० श्रीमती कुन्तल गोयल, एम. ए; पी-एच. डी.

भगवान महावीर जैन धर्म के चोबीसवें तीर्थंकर थे। वे यथार्थतः महावीर थे; महावीर अर्थात् अपने समस्त अवगुणों को, माया-मोह और अहं को जीतने वाले महान वीर। उनके समय में उनके चलाये धर्म को "निर्ग्रंथ" कहा जाता था; "निर्ग्रंथ" अर्थात् पूर्णरूप से ग्रंथि-रहित, आग्रह-आसक्तियों एवं परिग्रहों से पृथक् एक मानव धर्म। ऐसे सार्वजनीन धर्म की शरण में स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-त्यागी, धनी-निर्धन, ऊंच-नीच सभी आ सकते है जहां समान रूपसे पुरुष का उद्धार हो सकता है और स्त्रियों का भी। जो समभाव लिए हुये हो, वह अपना ही नही, समस्त विश्व का कल्याण कर सकता है। जो स्वय को जीत सकता है, वही दूसरों को भी जीत सकता है। भगवान महावीर ऐसे ही महापुरुष थे जिन्होंने पुरुषों की तरह नारी समाज को संवारने और ऊंचा उठाने में स्तुत्य योगदान दिया और जिन्होने युग-युग की शोषित और दलित नारी के भीतर आत्म-ज्योति प्रकाशित की।

भगवान महावीर से पूर्व समाज में नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वह उपेक्षित और नीच समझी जाती थी। उसकी तुलना क्रीतदास से की जाती थी। वह पुरुषों की कामना सिद्धि तथा वासना तृप्ति का साधन थी। उसकी अपनी कोई कामना नहीं थी और न ही उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व था। भगवान महावीर ने इस दारुण स्थिति से उसका उद्धार कर समाज मे उसे सम्माननीय स्थान दिया। उनकी दृष्टि में जितने महत्व-पूर्ण पुरुष थे, उतनी ही स्त्रियां भी। इसलिये उन्होंने अपना चतुर्विध मे आर्यिकाओं एवं श्राविकाओं को सम्मिलित कर समाज में स्त्रियों को पुरुषो के समकक्ष उच्च स्थान दिया बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में स्त्रियां निर्वाण-सिद्धि में बाधक नही थी। बुद्ध ने अपने संघ मे स्त्रियों को प्रव्रजित होने की स्वीकृति न देते हुए अपने शिष्य आनन्द से कहा कि इस कार्य से संघ की आयु आधी रह जायेगी। किन्तु महावीर ने निःशंक होकर स्त्रियों को अपने संघ मे सम्मिलित किया और साधुओ की भांति उनके लिये भी आत्मोपलब्धि का पूर्ण सुअवसर दिया। उन्होने सघीय मर्यादा को अखंड बनाये रखने के लिये बड़ी कुशलता से विधान तैयार किया, ताकि किसी भी तरह की अव्यवस्था तथा अनाचारिता को आश्रय न मिल सके।

जैन धर्म मे ब्राह्मी, सुन्दरी, चंदना, मृगावती आदि ऐसी कितनी ही नारियां हुई है जिन्होंने ससार का त्याग कर सिद्धि प्राप्त की तथा जन-कल्याण की दिशा में अपने उन्नत विचारों का प्रचार किया। आर्या चदना बड़ी विदुषी महिला थीं जिस पर भगवान महावीर की महती कृपा थी। अनेक स्त्रियों ने उनसे दीक्षा लेकर निर्वाण पद की प्राप्ति की थी। यही भगवान महावीर की प्रथम शिष्या थी। श्रवणिकाओं मे उनका स्थान बहुत ऊंचा था। इनके नेतृत्व में छत्तीस हजार भिक्षुणिया थीं। इसी तरह सुन्दरी तथा ब्राह्मी के नेतृत्व में तीन लाख, बुद्धमती के नेतृत्व मे पचपन हजार तथा यक्षिणी के नेतृत्व में चालीस हजार भिक्षुणियां थी। जैन संघ मे स्त्रियों की सुरक्षा हेतु पूर्ण व्यवस्था थी। यदि कोई भिक्षुणी के चारित्रिक पतन हेतु प्रयत्नशील होता तो उसका वध कर डालने तक का आदेश था। स्त्री तथा पुरुष मे कहीं भी भेदभाव नहीं रखा जाता था और न ही स्त्रियों की उपेक्षा की जाती थी।

भगवान महावीर नारी के प्रति इतने उदार एवं स्नेहशील थे कि कभी उसे अपमानित होते नही देख सकते थे। उनका कथन था यदि कि कोई स्त्री किसी कारण वश अपनी चारित्रिक गरिमा से गिर जाती है तो उसके लिये

स्त्री को नही वरन् उस पुरुष को दण्ड देना चाहिये जो नारी को कलंकित करने का मूल कारण है क्योंकि स्त्री स्वभावत: सरल और निश्छल होती है और पुरुष ही उसे बहकाता है। इस सबंध मे कहा जाता है, कि एक बार एक गृहस्थ ने एक सुन्दर साध्वी को भिक्षाटन को जाते हुये देखा। उस पुरुष के साथ उसका मित्र भी था जिसकी पत्नी का निधन हो चुका था। उस गृहस्थ ने अपने मित्र से कहा कि यह साध्वी तुम्हारी पत्नी बनने योग्य है। तुम इसे किसी तरह तैयार कर लो। मित्र के मन में विकार आ गया। एक बार जब वह साध्वी भिक्षा हेतु उसी मित्र के द्वार पर पहुची तो उसने अपने पुत्रों से साध्वी के चरण-स्पर्श करने के लिये कहा और यथोचित भिक्षान्न देकर उसका सत्कार किया। इसी तरह वह जब भी उस द्वार भिक्षा के लिये पहुचती, मित्र के पुत्र वैसा ही करते और मित्र साध्वी को आवश्यकता से अधिक वस्तुयें भिक्षा मे देकर उसका आदर-सत्कार कर अपने घर मे ही निवास करने का प्रलोभन देता। मधुर व्यवहार और यथेष्ट आदर-सत्कार पाकर अत मे साध्वी उसके प्रलोभन मे आ गयी। फलत वह गर्भवती हुई। इसका समाचार जब भगवान महावीर तक पहुचा तो उन्होंने कहा—इसमे उस साध्वी का क्या दोष? दड उस पुरुष को ही मिलना चाहिए जिसने उसके सरल हृदय को बहकाया है।

भगवान महावीर का नारी जाति के प्रति करुण भाव का एक अन्य उदाहरण साध्वी चंदना के साथ मिलता है। कहा जाता है कि जब वह नन्हों बालिका ही थी तब डाकू उसके माता-पिता को मारकर उसे उठा ले गये थे और बाद में उसे एक श्रेष्ठि को बेच दिया था। श्रेष्ठि ने बड़े स्नेह से उसे पाला। जब वह युवा हुई तो उसकी रूप-राशि को देखकर श्रेष्ठि की पत्नी के मन मे यह शंका उत्पन्न हुई कि कहीं श्रेष्ठि उसे अपनी पत्नी बनाने के लिये तो नही पाल रहे है? सन्देह सर्प ने उसके विवेक को डस लिया और वह चंदना को घोर यातनायें देने लगी। एक बार चंदना झुक कर गृह-कार्य कर रह थी जिससे उसकी केश राशि बिखरकर धरती का स्पर्श करने लगी। श्रेष्ठि ने यह देखा तो स्नेह वश उसकी केशराशि को समेट कर गर्दन में लपेट दिया। श्रेष्ठि की पत्नी यह देखकर क्रोधित हो उठी और उसने चंदना के हाथ पैरों मे बेडी डलवाकर उसे एक कोठरी में बंद करवा दिया। भगवान महावीर ने उसका उद्धार किया और उसे अपनी शिष्या बना लिया। इस घटना से वे इतने दुखी हुये कि परतंत्र शोषित नारी को पूर्ण स्वाधीन बनाने की दिशा मे कृतसंकल्प हो गये। उन्होंने इसी चदना को लेकर नारी-मुक्ति अभियान का शुभारम्भ कर दिया। चदना नारी सघ की प्रथम संचालिका बनकर स्त्रियों को साध्वी बनाने की दिशा में अग्रसर हुई। उनका यह अभियान अत्यन्त सफल रहा।

भगवान महावीर स्त्रियो को सदैव आदर की दृष्टि से देखते थे। "बृहत्कल्प भाष्य पीठिका" में यह उल्लेख मिलता है कि एक बार राजा को अपनी रानी के चरित्र पर सन्देह हुआ और उसने प्रतिशोध लेने के लिये रानी के अन्त:पुर में आग लगवा दी जिससे रानी उसमें जीवित ही जलकर मर गई। भगवान महावीर ने जब सुना तो दुखित होकर उस राजा से कहा तुम भी उस अग्नि में क्यों नही जल कर मर गये? तुम्हे धिक्कार है। जैन सूत्रों में स्त्रियों को चक्रवर्ती के चौदह रत्नो में गिना है। "बृहत्कल्प भाष्य" के अनुसार जल, अग्नि, चोर तथा दुष्काल का संकट उपस्थित होने पर सर्वप्रथम स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में स्त्रियो को बहुत सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

इस तरह नारी के प्रति भगवान महावीर की करुणा, समता, स्नेह और उदारता इतनी कल्याणमयी सिद्ध हुई कि नारी ने पुरुषों के सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त किये। वह पुरुष की सम्पत्ति की भी उत्तराधिकारिणी बनी। नारी जाति की यह एक ऐसी महान् उपलब्धि थी कि पारिवारिक एव सामाजिक धरातल पर उसने अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा स्थापित की। समस्त नारी जाति के लिये एक महान् उदारचेता उद्धारक के रूप में भगवान महावीर युग-युग तक श्रद्धेय एवं वदनीय हैं।

मनीषा भवन, चोपड़ा कालोनी,
अम्बिकापुर (सरगुजा) मध्यप्रदेश

रिषभ प्रतिमा का एक विशेष चिन्ह : जटारूप केशराशि

□ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी (राजस्था)

तीर्थंकरो के दाहिने पैर मे जो विशेष चिन्ह होता है वही उनकी प्रतिमाओ मे संव्यवहार के लिए प्रसिद्ध किया गया है। चिह्नो का प्रयोग करीब ८वीं शती मे प्रारम्भ हुआ है। दाहिने पैर मे होने से ये चिह्न प्रतिमाओं के पाद-पीठ (चरण-चौकी) पर अंकित किये जाते है। शास्त्रो मे २४ तीर्थकरो के २४ भिन्न-भिन्न चिह्न बताये गये है। ये चिह्न ऐसे है जिन्हे देखकर अशिक्षित भी तीर्थङ्कर प्रतिमा की पहचान कर सकता है। ये चिह्न तीर्थङ्करों के वाहनरूप या ध्वजारूप नही है किन्तु सिर्फ प्रतिमा की पहचान के लिए कायम किये गये है।

तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रंथो मे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ का चिह्न वृषभ (बैल) बताया गया है।

(१) तीर्थङ्कर जब माता के गर्भ मे आते है तो माता निद्रा मे अपने मुख के अन्दर प्रवेश करता हुआ हाथी देखती है। २३ तीर्थङ्करो के चरित्र मे ऐसा ही बताया गया है किन्तु ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने हाथी के बजाय मुह मे वृषभ प्रवेश करता हुआ देखा था।

(२) युग के आदि मे ऋषभ ने वृषभ (बैल) से कृषि-विद्या का उपदेश दिया था जिससे वे कुलकर कहलाये थे।

(३) 'ऋषभ' और 'वृषभ' एकार्थवाची है। अतः इनके नाम मे भी इनका चिह्न गर्भित है।

इस प्रकार प्रथम (आदि) तीर्थङ्कर का चिह्न वृषभ प्रसिद्ध है।

भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेते ही ६ माह की समाधि ले ली थी। समाधि पूरी होने पर जब वे आहार के लिए उतरे तो कही भी शास्त्रानुसार आहार का योग नही मिला। इससे उन्होने फिर ६ माह की और समाधि ग्रहण कर ली। इस तरह एक वर्ष तक समाधि मे लीन रहने से उनके दीर्घ जटायें बढ गई। इसका उल्लेख निम्नांकित ग्रथो मे इस प्रकार पाया जाता है :

(१) जं ज उवणेइ जणो, त त नेच्छइ जिणो विगयमोहो।
लबत जडा भारो, णरवइ भवण समणुपत्तो ॥८॥
—पउमचरिय (विमलसूरिकृत) अ० ४.

अर्थ—जो जो वस्तु मनुष्य लाते, वह वह मोहहीन भगवान् को अच्छी नही लगती। वे ऋषभदेव जिनकी लंबी जटाओ का भार था राजा श्रेयास के महल के पास पहुचे।

(२) पद्मचरित (रविषेणाचार्यकृत)—

क. स रेजे भगवान् दीर्घ जटाजाल हुताशुमान् ॥५॥ पर्व ४
ख. वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्त्तयः ॥२८८॥ पर्व ३
ग. प्रलबिनमहाबाहुः प्राप्तभूमि जटाचयः ॥२८९॥ प. ११

अर्थ—भगवान् ऋषभदेव के दीर्घ तपस्या के कारण जटायें इतनी बढ गई थी मानो वे भूमि को ही छूने लग गई थी।

(३) हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्यकृत)—

स प्रबल जटाभारभ्राजिष्णुर्जिष्णुराबभौ ॥२०४॥ सर्ग ९

(४) महापुराण (जिनसेनाचार्य द्वितीय कृत) पर्व १८
संस्कारविरहात्केशा जटीभूतास्तदा विभो ॥७५॥
मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूर प्रसस्त्रु पवनोद्धताः ॥७६॥
चिर तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम् ॥९॥ पर्व १

(५) पउमचरिउ (स्वयभूकृत) संधि २, कडवक ११ छद ९ :—

पवणद्धयउ जडाउ रिसह हो रेहति विसालउ ॥

(६) दौलतराम जी कृत भजन—

देखो जी आदीश्वर स्वामी, कैसा ध्यान लगाया है।
श्यामलि अलकावलि शिर सोहे, मानों धूआं उड़ाया है॥

(७) आदितीर्थङ्कर ऋषभदेव (कामताप्रसाद जी कृत) पृ० १२७ :—

इस केश-जटा के कारण ही भगवान् "केशी" नाम से प्रसिद्ध हुए।

(८) अर्हद्दासकृत—"पुरुदेव चम्पू" सर्ग ८, पृ. १५७—
जटीभूतः केशाविभुशिरसि संस्कारविरहा,
अदानी ध्यानाग्निप्रतपनविशुद्धस्य बहुधा ॥३।'

(९) वत्तीसुवरास मुणीसरहु कुडिला उचियकेस ॥
—महापुराण (पुष्पदतकृत) ३७, १७

इसी भाव को आधार बनाकर प्राचीन मूर्तिकारों ने ऋषभ प्रतिमा के कंधों पर लबे लंबे केश प्रदर्शित किये है। कुषाणकाल (२-३ शती) से लेकर आधुनिक युग तक इसका प्रचलन रहा है। ऐसी हजारो प्राचीन प्रतिमाये पाई जाती है। बघेरा क्षेत्र पर भी ऐसी ८-१० प्रतिमायें है।

इन सब में अनेक पर प्रशस्ति-लेख भी पाये जाते है जिनमे ऋषभदेव का स्पष्ट नाम भी दिया हुआ है। किसी पर वृषभ चिह्न भी है। किसी पर न नाम है, न चिह्न है फिर भी कंधो पर की केशराशि से वे निश्चित ऋषभदेव की ही है।

चउपण्ग-महापुरिस-चरिय (शीलाकाचार्यकृत), त्रिशष्टिशलाका-पुरुष-चरित (हेमचन्द्राचार्यकृत) आदि श्वेतांबर ग्रथों मे कही भी भगवान् की जटाओं का वर्णन नहीं है। इससे यह भी एक दि० श्वे० भेद रहा मालूम देता है। अतः जिन प्रतिमाओ के कधो पर केशराशि हो, वे निश्चित रूप से एकमात्र दिगबरी ऋषभ प्रतिमा ही मानी जानी चाहिए क्योंकि ऐसी श्वे० प्रतिमायें उपलब्ध भी नही होती।

जिस तरह केशराशि से ऋषभ प्रतिमा पहचानी जाती है उसी तरह ३, ७, ११ फणावली से पार्श्व प्रतिमा और १, ५, ९ फणावली से सुपार्श्व-प्रतिमा एवं पावों मे लिपटी बेल से बाहुबली-प्रतिमा की पहचान की जाती है। ये ही इनके विशेष चिह्न-स्वरूप है।

सभी जैन प्रतिमायें ध्यानस्थ योगी-मुद्रा मे होती है। चाहे वे पद्मासन हो या खड्गासन, सभी कायोत्सर्ग अवस्था मे ही होती है, जो वीतराग स्वरूप की द्योतक है। इन्हें मुकुट पहिनाना, इनके आखें लगाना, अंगियां रचना, वस्त्राभरण पहनाना, गले में फूल माला डालना, हाथों में फूल चढाना, चन्दन-केसर लगाना—यह सब योगिमुद्रा की विडंबना है, वीतरागता का अवर्णवाद है।

जटाजूट वाली ऋषभ प्रतिमा का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे भी काफी पाया जाता है। प्रमाण के लिए देखिये :—

१—आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउड सेहरिल्लपाओ।
पडिमो परिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥२३०
पुप्फिद पंकज पीडा कमलोदर सरिसवण्णवरदेहा।
पढम जिणप्पडिमाओ भरति जे ताण देंति णिव्वाणं।२३१
—तिलोयपण्णत्ती (यतिवृषभाचार्यकृत) अ. ४

अर्थ—वे आदि जिनेन्द्र की प्रतिमायें जटामुकुटरूपी शेखर से युक्त है। उन प्रतिमाओ के ऊपर गंगा नदी मानों अभिषेक करती हुई गिरती है। फूले हुए कमलों का जिनके आसन—पादपीठ है, सुन्दर देह वर्ण से युक्त हैं, ऐसी प्रथम जिनेन्द्र की प्रतिमाये है। जो इनकी सेवा पूजा करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

२—सिरिगिह सीसठियंबुजकण्णिय सिंहासणे जडामउलं।
जिणमभिसेत्तुमणा वा ओदीण्णा मत्थरा गगा ॥५९०॥
—तिलोयसार (नेमिचन्द्राचार्य कृत)

३—पडमु जिणवरणाविव भावेण जड मउड विहूसिउ ॥
—सुकुमालचरित (अपभ्रंश)

४—विवेश चिन्तयन्नेव भवनं तन्मनोहरं।
सत्फुल्लवदनाभोजो ददर्श च जिनाधिपं ॥९४॥
हुताशनशिखागौर पूर्णचन्द्रनिभानन।
पद्मासनस्थित तुगं जटामुकुटधारिणं ॥९५॥
—पद्मचरित (रविषेणाचार्यकृत), पर्व २८

५—दीहजडामउडकयसोहं (दीर्घजटामुकुटकृतशोभं)॥३१॥
—पउमचरिय (विमलसूरिकृत), पर्व २८

अर्थ—प्रसन्न वदन वाले राजा जनक ने सुन्दर जिनालय में प्रवेश किया और वहा अग्निशिखा के समान पीतवर्ण वाली, पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर गोल मुख मण्डल वाली, जटा मुकुट से युक्त, विशाल और पद्मासन से स्थित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमा के दर्शन किये।

इन प्रमाणो से भी सिद्ध है कि कधो पर बिखरी

केशराशि वाली प्रतिमायें ऋषभदेव ही की होती है। फिर भी, कुछ दूसरे कारणों से भूल-भ्रांति का शिकार होकर साधारण लोगों ने ही नही किन्तु पुरातत्वज्ञ-मूर्तिविज्ञान-विशेषज्ञ विद्वानों तक ने ऐसी प्रतिमाओं को महावीर आदि अन्य तीर्थङ्करों की मान ली है। इन गलतियो का जितनी जल्दी सशोधन हो उतना ही श्रेयस्कर है ताकि सही इतिहास अक्षुण्ण रह सके। इसी सदुद्देश्य से नीचे ऐसी प्रतिमाओ का समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत किया जाता है :—

१. जयपुर मे गोपालजी के रास्ते मे काला डेहरा के महावीर जी का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। उसमे भव्य प्राचीन कलापूर्ण एक खड्गासन, करीब ८ फुट ऊँची लाल काले पाषाण की प्रतिमा है। उसके कंधों पर केशराशि बिखरी हुई है, किन्तु नीचे चरणचौकी पर दो सिंह मूर्तियां उत्कीर्ण है। इससे लोगों ने उसे महावीर स्वामी की प्रतिमा मानकर मन्दिर को महावीर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है। इस प्रतिमा पर स० ११४८ खुदा है। आगे का सारा प्रशस्ति लेख घिसा हुआ है।

यह प्रतिमा वास्तव मे ऋषभदेव भगवान् की है, जैसा कि उसके कधो पर बिखरी केशराशि से प्रमाणित होता है। नीचे जो दो सिह मूर्तिया है वे महावीर स्वामी के चिह्न रूप मे नही है किन्तु सिहासन नाम को सार्थक करने की दृष्टि से मूर्तिकार ने उत्कीर्ण की है। अगर एक मूर्ति होती तो 'सिह चिह्न' रूप मे कदाचित् मानी जा सकती थी। लोग भूल-भ्रान्ति मे नही पड़ें इसी से मूर्तिकार ने २ सिहो को और वह भी मूर्ति-आकार रूप मे उत्कीर्ण किया है, न कि रेखामय चिह्न रूप मे (मूर्ति उभरे आकार रूप मे होती है और चिह्न सिर्फ रेखारूप मे चित्रित होता है। यह मूर्ति और चिह्न मे खास अन्तर है।) फिर भी लोग भूल-भ्राति मे पड़ ही गये। अब तक उस ओर किसी का लक्ष्य नही जा पाया है, यह और भी खेद की बात है।

इस प्रतिमा का फोटो अब की 'महावीर जयती स्मारिका ७६' के शुरू मे छपा है। जब मेरी दृष्टि इस ओर गई तो मैं जयपुर गया और प्रतिमा के अच्छी तरह दर्शन किये। जिससे मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि यह प्रतिमा ऋषभदेव ही की है, महावीर स्वामी की नही।

सारी बातें मैने श्रीमान् पं० भंवरलाल जी पोल्याका, श्री पं० भवरलाल जी न्यायतीर्थ, श्री प० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एवं श्री प० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, जयपुर को बताई तो उन्होने भी मेरी बात को स्वीकार करते हुए इस पर एक लेख लिखने की प्रेरणा की। तदनुसार यह निबंध प्रस्तुत किया गया है।

ऐसा मालूम होता है कि उक्त प्रतिमा के प्रशस्ति लेख में कहीं ऋषभनाथ का नाम था, जब कि लोगों ने दो सिहमूर्ति से इस प्रतिमा को महावीर स्वामी की कायम कर ली थी। ऐसी हालत मे यह नाम स्पष्ट बाधा डालता था। अत तत्काल सारी प्रशस्ति को ही घिस दिया गया, सिर्फ "सं० ११४८" रहने दिया गया।

इस प्रतिमा के आजू-बाजू मे, सामने और दोनो आड़े पार्श्वभागों मे कुल मिलाकर ४ खड्गासन प्रतिमायें और विराजमान है जिनके भी पादपीठ पर २-२ सिंह मूर्तियां उत्कीर्ण है। किन्तु इनमे की ३ प्रतिमाओं के सिर पर फणावलियाँ भी है जिनसे वे स्पष्टतया पार्श्व या सुपार्श्व की प्रतिमाये है। अगर दो सिंह वाली मूर्ति के होने से किसी प्रतिमा को महावीर स्वामी की मानी जाए तो इन सब प्रतिमाओं को भी महावीर स्वामी की ही मानना होगा, जबकि इनके शिर पर फणावली होने से ये निश्चित ही पार्श्व-सुपार्श्व की प्रतिमाये प्रमाणित है। अत. यह सिद्ध होता है कि दो सिंहमूर्तिया महावीर का चिह्न नही है किन्तु वे सिंहासन की प्रतीक है।

कालाडेहरा मन्दिर, जयपुर की प्रबंधकारिणी कमेटी से सादर निवेदन है कि वह इस मसले पर शाति और गम्भीरता के साथ विचार करे और शीघ्र ही सशोधनात्मक समुचित कदम उठायें ताकि सही इतिहास का लोप न हो और वास्तविक तथ्य सामने आए।

२. केकड़ी से १५ मील दूर सावर ग्राम मे नेमि प्रभु का एक चैत्यालय है, जिसमे काले पाषाण की एक पद्मासन प्रतिमा है जिसके कधो पर केशराशि है जिससे कि वह निश्चित रूप से ऋषभदेव की है, किन्तु यहा के बन्धुओ ने उसे नेमिनाथ स्वामी की कायम कर रखी है और उन्हीं

के नाम पर मन्दिर भी नेमि चैत्यालय के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है।

चम्पू क्लब, सावर द्वारा सन् १९७६ मे प्रकाशित 'श्री नेमि स्तवन' पुस्तिका मे लिखा है कि—"नींव से प्राप्त होने के कारण इस प्रतिमा का नामकरण श्री नेमिनाथ किया गया तथा प्रतिमा की प्रशस्ति देखने से ज्ञात होता है कि यह वीर निर्वाण संवत् २११ की प्रतिष्ठित है। अतः यह २३०० वर्ष प्राचीन है।"

समीक्षा—नीव से प्राप्त होने के कारण प्रतिमा को नेमिनाथ की मानना बिल्कुल गलत है। नीव से तो हजारों-लाखों प्रतिमाये निकलती है। क्या वे सभी नेमिनाथ स्वामी की है ? अगर नही तो यह हेतु अकार्यकारी और मिथ्या है। नेमि का अर्थ नीव भी नही होता और न इस प्रतिमा पर कही नेमि प्रभु का चिह्न शख दिया हुआ है। प्रशस्ति मे भी कही नेमिनाथ नाम नही लिखा हुआ है। तब बिना किसी आधार के इस प्रतिमा को नेमिनाथ की मानना स्पष्टतया भूल भरा है।

गत फाल्गुन मे इस मन्दिर का मेला था। तब मैं सावर गया था। मैने वहा इस प्रतिमा के अच्छी तरह दर्शन किये और प्रशस्ति लेख पढ़ा तो निम्नाकित तथ्य अवगत हुए :—

(१) प्रतिमा के कधों पर केशराशि होने से यह निश्चित रूप से ऋषभदेव प्रतिमा है।

(२) प्रशस्ति लेख मे भी "ऋषभनाथ परमेष्ठिन्" पढ़ने मे आता है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतिमा ऋषभदेव की ही है।

(३) प्रशस्ति लेख मे 'स० ११२१' से स्पष्ट चार अक दिये हुए है, फिर भी लोगो ने प्रतिमा को अति प्राचीन बताने के लिए तीन ही अक (२११) कायम कर रखे हैं। इसके सिवाय प्राचीनता मे और भी वृद्धि करने के लिए संवत् को वीर निर्वाण संवत् बता दिया है। इससे पांच सौ वर्ष और बढ़ा दिये है। इस तरह नौ सौ वर्ष प्राचीन प्रतिमा को २३ सौ वर्ष प्राचीन कर दी गई है। यह सब अति मोह का परिणाम है।

सावर के बधुओ से नम्र निवेदन है कि वे इस पर पुर्नविचार करे और यथाशीघ्र विशेषज्ञों से परामर्श कर समुचित संशोधन करें। अगर मेरी बात उन्हे ठीक प्रतीत हो तो वे प्रतिमा और मन्दिर को ऋषभदेव का प्रकट करें, जिससे सही इतिहास सामने आए।

३. वीर प्रेस, जयपुर मे इसी प्रसग पर मैं पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ से चर्चा कर रहा था तो उन्होंने वहीं टगे कुंडलपुर (दमोह) के बड़े बाबा की प्रतिमा के चित्र की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। इस चित्र पर महावीर स्वामी लिखा हुआ था। इसमे भी पादपीठ पर दो सिंह मूर्तियाँ दी हुई है, इससे इसे लोगों ने महावीर स्वामी की प्रतिमा समझ लिया है। किन्तु इसमें कानों के नीचे लटकती केशराशि द्योतित की है, इससे यह स्पष्ट ही ऋषभदेव की प्रतिमा ज्ञात होती है। दो सिंह तो सिंहासन के प्रतीक है, चिह्न रूप नही। इसके सिवाय इस प्रतिमा के आजू-बाजू मे जो यक्ष-यक्षिणी है, वे आशाधर-प्रतिष्ठापाठ के अनुसार, ऋषभदेव, ही के हैं महावीर के नही।

इस तरह कुण्डलपुर (दमोह) की यह प्रसिद्ध मनोज्ञ प्रतिमा भी महावीर स्वामी की नही है, ऋषभदेव (बड़े बाबा) की ही है। आज तक लोग इसे बराबर महावीर स्वामी की ही प्रतिमा प्रचारित करते आ रहे है। इस ओर भी सशोधन के लिए शीघ्र ध्यान दिये जाने की जरूरत है।

४. अभी वीर निर्वाण रजत शती महोत्सव के अवसर पर वीर-प्रचार की धुन मे अनेक प्राचीन मूर्तियो को, जो ऋषभदेव की है, पाद-पीठ पर दो सिंह होने से उन्हें महावीर स्वामी की द्योतित कर दिया है, जो स्पष्ट भूल है। उदाहरण के लिए देखिए इन्दौर से प्रकाशित अप्रेल, ७६ के सन्मति-वाणी (मासिक पत्र) का मुख पृष्ठ। इस पर खजुराहो की एक प्राचीन मूर्ति का चित्र दिया है और उसे महावीर जिनमूर्ति लिखा है, जबकि यह मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है, क्योकि इसके कंधों पर केशराशि उत्कीर्ण है एवं कधों के ऊपर दोनों बाजू में वृषभ भी अंकित है। इससे स्पष्टतः यह ऋषभ प्रतिमा है। पाद-पीठ मे दो सिंहों के अंकन से भूलभ्रांतिवश इसे महावीर मूर्ति लिख दिया गया है।

चांदखेड़ी, देवगढ़, गोलाकोट, चंदेरी आदि क्षेत्रों की

कतिपय ऋषभ प्रतिमाओं की भी ठीक यही हालत है। उन्हें भी इसी प्रकार महावीर की मान लिया गया है।

५. अनेकांत, वर्ष २४, किरण १ मे जबलपुर हनुमान ताल के बड़े जैन मन्दिर की एक कलचुरि कालीन प्राचीन प्रतिमा को, जो खिले कमल पर विराजमान है, लेखक ने पद्मप्रभु की बताई है, किन्तु वह भी ऋषभनाथ की ही है, क्योंकि उसके भी कधो पर केशराशि विकीर्ण है। यहां कमल आसन के रूप में दिया है चिह्न के रूप मे नही। 'तिलोयपण्णत्ती', अ० ४, गाथा २३१ (यह गाथा इसी लेख में पीछे उद्धृत है) में ऋषभ प्रतिमाओ को 'पुप्फिद-पंक-जपीढा" अर्थात् खिले हुए कमलो के आसन पर विराजमान बताया है। तदनुसार ही जबलपुर की उक्त प्रतिमा निर्मित हुई है।

कारीतलाई से उपलब्ध ३॥ फुट ऊँची एक ऋषभ प्रतिमा रायपुर संग्रहालय मे है। उसके पादपीठ पर सिह युग्म के साथ हस्तियुग्म भी उत्कीर्ण है। हस्ति के आधार पर, उक्त ऋषभ प्रतिमा को अजितनाथ की नहीं माना जा सकता। बहुत-सी प्रतिमाओं के आसन पर हिरण उत्कीर्ण है। हिरण के आधार पर उक्त प्रतिमाये शातिनाथ की नही मानी जा सकती।

यह सब सिह, कमल, गज, मृगादि का अकन सिहासन, कमलासन, गजासन मृगासन के रूप मे है, तीर्थङ्करो के के चिह्न रूप में नही।

अतः आसनो पर के अंकन के आधार पर प्रतिमा का निश्चय नही होना चाहिए। किन्तु उसके दूसरे साधारण या विशेष चिह्नों के आधार पर ही प्रतिमा का निर्णय होना चाहिए, तभी वास्तविकता की उपलब्धि हो सकेगी।

ऋषभदेव केशरियानाथ के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नाम इनके केशर चटाई जाने की अपेक्षा केसर-जटाधारित्व अर्थ में ज्यादा सुसगत है। केश-केसर जटा एकार्थवाची है। केशो की विशेषता से ही सिंह केसरी कहलाता है।

ऋषभदेव के केशी और कपर्दी=जटाजूट रूप (कपर्दोऽस्य जटाजूट -- अमरकोष) का उल्लेख वैदिक ग्रथो मे भी पाया जाता है देखिए :—

(१) कपर्दवे वृषभो युक्त आसीद्,
अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत सहानस,
ऋच्छति मा निष्पदो मुद्गलानी ॥
(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

(२) केश्यग्निं केशी विषं, केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे, केशीद ज्योतिरुच्यते ॥
(ऋग्वेद १०, १३६, १)

(३) गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः परागवलम्बमान कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारः ऋषभः।
(भागवतपुराण ५, ६, २८-३१)

प्रश्न जैन साधुओ के २८ मूल गुणों में केश लौंच भी १ मूल गुण है। २ मास का केश लोच उत्कृष्ट, ३ मास का मध्यम और ४ मास का जघन्य माना जाता है। ज्यादा से ज्यादा ४ मास मे तो केश लौच करना ही पडता है। तब ऋषभदेव ने १ वर्ष तक केश लौच क्यो नहीं किया जटा क्यो बढाई ?

समाधान—तीर्थंकरों के लिए केशलौंच का कोई नियम (समयावधि) नही है। दीक्षा लेते वक्त उन्हे केशलौच अवश्य करना होता है फिर वे इच्छानुसार जब चाहे तभी कर सकते है। उनके शरीर में बाहर निगोद जीव प्रतिष्ठित नही होते। उनके नीहार नहीं होने से उनके शरीर में कभी पसीना आदि मल स्राव नहीं होता, जिससे उनके केशों मे सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति भी नही होती एव उनमें वीतरागता की उत्कटता होने से केशो में शृंगार-शोभा के भाव का भी अभाव होता है। अतः उनके जटा-रूप केश किसी तरह दोषास्पद नहीं माने गये है।

प्रश्न—लबी जटाओ वाली ऋषभ प्रतिमायें अरिहतावस्था की है या मुनि अवस्था की ? । अरिहतावस्था मे तो लबी जटाये नही होती, अतः ऐसी प्रतिमाओ मे पूज्यता की दृष्टि से क्या कोई कमी है ?

समाधान ऋषभ-प्रतिमा की लबी जटायें उनकी दीर्घकालीन तपस्या की सस्मारक है। जिस तरह बाहुबली-प्रतिमा की पैरो मे लिपटी बेले उनके एक वर्ष के दुर्धर तप और निश्चल ध्यान की परिचायक है एव पार्श्व-प्रतिमा पर की फणाकृति उन पर हुए घोर उपसर्ग की परिसूचक

है। इसी तरह सुपार्श्व-प्रतिमा की फणाकृति भी उनके विशेष इतिहास की द्योतक है।

इन सब बातों का उक्त प्रतिमाओं मे अंकन उन महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट घटनाओ को बताने के लिए किया गया है।

इन कायोत्सर्ग अवस्था (ध्यान) में लीन प्रतिमाओं को हम चाहे मुनि अवस्था की भी माने तो भी वे पंच-परमेष्ठी मे गर्भित होने से परम पूज्य ही है। वैसे ये सब प्रतिमायें जो अरिहंत हुए है उन्ही की बनाई गई है।

शास्त्रों में केवली के भेदों मे सोपसर्ग केवली भी बताये गये है, जबकि केवली अवस्था मे उपसर्ग नही होता। उपसर्ग-युक्तों को केवली कहना जिस तरह (भूत या भावी) नैगमनय से निर्दोष है, उसी तरह इन प्रतिमाओं को भी अरिहत की कहने या मानने मे कोई दोष नही है।

सभी जैन प्रतिमायें कायोत्सर्ग अवस्था मे लीन होती है इनमे से अनेक अष्ट प्रातिहार्यादि से युक्त भी होती है। इसी कारण इन्हे समवशरण कालीन बताना सगत नही है, क्योकि समवशरण मे केवली पद्मासन से ही विराजमान रहते है, जब कि अष्टप्रातिहार्यादि से युक्त प्रतिमायें खड्गासन मे भी पाई जाती है। अत: यह अष्टप्रातिहार्यादि भी तीर्थंकरों के अतिशय को द्योतित करने की दृष्टि से ही अकित किये जाते है। अनेक प्रतिमाये सामान्य केवलियों की और सिद्धो की भी होती है। उनके समवशरण और अष्टप्रातिहार्य होते ही नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा है :-

देवागमनभोयान चामरादि विभूतय ।
मायाविश्वपि दृश्यते नातस्त्वमसि नो महान् ।।

अर्थात्—देवताओ का आना और चमर ढोरना, आपका आकाश गमन मे आदि अतिशय तो मायावियों (चक्रवर्तियों) मे भी पाये जाते है, इसी से आप महान् नही है।

बहुत-सी तीर्थंकर-प्रतिमायें भी अष्टप्रातिहार्यादि से रहित पाई जाती है। (उनके तीर्थंकरत्व की पहिचान उनके चिह्नों से होती है)। आजकल की तो सभी प्रतिमायें प्राय: अष्टप्रतिहार्यादि से रहित ही होती है। ये भी सब पूज्य है और अरिहत की ही है।

प्रश्न—जटाकेश वाली ऋषभ प्रतिमा और फणामण्डप वाली पार्श्व प्रतिमा का सही आसन क्या है? जब ऋषभदेव ध्यान मे बैठे और पार्श्व प्रभु पर जब उपसर्ग हुआ तब वे पद्मासन या खड्गासन जिस आसन में थे वही सही आसन उनकी ऐसी प्रतिमाओ मे होना चाहिए। किन्तु उनकी ऐसी प्रतिमायें दोनो ही आसनों में पाई जाती है। अत: दोनो आसनो मे से कोई एक आसन वाली गलत है, अवास्तविक है।

समाधान— (१) प्रतिमा सब अरिहंतो की है। इसी से दोनों आसनों में बनाई गई है। जटा और फणामंडप का अंकन भूतकालिक जीवन की विशिष्ट घटना के स्मारक रूप मे है।

(२) २४ तीर्थंकरों के शरीर का जैसा आकार (लंबाई-चौडाई) तथा रग था, वही जब प्रतिमाओं में नही है फिर भी वे उन्ही की वास्तविक मानी जाती है तो आसनो के अन्तर से अवास्तविकता नही हो सकती।

(३) अगर ये जटा और फणामडप किसी एक खास आसन से ही सम्बन्ध रखते, दूसरे आसन से संभव नही हो सकते होते, तब फिर भी अवास्तविकता की बात होती। किन्तु ऐसा है नही। इनके होने मे कोई आसन बाधक नही है; जैसे बाहुबली स्वामी की प्रतिमा खड्गासन मे ही होती है। खड्गासन मे बेलों आदि का अंकन ठीक हो जाता है, पद्मासन मे नही। इसी से बाहुबली प्रतिमा पद्मासन मे नही पाई जाती। बाहुबली कोई तीर्थंकर नही हुए है, अरिहत अवश्य हुए है, फिर भी इनके जीवन की दुर्धर तपस्या को प्रदर्शित करने की दृष्टि से ही इनकी प्रतिमायें बनाई जाती है।

ये सब दिगम्बर कायोत्सर्गावस्था मे होती है। अत: परम पूज्य है।

हम नित्य देव दर्शन करते है। हमारा मुख्य उद्देश्य वीतराग-स्वरूप दिगम्बर कायोत्सर्ग मुद्रा की ओर ही होना चाहिए, तभी दर्शन की सफलता है। प्रतिमा संगमरमर की है या रत्नों की, पीतल की है या सोने की, काली है या सफेद, खड्गासन है या पद्मासन, अष्टप्रातिहार्ययुक्त है या रहित, ऋषभनाथ की है या महावीर की, छोटी है या बड़ी, सोने के छत्र-भामडलादियुक्त है या

रहित, सुन्दर मुस्कराती है या सामान्य, प्राचीन है या अर्वाचीन, मनोहर मन्दिर वेदी में है या अन्यत्र इत्यादि सब विकल्प गौण हैं।

वस्तुतः जैन-प्रतिमा-निर्माण का उद्देश्य दि० कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा को ही सिर्फ बताना रहा है। अतः वे समस्त सांसारिक विषयों से विमुख, रागद्वेषरहित, वीतराग-स्वरूप होती हैं। उनके शरीर पर शस्त्रास्त्र, वस्त्राभूषण, केश-सज्जा, फूल, शृंगार, मुकुट, कुण्डल, वाद्यादि नहीं होते; स्त्री, पुत्र, भाई, आदि, परिकर, अगरक्षक, वाहन आदि भी वे धारण किये हुए नहीं होती। ये सब चीजें जैन प्रतिमा में उत्कीर्ण नहीं होती, फिर भी ऊपर से उन्हें किसी भी तरह शृंगारित-भूषित करना दूषण है। अगर जैन प्रतिमा किसी सामान्य पुरुष रूप मे बनाई जाती, तो फिर भी ऊपर से उस पर इच्छानुसार शृंगारादि सम्भव हो सकता था, किन्तु वे तो बनाई ही निर्ग्रन्थ ध्यान-मुद्रा में जाती हैं। अतः ऊपर से उन्हें शृंगारित-सरागी करना उनकी विडंबना है। यह सब एक तरह की असंगत विकृत प्रक्रिया है।

केकड़ी (अजमेर) राजस्थान

□ □ □

(पृ० ७ का शेषांश)

मूर्ति क्रमांक २०८ व २०९ में पार्श्वनाथ व ऋषभनाथ अंकित हैं। दोनो काले स्लेटी पाषाण से निर्मित है। ये दोनों प्रतिमायें उज्जैन से ही उपलब्ध हुई थी। यहां संगृहीत १० प्रतिमायें सर्वतोभद्र महावीर की है, जिन पर पारदर्शी वस्त्र है। सभी में तीर्थंकर पद्मासन मे ध्यानमग्न मुद्रा में है। ये भी उज्जैन से ही प्राप्त हुई थीं।

मंडला जिले के शहपुरा, कुकरमिठ एवं बिभौली नामक स्थलों से भी जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई है। शहपुरा-निवास मार्ग पर, निवास तहसील से २ मील की दूरी पर एक वृक्ष के नीचे भगवान शांतिनाथ की एक कलात्मक एवं पूर्ण सुरक्षित प्रतिमा है। डिन्डोरी तहसील के निकट कुकरमिठ नामक ग्राम के प्राचीन देवालय के सामने पार्श्वनाथ एवं ऋषभनाथ की प्रतिमायें रखी हुई हैं। शहपुरा से प्राप्त ऋषभनाथ एवं पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ सम्प्रति जिला संग्रहालय, मंडला में संरक्षित है। पार्श्वनाथ की प्रतिमा पद्मासन में ध्यानमग्न है। ४८"×३०" आकार की इस प्रतिमा के पैर खंडित है। सिर पर सप्त-फणों का वितान एवं त्रिछत्र है। पादपीठ के दोनों ओर सबसे नीचे पूजक एवं विद्याधर अंकित हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य-काल में मध्यप्रदेश के विस्तृत भूभाग मे अन्य धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म का भी अच्छा प्रचार एवं प्रभाव था। इन जैन प्रतिमाओं की मध्यप्रदेश की संस्कृति को अभूत-पूर्व देन है।

व्याख्याता, शासकीय महाविद्यालय,
डिन्डोरी (मण्डला), मध्यप्रदेश

□ □ □
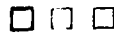
सात तत्त्व

□ श्री बाबूलाल जैन, दिल्ली

ससार मे हमें क्या-क्या जानना जरूरी है ? जैसे बीमार आदमी को यह जानना जरूरी है कि मेरे रोग किस कारण से हुआ है, अब रोग मिटने का क्या उपाय है और रोग होने से मेरी क्या दशा हुई है और निरोग होने पर मैं कैसा हो जाऊँगा ? इसी प्रकार, व्यक्ति को यह जानना जरूरी है कि मैं कौन हूं, मेरी ऐसी दशा क्यों हुई है और यह दशा कैसे मिट सकती है, फिर मैं कैसा हो जाऊंगा; अथवा यों कहना चाहिए दुःख का कारण और सुख का कारण, क्या है यह जानना जरूरी हैं। इस बात को हम भिन्न रूप से भी रख सकते है। मैं कौन हूं—जीव हूं, मेरे साथ जिसका सम्बन्ध है, वह अजीव है—अजीव में जीवपने की मान्यता अथवा जीव में अजीवपने की मान्यता यह दुःख है—दुख का कारण आश्रव है और बन्ध है। अजीव से भिन्न जीव का अपने रूप मे रहना मोक्ष है अथवा सुख है उस सुखका कारण संवर और निर्जरा है। तब यह कि हमको (१) जीव, (२) अजीव, (३) आश्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष इन सात तत्त्वो को जानना जरूरी है, क्योंकि जीव मैं हूं, अजीव के साथ सम्बन्ध हो रहा है इसलिए जीव को जानना भी जरूरी है और अजीव को जानना भी जरूरी है। आत्मा से कर्मों का बन्ध हुआ है इसलिये दुःखी है। इसलिए आश्रव-बन्ध दुःख के कारण है। मोक्ष सुख रूप है और संवर-निर्जरा सुख का कारण है। 'पर' में अपनापना मानना सो तो मोह और राग द्वेष का जनक अर्थात् आश्रव-बन्ध है और ठीक इससे उल्टा याने निज में निजपना मानना यह अज्ञानता का अभाव है और संवर और निर्जरा का कारण है।

आश्रव—कर्म के आने का द्वार।

बन्ध—कर्म का आत्मा के साथ बन्ध जाना-दु.ख का कारण।

संवर—कर्मों को आने से रोकने की डाट।

निर्जरा—इकट्ठे हुए कर्मों का नाश होना-सुख का कारण।

मोक्ष—आत्मा का कर्मों से छूट जाना-अनन्त सुख।

इनको भी दो प्रकार से समझना है, एक द्रव्य रूप और दूसरा भाव रूप। ज्ञानावरणादि कर्मों का आना द्रव्य आश्रव और आत्मा के वे परिणाम जिनकी वजह से ज्ञानवरणादि कर्म आते है, उन परिणामो को भाव आश्रव कहते है। असल में जीव का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) रूप से कर्मों के साथ नही है परन्तु हम तो अपने परिणामों में पुरुषार्थ करते है जिससे कर्म आने बन्द हो जाते है। इसलिये उन परिणामो की पहचान होना जरूरी है जो कर्म के आने के कारण है और जिन परिणामो को भावाश्रव कहते है। यही बात अन्य के बारे में है। बन्ध भी दो प्रकार का है—एक द्रव्य बन्ध और दूसरा भाव बन्ध। द्रव्य बन्ध कर्मों का आठ प्रकार का बन्ध है। भाव बन्ध आत्मा के वे परिणाम है जिनसे द्रव्य कर्म बन्ध को प्राप्त हो जाते है। छोड़ना तो परिणामो को है इसलिए उन भावो को समझना जरूरी है जिनसे कर्म बन्धते है। वे भाव कितने है ? यह बताया है कि (१) मिथ्यात्व रूप याने 'पर' में अपनापना मानना, अपने को 'पर' रूप मानना अथवा अपने आप को नही पहचानना अथवा जैसी वस्तु है उसको उस रूप न मानकर अन्यथा रूप मानना, यह एक मूल कारण है और इसका अभाव हुए बिना बाकी के अन्य कारणों का अभाव नही हो सकता। अन्य कारण (२) अव्रति, (३) कषाय और (४) योग है। इनमे प्रधान कारण मिथ्यात्व है। उसका अभाव होने पर बाकी के कारण जली जेवड़ी के माफिक रह जाते है। पहले इसी कारण के अभाव करने का वास्तविक पुरुषार्थ करना होता है। ऊपर-नीचे रक्खे हुए घड़ों में अगर पहले नम्बर का घड़ा सीधा हो जाता है तो बाकी तो अपने आप सीधे हो जाते हैं। इसके बाद का कारण कषाय है। कषाय में अव्रत भी आ जाता है और प्रमाद भी आ जाता है। मिथ्यात्व के गए बिना कषाय का अभाव नही हो सकता।

यह समझना जरूरी है कि राग-द्वेष बंध के कारण हैं। जितने अंश में राग होगा उतने अंश में बंध जरूर

होगा। राग से संवर और निर्जरा नही हो सकती। जो कर्म आने का कारण है वही कर्म रोकने का कारण नही हो सकता, अन्यथा विपरीतता हो जाएगी। कही पर ऐसी अवस्था भी होती है जहां मिश्रित भाव होता है वहां जितना निर्मलता का अश है वह सवर-निर्जरा का कारण है, जो मलिनता का अश है वह तो बंध का ही कारण है। जहां कही इस मिश्र अवस्था को संवर का कारण लिखा है, वहां ऐसा समझना चाहिए कि राग से संवर नहीं, राग से तो बंध ही है, परन्तु साथ रहने वाली निर्मलता से संवर-निर्जरा है, इसलिए उपचार से, राग घटने की मुख्यता से, कथन किया गया है। दो गलतियां जीव से होती हैं—पहली 'पर' में अपनापना और दूसरी अपने ठहरने में आत्मबल की कमी। पहली गलती मिथ्यात्व कहलाती है और दूसरी राग-द्वेष। अपने मे अपनापना आ गया, इसलिए मूल संसार का कारण तो छूट गया परन्तु अभी तक आत्मबल की कमी की वजह से 'स्व' में ठहर नही सकता, तब 'पर' में परणति होती है। आत्मबल की कमी से 'पर' का आश्रय लेना पड़ता है। यह जो 'पर' का अवलम्बन है वही राग-द्वेष है। इन्ही को शास्त्रीय भाषा में दर्शन मोह और चारित्र-मोह के नाम से कहा गया है। दर्शन-मोह याने दृष्टि का, समझ का, ज्ञान का मोहित होना अथवा विपरीत होना और चारित्र मोह याने निज में ठहरने के पुरुषार्थ का न होना। इसको इस प्रकार भी समझ सकते है। जब तक अपने में अपनापना नहीं आता तब तक अपने में ठहरने का पुरुषार्थ भी कैसे हो सकता है, और जब दोनो प्रकार का कार्य हो जाता है, याने निज में निजपना आ जाता है और फिर निज में ठहर जाता है तो अन्तरमुहूर्त काल में, अनन्तकाल का पड़ा हुआ जो 'पर' में रमण करने का पुरुषार्थ है वह टूट जाता है। इसलिए पहले यह समझना जरूरी है कि अन्तर में होने वाला 'पर' से एकपना और राग-द्वेष येही बंध के कारण है। इसके विपरीत अपने में अपनापना सवर का कारण है और क्योंकि राग-द्वेष बध का कारण था, इसलिए उससे विपरीत वीतरागता निर्जरा का कारण है।

मोक्ष मार्ग मे दो कार्य एक-साथ होते है—वर्तमान निर्मल परिणामों से नया कर्म नही आता और दूसरा, जो पुराना कर्म अस्तित्व में पड़ा है उसका स्थिति-अनुभाव कम हो जाता है। जितनी-जितनी निर्मलता बढ़ती है पहले बधे हुए कर्म का स्थिति-अनुभाव कम होता जाता है, और जब वह उदय में आता है उस समय जितने अनुभाव को लेकर बधा था उतना अनुभाव उदय काल में नही रहता; जैसे, हो सकता है कि ६० प्रतिशत अनुभाव वाला कर्म जब उदयको प्राप्त हो तब ४० प्रतिशत अनुभाव को लेकर आवे। इसलिए ऐसा तो नियम है कि उदय के अनुसार परिणाम होंगे और परिणामों के अनुसार बंध होगा, परन्तु बंध के अनुसार उदय होगा ऐसा नियम नही है। निज मे निजपना आने के बाद जितना निज मे ठहरने का पुरुषार्थ करता है, वह व्यवहार है और जितना निज मे ठहरता है वह परमार्थ है जिससे कर्मों का अभाव होकर आत्मा शुद्ध हो जाती है। जब निज ठहरने की चेष्टा करता है तो उतने मात्र से कर्म ढीले होने लगते हैं। बाहर से देखने वाला कहता है कि इसने कर्म काटे है, शरीर मन-वचन-काय का निरोध किया है और राग-द्वेष को मिटाया है। असल मे भीतर से देखें तो यह समझ में आता है कि इसने तो निज मे ठहरने का पुरुषार्थ किया है, ऐसा करने पर बाहर में राग-द्वेष भी मिटे है, योग का अभाव भी हुआ है, कर्म भी कटे है। इसलिए मूल बात सात तत्वों मे यही रही कि जीव को जीव रूप समझें, अजीव को अजीव रूप समझें और फिर अजीव से हटकर जीव मे ठहरने का पुरुषार्थ करे।

इसको फिर इस प्रकार समझना है. पहले द्रव्य और भाव रूप सात तत्वो को जानें। शास्त्र के आधार पर जान लेने से मात्र आश्रव-बध के बारे मे तो जानकारी होगी परन्तु अभी भी आश्रव-बध को जानना बाकी रह जाएगा। इनके बारे मे जानना शास्त्र से होता है। परन्तु इनको जानना अपने मे पहचानने से होता है। इसलिए इन सातों का शास्त्र से जानना तो इनके बारे मे जानना है और इनको अपने मे जानना सो वास्तव मे इनको जानना है। इसलिए इनके बारे में जान लेने पर भी इनका जानना बाकी रह जाता है और इनके जाने बिना सम्यक्दर्शन नही होता। इस प्रकार मुख्य तो इनको जानना है। यहा पर भी दो दृष्टियां हैं—एक आश्रव-बंध-सवर-निर्जरा को

जानना है और एक उसको जानना है जो आश्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष रूप परिणमन कर रहा है। परिणमन करने वाला वही है और परिणमन अलग अलग है; जैसे नाटक मे पार्ट करने वाला वही है परन्तु पार्ट कई प्रकार के कर रहा है। पार्ट को जानना एक दृष्टि है। जहां ऐसा बनता है यह वह नही जो पहले था। परन्तु पार्ट करने वाले पर दृष्टि जाती है तो यह बनता है कि यह वही है जो पहले अन्य रूप परिणमन कर रहा था। इस प्रकार दो बाते है, एक यह निश्चय करना है कि वह जीव कहां मिलेगा—या तो आश्रवरूप, बंधरूप अवस्था मे मिलेगा या संवर-निर्जरा रूप अवस्था मे मिलेगा, या संसार मे मिलेगा, या मोक्ष मे। दूसरी यह कि उन-उन स्थानों मे स्वय जीव को खोजना है; जैसे किसी किसान को पकडने के लिए यह जानना जरूरी है कि वह कहां-कहा मिलेगा और उस जगह का ज्ञान उसको खोजने के लिए जरूरी है। परन्तु उस जगह का ज्ञान उस किसान को पकडने के लिए है। उस जगह को नहीं पकडना है, पकडना उस जगह रहने वाले किसान को है। इसलिए सात तत्त्वो का जानना भी जरूरी है। परन्तु उसमे भी पकड़ना उस जीव तत्त्व को है जो सात रूपों मे जाते हुए भी अपने एकत्वपने को नही छोडता। तब तो सात तत्त्वों का ज्ञान सच्चा ज्ञान कहलावेगा, अन्यथा अगर जीवतत्त्व को नही पकडा तो सात तत्त्वों का ज्ञान भी बाहरी-बाहरी रह जायेगा।

इन सात तत्त्वों के ज्ञान मे देव-शास्त्र गुरु का स्वरूप भी आ गया, क्योकि राग बंध का कारण है, इसलिए हेय है। वीतरागता संवर-निर्जरा का कारण है इसलिए उपादेय है, अथवा राग दुःख का कारण है, दुःख रूप है, वीतरागता सुख का कारण है, सुख रूप है। जिसने समस्त राग का नाश करके, पूर्ण वीतरागता को प्राप्त कर लिया वही हमारा ध्येय है, लक्ष्य है, परमात्मा है। जो वीतरागता की साधना मे लगा है वह साधु है और जो वीतरागता की प्राप्ति के मार्ग को बतलाता है वह शास्त्र है। इसलिए जिसने यह जाना कि राग हेय है, उसके हृदय मे राग और रागी दोनो के प्रति उपादेयता, भक्ति नही हो सकती। यही कारण है कि उसके हृदय मे राग और रागी दोनों के प्रति उपादेयता, भक्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि उसके हृदय मे रागी के प्रति अनुराग नही रहता। अगर रहता है तो समझना चाहिए कि अभी राग मे उपादेयपना है और राग मे उपादेयपना है तो अभी तत्त्व को विपरीत मान रखा है। राग का छूटना देरी से हो सकता है, परन्तु राग मे उपादेयपना नही रह सकता। अगर राग से संवर-निर्जरा मानता है तो राग मे उपादेयता आने से तत्त्व विपरीत हो जाता है। मंद राग की भूमिका मे वीतरागता का पुरुषार्थ किया जा सकता है परन्तु इससे स्वय राग उपादेय नही हो जाता।

यह बात तो ठीक है कि जीव का मात्र एक ही पुरुषार्थ है; वह यही है कि सर्व प्रकार से चेष्टा करके, निज आत्म स्वरूप का निर्णय करे और फिर उसी मे रमण कर जाए और ऐसा रमण कर जाए कि बाहर आने की कोई जरूरत ही नही रहे और परीषह, उपसर्ग आने पर भी उससे विचलित न हो, तो अन्तर मुहूर्त काल मे परमात्म पद को प्राप्त कर ले। बस इतना ही पुरुषार्थ है और इतना ही करने योग्य कार्य है, इसके अलावा जो कुछ है वह तो कर्म का कार्य है; उसमे हमारा पुरुषार्थ चल ही नही सकता। लोग मानते है कि हमारा पुरुषार्थ उसमे है परन्तु यह मात्र भ्रान्ति है। जिनको निज पुरुषार्थ की खबर नही है वे ही ऐसा मानते है। परन्तु सवाल यह पैदा होता है कि जब तक निज स्वरूप की प्राप्ति न हो सके तब तक हमारी स्थिति क्या होनी चाहिए ? उसका यह उत्तर है कि अगर वाकई मे हमे निज स्वरूप की रुचि हुई है, हम निज स्वरूप को प्राप्त करना चाहते है, तो यह निश्चित है कि हम ऐसा ही उपाय करेंगे कि जो निज स्वरूप के जानने वाले है, उनके निकटवर्ती हो, निज स्वरूप को जिन्होने प्राप्त किया, उनके प्रति विनयपने को प्राप्त हो; निज स्वरूप के कथन करने वाले शास्त्रों का अध्ययन करे और जहा पर निज स्वरूप का निषेध होता हो वहां से बचें, हटें। यदि कोई व्यक्ति धन को प्राप्त करना चाहता है तो वह यह जानने की चेष्टा करेगा कि पहले किस-किस ने धन को प्राप्त किया है। उसके जीवन को जानना चाहेगा, उन्होने कैसे प्राप्त किया यह समझेगा,

उनके निकटवर्ती होने की चेष्टा करेगा और उनके प्रति विनय को प्राप्त होगा। अगर ऐसा नही होता तो समझना चाहिए कि अभी उसके निज तत्त्व की अभिरुचि भी नही हुई है, वास्तविकता नही आई है। सच्ची रुचि होने पर जब तक निजतत्त्व को प्राप्त न कर ले तब तक जिन उपायों से निज तत्त्व की पुष्टि होती है उन सभी के प्रति उसका सद्भाव रहेगा। जैसे अपने पुत्र से दूर रहने वाली स्त्री अपने पुत्र की फोटो के प्रति भी पुत्रवत् प्रेम का व्यवहार करती है; उसी प्रकार निज तत्त्व की खोज करने वाला, जिन लोगों ने निज तत्त्व को प्राप्त किया उनकी स्थापना के प्रति भी विनय को प्राप्त होगा। यदि उसको निज तत्त्व के प्रति वाकई मे रुचि हुई है तो यह उसकी पहचान है। धन की रुचि वाला धनिक के नजदीकवर्ती होगा, गरीब के नही। वैसे ही निज स्वरूप को प्राप्त करने वालों के ही वह नजदीकवर्ती होगा, जो निज स्वरूप से बाधक है उनके नही। निज स्वरूप की प्राप्ति मे जो रुकावट होगे उनसे परहेज करेगा, यह स्वाभाविक है, और ऐसे निज स्वरूप की रुचि का होना ही वास्तविक शुभ भाव है।

इसी प्रकार, जब वह निज स्वरूप मे नही ठहर सकेगा तो बाहर आयेगा। तब 'पर' मे तो आया परन्तु वहा 'पर-पर' मे भेद करेगा। एक 'पर' वह है जहा से आगे छलाग निज स्वरूप मे लगाई जा सकती है, जैसा ऊपर बता चुके है, निज स्वरूप को प्राप्त करने वालों के निकटवर्ती होकर। एक जगह वह है जहा निज स्वरूप का निषेध बतंता है, जहा से निज स्वरूप मे छलाग नही लगाई जा सकती। वहा स्थिरता न करके इस पहले वाली भूमि पर ही ठहरना है। परन्तु इसको भी निज घर तो नही मानना है।

हमारे जीवन परिवर्तन म पहला सवाल है कि चेतना बाहर की तरफ बह रही है कि अन्तर की तरफ, दृष्टि बाहर 'पर' के ऊपर है कि अन्तर मे 'स्व' के ऊपर—महिमा 'पर' की आ रही है कि 'स्व' की—रस 'पर' मे आ रहा है कि 'स्व' मे---सभी बातो का एक ही उत्तर है और सभी एक ही सवाल है। अगर धन की, शरीर की, महिमा आ रही है तो हम 'पर' की महिमा मे 'स्व' का तिरस्कार है, इसमे निज स्वभाव का तिरस्कार है। अगर हम एक बड़े आदमी के खड़े रहते एक मामूली आदमी का आदर करते है तो उस बडे आदमी का तिरस्कार हो जाता है, अगर भगवान चैतन्य स्वभाव के रहते 'पर' का, धन का, वैभव का, शरीर का, कर्म का, पुण्य का, आदर आ रहा है, उसकी महिमा आ रही है तो समझना चाहिए कि तूने भगवान चैतन्य का अपमान किया है, और 'पर' मे रस आ रहा है तो समझना चाहिए भगवान चैतन्य का रस तेरा विरस हो गया है। अगर तेरी चेतना बाहर बह रही है तो भीतर मे तू खाली है, दरिद्री है। जो भीतर का दरिद्री होता है, खाली होता है, वही उस खालीपन को बाहर से, 'पर' से, भरने की चेष्टा करता है। 'पर' से वास्तव मे भरा नही जा सकता परन्तु अपने को भ्रम मे डाल लेता है। अगर दृष्टि बाहर 'पर' पर जा रही है, तो तेरी दृष्टि व्यभिचारिणी है, पर-पुरुष पर दृष्टि रखने वाली स्त्री की तरह, परधन पर दृष्टि रखने वाले चोर की तरह। तेरी दृष्टि अगर बाहर मे है तो भीतर से तू अन्धा है। तो भाई अगर अन्तर दृष्टि की प्यास लगी तो तू कहां जा सकता है ? अगर बाहर गया भी तो वही तक जाएगा जहां से निज वस्तु मे फिर पुरुषार्थ जागृत हो सके।

इसलिए अगर भीतर से बाहर आया है तब भी, और बाहर से भीतर जाना है तब भी, तेरा ठहराव अगर वास्तविक निज स्वरूप मे है तो निज स्वरूप को साक्षात प्राप्त करने वाला भगवान सर्वज्ञ, निज स्वरूप का कथन करने वाली उनकी वाणी, और निज स्वरूप की साधना मे लगे साधु को छोड़कर कहा जाएगा ? उनकी ही महिमा आएगी, उनके प्रति ही विनय को प्राप्त होगा। इसी को शुभ भाव कहते है, यही वास्तविक पुण्य है, क्योंकि योगसार मे लिखा है कि जो आत्मा को स्वाधीन बनावे उसे पुण्य कहते है और आत्मा को पराधीन बनाये उसे पाप कहते है। उपर्युक्त स्थिति ही आत्मा को स्वाधीन बनाने वाली है। जो धन, वैभव, भोग-सामग्री कर्म से मिलती है वह तो आत्मा के लिए पराधीनता का कारण है, वह आत्मा के लिए हितकारी कैसे हो सकती है।

□□□

पुरातत्वीय स्रोत तथा भगवान महावीर

□ प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर

भगवान महावीर के जीवन-काल मे उनकी चन्दन की प्रतिमा निर्मित होने के उल्लेख कतिपय जैन ग्रन्थों मे मिलते है। अनुश्रुति के अनुसार, भगवान महावीर की चन्दन की प्रतिमा सिधुसौवीर के शासक उद्दायण (रुद्रायण) के अधिकार मे गई। बाद मे उनसे उसे उज्जैन के शासक प्रद्योत ने ले लिया और मूर्ति को विदिशा नगरी में रखा। उसकी एक प्रतिकृति बनवाकर बीतभयपट्टन नामक नगर में रखी गई। दैवयोग से भारी तूफान आने के कारण यह प्रतिकृति नीचे दब गई। उसके दबने से सारा नगर नष्ट हो गया। श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार, गुजरात के प्रसिद्ध शासक कुमारपाल ने इस प्रतिकृति को निकलवाकर उसे अणहिलपाटन नगर मे प्रतिष्ठापित कराया।

भगवान महावीर की इस चन्दन प्रतिमा के आधार पर कालान्तर में अन्य मूर्तियो का निर्माण हुआ होगा। कलिंग के प्रसिद्ध शासक खारवेल का एक अभिलेख भुवनेश्वर के समीप हाथीगुफा मे मिला है। इस लेख मे लिखा है कि कलिंग मे तीर्थंकर की एक प्राचीन मूर्ति थी जिसे मगध के शासक नंद अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गये। लेख मे आगे लिखा है कि खारवेल ने पुनः इस प्रतिमा को मगध से कलिंग मे लाकर उसकी प्रतिष्ठापना की। इस उल्लेख से ईसवी पूर्व चौथी शती मे तीर्थंकर प्रतिमा के निर्माण का पता चलता है।

यहां जीवन्तस्वामी-प्रतिमा का परिचय दे देना आवश्यक है। तपस्या करते हुये महावीर स्वामी की एक संज्ञा 'जीवन्तस्वामी' हुई। कुछ ग्रन्थो के अनुसार, यह संज्ञा उनकी प्रारम्भिक अवस्था की द्योतक है, जब वे मुकुट तथा अन्य विविध आभूषण धारण किये हुये थे। अकोला से इस स्वरूप मे भगवान की एक अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमा मिली थी। यह मूर्ति कांसे की है और अब बड़ोदा के संग्रहालय में प्रदर्शित है। भगवान् ऊचा मुकुट तथा अन्य अनेक आभूषण पहने है। उनके मुख का शांत, प्रसन्न भाव दर्शनीय है। मूर्ति पर ईसवी छठी शती का ब्राह्मी लेख खुदा है, जिसके अनुसार यह जीवतस्वामी की प्रतिमा है।

मथुरा से कंकाली टीला से तथा कौशाम्बी आदि अन्य स्थानों से गुप्तकाल के पहले की तीर्थंकर-मूर्तियां प्राप्त हुई है। भगवान् महावीर के अतिरिक्त आदिनाथ, पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ, नेमिनाथ तथा मुनिसुव्रत की मूर्तिया विशेष उल्लेखनीय है। इनका पता कतिपय विशिष्ट चिन्हों तथा उन पर अंकित लेखों से चलता है। अनेक प्रारंभिक मूर्तियों पर लांछनो का अभाव है। लांछनों का प्रयोग गुप्तकाल के बाद व्यापक रूप से मिलने लगता है।

मथुरा तथा कौशाम्बी में पत्थर के बने हुए वर्गाकार या आयाताकार 'आयाग-पट्ट' मिले है। पूजा के लिये इनका प्रयोग होने के कारण इन्हें 'आयागपट्ट' कहा जाता था। अनेक पट्टो पर बीच में ध्यानमुद्रा में पद्मासन पर अवस्थित तीर्थंकर मूर्ति है। उसके चारों ओर अनेक सुन्दर अलकरण तथा प्रशस्ति चिन्ह बने है। आयागपट्टो का निर्माण ईसवी पूर्व प्रथम शती से प्रारम्भ हुआ। उन पर उत्कीर्ण लेखो से ज्ञात होता है कि उनमें से अधिकाश का निर्माण महिलाओ की दानशीलता के कारण हुआ। मन्दिरों, विहारों तथा मूर्तियों के निर्माण मे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रिया अधिक रुचि लेती थीं। प्राचीन शिलालेखो से इस बात की पुष्टि होती है।

कुषाण-काल (ई० प्रथम-द्वितीय शती) से जैन 'सर्वतोभद्रिका' प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इन पर चारो दिशाओ मे प्रत्येक ओर एक-एक जिन-मूर्ति पद्मासन पर बैठी हुई या खड्गासन मे खड़ी हुई मिलती है। ये तीर्थंकर प्राय. आदिनाथ (ऋषभनाथ), पार्श्वनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर है।

मध्यप्रदेश के धुबेला-सग्रहालय म एक अत्यन्त सुदर सर्वतोभद्र-मूर्ति है, जो पूर्व मध्य काल की है। उस पर उक्त चारों तीर्थंकरों के चिह्न भी अंकित है, जिससे उनके पहचानने मे कोई सदेह नही रह जाता।

सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा की परम्परा मध्य काल के अन्त तक जारी रही। मथुरा से प्राप्त अनेक सर्वतोभद्रिका मूर्तिया अभिलिखित ह और मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व की है।

गुप्त युग तथा मध्यकाल में निर्मित भगवान महावीर की मूर्तियां बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। कुछ ऐसे शिला-पट्ट गुप्तकाल से उपलब्ध होने लगते है, जिन पर चौबीसों तीर्थंकरों का एक साथ अंकन मिलता है। गुप्त युग तथा विशेष कर मध्यकाल मे तीर्थंकर प्रतिमा के अगल-बगल या ऊपर-नीचे अनेक देवी-देवताओ एव यक्ष, सुपर्ण, विद्याधर आदि के चित्रण भी मिलते है। ये भगवान् के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करते हुए अंकित मिलते है।

महावीर की गुप्तकालीन कतिपय मूर्तिया भारतीय कला के सर्वोत्तम उदाहरणों मे गिनी जाती है। भगवान् की शात. निश्चल मुद्रा को प्रदर्शित करने मे कलाकारों ने अत्यधिक सफलता प्राप्त की। मूर्तियां अधिकतर पद्मासन में मिलती है। सिर पर कुचित केश तथा वक्ष पर 'श्रीवत्स' चिन्ह मिलता है। अंग-प्रत्यगो की गठन बड़ी सुगठ होती है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी के मन्दिरो का निर्माण कब से प्रारम्भ हुआ, यह एक विवादग्रस्त बात है। प्राचीन जैन आगमों मे प्राय. तीर्थंकर-मन्दिरो का उल्लेख नही मिलता। महावीर स्वामी अपने भ्रमण के समय मन्दिरो मे नही ठहरते थे, बल्कि 'चैत्यों' मे विश्राम करते थे। इन चैत्यों को टीकाकारो ने 'यक्षायतन' (यक्ष का पूजा-स्थल) कहा है। भारत मे यक्ष पूजा बहुत प्राचीन है। यक्षों के मंदिरो या थानों मे उनकी पूजा होती थी। भगवती सूत्र नामक जैन ग्रंथ के अनुसार भगवान महावीर ने 'पृथिवी-शिलापट्ट' के ऊपर बैठकर एक वृक्ष (शाल) के नीचे तप किया, जहा उन्हे सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान बुद्ध ने पीपल-वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। बुद्ध के उस आसन का नाम 'बोधिमड' प्रसिद्ध हुआ। उसका अंकन प्रारम्भिक बौद्धकला मे बहुत मिलता है, जिसकी पूजा का बड़ा प्रचार हुआ। बोधिमड तथा बुद्ध से संबंधित बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप आदि की ही प्रारम्भ मे पूजा होती थी। बुद्ध की मानुषी मूर्ति का निर्माण बाद मे शुरू हुआ। उसके पहले जैन तीर्थंकरो की मानुषी प्रतिमाये अस्तित्व मे आ चुकी थी।

चैत्य-वृक्ष की पूजा जैन धर्म का भी एक अग बन गई। विभिन्न तीर्थंकरो से सबधित चैत्य वृक्षो के विवरण जैन साहित्य मे उपलब्ध है। ऐसे तरुवरो मे कल्पवृक्ष, शाल, आम्र आदि महत्वपूर्ण वृक्ष माने जाने लगे और इनका प्रदर्शन तीर्थङ्कर प्रतिमाओं तथा उनके शासन-देवताओ के साथ किया जाने लगा। चैत्य वृक्ष ही मदिरों के प्रारंभिक रूप मान्य हुए। यद्यपि आधुनिक ग्रर्थ में प्राचीनतम जिन-मदिरो के स्वरूप का स्पष्ट पता हमे नही है, पर इतना कहा जा सकता है कि अनेक मंदिर ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व मे आ चुके थे।

वैशाली के ज्ञातृ कुल मे वैशाली नगरी के समीप कुड ग्राम मे (आधुनिक 'वासुकुड') मे ई. पूर्व ५९९ मे भगवान महावीर का जन्म हुआ। उनके पिता सिद्धार्थ इस कुल के मुखिया थे। महावीर की माता त्रिशला विदेही वैशाली के चेटक नरेश की बहन थी। प्राचीन जैन ग्रंथो मे महावीर स्वामी को 'विदेहसुकुमार' तथा 'वैशालिक' नाम भी दिए गए है। उन्होने दक्षिण बिहार पर्वतीय तथा जागलिक प्रदेश मे अनेक वर्ष बिताये। इससे यह स्वभाविक था कि वह क्षेत्र महावीर स्वामी के उपदेशों का विशेष पात्र होता। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार, राजगृह महावीर स्वामी को सबसे अधिक पसंद था। उन्होंने चौदह वर्षावास राजगृह तथा नालन्दा में किये। राजगृह मे महावीर के पूर्वज तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत का जन्म हुआ था। मुनिसुव्रत का नाम मथुरा से प्राप्त द्वितीय शती की प्रतिमा पर सर्वप्रथम उत्कीर्ण मिलता है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, भगवान महावीर का निर्वाण बहत्तर वर्ष की आयु मे पावापुरी मे हुआ। अनेक विद्वान् बिहार प्रदेश के वर्तमान नालदा जिले मे स्थित पावा को प्राचीन पावापुरी मानते है। परन्तु इसे प्राचीन नगरी मानने मे एक कठिनाई यह है कि यहा बहुत प्राचीन पुरातत्त्वीय अवशेष नही मिले है। विद्वानो का दूसरा वर्ग प्राचीन पावापुरी की स्थिति उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले मे मानता है। इस जिले के फाजिलनगर तथा साठियावं नामक गावो के मध्य आसमानपुर और उसके समीप अनेक प्राचीन टीले है। इन टीलो से ठीकरो, सिक्को, मूर्तियों आदि के रूप मे पुरातत्व की प्रचुर सामग्री मिली है। जैन साहित्य के भौगोलिक तथा अन्य विवरणो के आधार पर देवरिया जिले के इस स्थल को ही प्राचीन पावा मानना ठीक प्रतीत होता है।

—अध्यक्ष, पुरातत्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

भगवान पार्श्व के पंचमहाव्रत

□ श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम० ए०, दिल्ली

दिगम्बर मान्यतानुसार जैन आगमों की वर्तमान शृंखला, युग के आदिनेता तीर्थंकर ऋषभदेव से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मार्ग को सभी तीर्थंकरों ने समान रूप में प्रवर्तित किया है। इसके मुख्य कारण ये भी है कि—

१—सभी तीर्थंकर सम-सर्वज्ञ थे अर्थात् सबका ज्ञान पूर्ण सदृशता को लिए था।

२—सभी की देशनानिरक्षरी थी।[1]

३—सभी की सर्वज्ञावस्था की प्रवृत्ति मन के विकल्पों से रहित थी। उसमें हीनाधिक वाचन को स्थान [विकल्पों के अभाव में] नहीं था।

तीर्थंकरों ने साधुओं के मूलगुण २८ आचार्यों के ३६ और श्रावकों के व्रत १२ ही बतलाए। इन सबकी संख्या में और सभी के लक्षणों में कोई भेद नहीं किया। इसी प्रकार धर्म १०, पाप ५, और संज्ञा ४ की संख्या और लक्षणों में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया' 'बीच के बाईस तीर्थंकरों के समयों में भी चार ही महाव्रत थे'—आदि, उपयुक्त नहीं जँचता। और ऐसी घोषणाओं में तत्कालीन लोगों की बुद्धि तीव्र या मंद थी या वे सरल और कुटिलता के भेद को लिए हुए थे' आदि कारण बताना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक मैं समझता हूं 'चातुर्याम' की मान्यता की स्पष्ट घोषणा श्वेताम्बर आगमों की है[2]। इसी के अनुरूप संयम के प्रसंग में दिगम्बरों में भी एक उल्लेख पाया जाता है[3]। दिगम्बरों की ओर से चातुर्याम की कई बार कई विद्वानों ने पुष्टि की है। जैसे—

१—'पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया था।'

२—'चातुर्याम रूप धर्म के संस्थापक पार्श्वनाथ थे यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।'

३—भगवान पार्श्वनाथ के द्वारा संस्थापित चातुर्याम धर्म के आधार पर ही भगवान महावीर ने पंच महाव्रत रूप निर्ग्रंथ मार्ग की···स्थापना की।' आदि

जहां तक मुझे स्मरण है—इन्दौर से प्रकाशित तीर्थंकर-मासिक' के 'राजेन्द्रसूरि-विशेषांक में भी दो विद्वानों के लेखों में ऐसी ही बातें दुहराई गई थी। इस समय मेरे समक्ष अंक न होने से उद्धरण नहीं लिख पा रहा हूं। यदि दि० विद्वानों की चातुर्याम संबंधी बात को माना जाय—जैसा कि होना भी चाहिए[4] तो निम्न प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक है—

---

१ 'महावीर देह में भी विदेह थे उन्हीं की 'निरक्षरी' ···वाणी की अनुगूंज वातावरण में है।'
—समणसुत्त, भूमिका पृ० १६

'गणधर—जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान को 'शब्दबद्ध' करते है। —वही, पर० शब्दकोष पृ० २६४।

—समणसुत्त—'यह एक सर्व सम्मत प्रातिनिधिक ग्रन्थ है।' —वही, भूमिका पृ० १८

२. 'चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिए।
देसिओ वड्ढमाणेस पासेण य महामुणी॥
(उत्तरा० २३/१२)

पुरिमा उज्जुजड्डाउ वक्कजड्डाय पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्नाउ तेण धम्मे दुहा कए॥'
(उत्तराध्ययन, २३।२६)

३. 'बावीस तित्थयरा सामायिय संजम उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य॥'
(मूला० ७।५३३)

पुरिमा य पच्छिमा विहु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥'
(मूला० ७।५३५)

४. 'युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।'

१—दि० मान्यता में चातुर्याम स्वीकार करने पर साधुओं के २८ मूलगुणों की सख्या कैसे पूरी होगी ? क्योंकि ब्रह्मचर्य अपरिग्रह मे गर्भित होने से महाव्रतों में एक कम करना पड़ेगा।

२—क्या कहीं साधुओं के मूलगुण २७ होने का उल्लेख है ?

३—आचार्यों के मूलगुणो मे ३६ के स्थान पर ३५ की ही सख्या रह जायगी (एक महाव्रत तो कम हो ही जायगा) पर ब्रह्मचर्य धर्म का अन्तर्भाव (महाव्रतों की भाति) आकिंचन्य में करना अनिवार्य हो जायगा। इस आपत्ति का निराकरण कैसे होगा ?

४—क्या कही आचार्य के मूलगुण ३५ होने का उल्लेख है ?

५—क्या चातुर्याम और पंचमहाव्रत की विभिन्न मान्यताओं मे तीर्थकरो की देशना को विशेष ध्वनि रूप या अनक्षरी मानने मे बाधा उपस्थित न होगी?

६—क्या विभिन्न स्वभाव और विभिन्न बुद्धि के लोगों की अपेक्षा से हुई ध्वनि मे मन का उपयोग न होगा ?

७—क्या कही उन पापों की सख्या चार मानी गई है जिनके परिहार रूप चातुर्याम होते है ? यदि बाईस तीर्थंकरों ने चार पाप बतलाए हों तो उल्लेख ढूंढना चाहिए। शायद कही कुशील को परिग्रह में सम्मिलित कर दिया हो ?

८—सज्ञायें चार के स्थान में कही तीन बतलाई है क्या? (यतः मैथुन परिग्रह के अन्तर्भूत हो जाएगा)

९—महावीर ने दीक्षा के समय चातुर्याम धारण किए या पंचमहाव्रत ? यदि पंचमहाव्रत धारण किए तो वे २२ तीर्थंकरों की परम्परा मे कैसे माने जाएंगे ? यदि चातुर्याम मे दीक्षित हुए तो आदि के तीर्थंकर की धर्म परम्परा मे कैसे माने जायेंगे ?

१०—क्या कहीं १० धर्मों के स्थान पर, ब्रह्मचर्य को अकिंचन्य में गर्भित किया गया है और धर्मों की संख्या ९ बतलाई गई है ?

११—[1]स्त्री को परिग्रह मे गिनाया गया है या नही ? यदि गिनाया गया है तो संख्या के परिमाण की दृष्टि से अथवा भोग की दृष्टि से ?

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जायेंगे। ऐसे प्रश्नों के निराकरण के अभाव मे समस्त आगम ही सावरण (सदोष) हो जायेंगे। अत: दि० विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वे पुनर्विचार करें। मेरी बुद्धि में तो ऐसा है कि सभी तीर्थंकरो के उपदेश समान रहें हैं। कही भी किंचित् भी अन्तर नही आया है। जो भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह सब आचार्यों की देन है : जो उन्होंने समय समय पर लोगो की दृष्टि से किया है।

(१) यदि हम श्वेताम्बर परपराओ के उल्लेखो पर विचार करें तो हमे वहां एसे उल्लेख भी मिलत है जिनसे यह सिद्ध होता है कि पार्श्व से पूर्व भी पच-महाव्रतो का चलन रहता रहा है। आचार्य हेमचन्द जी पार्श्वनाथ द्वारा दिए उपदेश को जिस भांति बतलाते है उससे ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह मे गर्भित नही माना जा सकता। अर्थात् पार्श्वनाथ द्वारा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक किया गया हो, ऐसा सिद्ध नही होता। यथा—

'सद्विधा सर्वविरति देशविरति भेदतः।
सयमादि दशविधो, अनगाराणां स आदिमः॥'
(त्रि० श० पु० च० पर्व ९, सर्ग ३)

यह पार्श्वनाथ का उपदेश है। इसमे **मुनिधर्म,** संयम आदि के रूप मे दश प्रकार का बतलाया है। ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव अपरिग्रह मे नही किया गया। यदि तीर्थंकर को दोनों मे से एक ही रखना इष्ट होता तो वे दश के स्थान पर नौ का ही विधान करते। आगमो में जो सयम कहे है वे हैं :—

'खंती य मद्दव अज्जव, मुत्ती तव सजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणंच बंभ च जइ धम्मो॥'

(२) पार्श्व से पूर्व तीर्थंकर नमिनाथ ने वरदत्त को जो उपदेश दिया है उससे भी पच महाव्रतों की पुष्टि होती है। उन्होंने 'सावद्य योगविरति' को चारित्र कहा। और अवद्यो (पापों) की सख्या सदा पांच

---

१. 'क्षेत्र वास्तु धन धान्य, द्विपद च चतुष्पदम्। बाह्यानां गोमहिष मणिमुक्तादीना चेतनाचेतनानाम्॥'—

रही है। अत: पंच पापो की पृथक् पृथक् विरति पंच महाव्रतो को ही सिद्ध कर सकती है। श्लोक इस प्रकार है—

'सावद्य योगविरतिश्चारित्रं मुक्तिकारणम्।
सर्वात्मना यतीन्द्राणा, देशतः स्यादगारिणाम्॥

(त्रि० श० पु० च० पर्व ८ सर्ग ६)

(३) दीक्षा ग्रहण करते समय तीर्थंकर पाचो पापों के सर्वथा त्याग की घोषणा करते है। परिग्रह गर्भित अब्रह्म जैसे चार के त्याग की घोषणा नही करते और न कही पापों की चार संख्या का विधान ही किया गया है। तीर्थंकरों की घोषणा है—

'सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं।'

(४ तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय मे ब्रह्मचर्य की गणना स्वतन्त्ररूप से होती रही है—अपरिग्रह मे नही, ऐसे भी प्रमाण मौजूद है। उस समय भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात (मुनि अवस्था मे) पृथक रूप से निर्दिष्ट होती रही है। विवाह के प्रसंग मे (जब नेमिनाथ राजुल मे विवाह नही करना चाहते तब राजघराने की) अन्य रानिया नेमिनाथ से कहती है—

'समये प्रति पद्येथा ब्रह्मापि यथारुचि:।
गार्हस्थ्ये नोचित ब्रह्म, मंत्रोद्गार इवाशुचौ॥'

(त्रि० श० पु० च० पर्व ८।१०५ हैमचन्द्राचार्य)

(५) तीर्थंकर नमिनाथ की एक भविष्यवाणी मे भी ब्रह्मचर्य की बात स्पष्ट है और अपरिग्रह से उसे नहीं जोड़ा गया है। इससे भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य पृथक रूप से स्वतन्त्र रूप में माना जाता रहा है :—

'पुरा नमिजिनेनोक्तं नेमिरर्हन् भविष्यति।
कुमार एव सन्नेव, नार्थो राज्यश्रियास्यतत्। ॥३५॥
प्रतीक्षमाण: समय जन्मतो ब्रह्मचार्ययम्।
अदास्यते परिव्रज्यां मान्यथा कृष्ण, चिन्तय॥ ३६॥

उक्त आकाशवाणी है, जो अरिष्टनेमि के सबध में २१वें तीर्थंकर नमिनाथ द्वारा कभी (पहिले) की गई भविष्यवाणी को इंगित करती है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य की महिमा २१वें तीर्थंकर के समय मे भी पृथक रूप से गाई जाती रही है, अपरिग्रह गर्भित रूप मे नहीं।

(६) भगवान पार्श्वनाथ से पहिले के तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने थावर्चापुत्र को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और उन्हे १००० शिष्यपरिवार वाला करके बिहार की आज्ञा दी। थावर्चापुत्र अपने शिष्यो के साथ बिहार करते करते सौगन्धिका नगरी मे पहुचे। उस नगरी मे सुदर्शन नामक सेठ रहता था। उस सेठ ने पहिले कभी किसी 'शुक' नामक सन्यासी से साख्यमत का उपदेश सुना था और वह सांख्यमत का श्रद्धानी हो गया था। जब उसे थावर्चापुत्र के आगमन की बात मालुम हुई तो वह उनके पास गया। थावर्चापुत्र को देखकर सुदर्शन सेठ ने पूछा कि आपका धर्म कैसा है? तब थावर्चापुत्र ने धर्मोपदेश में "पंचमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश किया। यदि बीच के तीर्थंकरों के समय मे चातुर्याम ही थे तो बाईसवें तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य ने पंचमहाव्रतों को धर्म क्यों कहा? वे चातुर्याम रूप में ही उनका व्याख्यान करते। इसका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि पंचमहाव्रतों का पूर्व सभी तीर्थंकरो के समय मे एक जैसा चलन ही रहा है। प्रसग का मूल इस भांति है—

'तत्तेण थावच्चापुत्ते अणगारे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमाइयार चोद्दसपुव्वाइ अहिज्जति अहिज्जति बहूहिं जाव चउत्थ बिहरति ॥२६॥

'तत्तेण अरहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगार सहस्सं सीसत्ताए दलयति॥ ३०॥ ...... [ज्ञाताधर्मकथा, सेलगराजर्षि अध्ययन ५, पृ०२४८ श्री अमोलक ऋषि, सिकंद्राबाद प्रकाशन]

सुदर्शन का थावच्चापुत्त से प्रश्नोत्तर—

'तुम्हाणं किं मूलए धम्मे पण्णत्ते? तत्तेण थावच्चापुत्ते सुदंसणेणं एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं वयासी—सुदंसणा विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। सेविय विणए दुविहे पण्णत्ते त जहा—आगार विणएय अणगार विणएय। तत्थणं जे से आगार विण सेवय पच अणुव्वयाइं सत्त सिक्खायाइ, एक्कारस उवासग पडिमाओ। तत्थणं जे से अणगार विणए सेणं पच महव्वयाई तं जहा—सव्वाओ

पाणाइवायाओ वेरमण, सव्वाओ मुसावायओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं. सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण··· ···॥४१॥

(वही पृ० २५०)

(७) यद्यपि अभिधान राजेन्द्रकोष मे जहाँ परिग्रहों (बाह्य परिग्रहों) का संकेत है वहाँ उनमें 'द्विपद' का उल्लेख है—स्पष्ट रूप में स्त्री का उल्लेख नही है यथा—'धनं धान्यं क्षेत्र वास्तु रूप्यं सुवर्ण कुप्यं 'द्विपद:' चतुष्पदाश्च ।' तथापि यदि यथाकथंचित् स्त्री को द्विपद रूप परिग्रह माना जाता है तो वह मात्र संख्या-परिमाण की दृष्टि से ही माना जा सकता है। मिथुन संबंधी भाव या कर्म से संबन्धित नही माना जा सकता। यह परिमाण की बात परिग्रह परिमाण नामक श्रावक व्रत के अतीचारो का वर्णन करने वाले सूत्र से भी पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। उस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमाणातिक्रम:' पद देकर "संग्रह-मर्यादा" को ही इंगित किया है। अभिधान राजेन्द्र कोष में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है—'णाणामणिकणगरयण महरिहपरिमल "सपुत्तदार" परिजन दासीदास······ ।'

उक्त पद मे आए 'सपुत्तदार' शब्द का विश्लेषण करते हुए कोषकार लिखते है—'सपुत्रदारा: सुतयुक्तकलत्राणि।' इससे भी "परिमाण" को ही बल मिलता है। जेसे किसी ने एक दासी या दास का परिमाण रक्खा तो वह उसके परिमाण में रहने के लिए 'सुतयुक्तदासी' को नहीं रख सकता। क्योंकि यदि वह रखेगा तो उसकी एक संख्या रूप परिमाण में दोष आ जायगा। यत: दासी के साथ रहने के कारण उसका पुत्र भी दास कार्य में सहायक सिद्ध होगा और व्रती के व्रत-भंग का कारण होगा।

इन प्रसगों से स्पष्ट है कि जिस भाव में ब्रह्मचर्य है वह भाव अपरिग्रह से अछूता है। अत: एक मे दूसरे का समावेश नही हो सकता। हाँ, यदि खीचतान करके समावेश माना ही जाय तो चोरी आदि पाप भी परिग्रह में गर्भित किए जा सकते हैं अथवा एक अहिंसा महाव्रत में भी सभी व्रत सम्मिलित हो सकते है। पर, ऐसा किया नहीं गया। सभी महाव्रत आदिनाथ युग से महावीर युग तक चलते रहे है। अत: चातुर्याम धर्म पार्श्व का है' ऐसा कथन निर्मूल बैठता है।

श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक में प्रथम अध्याय के सातवें सूत्र की व्याख्या में आया "चतुर्यमभेदात्" पद भी विचारणीय है कि इसका समावेश कब और कैसे हुआ। हो सकता है बाद के विद्वानों ने (चातुर्याम धर्म पार्श्वनाथ का है ऐसी धारणा मे) मूल पद संशोधन की चेष्टा की हो अन्यथा, प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिलिपियों से तो ऐसा सिद्ध नही होता। ब्यावर, श्रवणवेलगोला और मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रतियों में 'चतुर्यमभेदात्' के स्थान मे 'चतुर्यति भेदात्' पाठ है।

(८) अब आती है केशी-गौतम संवाद की बात। सो, यह विचारणीय है कि वे केशी पार्श्व परम्परा के वे ही केशी है जिन्होंने प्रदेशी राजा को संबोध दिया था या अन्य कोई केशी है? वे केशी चार ज्ञान के धारक थे और पार्श्व की शिष्य परम्परा के पट्टधर आचार्य थे। उन्होंने गौतम से प्रश्न किया हो यह बात जँची नहीं। यत: संवाद के (कथित) समय तक गौतम और केशी दोनों समान ज्ञान धारक ही सिद्ध हो सकते हैं।

केशी के ज्ञान के संबंध में रायपसेणी में लिखा है—'इच्चेए णं पदेसी ! अहं तव "चउव्विहेणं नाणेणं" इमेयारूवं अब्भत्थियं जाव समुप्पन्नं जाणामि।" भगवती सूत्र से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

इस संबंध में पाठकों के विचारार्थ अधिक कुछ न लिखकर यहां एक उद्धरण मात्र दिया जाना ही उपयुक्त है।

'भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए जो बड़े ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति श्रुत एवं अवधिज्ञान के धारक थे। ·····पार्श्व संवत् १६६ से २५० तक आपका कार्यकाल बताया गया है। आपने ही अपने उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया।······आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्वाण संवत् ११६ से २५० तक अर्थात् ८४ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और अन्त में···मुक्त हुए।' इसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथ

के चार पट्टधर भगवान पार्श्वनाथके निर्वाणबाद के २५० वर्षों में मुक्त हुए।...इस सबंध मे वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशी और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाले केशीकुमार श्रमण एक न होकर अलग अलग समय मे दो केशि श्रमण हुए है।'

'आचार्य केशी जो कि भगवान पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गए है उनका काल 'उपकेशगच्छ पट्टावली' के अनुसार पार्श्वनिर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है। इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी मे दूसरे केशीकुमार श्रमण और गौतम गणधर का समिलन भगवान महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है। इस प्रकार प्रथम केशी श्रमण का काल महावीर के छद्मस्थकाल तक का ......ठहरता है।'

'इसके अतिरिक्त रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी प्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है तथा जिन केशि श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उनके उत्तराध्ययन सूत्र मे तीन ज्ञान का धारक बताया गया है [केशीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ओहिनाणसुए उत्तरा, अ० २३]।

ऐसी दशा मे प्रदेशी प्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशीश्रमण जोमहावीर के छद्मस्थ काल मे हो सकते है, उनका महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बाद तीन ज्ञान के धारक रूप मे गौतम के साथ मिलना किसी तरह युक्ति सगत और सभव प्रतीत नही होता।'

—जैनधर्म का मौलिक इतिहास आ० हस्तीमल जी महाराज। पृ० ३२८-३१

इसमे सदेह नही कि निर्ग्रन्थो का अस्तित्व बुद्ध से पूर्व विद्यमान था। और जैसी कि कई इतिहास अन्वेषियों की धारणा है कि म० बुद्ध ने पार्श्वनाथ के धर्म को स्वीकार किया था, और बाद को छोड़ दिया। सो यह भी ठीक हो सकता है। पर यह कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम को अपनाया था। यह तो सभव है कि बुद्ध को अहिंसा आदि के स्रोत (जिन्हे चातुर्याम कहा जा रहा है) पार्श्व से मिले हों पर, यह कैसे कहा जा सकता है कि जो पार्श्व के थे वे सभी बुद्ध ने अपना लिए या जान लिए हो। हो सकता है और जैसा देखा भी जा रहा है कि बौद्धो मे चार संख्या की भरमार रही है। अतः उन्होंने पार्श्व के धर्म को भी चार की अपेक्षा मे देखा हो और पार्श्व के धर्म को चातुर्याम नाम दे दिया हो। अन्यथा वस्तुत. तो इसका स्पष्टीकरण 'चातुज्जाम सवर संजुत्तो' प्रसग मे जैसा हो रहा है, वैसा स्वीकृत होना चाहिए।

अजात शत्रु ने बुद्ध को बतलाया कि वह स्वय निगण्ठनाथपुत्त (महावीर) से मिले और महावीर ने उनसे कहा कि—निर्गंथ 'चातुर्याम सवर सवृत' होता है। अर्थात् वह (१) जल के व्यवहार का वारण करता है, (२) सभी पापों का वारण करता है (३) सभी पापो का वारण करने से धुतपाप होता है (४) सभी पापो का वारण करने मे लगा रहता है। अतः वस्तुस्थिति यह भी हो सकती है कि चातुर्यामसवर के स्थान मे लोगो ने 'सवर' शब्द छोड़ दिया हो और कालान्तर मे 'चातुर्याम' से अहिंसा आदि को जोड़ दिया हो। अन्यथा चातुर्यामसंवर' के स्थान पर 'चतु. सवर' ही पर्याप्त था। 'याम' का कोई प्रयोजन ही नही दिखाई देता। अत. फलित होता है कि ऊपर कहे गए 'चातुर्तामसंवर' के अतिरिक्त अन्य कोई चातुर्याम नही थे।

बौद्ध ग्रन्थों मे अनेक प्रसंगो मे चार की संख्या उपलब्ध होती है। कई में तो [कथित-प्रसिद्ध किए गए] चार यामों से पूरी पूरी समता भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे 'चार कर्मक्लेश' 'चार पाराजिक' और चार आराम पसन्दी इत्यादि।

(१) **चार कर्मक्लेश**—इनका वर्णन 'दीघनिकाय' के सिलोगवाद सुत ३१८ में किया गया है। वहा चारों के नाम इस प्रकार गिनाए गए है—१. प्राणिमारना २ अदत्तादान ३. झूठ बोलना ४. काम।

(२) **चार पाराजिक**—इनका वर्णन 'विनयपिटक' में इस प्रकार है—१. हत्या, २ चोरी ३. दिव्यशक्ति (अविद्यमान) का दावा, ४. मैथुन।

(३) **चार आराम पसन्दी**—इनका वर्णन 'दीघनिकाय'

(शेष पृ० २८ पर)

जिन दर्शन

☐ श्री बाबूलाल जैन, दिल्ली

जिनदर्शन का बहुत महत्व है। वास्तव मे जिनदर्शन क्या है, इसका विचार करना है। जिनदर्शन का अर्थ मूर्ति का मात्र दर्शन करना नही। पहली बात तो यह है कि जो लोगभगवान को कर्त्ता-सृष्टा मानते है उनके जिन दर्शन हो ही नहीं सकता। जैन दर्शन को कुछ लोगो ने नास्तिक बताया है। कहा गया है कि जैनी लोग भगवान को कर्त्ता नहीं मानते इसलिए नास्तिक है। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा रूप हुआ कि जैनी लोग भी भगवान को कर्त्ता-सृष्टा मानने लगे और इसी प्रकार का रूपक चल पड़ा। फल यह हुआ कि वास्तविक अध्यात्मिक रूप हमारे हाथ से छूट गया। जैन दर्शन वह दर्शन है जिसमे कि हरेक व्यक्ति को अपना भाग्य विधाता बताया गया है, वह अपने अच्छे-बुरे का आप ही मालिक है। कोई ईश्वर ऐसा नही जो उसकी प्रेरणा करता हो, उसको फल देता हो, उसका अच्छा-बुरा करता हो, या वह उसके अधीन हो। लोग ज्यादातर भगवान की भक्ति करते है। वह इसी अभिप्राय को लेकर करते है कि भगवान प्रसन्न होने से हमें धन-वैभव देगा और नाराज होने से नरक में डाल देगा। इसी भय और लोभ के कारण भगवान की सत्ता बनी हुई है। जिस रोज यह भय और लोभ हट जाएगा उस रोज शायद भगवान की सत्ता भी न रहे। समूचे धर्म, समूची पूजा, समूचे आचरण का आधार एक मात्र नरक का डर और स्वर्ग का लोभ है।

इसलिए सबसे पहली बात यह है कि भगवान में कर्त्तापना नही होना चाहिए। अगर कोई जिनेन्द्र को कर्त्ता मानकर पूज रहा है तो वह जिनेन्द्र की मूर्ति पूजते हुए भी रागी देव का पूज रहा है, क्योंकि उसने अपनी मान्यता म उसे रागी माना है। एक कपड़े का धागा रखने पर अगर वह जिनेन्द्र प्रतिमा नही रहती तो कर्त्तापना रहने पर वह जिनेन्द्र प्रतिमा कैसे रह सकती है? जिनेन्द्र को कर्त्ता मानने वाले ने जिनेन्द्र की स्तुति नही की है, उसकी निन्दा की है। वीतरागी को रागी कहना स्तुति कैसे हो सकती है? यह तो निन्दा है। इसलिए सबसे जरूरी बात यह निर्णय करना है कि भगवान मेरा कुछ नही कर सकता। वस्तविक रूप से देखा जावे तो भगवान जो शुद्ध आत्मा है वह तो सिद्धशिला पर विराजमान है और अपने अनन्त आनन्द में मग्न है। अगर वह पर की चिन्ता करने जाय तो उसका अनन्त आनन्द नष्ट हो जावे। सामने वेदी मे हमने पाषाण पर उनके स्वरूप की स्थापना

(पृष्ठ २७ का शेषांश)

पासादि सुत्त में है—भ० बुद्ध कहते है कि—१. कोई मूर्ख, जीवो का वध करके आनंदित होता है २. कोई झूठ बोलकर आनंदित होता है ३. कोई चोरी करके आनंदित होता है ४. कोई पाच भोगों से सेवित होकर आनंदित होता है। ये चार आराम पसन्दी निकृष्ट है।

उक्त सभी प्रसंग चातुर्याम से पूर्ण मेल खाते है और यह मानने को वाध्य करते हैं कि चातुर्याम पार्श्वनाथ के नही अपितु भगवान बुद्ध के हो सकते है जो 'चातुर्यामसंवर रूप में कहे गए है। जो भी हो उक्त स्थिति मे इसी बात को बल मिलता है कि पार्श्व के पंच महाव्रत थे, चातुर्याम नही।'[1] विद्वान् विचार करें।

वीर सेवा मन्दिर,
२१, दरियागज, नई दिल्ली-२

☐ ☐ ☐

---

१. 'जहा तक हम जानते है कि पार्श्व और महावीर धर्म के उक्त भेद की चर्चा का दिगम्बर जैन साहित्य मे कोई सकेत तक नही है।' —जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० २७६ (प्रथम सस्करण)

अपने अवलम्बन के लिए कर रखी है। वह भगवान हमारा भला-बुरा कर दे यह सवाल पैदा ही नही होता, चाहे वह चांदनपुर का महावीर स्वामी हो, चाहे और कोई हो।

सवाल पैदा होता है कि इस प्रकार की स्तुतिया बड़े-बड़े विद्वानों ने और आचार्यों ने बनाई है। वे क्या गलत है? उसका उत्तर है कि वे स्तुतिया गलत नही है, वे स्तुतिया व्यवहार दृष्टि से की गई है; जैसे अगर हम शिखर जी के पहाड़ पर जावें और रास्ता भूल जावें और वहा कोई निशान हो अथवा कोई आदमी खड़ा हो, वह हाथ का इशारा कर रहा हो, उस इशारे को देखकर अगर हम रास्ता समझ ले और उस रास्ते से नीचे अपने घर मे आ जावें, तब हम कहते है कि उस आदमी ने हमे घर पहुचा दिया और उस व्यक्ति का उपकार भी मानते है। वस्तुतः वह आदमी हमको कन्धे पर उठाकर नही लाया है। हम अपने पैरों से चलकर आए है, परन्तु कहते यही है कि उसने हमे घर पहुंचा दिया। इसी प्रकार ये हम जब जिनेन्द्र का गुणानुवाद गाते है, उससे हमारे परिणामो मे सरलता आती है, जिससे पाप-प्रकृति का नाश होकर पुण्य प्रकृति का उदय आता है। तब हम कहते है कि हे भगवान, आपने हमारा भला कर दिया अथवा अमुक काम कर दिया। वहा पर हमे वस्तु को ठीक स समझ कर अर्थ करना चाहिए। व्यवहार मे आदमी बडा हो जाता है परन्तु कहते यही है कि कपड़ा छोटा हो गया। वहा तो हम उसका अर्थ ठीक समझते है कि कपड़ा छोटा नही हुआ, पहनने वाला बड़ा हुआ है। अगर वहा पर सीधा अर्थ करके यह समझें कि कपड़ा छोटा हो गया तो विपरीतता हो जाएगी। वैसी ही बात यहा पर है — यहा पर हम सीधा अर्थ करके अनर्थ को प्राप्त हो जाते है। तब सवाल उठता है कि ऐसी स्तुति क्यो की? इसका उत्तर है कि तत्वज्ञानी तो कोई-कोई होता है, वह तो ऐसी स्तुति करने पर भी अर्थ ठीक समझ जाएगा और अज्ञानी कम-से-कम कर्त्ता समझकर भी इसमे लगेगे तो आगे चलकर तत्व समझकर इसको ठीक समझ लेगे, ऐसा मन मे अवधारण कर व्यवहार दृष्टि से स्तुति की गई है।

दूसरी बात यह है कि स्तुति कुछ शरीर आश्रित की जाती है, कुछ बाहरी पदार्थों के आश्रित की जाती है, कुछ आत्म आश्रित गुणो के आधार की जाती है। यहां पर सभी बातो को आत्मा की मान लें तो असमान जातीय दो द्रव्यों मे एकत्व-बुद्धि होकर मिथ्यात्व की पुष्टि हो जाती है। इसी स्तुति को पढ़ते हुए, करते हुए, यह समझना चाहिए कि यह तो आत्मा का गुण है और यह 'पर' के सयोग को लेकर कथन है, वह आत्मा का गुण नही है; जैसे किसी राजा का कथन करते हुए यह कहा जाता है यह गुणवान है, दयालु है, न्यायप्रिय है। यह तो उसके गुणो का कथन है। परन्तु उसके शहर की सुन्दरता का वर्णन करना, बाग-बगीचो का कथन करना, वह राजा का कथन नही परन्तु उससे साबित यह होता है कि राजा कलाप्रिय है। ऐसा ही अर्थ भगवान की स्तुति मे लेना चाहिए। कही शरीराश्रित कथन है, कही मा-बाप के आश्रित कथन है, कही समोशरण के आधार कथन है, ये सब भगवान की आत्मा के गुण नही है। इस प्रकार स्तुति-पूजा करते हुए ठीक से समझकर करे तो ठीक है। भगवान की मूर्ति के द्वारा हमे उस मूर्तिवान को देखना है जो सिद्धशिला पर विराजमान है और शक्ति रूप मे इस शरीर मे विराजमान है; जैसे चील उडती आकाश में है परन्तु लक्ष्यभेद करती जमीन पर है, इसी प्रकार देखना है मूर्ति को और लक्ष्यभेद करना है अपने मे जहा चैतन्य विराजमान है। इस मूर्तिदर्शन के द्वारा आत्मदर्शन करना है। अगर आत्मदर्शन न करके मूर्तिदर्शन ही करता रहा तो कार्य की सिद्धि नही होगी।

हम मन्दिर मे मूर्ति पूजने नहीं आते, हम तो जिनेन्द्र बनने को आते है। भीख मांगने को नही आते। मूर्ति के सामने खड़े होकर जिस रोज हम कहेगे कि भगवान? हम भी भगवान बनकर रहेंगे, उसी रोज वास्तविक दर्शन होगा। वह कहता है कि हे भगवान! फिर दर्शन देना। यहा पर बात यह है कि फिर दर्शन की जरूरत ही न रहे। जब तक अंग्रेजों को कहते रहे कि हमे स्वराज्य दे दो, उन्होने नहीं दिया। परन्तु जब यह कहा कि हम स्वराज्य लेकर रहेंगे, उस रोज स्वराज्य मिल गया। यहा भगवान सर्वज्ञ कहते है कि परमात्मा होना तेरा जन्मसिद्ध अधिकार है,

तू परमात्मा हो सकता है। परन्तु वह मान रहा है कि नहीं महाराज ! मुझे तो आपकी सेवा ही करनी है। जो भगवान होना चाहता है, उसके हृदय में स्वाभाविक भक्ति भगवान के प्रति होगी ही, परन्तु भिखमगापना नही रहेगा। यहां तो यह कहा जा रहा है कि मैं भगवान बन कर रहूंगा वहां भीख मागना नही है।

मूर्ति के सामने जब हम जाते है तब जैसे किसी का छाता देखकर या चश्मा देखकर हमे अपना छाता या चश्मा याद आ जाता है और फिर हम उपकार से उसको कहते है कि तुमने मुझे अपना चश्मा याद दिला दिया। वस्तुतः देखा जाए तो वह कहता है कि मैने क्या किया ? मैं तो अपना चश्मा लेकर जा रहा था, उसको देखकर अगर तुम्हे अपना चश्मा याद आ गया अथवा तुमने अपना चश्मा याद कर लिया तो इसमे मेरा क्या है ? इसी प्रकार, हम भी उस मूर्ति को देखकर अपने स्वरूप को याद कर लें तो उपकार से कहते है कि हे भगवन् ! आपने मुझे अपना स्वरूप याद दिला दिया। इसलिए रोज दर्शन करना जरूरी है जिससे उनका स्वरूप देखकर अगर अपने स्वरूप की याद आ जावे तो सम्यक्‌दर्शन हो जावे। जितने भी बाहरी निमित्त होते है वे कार्य कर दे यह उनकी सामर्थ्य नही होती, उनको निमित्त बनाकर हम कार्य कर लें ऐसा वस्तुतत्त्व है। हमे सोचना है कि स्त्री ने राग करा दिया अथवा स्त्री का आश्रय लेकर हमने राग कर लिया है। दोष स्त्री का है कि हमारा ? इस बात को जिस रोज समझेंगे तब पुरुषार्थ जागृत होगा। यहा निमित्तपन का निषेध नही, परन्तु गलती निमित्त की नही, हमारी है। इसलिए निमित्त से राग-द्वेष अथवा उसको भला-बुरा कहने का कोई प्रयोजन नही है। गलती हमारी है, हमने उसका निमित्त बनाया है, यह हमारा चयन है, चुनाव है। हम किसको निमित्त बनावें यह हमारी स्वाधीनता है, पराधीनता नही। यही बात देवदर्शन में है। हम उसको आत्मदर्शन मे निमित्त बनावें अथवा अन्य किसी कार्य के लिए। सम्यक्‌दर्शन तभी होगा जब हम आत्मदर्शन मे उसको निमित्त बनायेंगे। बनाना हमे पड़ेगा। लकड़ी है, उसका सहारा लेकर हम चल भी सकते है और उससे किसी को मार भी सकते हैं, उसको जला भी सकते हैं। ये सब शक्तियां उस वस्तु की उसमें हैं, यह हमारा चुनाव है कि हम उसे किस कार्य मे निमित्त बनाते है।

भगवान की मूर्ति आत्मा का शुद्ध स्वरूप है और हमारी आत्मा अशुद्ध स्वरूप है। जैसे कसौटी पर एक असली सोने की लकीर लगाई जाती है, एक मिलावटी की और जौहरी यह नक्की करता है कि इसमे कितना बट्टा है। बट्टा माने खोट, जो ग्रहण करने योग्य नहीं है और अगर वह खोट निकाल दी जावे तो दोनों लकीरें समान हो जाएंगी। ऐसी मूर्ति के सामने जाकर हमें देखना है कि हमारे मे कितना बट्टा है ? जिस रोज वह बट्टा समझ मे आ जाएगा, भेद विज्ञान हो जाएगा। सोने से खोट वही दूर कर सकता है जिसने पहले सोने और खोट के भेद को जान लिया है।

एक वृक्ष पर एक पका आम लगा है और एक कच्चा आम लगा है। कच्चा आम कह रहा है पके आम को कि तुम और मैं एक ही वृक्ष के, एक ही जाति के आम है, तुम भी पहले कच्चे थे और कच्चे से ही पक्के आम हुए हो और मुझमे भी पका आम होने की शक्ति है। पका आम होकर रहूंगा। यहा भक्त भगवान को कह रहा है कि आपकी और मेरी एक ही जाति है, आप मे और मुझमें क्या फर्क है ? द्रव्य दृष्टि से वस्तुत. तो कोई फर्क है नही, गुणो की अपेक्षा भी कोई फर्क नही। आप भी अनन्त गुणात्मक है, मै भी अनन्त गुणात्मक हू; आप से मेरे मे एक गुण भी कम नही है; आप भी असंख्यात प्रदेशी है और मैं भी असंख्यात प्रदेशी हू। आप मे और मुझ मे फर्क मात्र इतना है कि आपके गुणो का पूर्ण विकास हो गया है, आपकी पर्याय शुद्ध रूप हो गई है, मेरे गुणो का पूर्ण विकास हुआ ही नही है, मेरी पर्याय अशुद्ध है। परन्तु मुझमे भी अपनी पर्याय को शुद्ध करने की शक्ति है और मै भी अपनी पर्याय शुद्ध करके रहूगा। आपमे और मुझमे समय की अपेक्षा से मात्र एक अंतर्मुहूर्त का फर्क है। अगर मै अपना पूरा पुरुषार्थ करूं तो एक अंतर्मुहूर्त में अशुद्ध पर्याय से शुद्ध पर्याय कर सकता हू। इस प्रकार से जो कोई भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपना मिलान

करता है, वह भेद विज्ञान को प्राप्त होता है। जब शेर और हाथी का जीव भगवान पार्श्वनाथ और महावीर हो सकते है तो हम अगर भगवान महावीर बन जावें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

ये पंच परमेष्ठी हमे अपने आत्मतत्त्व की खबर देने वाले है। इनके प्रति जो हमारी भक्ति है, वह वास्तव मे इनके प्रति नहीं, परन्तु अपनी चेतन आत्मा के प्रति ही भक्ति है। जब हनुमान सीता की खबर लेने गये और खबर लेकर आये तब उनका प्रसन्न मुख देखकर राम समझ गये कि खबर लग गई है। तब राम बैठे नही रह सके, उठकर आगे चले और जाकर हनुमान को छाती मे लगा लिया। यहां पर यह अनुराग हनुमान के प्रति नही था, परन्तु यह अनुराग सीता के प्रति था और हनुमान उसकी खबर लाया था, इसलिए यह हनुमान के द्वारा व्यक्त किया जा रहा था। जैसे कोई पहले कलकत्ते से राजस्थान जाता था तो गाव मे कई रोज तक वे लोग जिनके सम्बन्धी कलकत्ते रहते थे उसको अपने घर बुलाते थे और उसका बडा आदर सत्कार करते थे। वास्तव मे वह आदर-सत्कार उसका नही था बल्कि उनके प्रियजन की खबर का था। इसी प्रकार ये पंच परमेष्ठी हमे अपने चैतन्य स्वभाव की खबर देने वाले है, उनमें भक्ति दिखाकर उनके माध्यम से हम अपने चैतन्य के प्रति ही अनुराग प्रगट कर रहे है।

भगवान की मूर्ति को अगर अच्छे ढग से देखा जाए तो यह पंच महाव्रत के स्वरूप को दिखा रही है। वह कह रही है कि जो व्यक्ति अंतरग मे अपने निज स्वभाव मे रमण करता है उसके बाहर मे इस प्रकार का रूप रहता है। कोई हिंसारूप मन-वचन-काय की क्रिया नहीं रहती। जो वास्तविक सत्य, त्रिकालक सत्य स्वभाव मे रमण करता है, उसके बाहर सत्य और असत्य रूप कोई व्यापार नहीं रहता, वह दोनों से ऊँचा उठ जाता है। जो निज स्वभाव मे ठहरता है, उसके बाहर मे 'पर' छूट जाता है। जो निज ब्रह्म की चर्या को प्राप्त होता है उसके बाहर अब्रह्म नही रहता, वह उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य को प्राप्त होता है और जो निज आत्मनिष्ठ हो जाता है उसके बाहर मे 'पर' का ससर्ग नही रहता। इस प्रकार, अतरग और बहिरंग दोनों प्रकार के पच महाव्रत के स्वरूप को अगर एक दृष्टि मे समझना हो तो वह इस मूर्ति मे समझ सकता है। इसको समझने मे कोई भाषा की जरूरत नही; जैसे मोटर मे जाते हुए अगर भोपू का निशान लगाकर वहा पर क्रास लगाया गया है तो हरेक व्यक्ति उसे अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेता है कि यहां भोपू बजाना मना है। उसे समझने के लिए किसी भी भाषा के ज्ञान की जरूरत नही है। ऐसे ही यह जिनेन्द्र की मूर्ति के दर्शन से, जो भाषा का जानकार नही है वह भी पचमहाव्रत के स्वरूप को—दशलक्षण धर्म के स्वरूप को निश्चय और व्यवहार रूप एक साथ समझ सकता है। कहा जाता है कि भगवान उमास्वामी कही आहार लेने गये थे। वहां दीवार पर लिखा था दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। आचार्य ने उसके आगे सम्यक् शब्द जोड दिया। जब श्रावक घर आया तो उस शुद्धि को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उस साधु को खोजने जंगल में गया। वहाँ दोपहर के समय भगवान उमास्वामी पाच सौ शिष्यों के बीच बैठे दोपहर की सामयिक कर रहे थे। उन्हे दूर से देखकर, यद्यपि उमास्वामी शब्दो मे कुछ नही कह रहे थे, उनके स्वरूप को देखकर, उनकी आकृति मे ही अन्तरग सम्यक्दर्शन का स्वरूप समझ मे आ गया। इस प्रकार, अपने निज स्वभाव को जानकर जब आत्मा, आत्मा मे अन्तर दृष्टि को प्राप्त होता है तो बाहर मे ऐसा रूप रहता है। जब वह श्रावक इस बात को आकृति देखकर समझ सकता है तो हम जिनेन्द्र की मूर्ति की आकृति देखकर रत्नत्रय के स्वरूप को क्यो नही समझ सकते।

मूर्ति की नासाग्रदृष्टि है, वह बहिरंग दृष्टि नही है। वह दृष्टि बता रही है कि बाहर मे कुछ नहीं, बाहर मे आनन्द नही, बाहर से सुख आने का नही। परन्तु जब यह आत्मा शरीर से भिन्न, शरीर से दृष्टि हटाकर अपने आप मे दृष्टि लगाता है तो अतुल आनन्द को प्राप्त होता है। अगर हम अपनी कसौटी पर दुनिया के सभी भगवानो को कसकर देखें और इस दृष्टि से देखें कि हमे ऐसा बनना है क्या, तो हम अपने आप जवाब मिल जाएगा। सुख का वास्तविक स्वरूप समझना है तो यह मूर्ति बताती है कि जब स्व का आश्रय लेकर, बाहर से दृष्टि हटा कर,

अन्तर में मग्न होता है तो यह आत्मा अनन्त सुख का भोक्ता होता है। असल मे यह परम आनन्द की मूर्ति है।

आत्मा बाहर से हटकर, अन्तर्दृष्टि होकर, निज से निजस्वरूप को वेदता है तब यह रत्नत्रय की एकता को प्राप्त होता है, अन्तर मे, स्वरूप मे मग्न होता है, बाहर में 'पर' से हटता है। यही बात दशलक्षण धर्म की है। उतम क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि का असर स्वरूप ठीक से समझना हो तो इस मूर्ति को देखना होगा। वही व्यक्ति उत्तमक्षमादि धर्म को प्राप्त हो सकता है जो भीतर मे इस प्रकार अपने आप में मग्न होना है। इसके बाहर में न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है।

मूर्ति यह कह रही है कि हे संसार के प्राणी ! अगर तुझे मेरा जैसा अनन्त सुख चाहिए तो मेरी तरह 'पर' से हटकर, बाहर से हटकर, अपने आप में मग्न हो जा। मात्र मेरे पूजने मे काम नही चलेगा। मेरी वास्तविक पूजा तो यही है कि तू मुझे देखकर मेरी तरह अन्तरमग्न हो जा; जैसे अगर हम एक लकडी को ऊँची जगह रख लें और उसके आगे दीप-धूप जलाते रहे तब भी हमे चलना नही आ सकता, हम अपने इष्ट स्थान को प्राप्त नही हो सकते। उसकी जगह अगर हम लकडी का सहारा लेकर चलने का उपाय करें तो चल सकते है। लकड़ी कहती है कि मेरी असली पूजा तो यही है; तू मेरा सहारा लेकर चल और फिर मेरे सहारे की भी जरूरत न रहे। परन्तु हमने जहा मूर्ति के द्वारा आत्मदर्शन करना था वा उसकी मात्र पूजा करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। यह ठीक है जो वैसा बनना चाहेगा उसके भीतर उसकी भक्ति तो पैदा होगी ही, परन्तु मात्र भक्ति करने वाला वैसा नही बन सकेगा।

भगवान का दर्शन करते हुए यह वर्तमान हीन पर्याय अपने चैतन्य स्वभाव से कहती है कि हे चैतन्य, जो पर्याय तेरे सम्मुख होती है वह दुःख रूप से, हीनता से, बदली होकर उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाती है। असल मे भगवान की जो स्तुति है वह भगवान के सम्मुख होकर, अपने चैतन्य स्वभाव की स्तुति वर्तमान पर्याय करती है और वह कहती है कि जो तेरा याने निज स्वभाव का आश्रय लेता है, उसकी पर्याय दुःख रूप नहीं रहती, सुख रूप हो जाती है। भगवान के माध्यम से स्तुति तो निज स्वभाव की ही करनी है।

पहले 'दासो अहम्' होता है, फिर 'दा' चला जाता है 'सो अहम्' रह जाता है। यह अहम् 'पर' मे नही, निज स्वाभाविक अहम् होता है। □ □ □

सन्मति विहार, दरियागंज, दिल्ली।

वातरशना मुनियों की परम्परा

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद (१०, १३६, २) में न केवल मुनियों का उल्लेख है किन्तु उनको, या उनकी एक विशेष शाखा को, वातरशना मुनि कहकर उनकी वृत्तियों का विवरण भी दिया गया है। ये मुनि मलधारी अर्थात् शरीर को पसीने आदि से मलिन होते हुए भी स्नानादि के प्रति उदासीन थे जिससे वे पिशंग, पिंगलवर्ण दिखाई देते थे। वे मौन रहते थे, और ध्यान में तल्लीन रहने के कारण उन्मत्त दिखाई देते थे। वे वायु 'श्वासोच्छ्वास को प्राणायाम द्वारा' रोककर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते थे। मर्त्यलोक उनके बाह्य शरीर मात्र को देख पाते थे, अंतरात्मा को नहीं। मुनियों के साथ 'वातरशना' विशेषण, ऋषि-पृथक् वैराग्य, अनासक्ति मौनादि वृत्तियों वाले मुनियों को विशेष अर्थ देता है। वातरशना (वात=वायु, रशना=मेखला) से अर्थ है जिनका वस्त्र वायु हो अर्थात् नग्न। वातरशना जैन परम्परा के लिए नितान्त परिचित शब्द है। जिनसहस्रनाम में उल्लेख आता है—

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशोनिरम्बरः। —महापुराण २५, २०४

वस्तुतः वातरशना, दिग्वासा, निर्ग्रन्थ और निरम्बर पर्यायवाची शब्द है, और नग्न या दिगम्बर स्वरूप को प्रकट करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना के समय दिगम्बर मुनि परम्परा विद्यमान थी और ऐसे मुनियों की ऋषि सम्प्रदाय में इतनी प्रतिष्ठा थी कि वे देवता तुल्य माने जाते थे और इन्द्रादि देवों के समान उनकी स्तुति व वंदना की जाती थी।

—डा० हीरा लाल जैन (जैनिज्म थ्रू एजेज)

साहित्य-समीक्षा

१. **साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो**—पं० उदय जैन। प्रकाशक—श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड (उदयपुर) राजस्थान। पृष्ठ संख्या : २४४, प्रकाशन वर्ष १६७६; मूल्य : पाच रुपया।

इस ग्रन्थ में जानेमाने समाजसेवी, अनुभवी अध्यापक एवं प्रबुद्ध विचारक पं० उदय जैन के धर्म, समाज एवं शिक्षा से सम्बन्धित चालीस लेखों का उत्कृष्ट संकलन है। उनके इस संचयनगत प्रायः सभी लेख विभिन्न जैन पत्रिकाओं मे प्रकाशित हो चुके है। इन लेखों में रूढिगत परम्परा एवं चिन्तन के प्रति विद्रोह, सम्प्रदायातीत समाज की स्थापना एवं आग्रह और रूढिमुक्त मगलकारी समाज का स्वप्न निहित है। इन लेखो मे एक ओर तो जैनों की परस्पर मैत्री, उनके सामाजिक और वैयक्तिक चरित्रोत्थान तथा सुधारोन्मुख चेतना के स्वर विद्यमान है, वहा ऐसे लेख भी निबद्ध है जिनका चिरन्तन और शाश्वत महत्व है, और यशस्वी रचनाकार की बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक है। भागो नही, पकड़ो; स्त्री मुक्ति . एक यथार्थ निर्वाण शताब्दी वर्ष की इतिश्री; साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो, जैसे लेख निश्चय ही पं. उदय जैन की क्रान्तिधर्मिता के द्योतक है।

भाषा सरल, प्रवाहमय एवं प्रभावोत्पादक है। पुस्तक का मूल्य उचित है। —गोकुल प्रसाद जैन, सम्पादक

२. **नेमिनाथ महाकाव्यम्** (हिन्दी अनुवाद सहित)—मूल रचनाकार—खरतर-गच्छाचार्य श्री कीर्तिरत्न सूरि, सम्पादक-अनुवादक—डा० सत्यव्रत; प्रकाशक श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर एवं नाहटा ब्रदर्स, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता—७; पृष्ठ २४६; प्रकाशन वर्ष : १६७५; मूल्य दस रुपया।

१५वी शती में रचित यह संस्कृत महाकाव्य १२ सर्गो में विभक्त है। इससे पूर्व भी यह हर्ष विजय की सरलार्थ प्रकाशिका टीका के साथ विजय धनचन्द्र सूरि ग्रन्थ माला से तथा यशो विजय जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित हो चुका है, किन्तु अब ये प्रकाशन अप्राप्य है। इस दृष्टि से भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित यह ग्रन्थ इस प्रकाशन के अभाव की पूर्ति करता है।

यह महाकाव्य कविवर कीर्तिरत्न सूरि के लोकानुभव की व्यापकता और अपूर्व साहित्यिक प्रतिभा का परिचायक है तथा इसमें कविवर के जीवन काल की सवत् १५०२ मे लिखित महिमा भक्ति ज्ञान भण्डार, बीकानेर की प्रति के आधार पर, प्रामाणिक सशोधित पाठ दिया गया है। साथ ही पुस्तक के अन्त मे, सर्ग-क्रम से हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के आरम्भ मे डा० सत्यव्रत ने इस महाकाव्य का व्यापक ३८ पृष्ठों मे निबद्ध समीक्षात्मक विश्लेषण भी दिया है, तथा सुप्रसिद्ध मनीषी श्री अगरचन्द नाहटा ने आचार्य रत्न का जीवन परिचय और उनकी रचनाओं के नमूने दिए है। इसी प्रकार, पुस्तक के अन्त मे इस महाकाव्य गत सुभाषित संग्रह और प्रकारादिक्रम मे पद्यानुक्रमणिका दी गई है। इस सब सामग्री के कारण इस ग्रन्थ की उपयोगिता एव उपादेयता मे अतीव वृद्धि हुई है।

— गोकुल प्रसाद जैन, सम्पादक

महौषधि दान

ऋग्वेद में शिव को भेषज एवं औषधिदाता कहा गया है। वृषभ को जैन शास्त्र-पुराणकारों में जन्म-जरा-मृत्यु आदि सांसारिक व्याधियों से पीड़ित जीवों को धर्मरूपी औषधि प्रदान करने वाला कहा गया है। यहां तक कि महापुराण के अनुसार, जब उनका निर्वाण हुआ तब यह अनुभव किया गया कि एक महौषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्मादि रोगों को नष्ट कर पुनः स्वर्ग में चला गया।

—डा० हीरालाल जैन (जेनिज्म थ्रू एजेज)

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्मरहस्य : पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक---वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३० : किरण २ अप्रेल-जून १९७७

वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसा

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-९०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्मरहस्य : पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३० : किरण २ अप्रेल-जून १९७७

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसा

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन जागरण के प्रेरक-१

श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल, दिल्ली

□ श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री पन्नालाल जी अग्रवाल व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं। वह विशेषकर दिल्ली के जैन सांस्कृतिक इतिहास के जीते जागते कोष हैं। इस दिशा में उनका काम अत्यन्त मूल्यवान और श्लाघनीय है। सन् १८७७ की जैन रथयात्रा देहली का इतिहास, उन्हीं की खोज के परिणाम स्वरूप उपलब्ध हो पाया है। देहली की जैन संस्थाओं की सूची पूरे विवरण के साथ अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में अगर आज प्राप्त है तो उन्हीं के सतत अध्यवसाय के कारण। इसके अतिरिक्त, उनकी एक अत्यन्त उपयोगी कृति है 'प्रकाशित जैन साहित्य'। उसमें उन्होंने जाने कहां-कहां से सूचनायें प्राप्त करके यह परिपूर्ण संकलन समाज को प्रदान किया है। शोधकर्ताओं के लिए यह बहुत ही काम का संग्रह है, और इसके लिए उनके श्रम की जितनी स्तुति की जाय थोड़ी है। अनेकानेक जैन एवं जैनेतर विद्वानों से श्री पन्नालाल जी ने निरन्तर अपना सम्पर्क रखकर नवीन रचनाओं और निर्माणों की भूमिका प्रस्तुत की है। देश विदेश के विद्वानों एवं पर्यटकों को उन्होंने यथावश्यक सामग्री सुलभ की है और यथोचित मार्गदर्शन में उनके सहायक हुए हैं। आपके सहयोग से वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई; भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस; चवरे दिगम्बर ग्रन्थमाला, कारंजा; जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर; मद्रास विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय (हिन्दी परिषद) एवं दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत द्वारा अनेकानेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनके पास उन जैन-अजैन, देशी-विदेशी विद्वानों, लेखकों तथा सुधारकों के सैकड़ों पत्र सुरक्षित हैं जिन्होंने पिछले पचास वर्षों में जैन समाज अथवा साहित्य की सेवा में अपना योग दिया है। बैरिस्टर चम्पतराय जी, जे. एल. जैनी, बाबू सूरजभान वकील, महर्षि शिवव्रतलाल वर्मन, ब्र० शीतलप्रसाद, श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी, पंडित नाथूराम जी प्रेमी, बाबू छोटेलाल जी आदि अनेकानेक जैन ऐतिहासिक पुरुषों के पत्रों की उनके पास अमूल्य निधि है जिनसे जैन समाज और जैन जागरण का इतिहास प्रत्यक्ष हो सकता है। दिल्ली के लाल किले में हुए सांस्कृतिक सम्मेलन की साहित्यिक प्रदर्शनी में जैन भण्डारों के कुछ अमूल्य प्राचीन ग्रन्थों और चित्रों का प्रदर्शन उन्हीं के द्वारा सम्भव हुआ। दिल्ली की कई साहित्यिक, सामाजिक तथा शिक्षण संस्थाओं के आप उत्साहशील कार्यकर्ता रहे हैं और अपने कर्तव्यों और दायित्वों का वहां पूरी परायणता से निर्वाह किया है। आप में आत्म प्रदर्शन का भाव एकदम नहीं है और 'गुणिषु प्रमोद' आपका स्वभाव बन गया है। आपके असंख्य लेख, नोट आदि प्रमुख जैन पत्रों में प्रकाशित होते रहे है। आपके सहयोग और सहायता का उल्लेख तो अनगिनत ग्रन्थों में मिलता है। फुटकर रूप से किये गए उनके सेवा कार्यों की तो गिनती ही क्या ? उनकी सूची देने बैठें तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ का ही निर्माण हो सकता है।

आपका जन्म माघ शुक्ला द्वादशी संवत् १६६० को हुआ। पिता ला० भगवानदास जी आपके जन्म के समय नसीराबाद छावनी में थे, पर लालन पालन बचपन से दिल्ली में ही होता रहा। आप निर्लोभ, धर्म परायण और परिवार आदि की ओर से सुखी एवं निश्चिन्त हैं। यश: कामना में प्रवृत न होने के कारण आपकी रचनात्मक प्रवृत्तियों में कभी बाधा नहीं पड़ सकी और अपने युवाकाल के समान आज भी आप साहित्य सेवा एवं साहित्य सेवियों की सेवा में पूर्ववत तत्पर और दत्तचित्त बने हुए है।

□ □ □

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३०
किरण २

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५०३, वि० स० २०३३

अप्रेल-जून
१९७७

पंच परमेष्ठियों का स्वरूप

अर्हन्त स्वरूप

घण-घाइकम्म-रहिया केवलणाणाइ-परमगुण-सहिया ।
चोत्तिस-अदिसअ-जुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७१ ॥

घन-घातिकर्म से रहित, केवलज्ञानादि परम गुणों से सहित और चौतीस अतिशयों से युक्त अर्हन्त होते हैं।

सिद्ध का स्वरूप

णट्ठट्ठ-कम्मबंधा अट्ठ-महागुण-समण्णिया परमा ।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७२ ॥

जिन्होंने आठ कर्मों के बन्ध को नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से संयुक्त, परम, लोक के अग्रभाग में स्थित और नित्य है, वे सिद्ध है।

आचार्य का स्वरूप

पंचाचार-समग्गा पंचिंदिय-दंति-दप्प-णिद्दलणा ।
धीरा गुण-गंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७३ ॥

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य इन पाच आचारों से परिपूर्ण, पाँच इन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलने वाले, धीर और गुण-गम्भीर हैं, वे आचार्य हैं।

उपाध्याय का स्वरूप

रयणत्तय-संजुत्ता जिण-कहिय-पयत्थ-देसया सूरा ।
णिक्कंखभाव-सहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७४ ॥

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से युक्त, जिनेन्द्र के द्वारा कहे गए पदार्थों का उपदेश करने में कुशल और आकांक्षा रहित है, वे उपाध्याय हैं।

साधु का स्वरूप

वावार-विप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥ नियमसार, ७५ ॥

जो सभी प्रकार के व्यापार से रहित हैं, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना में लीन रहते हैं, बाहरी-भीतरी परिग्रह से रहित तथा निर्मोह है, वे ही साधु हैं।

———

शुभ राग की हेयोपादेयता

□ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

गत् १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, कसबा चिलकाना (सुलतानपुर– चिलकाना), जिला सहारनपुर (उ० प्र०) के निवासी अग्रवाल जातीय दिगम्बर जैन पं० ऋषभदास जी एक अच्छे प्रबुद्ध विद्वान, सुकवि एवं सुलेखक हो गये है। पुराने लोगो से उनकी बहुत प्रशंसा सुनी है। दैव-योग से ३४-३५ वर्ष की अल्पायु मे ही उनका निधन हो गया था। हिन्दी और संस्कृत के साथ ही साथ वह उर्दू और फारसी के भी अच्छे विद्वान थे, धर्मज्ञ तो वह थे ही। उर्दू मे उन्होने 'मिथ्यात्वनाशक नाटक' नाम की एक बहुत सुन्दर एव मनोरंजक पुस्तक लिखी थी। हिन्दी गद्य एव पद्य मे भी कई रचनाये बताई जाती है। वि० स० १९४३ (सन् १८८६) मे उन्होंने अपने पितामह ला० सुखदेव जी, पिता कवि मंगलसेन जी तथा एक अन्य बुजुर्ग प० सन्तलाल जी की प्रेरणा से सरस हिन्दी पद्य मे 'पचबालयति-पूजापाठ' की रचना की थी। उक्त पाठ की उत्थानिका के रूप मे उन्होने ३१ पद्यो मे जैनी पूजा विषयक एक रोचक शका समाधान प्रस्तुत किया है, जो मूलरूप मे स्व० आचार्य जुगल किशोर मुख्तार ने 'स्व-सम्पादित 'अनेकान्त' (वर्ष १३. कि० ६ दिसम्बर १९५४ पृ० १६५-१६६) मे प्रकाशित की थी।

प्रथम ३ सोरठो मे विद्वान लेखक ने यह शका उठाई है कि जिनागम मे राग और द्वेष दोनो को ही कर्म-बन्ध का मूल कारण, अतएव त्याज्य कहा है, किन्तु साथ ही जिनपूजा को, जो प्रकट ही 'राग-समाज' अर्थात् बहुलता के साथ रागपूर्ण है, उपादेय एवं कार्य-साधक सिद्धि प्रदाता प्रतिपादित किया है। यह विसगति एव परस्पर विरोध क्यो ? इसका क्या समाधान है ?

आगे के २८ पद्यो मे, जिनमे से ८ दोहे है और शेष अडिल्ल छन्द मे है, एक रूपक द्वारा सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है—

एक वन मे एक घने वृक्ष के नीचे बिल में एक चूहा रहता था, जो बड़ा दीर्घदर्शी, विज्ञ, विचक्षण और गुण-ग्राही था। दैवयोग से एक दिन अपने बिल से निकल कर भोजन की खोज मे वह वन में यत्र-तत्र फिरने लगा, कि अकस्मात् सामने की ओर से एक बिलाव को आता देख कर चकित-चित्त हो लौटने के लिए मुडा, तो देखा कि पीछे से उसकी ताक मे एक नेवला चला आ रहा है। ऊपर की ओर निगाह की तो देखा कि उसी की घात में एक कौआ लगा है। बड़ी सकटापन्न स्थिति थी—देखा कि अब मरण निश्चित है। सोचने लगा कि किस प्रकार जीवन की रक्षा हो—आगे बढ़ता हू तो बिलाव खा जायेगा, पीछे लौटता हू तो नेवला भक्षण कर जायेगा। यही ठहरता हू तो कौआ नही छोड़ेगा, कही भी कोई शरण-स्थान दिखायी नहीं पड़ता ? इस असमंजस मे सोचता हुआ चारो ओर दृष्टि दौड़ा रहा है कि देखा कि एक शिकारी ने बिलाव को अपने जाल मे फँसा लिया है। अब चूहे ने धैर्य धारण किया और चतुराई से बिलाव के निकट पहुचा। बिलाव प्रसन्न हुआ और पूछा, 'कहो कैसे आना हुआ ?' चूहा बोला, हे मार्जार सुन ! यद्यपि तुझे जाल मे बँधा देखकर मैं प्रसन्न होता और तेरे पास फटकता भी नही, किन्तु यदि तू मेरी शर्त स्वीकार करे तो मैं अभी तेरे सारे बन्धन काट दूं। मेरे शत्रु काग और नेवला मेरी घात मे लगे है, उनसे तुम्ही मुझे बचा सकते हो।', मार्जार ने कहा—'चतुर मित्र, उपाय तो बताओ। मुझे तुम्हारी शर्त स्वीकार है, मेरी बात का विश्वास करो।' मूषक बोला—'मित्र, जब मै तेरे पास आऊँ तो तू बड़े हितकारी वचनों के साथ मेरा सन्मान करियो। तेरे ऐसे व्यवहार से वे काग और नेवला मेरी आशा त्यागकर भाग जायेंगे, और मैं प्रफुल्लित मन से तेरे समस्त बन्धन काट दूंगा, विश्वास कर। हम दोनों की

प्राण रक्षा का यही उपाय है।'

बिलाव ने यह सोचकर कि इस चूहे के बिना जीवन रक्षा नहीं है, उसकी बात स्वीकार कर ली, बड़े प्रेम से उसे अपने पास बुला कर उसका आदर सम्मान किया। काग और नकुल भाग गये। चूहा उस ओर से सुरक्षित हुआ, और अब बिलाव का जाल काटने लगा, किन्तु फिर उसके मन में आत्मरक्षा के लिए शंका जागी कि यह बिलाव तो मेरा जातिविरोधी घोर शत्रु है, स्वयं बन्धन मुक्त होते ही क्या यह मुझे छोड़ देगा ?, मार्जार बोला, 'मित्र क्यो शिथिल हो गये ? क्या अपना वह वचन भूल गये और मन में द्रोह करने की ठान ली है ?' मूषक ने उत्तर दिया, आग से कमल भले ही उत्पन्न हो जाय, तो भी मैं कभी भी द्रोह नहीं ठानूंगा। तुझसे ही मुझे शंका है, इसी से काम मे ढीला पड़ गया हूं। मैं सच कहता हूं, तू धीरज रख, मैं तेरे समस्त बन्धन काट दूंगा।' बिलाव ने कहा—'मैंने तो सौगंध खाकर तुझसे मित्रता की है, फिर भी तेरे मन से शंका नहीं गई। तेरा मन शंकित रहेगा तो मेरे बन्धन कैसे काटेगा ? अतः मेरा कहा मान और अविश्वास तज।'

इस पर चतुर मूषक ने कहा—'मैने तो तेरे से प्रयोजनवश-कार्यार्थ प्रेम किया है। निश्चय ही तू मेरा जातिविरोधी और निर्दय है। सो मेरा कर्तव्य तो आत्मरक्षा है उस प्रयोजन की सिद्धि होने तक ही मेरी-तेरी यह कार्यार्थ प्रीति परिमित है। वैसे, अपने वचन का निर्वाह भी मुझे करना ही है। अतः इस द्विविध विषमता से पार पाने के लिए मैंने यह निश्चय किया है कि एक कठिन बन्धन को छोड़कर तेरे अन्य सब बन्धन तो अभी काट देता हूं, तुझे पकड़ने के लिए जब वधिक आयेगा तो तू मुझे भूलकर अपने संकट से व्याकुल हो जायेगा। उस समय मे वह बन्धन भी काट दूंगा। छूटते ही तू भाग जायेगा, और मेरे दुःख का भी अन्त हो जायेगा। अतएव मूषक ने ऐसा ही किया और मार्जार ने भी प्रसन्न हो अपनी स्वीकृति दे दी। उतने मे वधिक आया, उसे आता देख अपने-अपने कार्य सिद्धि की आशा से सभी प्रसन्न हुए। जैसे ही शिकारी पकड़ने के लिए निकट आया, बिलाव आसन्न विपत्ति से व्याकुल हो गया। चूहे ने वह बन्धन भी काट दिया और अपना दाव देख तुरन्त भाग गया।

लेखक कहता है कि—'हे भव्य विचार कर देखो। उक्त प्रश्न का समस्त भ्रान्ति का निरसन करने वाला यह दृष्टान्त ही उत्तर है। इसका भावार्थ है कि यद्यपि सब ही शत्रु त्याज्य है, तथापि उनमे से किसी एक का (जिससे कार्य सध सके) पक्ष ग्रहण करके अन्य सबको तज दे, और जब कार्य सध जाय तो आत्मरक्षा को मुख्यता देकर प्रत्युपकार कर दे, जैसा कि चूहे ने बिलाव के साथ किया। इस सम्बन्ध मे बुद्धिमानो के सुनने समझने योग्य जो विशेष है, जिससे विवाद-बुद्धि छोड़, भ्रम मिटता है, और आत्मा मे खोज बुद्धि उत्पन्न होती है, वह कहता है—

मूषक को जीव समझो, जगत को उसका बिल, नकुल को द्वेष और काग को मोह मान लो। मार्जार राग है जो धर्म रूपी जाल मे बंधा है—पूजा, दानादि उस जाल के बन्धन है। यह जीव सुख भोग की खोज मे मनुष्यगति रूपी वन मे भटकता है। दो शत्रुओं से डरकर बन्धन मे पड़े तीसरे शत्रु का उसने सहारा लिया। पूजादि राग के प्रभाव से द्वेष और मोह का क्षय हो गया और उनके साथ ही दुःख, दोष आदि शेष शत्रु भी पलायन कर गये। पुनः जीव सोचता है कि यदि इस शुभराग का भी पूरा विश्वास करूं तो यह भी पिंड नहीं छोड़ेगा और भववास को और अधिक बढ़ायेगा। मुझे प्रत्युपकार भी करना है, किन्तु तभी जब वह मुझे भवभ्रमर मे न डाल सके।

इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ यह जीव निश दिन अवसर की ताक मे रहता है, और स्वपुरुषार्थ द्वारा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को प्राप्त कर लेता है तो (अर्हन्तरूप मे) आर्य देश में विहार करता हुआ संसार के प्राणियो को हित—उपदेश देता है, तथा जिन पूजा का अतिशय जग मे प्रगट करता है वह नहीं कहता, लोग स्वय ही जान जाते है कि यह अर्हत् पद सातिशय जिन-पूजा का ही प्रभाव है उक्त प्रशस्त राग के प्रति यही जीव का प्रत्युपकार है।

जो व्युत्पन्नमति है वे इस प्रकार मोक्षपद प्राप्त कर लेते है और जो शठमति है वे राग-द्वेष-मोह के जबड़ो में फँसे रहते है। जो लोग जिनपूजादि शुभराग की शरण

(शेष पृ० ४२ पर)

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में छन्द-योजना

□ कु० इन्दुराय एम. ए., लखनऊ

महाकाव्य को महत्ता एव गरिमा प्रदान करने के लिए जैसे भावगत सौंदर्य अपेक्षमान है, वैसे ही उसका कलात्मक वैभव एवं शिल्प-सौष्ठव भी कम अपेक्षणीय नहीं। महाकाव्य के शिल्प को सुष्ठु, सुअलंकृत तथा सुग्राह्य बनाने के लिए भावानुकूल छन्दों का गठन नितांत वांछनीय है। छन्द कविता का परम्परागत एवं अतिरिक्त अलंकार मात्र न होकर, काव्यात्मा की एक महत्वपूर्ण सृष्टि है। यह सृष्टि एक मधुर बन्धन की है जो काव्य के प्रवाह को नियंत्रित कर, भावों में सुव्यवस्था का प्रचार करती है। वस्तुतः 'छन्दोबद्धता काव्य का वह मूलभूत तत्त्व है जो गद्य से उसका व्यावर्तन करता है। अतएव काव्य और छन्द का सहज एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है।"[1]

भारतीय साहित्य में 'छन्द' शब्द का प्रयोग नया नहीं है। सच तो यह है कि 'छन्द' शब्द वेद के पर्याय रूप मे प्रयुक्त हुआ है। वेदों के जो छः अंग स्वीकार किए गए हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष, इनमे छन्द भी एक अंग माना गया है। 'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति 'चदि' धातु से निष्पन्न हुई है, जिसे महर्षि पाणिनी ने 'चदेरादेश्चछः' सूत्र द्वारा व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में, जो हर्ष और दीप्ति प्रदान करता है वही 'छन्द' है।

हिन्दी काव्य साहित्य के सन्दर्भ में छन्द की परिभाषा व्यक्त करते हुए श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने लिखा है—

मत्त वरण गति यति नियम, अंतहि समता बंद।
जा पद रचना में मिले, भानु भनत स्वइ छंद॥

अर्थात् जिस पद-रचना में मात्रा, वर्ण, यति, गति का निश्चित नियम हो एव अंत में तुक साम्य हो अर्थात् अन्त्यनुप्रास हो वही छन्द है।[2] 'भानु' जी की परिभाषा आज भी सर्वमान्य है, केवल अन्त्यनुप्रास का निर्देश मुक्त एवं अतुकांत छन्दों पर चरितार्थ नहीं होता है।

आधुनिक हिन्दी काव्यों की छन्द योजना का विशद अध्ययन करने वाले विद्वान् डा० पुत्तूलाल शुक्ल के शब्दों मे—"छन्द वह वैखरी ध्वनि है, जो प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंग भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ को अभिव्यंजना कर सके"[3] तथा 'छन्द नियमित मुखध्वनि रचना है"[4]। तात्पर्य यह कि प्रत्येक छन्द मनुष्य की सौंदर्यबोध वृत्ति के परिणामस्वरूप सायास रचा जाता है, वह स्वतः उद्भूत नहीं होता।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'छन्द' काव्य का अलंकरण मात्र नहीं, उसका आधारभूत तत्व है। संक्षेपतः छन्द काव्य का अंतरंग पक्ष तथा कविता का सहज माध्यम है। छन्द का नियंत्रण भावावेगजन्य विशृंखलता में व्यवस्था का संचार करता है। छन्द के अभिन्न उपकरणों, यति, गति, लय, तुक आदि से ही काव्य मे समुचित प्रवाह, शब्द विन्यास में भावोद्बोधन की शक्ति तथा अर्थ में प्राणवत्ता व जीवन्तता उद्भूत होती है।

छन्द दो प्रकार के होते है—वार्णिक छन्द तथा मात्रिक छन्द। जिस छन्द में केवल मात्राओं की संख्या का विधान हो, अर्थात् चारो चरणों में एक समान मात्रा हो परन्तु वर्ण क्रम एक-सा न हो वही 'मात्रिकछन्द' है। इसके विपरीत, जिस छन्द के चारों चरणों में वर्ण-क्रम समान हो और वर्णों की संख्या भी समान हो वही 'वर्णिक छन्द' है।[5] वर्णिक छन्दों को वृत्त कहने की प्रथा है क्योंकि 'वृत्त गणों द्वारा क्रमबद्ध हैं जबकि मात्रिक छन्द मुक्त अर्थात् स्वच्छन्द विहारी है"[6]।

---

१. प्रतिमा कृष्णबल—छायावाद का काव्य शिल्प, पृ. ३२

२. जगन्नाथप्रसाद, 'भानु'—छन्द प्रभाकर, पृ.

३. डा० पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० २१   ४. वही पृ० २३

५. क्रम अरु संख्या वरण की, चहु चरणनि सम जोय।
सोई वर्णिक वृत्त है, अन्य मातरिक होय॥
—जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—छन्द प्रभाकर, पृ० ६ (भूमिका)

६. वही पृ० ७ (भूमिका)

वर्णवृत्तों तथा मात्रिक छन्दों के भेद उपभेद है—इन्हें निम्नलिखित तालिका में स्पष्टतः प्रकट किया गया है।[1]
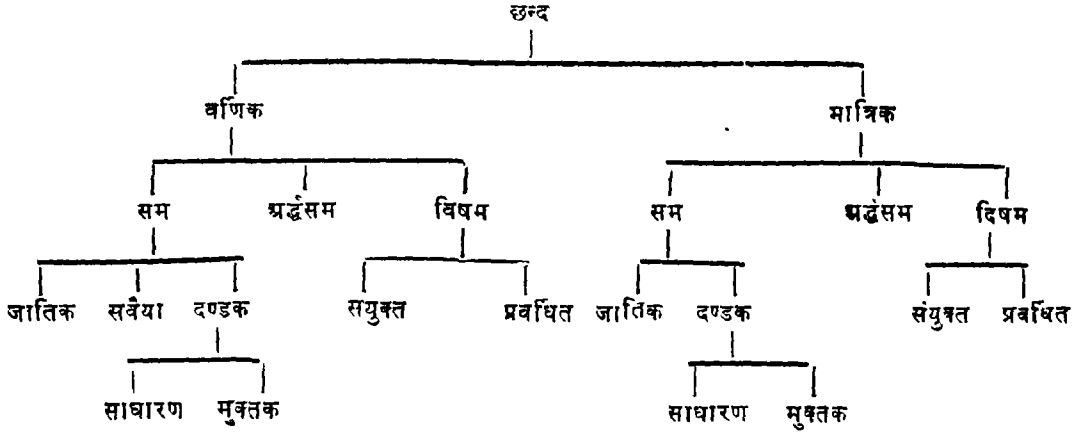
छन्द चाहे वर्णिक हो अथवा मात्रिक, सभी का मूलाधार है स्वरो का लघु अथवा गुरु उच्चारण। श्रवणीय स्वर स्पन्दन से लेकर एक-एक निश्चित उच्चारण तीव्रता तक लघु स्वर (।) माना गया है और उसके ऊपर गुरु (ऽ)। यद्यपि लघु एवं दीर्घ के मध्य निश्चित विभाजक रेखा खीचना कठिन है, तदपि लघु-गुरु के निर्णय का आधार कालमान या बालभार है। इन्ही लघु, दीर्घ मात्राओं की गणना द्वारा छन्द के प्रकार का निर्णय किया जाता है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो की भाँति ही आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यो मे भी वर्णवृत्तो तथा मात्रिक छन्दो दोनो का सफल वा सुष्ठु प्रयोग हुआ है। यह सत्य है कि वर्णवृत्तों का आयोजन मात्रिकों की विपुलात्मक सख्या के समक्ष नगण्यप्राय है; इसका कारण है खड़ी बोली हिन्दी की विश्लिष्टात्मक वृत्ति। 'संस्कृत की भाँति संश्लिष्ट एवं सन्धिसमासबहुला भाषा न होने के कारण हिन्दी में वर्णवृत्त का क्रम बध नही पाता, अतएव उसकी प्रवृत्ति का सहित से व्यवहृत की ओर होना ही वास्तव में, उसमें वर्णिक की अपेक्षा मात्रिक छन्दों के प्रचलन का मूल कारण है।'[2]

भाषा की प्रतिकूलता के कारण ही जैन महाकाव्यों मे वर्णवृत्तों की स्वल्प रचना हुई है। कवि अनूप शर्मा ने 'बर्द्धमान' महाकाव्य मे आद्योपात वृत्तो की सर्जना की है, महाकवि रघुवीर शरण मित्र ने भी महाकाव्य 'वीरायन' मे एकाध स्थलो पर वर्णिक वृत्त का उपयोग किया है। अवशिष्ट हिन्दी जैन महाकाव्यो में केवल मात्रिकों का प्रयोग दृष्टिगत होता है।

वर्णवृत्त

वर्णवृत्त के अध्ययन क्रम में 'गण' का ज्ञान आवश्यक है। तीन अक्षरों के संयुक्त 'त्रिक' को गण कहते हैं। विस्तार भेद की दृष्टि से 'त्रिकल' या त्रिक के आठ रूप हो सकते है। इन आठ रूपों को सुविधा की दृष्टि से गण नाम दे दिए गए है जो निम्नलिखित है :—

मगण (ऽऽऽ) यगण (।ऽऽ) रगण (ऽ।ऽ) सगण (।।ऽ)
तगण (ऽऽ।) जगण (।ऽ।) भगण (ऽ।।) नगण (।।।)

किसी छन्द मे उपर्युक्त त्रिकलों के निश्चित आवर्तन के नियम के अनुकूल ही वृत्तभेद निश्चित किया जाता है।

जैसा कि पूर्वोल्लेख किया जा चुका है, महाकाव्यकार अनूप शर्मा ने १७ सर्गों में निबद्ध अपने महाकाव्य 'वर्द्धमान' मे आद्यत केवल वृत्तो का आश्रय लिया है। वर्द्धमान' मे समस्त वर्णवृत्तो की कुल सख्या १९९७ है, जिनमें १९२२ वंशस्थ, ७० द्रुतविलम्बित, २ मालिनी (प्रथम

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—रघुनन्दन शास्त्री—"छन्द प्रकाश", पृ० ४३–४७।

२. प्रतिमा कृष्णबल—छायावाद का काव्य शिल्प, पृ. ३२२

सर्ग) एवं ३ शार्दूल-विक्रीड़ित (अन्तिम, १७वां सर्ग) वृत्त है। इस गणना से सिद्ध हो जाता है कि वंशस्थ वृत्त के प्रयोग में कवि ने नया कीर्तिमान स्थापित किया है। आज तक किसी हिन्दी कवि ने एक ही कृति में इतने अधिक वंशस्थों का उपयोग नहीं किया है।

वंशस्थ

यह १२ आक्षरिक जगती वर्ग का समवृत्त छन्द है, अर्थात् इसके प्रत्येक पाद मे १२ अक्षर होते है, जिनका गणक्रम है (जगण, तगण, जगण, रगण), यथा निम्नलिखित उदाहरण मे—

ज०	त०		ज०	र०	
ISI	S	SI	ISI	S	IS
प्रभात	के	पक्ष	प्रसार	पै	चढ़ी
ISIS	S	II	S	ISIS	
गभस्तियां	ज्यों	रवि	को	प्रकाशती	
ISI	S	SII	SI	SIS	
कुमार	की	प्रस्तुत	भाव	शैलियां	
ISIS	S	IIS	ISI	S	
विराजती	थी	हृदया	भिरूढ़	हो	

यद्यपि वंशस्थ वृत्त करुण, शृंगार एवं शान्त रसों के अनुकूल है परन्तु 'वंशस्थ सिद्ध कवि' अनूप ने नवों रसों के परिपाक का उपकरण वंशस्थ को बनाया है। अन्त्यानुप्रास मुक्त वंशस्थ वृत्तों में कवि ने यति विधान के क्षेत्र में भी स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। साधारणतः, आचार्यों ने पांच वर्णों के पश्चात् यति लक्षण निर्दिष्ट किया है, किन्तु महाकवि ने सुविधानुसार कहीं चार कहीं पांच तो कहीं छः वर्णों के बाद यति दी है। निम्नलिखित वृत्त मे चार वर्णों पर यति है। इस वृत्त में गुम्फित अन्त्यानुप्रास भी दर्शनीय है —

प्रसन्नता, सुन्दरता, सुभाग्यता,
नृपाल के आंगन मे प्रफुल्ल थी,
विमुग्धता, चंचलता, मनस्विता,
कुमार सेवा करती अजस्र थी।[1]

साराशतः कवि अनूप ने 'वर्द्धमान' महाकाव्य मे कथावर्णन, प्रकृति चित्रण, दर्शन निरूपण, पात्र सृष्टि, उपदेश कथन, वस्तु व्यंजना, रसान्विति सभी के लिए वंशस्थ वृत्त को साधन बनाया है। डा० पुत्तूलाल शुक्ल के शब्दों में तो "मूर्तिकार के हाथों मे जैसे मृदित मृदु मृत्तिका होती है, वैसे ही अनूप की प्रतिभा के करों मे वंशस्थ रहा है।[3]

द्रुतविलम्बित

(नगण, भगण, भगण, रगण=III, SII, SII, SIS)

द्रुतविलम्बित वृत्त का प्रयोग वर्द्धमान के प्रत्येक सर्ग में हुआ है। विशेषत. सर्गान्त में, छन्द परिवर्तन के महाकाव्यीय लक्षण के दृष्टिकोण से इस वृत्त का आयोजन (प्रथम एवं सत्रहवें सर्ग के अतिरिक्त) सभी सर्गों के अन्त में हुआ है। इस वृत्त द्वारा भावी कथा के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की गई है, यथा —

न. भ. भ. र.
II ISI IS IISI S
इस प्रकार महा अनुराग से
जगत था करता जब प्रार्थना
प्रभु अचंचल चित्त उठे, तथा,
चल दिए लखिए किस ओर ?[2]

इसी वृत्त ने महाकाव्य मे विश्रामदायी स्थल का दायित्व निर्वाहा है। कवि ने द्रुतविलम्बित वृत्त का प्रस्तुतीकरण संस्कृत प्रयोगों की भांति केवल दो चरणों तक सीमित न रख, चारों चरणों तक प्रवाहमान रखा है।

शार्दूलविक्रीडित

(मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण, गुरु)
SSS IIS ISI IIS SSI SSI S

सम्पूर्ण महाकाव्य 'वर्द्धमान' में केवल तीन शार्दूलविक्रीडित वृत्तों का प्रयोग हुआ है। तीनों वृत्त अन्तिम सर्ग के अन्त में स्थित है, जिनमें उपसंहार रूप मे कथा अन्तिम बार ज्योतित हुई है—

भव्यो ! है यह मेदिनी शिविर सो जाना पड़ेगा कभी,
आगे का पथ ज्ञात है न, इससे सद्बुद्धि आये न क्यों ?

---

१. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. ३५३।
२. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. २५२।
३. सम्पादक डा० प्रेमनारायण टण्डन—अनूप शर्मा : कृतियां और कला, पृ. २०८।
४. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. ५२१।

ले लो साधन धर्म के, न तुमको व्यापे व्यथा अन्यथा,
है जैनेन्द्र-पदारविन्द-तरणी संसार-पाथोधि की।'

प्रस्तुत वृत्त मे भी 'त्रिकलों' का सम प्रवाह चारों चरणों मे गतिमान है। महाकाव्य मे इस वृत्त का उपयोग अल्प होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

मालिनी—(नगण, नगण, मगण, यगण, यगण)
III III SSS ISS ISS

कवि अनूप ने समीक्ष्य महाकाव्य वर्द्धमान में केवल दो मालिनी वृत्त आयोजित किए है; एक प्रथम सर्ग के मध्य में विश्राम व नवस्फूर्ति देने के लिए तथा एक प्रथम सर्ग के अन्त मे है, छन्द परिवर्तन के शास्त्रीय लक्षण के अनुसार। वस्तुत: कवि की वृत्ति मालिनी वृत्त के प्रयोग मे अधिक नही रही है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

II I I II SS S I S S I S S
जय रति पति तेरी हो, तुझे सर्वदा ही
कुल गुरु अबलाएं मानती केलि मे है,
पर अब जिस प्राणी को, सखे ! जन्म देगा,
वह विजित तुझे भी भूमि में आ करेगा।[2]

उपेन्द्रवज्रा—(जगण, तगण, जगण, गुरु, गुरु)
ISI SSI ISI S S

समस्त हिन्दी जैन महाकाव्यों मे, केवल कवि रघुवीर शरण मित्र ने उपेन्द्रवज्रा का अत्यल्प प्रयोग 'वीरायन' महाकाव्य मे किया है। हस्तिनापुर राज्य के पतन का चित्रण प्रस्तुत वृत्त के माध्यम से हुआ है, यथा—

नृशंस स्वार्थी हर ओर छाये
विद्वान ज्ञानी पग चूमते थे
विचित्र क्रीड़ा उस राज की थी
गुलाब काटों पर झूलते थे।[3]

एकादश अक्षरों वाले उपेन्द्रवज्रा वृत्तो की कुल सख्या महाकाव्य 'वीरायन' में केवल तीन है। ये तीन वृत्त ही विपुल सख्यात्मक मात्रिक छन्दो के मध्य नगीने की भांति जड़े हुए है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यो में पांच प्रकार के ही वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है, शेष सभी छन्द 'मात्रिक' है।

वर्द्धमान महाकाव्य के अतिरिक्त समस्त हिन्दी जैन महाकाव्यो मे मात्रिक छन्दो का विविधात्मक, विपुल प्रयोग दृष्टिगत होता है। श्री मोतीलाल मार्तण्ड ऋषभदेव कृत 'श्री ऋषभचरितसार' तथा सौराष्ट्र के राजकवि मूलदास मोहनदास नीमावत् विरचित महाकाव्य 'वीरायण' मे गोस्वामी तुलसीदास की अमरकृति (रामचरित मानस) की छन्द शैली का पूर्णत: अनुसरण करते हुए दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला, वीर हरिगीतिका आदि छन्दों को ही स्थान दिया गया है। इन छन्द प्रयोगो में कोई नवीनता नही है।

कवि धन्यकुमार सुधेश ने "परम ज्योति महावीर" महाकाव्य की रचना केवल चौपाई छन्द मे निबद्ध कर दी है। बहुत प्रयत्न करने पर इन चौपाइयों के मध्य १६ मात्रिक अन्य छन्द ढूढें जा सकते है परन्तु कवि का अभीष्ट छन्द 'चौपाई' ही रहा है।

कवि वीरेन्द्र प्रसाद जैन ने अपने दोनों महाकाव्यों 'तीर्थङ्कर भगवान महावीर" तथा "पार्श्व प्रभाकर" मे समान छन्द शैली अपनाई है। उभय महाकाव्यों में एक सर्ग में प्राय: एक ही प्रकार के सममात्रिक छन्दों की रचना हुई है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तित कर दिया गया है। सर्गान्त छन्द प्राय: अर्द्धसम मात्रिक है। "तीर्थङ्कर भगवान महावीर" महाकाव्य के आमुख मे कवि ने लिखा है—"यह भक्ति की ही शक्ति है जिसने मुझसे मेरे आराध्य के प्रति ११११ छन्द लिखवा लिए"[4] यह छन्द सख्या विवादास्पद है, क्योकि गणना करने पर छन्दों की संख्या ११२२ बैठती है।

भगवान महावीर के २५ सौवें निर्वाण वर्ष में प्रकाशित होने वाले, श्री रघुवीर शरण 'मित्र' विरचित 'वीरायन' तथा डा० छैलबिहारी कृत 'तीर्थङ्कर महावीर' महाकाव्यों मे वैविध्यपूर्ण छन्द सृष्टि हुई है। महाकाव्यकारों ने स्वच्छन्दतापूर्वक सममात्रिक, अर्द्ध सममात्रिक, विषम एवं मुक्त सभी प्रकार के छन्दो का चारु प्रयोग किया है, कही कही नवीन छान्दस् योजनाए भी सफलता सहित

---

१. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. ५८५।
२. वही—पृ. ७०।
३. रघुवीर शरण मित्र—'वीरायन', पृ. ७३।
४. वीरेन्द्र प्रसाद जैन—तीर्थङ्कर भगवान महावीर 'आमुख'

प्रयुक्त हुई हैं। 'वीरायन' में कवि ने सर्वाधिक उपयोग मिश्र छन्दों के योग से निर्मित गीतों का किया है, तथा कथा वर्णन हेतु ३२ मात्रिक मत्त सवैया छन्द प्रयुक्त किया है। 'तीर्थङ्कर महावीर' महाकाव्य में भी डा० गुप्त ने स्वतन्त्र एवं मार्मिक गीतों की सृष्टि की है जिनमें मिश्र छन्द प्रयोग दर्शनीय है।

साध्वी मंजुला जी ने प्रबन्ध काव्य "बन्धन मुक्ति" में छन्दों का कौशल केवल आठवें (उद्धार) सर्ग में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः सम्पूर्ण कृति मे उद्धार सर्ग ही सर्वाधिक मर्मस्पर्शी, काव्यात्मक एवं भाव-गाम्भीर्यपूर्ण है, जिसमें चन्दना सती के दुःखपूर्ण जीवन की मार्मिक कथा एवं भगवान् महावीर द्वारा चन्दना उद्धार की अलौकिक घटना अनुस्यूत की गई है। शेष सर्गों मे सिन्धु, रूपमाला, गीतिका, सार एवं वीर आदि सममात्रिक छन्द आयोजित है।

विभिन्न हिन्दी जैन महाकाव्यों में मात्रिक छन्दों की योजना का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के पश्चात् इन काव्यों में प्रयुक्त कतिपय छन्द-रूपों का संक्षिप्त विश्लेषण अभीष्ट होगा—

१६ मात्रिक छन्द :—

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यो में प्रायः प्रत्येक मे १६ मात्रिक छन्दों का विपुलात्मक प्रयोग किया गया है। १६ मात्रिको में भी चौपाई छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त है। चौपाई छन्द का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए आचार्यों ने चरण के अन्त में जगण (ISI) तथा तगण (SSI) का निषेध स्वीकारा है, अतः महाकाव्यकारो ने शास्त्रीय लक्षणानुसार चौपाइयों की सृष्टि की है, उदाहरणार्थ—

वर्द्धमान की बालसुलभ ये।
शुभ चेष्टाएं हृदय मोहती ॥
उनकी तुच्छ क्रियाओ से भी।
मौलिक बातें अमित सोहती ॥[१]

चौपाई छन्दों के मध्य कही-कही अनायास डिल्ला, शृंगार एवं पज्झटिका आदि छन्दो की सृष्टि हो गई है। 'पार्श्व प्रभाकर' में डिल्ला का प्रयोग दर्शनीय है, जिसके प्रत्येक चरणान्त में भगण (SII) रखा गया है—

जय मानवता के आभूषण
जय उग्रवंश नभ के भूषण
जय विश्वसेन ब्राह्मी नन्दन
जय पार्श्वनाथ शत शत बन्दन ॥[२]

इसी प्रकार, शृंगार छन्द चौपाइयो के मध्य आ गए है, परन्तु 'तीर्थकर महावीर' महाकाव्य में कवि ने चौपाइयों की अपेक्षा १६ मात्रिक शृंगार छन्दों की ही अधिक सर्जना की है। 'शृंगार' का लक्षण है (३+२ मात्राएं तथा चरणान्त में SI=३ मात्राए) निम्न पद में शृंगार छन्द प्रयोग देखिए—

सुगन्धित पुष्पों का कर लेप
भाल पर तिलक लगाया एक
शीश पर चूड़ामणि फिर बांध
दिया नयनों में काजल आंज।[३]

आधुनिक काल में कवियों ने समान मात्रिक दो छन्दों के प्रयोग से एक सममात्रिक छन्द की रचना भी की है। निम्नलिखित १६ मात्रिक छन्द के प्रथम दो चरणों 'चौपाई' के तथा अन्तिम दो चरण 'शृंगार' छन्द के है—

चौपाई { उन्हे कुछ ममता कोह न था
नही कुछ मन मे राग व्यथा
शृंगार { नही अभिलाषा मिले प्रसिद्धि
लक्ष्य बस योग ध्यान की सिद्धि[४]

२४ मात्रिक

१६ मात्रिक की भांति ही २४ मात्रा के विभिन्न प्रकार के सममात्रिक एव अर्द्धसम मात्रिक छन्दों का प्रयोग जैन महाकाव्यों में प्राप्य है। सममात्रिकों में रोला (११, १३ मात्राओं पर यति)—

रोला—ग्यान किरन तें ऋषभ सूर्य अग्यान नसाया।
कोटि कोटि भविजन को भवतें पार लगाया॥
गुन अनत के नाथ प्रथम तीर्थंकर स्वामी।
सुर सुरेन्द्र बंदहि नित तिन्ह पद सीस नमामी॥[५]

१. वीरेन्द्रप्रसाद जैन—तीर्थंकर भगवान महावीर, पृ. ७१।
२. वीरेन्द्रप्रसाद जैन—पार्श्व प्रभाकर, पृ. २२२।
३. डा० छैलबिहारी गुप्त—तीर्थंकर महावीर, पृ. २०।
४. वही, पृ. १४५।
५. श्री मोतीलाल मार्तण्ड 'ऋषभदेव'—श्री ऋषभ चरितसार, पृ. ११०।

तथा रूपमाला (१४, १० पर यति, अन्त में ऽ।) छन्द अधिक दृष्टिगत होते हैं। कवि वीरेन्द्र प्रसाद जैन ने रूपमाला छन्दों का अर्द्ध प्रयोग किया है, अर्थात् छन्द में चार चरणों के स्थान पर केवल दो ही चरणों से एक पूरा छन्द निर्मित किया है, यथा—

हो गया समरस सबेरा फैलता आलोक।
राग तम छिपना दिखाता, चिर विरती का लोक।[1]

२४ मात्रिक अर्द्धसम छन्दों में सोरठा एवं दोहे का प्रयोग परम्परा से होता चला आया है। जैन महाकाव्यों में भी इनकी स्थिति पर्याप्त सुदृढ है। रघुवीर शरण 'मित्र' जी ने 'दोहा' छन्द को दो प्रकार की लिपि-शैली मे प्रस्तुत किया है, प्रत्येक रूप निम्न पंक्तियों मे अंकित है—

(१) विविध भाव प्राणी विविध, पूजा विविध प्रकार।
स्याद्वाद के स्वरों से, अर्चन बारम्बार।।[2]

(२) अपने अपने धर्म है, अपने अपने कर्म।
धर्म धर्म सब गा रहे, नही जानते मर्म।।[3]

आधुनिक काल में सममात्रिक छन्दों का अर्द्धसम प्रयोग अत्यधिक प्रचलित हो गया है। 'वीर छन्द' ३१ मात्राओं का सममात्रिक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में १६, १५ मात्राओं पर यति होती है। आधुनिक कवि यति के स्थान से नवीन चरण प्रारम्भ कर, दो ३१ मात्राओं का प्रस्तार चार चरणों तक कर देता है—

धन्य पिताजी धन्य जननि मम,	=१६ मात्राएं
धन्य धन्य आदर्श ललाम।	=१५ ,,
धन्य भाग मम मिल आप सम,	=१६ ,,
मात पिता अनुपम अभिराम।।[4]	=१५ ,,

ठीक इसी प्रकार डा० गुप्त ने २७ मात्रिक सरसी (१६, ११ पर यति) छन्द का अर्द्धसम प्रयोग किया है, यथा—

राजमहल में करती थी सब	=१६ मात्राएं
अपना अपना कार्य	=११ ,,
कोई प्रभु की बनी सेविका	=१६ ,,
कोई बनकर धाय[5]	=११ ,,

सारांशतः आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में १२ मात्रा से लेकर ३२ मात्रा तक के सममात्रिक तथा विविध प्रकार के अर्द्धसम मात्रिक छन्दों का सृष्टि कौशल देखा जा सकता है। केवल इतना ही नहीं विषम छन्द, मुक्त छन्द एवं मिश्र छन्द सम्बन्धी नूतन छान्दस् प्रयोग भी विश्लेषणीय है।

हिन्दी काव्यों में मुक्त छन्दों का प्रयोग अधुनातन है, जिस पर विदेशी एवं हिन्दीतर भारतीय भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। बहुत समय तक अतुकांत छन्दों को मुक्त छन्द माना जाता रहा, किन्तु यह धारणा पूर्णतः भ्रान्त है। वस्तुतः 'मुक्तछन्द' वह छन्द विशेष है जो मात्रा, गण, गति, यति, तुक आदि के समस्त छन्दशास्त्रीय बन्धनों से सर्वथा मुक्त होता हुआ भी प्रत्येक पंक्ति के रूपगत आंतरिक ऐक्य पर बल देने के कारण संगीतात्मक लय को सुरक्षित रखता है—अतः स्वच्छन्द होते हुए भी वह 'मुक्त छन्द' है। मित्र जी ने 'वीरायन' मे तीन चार स्थलों पर क्षिप्र प्रवाह युक्त 'मुक्त' छन्दों की योजना की है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

मस्तक पर ज्योति का तिलक।
भाल पर उषा की लाली।
आखों मे सारे युग।
कानों में सबके बोल।
अधरो पर मौन,
कौन तुम कौन?[6]

'मुक्त छन्द' प्रयोग की भांति आज का कवि नित्य नवीन छान्दस् उद्भावनाएं करने में रत है। जैन महाकाव्यों में भी नूतन छन्द प्रयोगों का अभाव नहीं है। महाकाव्यकारों ने तीन चरणात्मक विषम छन्दों का पर्याप्त आयोजन किया है। इन प्रयोगो के दो स्वरूप प्रस्तुत हैं—

(१) मौन भक्त भगवान रहे,
शब्दों से क्या भला कहे,
चन्दन आज बनी उमला।[7]

१. वीरेन्द्रप्रसाद जैन–तीर्थंकर भगवान महावीर, पृ. १२३
२. रघुवीर शरण मित्र—'वीरायन, पृ. ४१।
३. वही० पृ. १३७।
४. वीरेन्द्रप्रसाद जैन, तीर्थंकर भगवान महावीर, पृ. १२२
५. डा० छैलबिहारी गुप्त, 'तीर्थंकर महावीर, पृ. २७-२८
६. रघुवीर शरण मित्र, 'वीरायन', पृ. ३५१।
७. साध्वी मजुला, 'बन्धन मुक्ति', पृ. १३४।

(२) रो उठा था देख कर आकाश,
बन रहा था मनुज,
धरती के मनुज का दास।[1]

इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में भावों की प्रभावोत्पादक शक्ति के वार्धक्य के लिए मिश्र छन्दो के योग से बने स्वतंत्र गीतों की रचना अधिक हुई है। महाकाव्यकारों ने सममात्रिक छन्दो के योग से, सममात्रिक एव अर्द्धसम मात्रिक छन्दो के योग से अथवा दो से भी अधिक प्रकार के मात्रिको का उपयोग कर मार्मिक गीतों की सृष्टि की है। निम्नलिखित गीत मे २२ मात्रिक सुखदा छन्द के अर्द्धसम रूप एव १२ मात्रिक तोमर तथा नित्त छन्दों का मिश्रित प्रयोग दर्शनीय है—

सुखदा (एक चरण)	धन्य भाग जगे आज	१२ मात्राएं
	धन्य दिवस आया	१० ,,
तोमर	जै जै त्रैलोक्य नाथ	१२ मात्राएं
	तुमसे जन हो सनाथ	१२ ,,
नित	दर्शन सौभाग्य मिला	१२ ,,
	पुण्य कमल सहज खिला	१२ ,,
सुखद (अर्द्धसम)	दूर हुआ पाप तिमिर	१२ मात्राएं
	नव प्रकाश छाया	१० ,,
	धन्य भाग जगे आज	१२ ,,
	धन्य दिवस आया[2]	१० ,,

'वीरायन' महाकाव्य में कवि ने प्रति चारण समान मात्राओं का नियोजन कर 'गीत निर्माण', बहुलता से किया है। महाकाव्यकार ने १६, १८, २०, २१, २६ एवं २८ मात्रा प्रति पक्ति वाले अर्द्धछन्द एवं पूर्णछन्द के 'सहयोग से अनेकानेक गीतों की सृष्टि की है। निम्नलिखित गीत मे २८ मात्रिक सार-छन्द के अर्द्ध एवं पूर्ण छन्द क्रमायोजन द्रष्टव्य है—

आये यहा अनार्य देश में सकट आये भारी।	२८ मा०
एक हाथ मे धर्म एक में थी तलवार दुधारी॥	,,
शास्त्र जलाने लगे यहां के फैल गए पाखण्डी।	,,
चडी रुष्ट हम तुम से चढ़े नए पाखण्डी॥	,,
लुटी मढ़िया लुटी बेटियां टूटे मन्दिर मेरे।	,,
गिन न सकोगे लिख न सकूगा डाले कितने घेरे॥	,,
मुट्ठी भर राजा बन बैठे शक्ति बट गई सारी।	,,
आये यहां अनार्य देश मे सकट आये भारी॥[3]	,,

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात्, निष्कर्ष रूप मे, नि.-संकोच कहा जा सकता है कि छन्द वैविध्य के कलात्मक उत्कर्ष में आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्य किसी अन्य हिन्दी महाकाव्य से कम गरिमामय नही। छन्दों के विभिन्न प्रकारों की सफल प्रस्तुति समीक्षित महाकाव्यों में स्थल स्थल पर प्राप्य है। वस्तुत: जैन महाकाव्य विविध प्रकारात्मक छन्दों के आधार है।

३ सदर बाजार, जैन कुटीर,
लखनऊ-२२०००२.

□□□

(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

नहीं लेते वे इस ससार में उक्त राग-द्वेष-मोह आदि शत्रुओं द्वारा कृत नाना प्रकार के क्या-क्या दुःख नही सहते? अतएव, नित्य ही चाव से जिन पूजा करनी चाहिए। मनुष्य गति और श्रावक कुल मिला है तो यह अवसर नहीं चूकना चाहिए।

लघु-धी-सम उत्तर कहा, सशय रहे जु शेष।
ऋषभदास जिनशास्त्र बहु, देखहु भव्य विशेष॥

अस्तु, वर्तमान मे निश्चय और व्यवहार या उपादान और निमित्त को लेकर, अथवा जिन-दर्शन-पूजन-दान-व्रत आदि शुभरागात्मक क्रियाओं की हेयोपादेयता को लेकर जो भीषण द्वन्द्व चल रहा है, और फलस्वरूप कषायोद्रेक तीव्र से तीव्रतर हो रही है, उसका कितना सुन्दर, सटीक एवं रोचक समाधान एक शास्त्र-मर्मज्ञ ने अबसे लगभग एक शती पूर्व किया था, वह उक्त रचना से स्पष्ट है और यह उसकी इस दृढ आस्था का परिणाम है कि—

'जिनमत परम अनूप अनेकान्त सत्यार्थ है।'

ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

---

१. डा० छैलबिहारी गुप्त, 'तीर्थंकर महावीर', पृ. ५। २. वही० पृ. २९६।
३. रघुवीर शरण मिश्र, 'वीरायन', पृ. ५४।

सारस्वत व्याकरण के टीकाकार और मफर-उल-मलिक पुँजराज श्रीमाल

☐ श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली

सारस्वत व्याकरण या सारस्वत प्रक्रिया की रचना अनुभूति स्वरूपाचार्य ने सं० १२५० मे पं० वोपदेव वैयाकरण के बाद की थी। यह व्याकरण अपने समय में इतनी प्रचलित एवं प्रसिद्ध हुई कि लगभग ५३ विद्वानों ने इसकी विभिन्न नामों से टीकायें रची। इनमे से लगभग आधे टीकाकार तो जैन विद्वान ही थे। यहा हम सारस्वत व्याकरण की सभी उपलब्ध टीकाओं, टीकाकारों एवं उनके रचनाकाल की संक्षिप्त सूची प्रस्तुत कर रहे है—

क्रम सं०	टीका नाम	टीकाकार का नाम	रचनाकाल
१.	टीका	क्षेमेन्द्र	वि. सं. १२६०
२.	,,	धनेश्वर	,, १२७५
३.	,,	अनुभूति स्वरूप	,, १३००
४.	,,	अमृत भारती	,, १५५० से पूर्व
५.	,,	पुजराज श्रीमाल	,, १५५०
६.	,,	सत्य प्रबोध	,, १५५६ से पूर्व
७.	,,	माधव भट्ट	,, १५६१ ,,
८.	,,	चन्द्रकीर्ति	,, १६००
९.	,,	रघुनाथ	,, १६००
१०.	,,	मेघरत्न	,, १६१४ से पूर्व
११.	,,	मडन	,, १६३२ ,,
१२.	,,	वासुदेव भट्ट	,, १६३४
१३.	,,	राम भट्ट	,, १६३५ के लग.
१४.	ढूढ़िका	मेघरत्न शिष्य विनयसुन्दर के वृहत्खरतर गच्छीय	,, १६४१
१५.	दीपिका	चन्द्रकीर्ति सूरि नागपुरीय तपागच्छके	,, १६६४
१६.	सारस्वत धातुपाठ	हर्षकीर्ति, शिष्य चन्द्रकीर्ति के नागपुरीय तपागच्छीय	,, १६६३
१७.	टीका	काशीनाथ भट्ट	,, १६७२ से पूर्व
१८.	सारस्वत के रूपान्तरकार	तर्क तिलक भट्टाचार्य	,, १६७२ से पूर्व
१९.	टीका	भट्ट गोपाल	,, १६७२
२०.	,,	माधव	,, १६८०
२१.	ढूढ़िका	तर्क तिलक सूरि	,, १६७७
२२.	,,	सहजकीर्ति शिष्य हेमचन्द्र के खरतर गच्छीय	,, १६८१
२३.	टिप्पणिका	क्षेमेन्द्र शिष्य हरिभद्र के	,, १६९२
२४.	सिद्धान्त चन्द्रिका	ज्ञान तिलक	,, १७०४
२५.	टीका	ज्ञानतीर्थ	,, १७०४
२६.	,,	हंस विजयगणि	,, १७०८
२७.	,,	हर्षकीर्ति	,, १७१७
२८.	,,	लोकेशकार	,, १७४१
२९.	,,	रामाश्रम	,, १७४१
३०.	,,	सदानन्द	,, १७९९
३१.	शब्दार्थ चन्द्रिका	हंस विजय शिष्य विजयानन्द सूरि तपागच्छीय के	
३२.	चन्द्रिकोद्धार स्वोपज्ञ	हंस विजय शिष्य विजयानन्द सूरि तपागच्छीय के	
३३.	रूपरत्नमाला	नय सुन्दर शिष्य धनरतन के	
३४.	न्यास	रत्न हर्ष और हेमरतन	
३५.	न्यास	जगन्नाथ	
३६.			
३७.	पंजिका	धर्मदेव	
३८.	भाष्य विवरण	भानुचन्द्र गणि तथा उनके शिष्य सिद्धिचन्द्र गणि तपागच्छीय ने इसे संशोधित किया था।	

३६.	वृद्ध चिन्तामणि	जितेन्दु केवल सूत्रों की टीका
४०.	सिद्धान्त चन्द्रिका	रामाश्रम
४१.	सुबोधिनी	सदानन्द गणि (देखें जिनरत्न कोष ले. डा. बेलंकर पृ. ४३६
४२.	टिप्पण	चन्द्रकीर्ति) देखें जिनरत्नकोष ले. डा. बेलंकर पृ. ४३६ :
४३.	न्याय रत्नावली	दयारतन
४४.	स्वावबोधिका	अज्ञात
४५.	सारदीपिका	यतीस
४६.	सिद्धान्त चन्द्रिका	रामचन्द्राश्रम
४७.	टीका	अज्ञात
४८.	सारस्वतोद्धार स्तोत्र	नदिरत्न के शिष्य
४६.	सारस्वत चन्द्रिका	मेघ विजय
५०.	धातु तरंगिणी या स्वोपज्ञ विवरण	अज्ञात
५१.	धातु पाठ	अज्ञात
५२.	धातु पाठ	कल्याण कीर्ति
५३.	व्युत्पत्ति सारकार	जितेन्द्रियाजिनरत्न निबंध ग्रन्थकम् ।

उपर्युक्त टीकाकारों में से हमारे इस लेख का मूल उद्देश्य इसी सूची के तारांकित क्रमांक ५ पर अंकित श्री पुजराज श्रीमाल का जीवन परिचय प्रकट करना है।

दिल्ली के जैन ग्रन्थ भण्डारों की पांडुलिपियों का विस्तृत सूचीपत्र (Discriptive Catalogue) तैयार करने के लिए जिसकी प्रेस कापी तैयार की गई है, का सर्वेक्षण करते हुए दि० जैन पचायती मन्दिर नया मन्दिर धर्मपुरा के सरस्वती भण्डार में पुंजराज श्रीमाल कृत सारस्वत प्रक्रिया की टीका प्राप्त हुई। इसकी एक प्रति जयपुर भण्डार (देखो राजस्थान के जैन ग्रन्थों की सूची भाग २, पृष्ठ २६३ पर) तथा एक प्रति श्री अगरचन्द्र जी नाहटा के भण्डार मे विद्यमान है। इस टीका के अन्त में पुजराज से सम्बन्धित २३ छन्दों की एक विस्तृत प्रशस्ति विद्यमान है।

दिल्ली वाली प्रति आषाढ़ कृष्ण ६ गुरुवार सं० १६४५ में लिपिबद्ध की गई थी। इसकी पुस्तकालय क्रम स० अजैन न० १३८ है। यह प्रति पृष्ठ माला में लिखी हुई है, जिसे साधारण पाठक सरलता से नहीं पढ़ सकता है। मुझे ही प्रेस कापी तैयार करने में पर्याप्त समय लग गया था। पुंजराज श्रीमाल की शोध में अत्यधिक समय और शक्ति खर्च करने के बाद जो कुछ जानकारी एकत्र की जा सकी वह पाठकों की ज्ञानवृद्धि हेतु निम्न प्रकार प्रस्तुत है।

पुंजराज अपने समय के एक कुशल प्रशासक, अर्थ-शास्त्र के वेत्ता, संस्कृत व्याकरण एवं ध्वनि शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। अर्थ तंत्र विशेषज्ञ होने के कारण उन्हें मांडू (मालवा) के सुल्तान ग्यासुद्दीन खिलजी (सन् १४६६ से १५०१ ई० तक) ने अपना अर्थमत्री नियुक्त किया था। वे जहां लक्ष्मी के स्वामी थे वहा सरस्वती के वरदपुत्र एवं युद्धकला और शासन व्यवस्था मे बड़े पटु थे। जैसा कि प्रशस्ति मे उल्लिखित "समरसमयरुद्र: पुंज-राजो नरेन्द्र: ।" वाक्य से स्पष्ट विदित होता है। वे राज्य के प्रति पूर्ण वफादार और प्रजा के अत्यधिक हितैषी थे। वे राज्य के राजस्व को बड़ी सावधानी और मितव्ययता से खर्च करते थे। अपव्यय उन्हे बहुत खलता था, यही निष्ठा और प्रजा वत्सलता ही उन्हे अभिशाप बनकर ले बैठी।

सुल्तान ग्यासुद्दीन खिलजी का पुत्र अब्दुल कादिर, जिसे नासिरुद्दीन की उपाधि प्राप्त थी, बड़ा अपव्ययी और विलासी था। वह राज्य के राजस्व को अपने भोग-विलास मे ही अपव्यय करना चाहता था जो पुजराज को अभीष्ट न था। उन्होंने अब्दुल कादिर को प्रेम पूर्वक सन्मार्ग पर लाना चाहा पर वह दुराग्रही था। फलत: पुंजराज को सुलतान गयासुद्दीन से शिकायत करनी पड़ी, जिससे बाप-बेटे में खटक गई तथा वह इनका शत्रु बन बैठा। वह इन्हे काफिर कहता था तथा साम्प्रदायिकता उभारने का सदैव प्रयत्न करता रहता था पर पिता के भय से कोई ठोस कार्यकारी पग नही उठा पाता था अतः मौन रहता था। इसके अतिरिक्त पुजराज का भी अपना विशिष्ट प्रभाव था अत: नासिरुद्दीन (अब्दुल कादिर) ने षड्यंत्र रचा और एक दिन जब पुजराज राजदरबार से अपने घर लौट रहे थे कि अवसर पाकर दो आदमियों से इनकी हत्या करवा दी।

सुल्तान ग्यासुद्दीन को जब यह दुःखद घटना सुनाई गई तो वह बहुत व्यथित हुआ और उसने अपने पुत्र की इतनी तीव्र भर्त्सना की कि वह राज्य छोड़कर बाहर चला गया और पिता पर आक्रमण के लिए सैनिक तैयारी करने लगा और अवसर पाकर सन् १५०१ मे उसने अपने पिता सुलतान ग्यासुद्दीन पर चढ़ाई कर दी और उन्हें बन्दी बना लिया तथा स्वय मालवा का शासक बन बैठा। उपर्युक्त घटना "तारीखे नासिर साही" नामक पुस्तक के पृ० ८-१० तक उल्लिखित है। इसकी फोटो कापी ब्रिटिश म्यूजियम लदन मे OR. १८०३ न० पर सुरक्षित है। इसकी नकल जार्ज इलियट ने सन् १८०८ में भोपाल मे कराई थी। इसकी मूल प्रति का कोई पता नही है। इस प्रति में पुंजराज को 'पुजावक्काल' शब्द का प्रयोग किया गया है। वक्काल का अर्थ बनिया होना है। जो प्रायः सभी जगह प्रचलित था। पुजराज भार गोत्रीय श्रीमाल जाति के थे। उपर्युक्त प्रति के लिपिकार कोई मौलवी साहब थे जो उर्दू की मीग के नीचे नुक्ता लगाना भूल गए जिससे पुजा की जगह मुंजा पढा जाता है। यथार्थ मे वह पुजा ही है जो हमारे लेख के नायक है।

इसके अतिरिक्त जैन भट्टारक श्रुतकीर्ति (सन् १४६५-९६) ने स्वरचित 'हरिवंश पुराण' एव 'परमेट्ठीपयाससारो' नामक अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों की प्रशस्तियो मे भी पुजराज का उल्लेख किया है। यथा—

'दहपण सयतेवण्ण गय वासइं पुण विक्कमणि संवच्छरहे।
तहसावण मासहु गुरुपचमि सहुं गंथ पुण्णु तय सहसतहे।'
'मालव देसइं गढ माडव चलु वहइ साह गयासु महाबलु।
साह णसीरुणाम तह णदणु रायधम्म अणरायऊ बहुगुण।
पुजराजवणमंति पहाणइं ईसरदास गयदहं आणइ।'

उपर्युक्त ग्रन्थ सं० १५५३ के श्रावण शुक्ला ५ गुरुवार को समाप्त किया गया। इस समय मालवदेश के मांडवगढ (मांडू) में सुलतान ग्यासुद्दीन नामक महाप्रतापी शासक था, उसका पुत्र णसीरुद्दीन था तथा उसके घन (अर्थ) मंत्री पुजराज प्रजाधर्म में अनुरागी एवं गुणवान् थे।

इस तरह पुंजराज एक ऐतिहासिक पुरुष थे और संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ थे। पुंजराज नाम के एक राजा का और उल्लेख मिलता है जो ईडर का राजा था और राजपूत था अतः इनसे उसकी कोई संगति नहीं बैठती है। पुंजराज की हत्या सं० १५५८ के लगभग की गई थी और उसी समय दो-चार माह के अन्तर से ग्यासुद्दीन खिलजी की भी मृत्यु हो गई थी, वह सन् १४६९ (सं० १५२७) में मांडू के सिंहासन पर बैठा था और ३२ वर्ष तक राज्य करता रहा। मांडू में खिलजी वंश के केवल चार ही शासक हुए थे—१. मुहम्मद शाह प्रथम, २. ग्यासुद्दीन, ३. नासिरुद्दीन (अब्दुल कादिर), ४. मुहम्मद शाह द्वितीय।

पुजराज की तीन रचनाएँ उपलब्ध है—१. सारस्वत की टीका, २ काव्यालकार शिशुप्रबोध और ३. ध्वनिप्रदीप। ये तीनों ही ग्रन्थ अप्रकाशित ही प्रतीत होते है। तीनों मे उनकी प्रशस्ति विद्यमान है। काव्यालकार शिशुप्रबोध की प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

सोऽयं श्री पुंजराज नृपतिः परोपकृति कौतुकी।
व्यधत्त काव्यालकार श्रोतृ व्युत्पत्ति सिद्धये ॥१०३॥

इतिश्री श्रीमाल कुल श्रीकुलमालभार मांडव मण्डलालंकार श्री जीवनेन्द्र नन्दन मफरुल मलिक श्री पुजराज विरचिते शिशुप्रबोधे काव्यालकारेऽलंकाराध्यायोऽष्टमः समाप्तः (देखो—Search for Sanskrit M. S. S. 1882 83 by Dr. Bhandarkar P. 199)

इसी ग्रंथ मे डा० भण्डारकर ने टिप्पणी करते हुए लिखा है—

'Punj Raj was a son of Jivanendra and is spoken of as an ornament of the Malwa circle and as belonging to the family of Shrimal. He is therefore the same as an author of the commentry on the Saraswat Prakriya. Punj Raj mentioned another larger work of his entitled Dhwani pradeep (H. Appendix II).

डा० एस. के वेलवालकर ने अपनी कृति 'System of Sanskrit Grammer by Punj Raj' के पृष्ठ ९६ पर लिखा है—

'Punj Raj belonged to the Shrimal family of malabar which sometimes or other settled in Malwa. The gives his ancestry in the Prasasti. At the end of his commentry,

from which we learn that be was a minister to Gyasuddin khilji of Malwa (1449-1500 A. D.) Punj Raj Seems to have carried on the administration very efficiently collecting round him a band of learned admirer and indualging in numerous acts of charity and relief. The must have lived in the last qurter of the 15th centuary. The also wrote a work an Alankar called 'शिशु प्रबोध' and another larger work called of ध्वनि प्रदीप।

सारस्वत प्रक्रिया की टीका के अन्त में दी गई २५-२६ श्लोकों की विस्तृत प्रशस्ति मे पुजराज के पूर्वजों एवं उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। प्रस्तुत प्रशस्ति में पुंजराज के पूर्वजों मे शाह देवपाल, सा. कोरा, पोमा, गोवा एव वनीपक आदि सज्जनों का उल्लेख है। पुंजराज के पितामह वनीपक साहु थे जिनकी पत्नी का नाम पचो था। इनसे जीवन और मेघ नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। ये दोनो सोमसुन्दर सूरि के प्रति अत्यधिक अनुरागी थे, ऐसा मोहनलाल दलीचन्द ने अपने ग्रन्थ 'जैन साहित्य नो इतिहास" के पृष्ठ ५०१ पर लिखा है। जब जीवन और मेध दोनो ही योग्य हुए तो माडू मे सुल्तान ग्यासुद्दीन के मत्री बने, पर जीवन प्रारम्भ से ही वैरागी प्रकृति के थे अतः अपना पद अपने छोटे भाई मेघ को सौपकर स्वयं सन्यासी बन गए थे, जैसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

श्रीविलासमति मडपदुर्गे स्वामिनि खलिचीसाहु ग्यासात्
प्राप्य मंत्री पदवी भुवि यास्यामर्जितोपार्जित परोपकृतश्री,
जीवनोभुवन पावनकीर्तिः मंत्रीभारमनुजे विनिवेश्य
ब्रह्मवित् स जगदीश्वर पूजको कौतुकेन समयं समनैषीत्।

निम्न श्लोक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि साहु जीवन को ग्यासुद्दीन का अर्थ मंत्रित्व प्राप्त था। वे बड़े दानी, ज्ञानी, ध्यानी एव सन्तोषी थे : —

नमदवनि समर्थस्तत्त्व विज्ञापनार्थः
सुजनविहिततोषः श्रीनिधिर्वीतदोषः
अवनिपति शरण्यात् प्रौढ़ धर्मार्थमंत्री
मफरल मलिकाख्यं श्री ग्यासादवापः॥

पुंजराज की माता का नाम मकू था जो कुटुम्ब भर में अत्यधिक आदरणीय थी। पुंजराज का जन्म मांडू में ही हुआ था, इनकी जन्मतिथि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। 'काव्यालकार शिशुप्रबोध' नामक ग्रंथ की प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि मफरल मलिक' की उपाधि पुजराज को भी प्राप्त थी। ये भारगोत्रीय श्रीमाल (बनिया) जाति के थे। हिन्दी के सर्वप्रथम श्रेष्ठ आत्म-चरित 'अर्धकथानक' के रचयिता बनारसीदास भी इसी जाति के थे।

पुंजराज बड़े दयालु ज्ञानवान् पराक्रमी एवं धनवान् थे। उनकी सभा सदा विद्वानों से भरी रहती थी। बड़े-बड़े मण्डलेश्वर राजा उनका सम्मान करते थे। वे विद्या प्रेमी एव गुणग्राहक भी थे, वे नाट्यकला मे भी प्रवीण थे। दुर्भिक्ष एव संकटकाल में तुलादान जैसे श्रेष्ठ उत्सव कराकर गरीबों व दुखियो की रक्षा किया करते थे। कभी-कभी गरीबो के घर स्वय जाकर स्वर्णमुद्राओं से भरे लड्डुओं का दान किया करते थे। उनके पराक्रम से भयभीत होकर शत्रु-स्त्रियो की आखे सदैव अश्रुपूरित रहा करती थी, इत्यादि उनके व्यक्तित्व एवं विशेषताओं की परिचायिका पूर्ण प्रशस्ति हम नीचे दे रहे है। पुंजराज के पूर्वज जैन धर्मावलम्बी थे ऐसा 'जैन साहित्य नो इतिहास" के पृ० ५०१ से प्रतीत होता है।

पुजराजकृत सारस्वत प्रक्रिया की टीका की प्रशस्ति—
आदि भाग—

आनन्दैकनिधिं देवमंतैराय तमोरविः।
दयानिलयिनं वदे वरदं द्विरदाननम्॥११॥
वाग्देवतायाः चरणारविन्दमानन्दसान्द्रे हृदि सन्निधाय
श्रीपुंजराजो कुरुते मनोज्ञा सारस्वत व्याकरणस्य टीकाम्॥१२

अन्त भाग—
हिमालयादामलयाचलायाः सशोभयामासमही यशोभिः।
आसीन्नृपालस्पृहणीय संपद साधु सदेपाल इति प्रसिद्धः॥१
अर्येषु वर्यः पराकार्यधुर्यः स्मर्यः सता पौरुष राजसूर्यः।
तत्सुनुरौदार्य निधिर्बभूव काराभिधो दुद्द्धवार्य धैर्यः॥२॥
तत्सेवितो ललित लक्षणकान्तमूर्तिराशा प्रभुर्दिनकरः
(रस्वोप्रसादनकरः) सदनंकलानाम्।
जिवातृकः कुवलयः प्रथितोपकारः पामाभिधान
उदयाय ततो नृसोमः॥३॥

पृथित विपुल श्री श्रीमालान्वय वा विशेषकः,
सकल जगती जाग्रत्कीर्ति सुधीनर सूयकः।
अमित विभवो गोदा साधुस्ततोऽजनि,
जानकी भाणवरण प्रेमानन्दादुचित सात्त्विकः ॥४॥

तत्सुतः शोभित संपत् प्रीणितावनि वनीपक आसीत्।
विभवैप्यविकृतोभुवि मूर्तिः पुण्यराशिरिव यापच (एव) साधुः ॥५॥

अभूत कुटुम्ब स्थितिभारधारिणी मदीयदीप सहधर्मचारिणी।
सदाऽदानावृन्दीक्षयाजन कुशेशयाकारशिया पुपोष या ॥६॥

तन्नंदनो समिति (सुभित) साधित पौरषार्थो,
चापन्निमग्न जनतोद्धरणे समर्थः।
ख्यातैर्गुणैः जगति जीवन मेघ सज्ञा,
वशी वशीकृन्नृपौ सत्कृपावभूतम् ॥७॥

श्रीविलासमति मंडपदुर्गे स्वामिनि खिलचीसाह ग्यासात्।
प्राप्य मंत्री पदवीं भुवियाऽप्रामजितोऽर्जित परोपकृत (क्षत) श्री ॥८॥

जीवनोभुवन पावनकीर्तिः मन्त्रीभारमनुजे विनिवेश्य।
ब्रह्मवित्पः जगदीश्वरपूजको कौतुकेन समय समनैपीत् ॥९॥

नमदवनि ममर्थो तत्वविज्ञानपार्थः
सुजन विहिततोषः (तापः) श्रीनिधिर्वीन दोषः।
अवनिपति शरण्यान्(त्) प्रौढ धर्मार्थ(धर्मेघ) मन्त्री
मफरल मलिकाख्य श्री गयासादवापः ॥१०॥

पतिव्रता जीवन धर्मपत्नी धन्यामकू नाम कुटुम्बमान्या।
श्रीपुंजराजाख्यमसूत पुत्र मुजवतस्तैः चरितैः पवित्रं ॥११॥

जयति मदन शुद्धः सज्जन प्रेम सान्द्रः (साधुः)
सगुणमणि समुद्रः कीर्ति विद्योत चन्द्रः।
नयन विनय निद्र. (नयाना) पुण्य लक्ष्मी समुद्रः
समरसमयरुद्र. पुंजराजो नरेन्द्रः ॥१२॥

यस्याः सभाभाति तिरस्कृतमदः प्रह्व(भू)द्वि(प्र)भावोद्धुरः।
क्षोणी मंडित मडलेश्वर महाराजन्यमान्यान्विता।
विद्यावृन्द विनोदमोद विभवद्रोमांच विद्वद्वचो,
जाग्रद्रूप सरस्वती निवसति लक्ष्मी विलासायिता ॥१३॥

अनुजे गुणवत्युदारचित्ते गुरुदेव,
द्विजभक्तिभाजि पुजे (मुंजे)।
यत्तुपहित (दुपाहित) राजकार्यभारः
प्रभुता सौख्यनाकुलं बिर्मति ॥१४॥

रसावृसित (रसोल्लसित) या गिरा चतुरचित्त मानन्दयन्,
सकलासु कलासु यः कलित केलि केली।
कौतूहलो विमत्सरतया दयन्निखिल शास्त्र तत्वज्ञ(ज्ञा)तां,
करोति करुणाकरो व(घ)न मनीस (धि) न्यनतां ॥१५॥

प्रतिगृहमभिगम्य स्वर्ण (निष्कानितानां) तिथावितानामुपचित कनकानां (कनकाना) मोदकाना प्रदानैः।
विदलित दुःख (रवै.) स्थानलक्ष्य सस्थान् गृहस्थान्,
अतुलित महिमा यः क्षाम(दुर्भिक्ष) कालेऽभ्यनंदत् ॥१६॥

अनिवारित वाछितार्थ दानैरिनि
दुर्भिक्षतयोदिताना (बुभुक्षयार्दितानां)।
गणशः समुपेयुषो (येषा) जनानामकरोज्जनि
तरति रक्षण यदेकः (जीवितरक्षणं यदेकः) ॥१७॥

अनेको (कशो) येन विधीयमानैस्तुलादि
दानैरुपलब्ध सपत् (स)
विद्वज्जनो वीथि(दीव्याति)विवंधमानैः श्री भारनिधि
शिष्यति (भारतिमन्निधिमंख्य) सौख्यम् ॥१८॥

विबुधानभिनदितो विपक्ष क्षितिभृत
ज्ञातपरो (रा) प्रक्रमस्य यस्य।
उदयद्युचि वा (व) प (पं) माश्रुशमत्यरि (र)
नारि नरेन्द्र भूरि वर्ष. ॥१९॥

श्रीव्याख्या विशेषान्वयन प्रसगात् श्रीपुंजराजो यदिहाभ्यधत्त
अविस्तर (अविस्त) चारुनिवेशितार्थं (विनिश्चितार्थं)
सर्व समूलं (समपेक्षित) समग्रिथितत तत् ॥२२॥

आत्मयुक्ति बलशालिना वचा विस्तरान्मम विभेति भारती।
तेन दुर्नय निवारणोचिते पूर्व कोविद मते निलयात् ॥२३॥

गर्वोज्ञान निमीलिततया मालिन्य मर्थेपु ये
सत्सुद्धेष्वपि तत्त्वतेन तद्धाकारः परीक्षाविधौ।
किन्त्वेते गुणदोपयो., समदृशो वैराग्य निष्ठा इव,
श्रेष्ठाः हंत पराक्ति निष्पृह धियस्तस्मादमीभ्यो नमः ॥२४

इति श्री मालभार श्री पुंजराज विनिर्मिता सारस्वतस्य टीका समाप्ता। सं० १६४५ वर्षे आषाढ़ मासे कृष्ण पक्षे षष्ठ्यां तिथौ गुरुवासरे लिखित मिदम्।

नोट—कोष्टक मे पाठभेद लिखा है जो श्री अगरचन्द जी नाहटा की प्रति से प्राप्त हुआ।

६८ कुन्तीमार्ग, विश्वासनगर,
शाहदरा दिल्ली-३२

महावीर ने कहा था

☐ श्री रमाकान्त जैन, बी. ए., सा. र., त. को., लखनऊ

अब से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व एक भारतीय सन्त ने मानव को सम्बोधा था, 'संपिक्खए अप्पगमप्पएण' स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो। उसका कहना था, 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य' आत्मा स्वयं अपने दुःख और सुख का कर्ता और भोक्ता है। वह समझता था, 'कत्तारमेव अणुजाई कम्मं' कर्म सदैव करने वाले के पीछे-पीछे चलते है और यह भी कि 'जहां कडं कम्मं तहासि भोए' जैसा कर्म किया जाता है उसका वैसा ही फल भोगना होता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था की जंजीरों से जकड़े युग और समाज में एक क्षत्रिय सामन्त के यहां उत्पन्न और सुख-समृद्धि मे पला-पुसा वह विचारक जन्मतः वर्ण व्यवस्था मानने को तैयार नही था। उसका तो कहना था 'कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ। वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥' कर्म (अपने आचरण अथवा कार्यों) से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है (जन्म से नहीं)।

वह सिर मुडा लेने मात्र से किसी को ब्राह्मण, वन मे रहने मात्र से किसी को मुनि और कुश-चीवर धारण करने मात्र से किसी को तापसी मानने को तैयार नहीं थे। उनका विश्वास था—

समयाए समणो होइ बंभचरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥'

व्यक्ति समता अर्थात् सबके प्रति समान भाव रखने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप करने से तापस होता है। और यह कि—

'जूयं-मज्जं-मंसं-वेसा, पारद्धि-चोर-परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥'

द्यूत (जुआ), मद्य (शराब) और मांस का सेवन, वेश्या गमन, शिकार, चोरी और परयार (पर स्त्री अथवा पर पुरुष) का सेवन ये पाप कर्म दुर्गति प्राप्त होने के हेतुभूत अर्थात् कारण है। इसलिए उन्होंने लोगों को इन पाप कर्मों से बचने तथा अपने चरित्र को बनाये रखने पर बल दिया। वह शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र को चरित्रवान होने का लक्षण नहीं मानते थे। तभी तो उन्होंने कहा—

'जो पुण चरित्तहीणो कि तस्स सुदेण बहुएण।'

जो व्यक्ति चरित्रहीन है उसके बहुत से शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से भी क्या लाभ है? वह तो कहते थे—

'दया समो न य धम्मो, अन्नदानसमं नत्थि उत्तमंदाणं।
सच्चसमा न य कित्ती, सीलसमो नत्थि सिंगारो ॥'

दया समान धर्म नही है, अन्न दान से उत्तम दान नही है। सत्य के समान कीर्ति नही है और शील (चरित्र) के समान कोई शृंगार नही है। अपनी लगभग साढ़े बारह वर्ष की साधना अवधि मे उस साधक ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा यह अच्छी तरह समझ लिया था—

'धम्मु ण पढियइं होइ, धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइं।
धम्मु ण मढ़िय पएसि, धम्मु ण मत्था-लुंचियइ ॥'

बहुत पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पोथियों और पिच्छी को रख लेने से भी धर्म नही होता, मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता और सिर का केश लोंच करने से भी धर्म नही होता। अपितु—

'विणओ धम्मस्स मूलं। धम्मो दया विसुद्धो। अहिंसा हि लक्खणो धम्मो, जीवाणं रक्खणो धम्मो।'

अर्थात् विनय (मान रहित होना) धर्म का मूल है। धर्म दया से विशुद्ध होता है। धर्म का लक्षण अहिंसा है, अतः जीवों की रक्षा करना धर्म है। तथा यह कि—

'खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा ।
तह होइ बम्हचेरं सच्च चागो य दस धम्मा ।।'

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शुचिता, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये धर्म के दस रूप हैं। इसलिए उस धर्मोपदेशक ने अपने अनुयायियों को धर्म के इन रूपो को स्पष्ट किया। वह अपनी धारणा जबरदस्ती किसी पर लादना नहीं चाहते थे। उनकी तो आस्था थी 'विवेगे धम्ममाहिय' मनुष्य का धर्म उसके सद् और असद् विवेक में निहित है तथा यह कि धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई' शुद्ध चित्त में धर्म निवास करता है। वह जानते और मानते थे—

'णाणा जीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवेलद्धी ।
तम्हा वयण विसादं सगपर समएहिं वज्जिज्जो ।।'

लोक में अनेक जीव है, कर्म भी अनेक प्रकार के है और प्रत्येक व्यक्ति की नाना प्रकार की उपलब्धिया होती है। अतएव अपने मत अथवा दूसरे मत के मानने वाले किसी भी व्यक्ति के साथ वचन-विवाद (वाद-विवाद) करना उचित नहीं है। मैत्रीपूर्ण सह-अस्तित्व के पोषक उस शास्ता ने 'यही ठीक है' के कदाग्रह के कारण संसार मे होने वाली अनेक कलहों को मिटाने का उपाय 'यह भी ठीक हो सकता है' ऐसा समझने, स्वीकार करने से संभव है, जानकर 'तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंत-वायस्स' लोक के उस एक मात्र (अप्रतिम) गुरु अनेकान्त-वाद को नमस्कार किया।

उन्तीस वर्ष की अल्प वय में घरबार त्याग देने के उपरान्त अपने निर्वाण पर्यन्त ७२ वर्ष की आयु तक वह कभी प्रमादी बनकर नहीं रहे। आत्मोद्धार और लोकोद्धार के लिए सतत चिन्तन-मनन में लगे रहे और अपने तपःपूत ज्ञान और अनुभव का प्रसाद लोगों को घूम-घूम कर बांटते रहे। उनके अनुभव ने बताया 'सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स नत्थि भयं', प्रमत्त (प्रमादी अर्थात् आलसी) व्यक्ति को सब जगह भय है, अप्रमादी (जो आलसी नहीं है) को कहीं भी भय नहीं होता। अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए इस कर्मवीर ने लोगों को उद्बोधित किया, 'उट्ठिए, णो पमायए' उठो, प्रमाद मत करो।

'हत्थिस्स य कुंथुस्स य समेजीवे' हाथी और चीटी समान रूप से जीव हैं और 'सव्वेसि जीवियं पियं' सभी को अपना जीवन प्रिय है, ऐसा मानने वाले उस जीव-बन्धु करुणासागर का अपने अनुयायियों के लिए उपदेश था 'आय तुले पयासु' सभी प्राणियों को अपने समान समझो, 'जह तेण पियं दुक्ख, तहेव तेमिपि जाण जीवाण' जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों के बारे मे जानो और इसलिए 'सव्वेहि भूएहिं दयाणुकंपी' सभी प्राणियो पर दया और अनुकम्पा करो। उन्होंने आगे बताया 'जीववहो अप्पवहो, जीवदया होइ अप्पणो हु दया' किसी जीव (प्राणी) का वध करना आत्मवध है और किसी दूसरे जीव पर दया करना अपने आप पर दया करना है। यह भी कहा 'असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ' अनाश्रित और असहाय व्यक्तियों को आश्रय एवं सहयोग-सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए तथा 'गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ' ग्लानियुक्त रोगी व्यक्ति को ग्लानि रहित नीरोग करने के लिए उसकी परिचर्या सेवा-सुश्रुषा उत्साह और तत्परता के साथ करनी चाहिए। इस परोपकारी महात्मा का अपना विश्वास था : 'समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलब्भइ' जो दूसरों को सुख देने का प्रयत्न करता है वह स्वयं भी सुख पाता है तथा वेयावच्चेण तित्थयरनामगोय कम्मं विवधेइ' सेवा-धर्म का पालन करने से तीर्थङ्कर-पद प्राप्त होता है। और उन्होने इस विश्वास को अपने लिए चरितार्थ भी कर लिया तभी तो वह तीर्थङ्कर कहलाये। उन्होंने जो भी उपदेश दिया उसे पहले अपने आचरण में उतारा। आत्मा को परमात्मा तक ऊँचा उठने और मानव को महामानव बनने का मार्ग दिखाया।

इन परोपकारी शास्ता का जन्म ईसा मसीह से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन बिहार प्रदेश में कुण्डग्राम नामक स्थान पर ज्ञातृ वंशी, काश्यपगोत्री क्षत्रिय सरदार सिद्धार्थ के घर हुआ था। इनकी माता त्रिशला वज्जिगणसंघ के अधिनायक विदेहराज चेटक की पुत्री थीं। माता और पिता दोनो ही ओर से तत्कालीन अनेक बड़े राज-परिवारों से उनका सबंध था। उनके

[शेष पृ॰ ५३ पर]

अनादि मूलमंत्रोऽयम् ।

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, ए. मए., दिल्ली

जैन संसार में णमोकार मंत्र का प्रचलन समानरूप से है। सभी इसे 'सव्वपावपणासणो' और 'पढमं हवइ मंगलं', रूप में मानते, पढते और स्मरण करते हैं। मान्यता ऐसी है कि प्रसिद्ध यह मंत्र अनादिमूल और अपराजित है—'अनादिमूलमंत्रोऽयम्', 'अपराजितमंत्रोऽयम्। इत्यादि।

जहां तक मंत्र के अनादित्व की बात है—सिद्धान्तरूप में 'नैगमनय' की अपेक्षा अर्थात्—'जो सत् है उसका नाश नहीं' की रीति में, णमोकार को अनादि माना जायगा—हर चीज के मूल को अनादि माना जायगा। यत:—

'सत्तामेत्तग्गाही, जेणाऽऽइम-नेगमो तम्रो तस्स।
उप्पज्जइ नाभूयं, भूयं न य नासए वत्थु॥'

नैगमनय सत्तामात्रग्राही होता है। इसकी अपेक्षा वस्तु सर्वदा सत्स्वरूप ही होती है—चाहे वह किसी भी पर्याय में क्यों न हो। एतावता मंत्र और मनन के पात्र परमेष्ठी दोनों ही अनादि सिद्ध होते है। यत:—जैनमान्यतानुसार आत्मा ही परमात्मा—सिद्ध स्वरूप है। और आत्मा के विकासक्रम में साधु, उपाध्याय, आचार्य और अरहंत भी आत्मा-परमात्मा की भाति अनादि हैं। ये क्रम प्रवाह रूप से कही न कहीं, किसी न किसी रूप में सदा वर्तमान रहता है।

जैन मान्यतानुसार पाचों परमेष्ठी अनादि काल से होते रहे है, और अनन्तकाल तक इनके होते रहने में कोई सन्देह नहीं। तीर्थंकर क्रम में भूतकाल में अनंत चौबीसी हुई हैं और भविष्यतकाल मे अनतो होती रहेंगीं। विदेह क्षेत्र मे इनकी सत्ता सर्वकाल विद्यमान है ही। जो अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए वे सिद्ध हुए, जो अरहंत अवस्था को प्राप्त होगे वे सिद्ध होगे इसमें भी सन्देह नहीं। अभ्यास दशा की श्रेणी मे विद्यमान (भूत वर्तमान-भविष्यतकाल सम्बन्धी) आचार्य, उपाध्याय और साधु भी अनादि-अनंत (सत्ता की अपेक्षा) रहे है और रहेगे। और जब जब ये हैं तब तब इनको नमन भी है। अत: इनके नमनभूत 'णमोकार' भी [सत्ता की अपेक्षा] अनादि है। इसीलिए कहा है—

'स नमस्कारो नित्य एव, वस्तुत्वात्, नभोवत्। नोत्पद्यते नापि विनश्यतीत्यर्थः।'—

वह नमस्कार नित्य—सदाकाल है, वस्तु होने से। जो जो वस्तु है वह वह [द्रव्य की अपेक्षा] नित्य है, जैसे आकाश। द्रव्य की अपेक्षा आकाश न कभी उत्पन्न है और न कभी विनाश को प्राप्त है। हां, पर्यायों के परिवर्तनरूप से उसे अनित्य—घटाकाश, मठाकाश इत्यादि कहा जाता है। जो आकाश अभी समयपूर्व घटाकाश कहलाता था वही, घट के नष्ट होने पर (मठ में स्थित होने से) मठाकाश कहलाया। पर, अस्तित्व की अपेक्षा से 'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यतेसतः।'—'जो सत् है उसका नाश नहीं, नहिं असत् कभी पैदा होता।'—ऐसा नियम है। इसी परिधि की अपेक्षा णमोकार को अनादि माना गया है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि—माना, णमोकार मंत्र के सभी पात्र और उनके लिए नमन, व्यक्तिशः—एक एक की पृथक्-पृथक् सत्ता आदि की अपेक्षा अनादि हैं, पर यह निश्चय कैसे किया जाय? कि णमोकार की श्रृंखला में अरहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और सर्वसाधु को ही निश्चित स्थान (भी) अनादि है। यदि इन्हीं का स्थान निश्चित है तो इस मंत्र के विभिन्न रूप देखने में क्यों आते है? और यदि वे रूप सत्य है तो ऐसा मानना पड़ेगा कि—विविधता होने के कारण णमोकार मंत्र अनादि नहीं है।

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमे (नामों की अपेक्षा) णमोकार मंत्र के सभी रूपों पर दृष्टिपात करना होगा। तथाहि—

प्रथमरूप—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥'

—षट्खंडागम (मंगलाचरण)

द्वितीयरूप—

'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो सव्वसाहूणं ॥'
'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति क्वचित् पाठः ।'
—श्री भगवतीं सूत्र (मंगलाचरण) निर्णय सा. (सं. १९७४)

अभिधान राजेन्द्र (आगम कोष) के उल्लेख के अनुसार—भगवती का उद्धरण इस प्रकार है—जो मंत्र के तृतीय रूप को इंगित करता है—तथाहि—

तृतीय रूप—

"यतो भगवत्यादावेवं पंचपदान्युक्तानि—
नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए' इत्यादि ।
क्वचिद् नमो लोए सव्वसाहूणं इति पाठ इति ।"
—अभिधान राजेन्द्र भाग ४, पृ. १८३७

उक्त तीनों रूपों मे मन्त्र के अन्तिम पद की विभिन्नता विचारणीय है। हमें तीनो ही रूपों को मान्य करने में आनाकानी करने की गुंजाइश नही है। यतः—षट्खंडागम कर्ता—श्री पुष्पदन्ताचार्य व भगवती सूत्र कर्ता श्री सुधर्मा स्वामी जी सभी हमारी श्रद्धा के पात्र है। फिर भी मंत्र-गठन के निर्णय की दिशा मे कुछ मार्ग निकालना होगा। फलतः—

जब हम इस ऊहापोह को आगे बढ़ाते है तब देखते है कि मंत्र के माहात्म्यरूप में पढ़े गये 'एसो पच णमोक्का(या/रो, सव्वपावपणासणो। मंगलाण च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।' के हमें पांच रूप[के] प्रयोग मिलते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि—षट्खंडागम तथा अन्य आगमों में वर्णित णमोकार का रूप स्थायी है और 'णमोबंभीए लिवीए' व णमोसव्वसाहूण' जैसे रूप अस्थायी और अधूरे व प्रक्षिप्त है।

यदि 'णमो बंभीए लिवीए' रूप को अनादि माना जायगा तो प्रत्यक्ष बाधा उपस्थित होगी कि ब्राह्मी लिपि तो तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री के काल से है, फिर अनादि मंत्र के साथ इसका सम्बन्ध कैसे ? यदि सम्बन्ध मानते हैं तो मंत्र अनादि नहीं ठहरता। जैसा कि कहा जा रहा है—'अनादि मूलमंत्रोऽयम् ।'—फिर,

यदि णमोकार मंत्र में 'णमो बंभीए लिवीए' का समावेश होता, तो मंत्र माहात्म्य के रूपों में एक छठवां रूप ऐसा भी मिलना चाहिए था जो 'बंभी लिवी' को भी इंगित करता। परन्तु ऐसा मिलता नहीं है। माहात्म्य पाठ में जो भिन्न-भिन्न पांच प्रयोग मिलते है, वे निम्न भांति है—

प्रथमरूप—

अरहंत नमोक्कारो, सव्वपाव पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगल ॥'

द्वितीयरूप—

'सिद्धाण नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, बीयं हवइ मंगलं ॥'

तृतीयरूप—

'आयरिय नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मगलं ॥'

चतुर्थरूप—

'उवज्झाय णमोक्कारो, सव्वपाव पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, चउट्ठं हवइ मंगलं ॥'

पंचमरूप—

'साहूण नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पंचमं हवइ मंगलं ॥'

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि भगवती जी के पाठ को प्रचलित मूलमंत्र के सन्दर्भ में नहीं जोड़ा जा सकता।

इसके सिवाय एक कारण और भी है और वह है—नवकार मंत्र के उच्चारण के विधान का प्रसग। एक स्थान पर कहा गया है कि—

'वणऽट्ठसट्ठि नवपएं, नवकारे अट्ठसंपया तत्थ ।
सगसंपयपयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया ॥२२६॥
—संप्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते—वर्णा अक्षराणि अष्टषष्टिः, नमस्कारे पचपरमेष्ठिमहामत्ररूपे भवन्तीतिशेषः । उक्तं च—

'पंचपयाण पणती—सवण चूलाइवण तित्तीसं ।
एव इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए ॥'
'सत्तपण सत्त सत्त य, नव अट्ठ य अट्ठ अट्ठ नव पट्ठुति ।
इय पय अक्खरसखा, असट्ठ पूरेइ अडसट्ठी ॥'
—अभि० रा० भाग ४, पृ० १८३६

उक्त पाठ प्रामाणिक स्थलों से उद्धृत हैं और इनमें कहा गया है कि मंत्र की पूर्णता ६८ अक्षर प्रमाण मत्र के पढ़ने पर होती है। अतः मत्र को ६८ अक्षरों मे पढ़

चाहिए। अर्थात् पूरा पाठ इस भांति ६८ अक्षरों का बोलना चाहिए—

'ण मो अ रि हं ता णं, ण मो सि द्धा णं, ण मो आइरियाणं।
ण मो उ व ज्झा या णं, ण मो लो ए स व्व सा हू ण ॥
ए सो पं च न मो क्का (या) रो, स व्व पा व प णा स णो।
मं ग ला णं च स व्वे सिं, प ढ मं ह व इ मं ग ल ॥'

यदि उक्त पदो के स्थान मे अधूरारूप—'णमो सव्व-साहूणं' बोला जाता है, तो 'लोए' ये दो अक्षर कम हो जाते है और यदि 'णमो बभीए लिवीए' बोला जाता है तो एक अक्षर कम हो जाता है। दोनो ही भांति मंत्र वैसा युक्तिसंगत नही बैठता जैसा कि इष्ट है। अतः—

निष्कर्ष निकलता है कि—अभि० राजेन्द्रकोष की पंक्तियां इस दिशा मे स्पष्ट है—

'आयरिय हरिभद्देणं जं तत्थायरिसेदिट्ठं, त सव्वं समतीए सोहिऊण लिहिअंति अन्नेहिं पि सिद्धसेण दिवायर बुड्वाइजक्खसेण देवगुत्त जस वद्धण खमासमण सीस रवि-गुत्त नेमिचदजिणदास गणि खवग सच्चसिरिपमुहेहि जुगप्प-हाण सपहरेहि बहुमन्नियमिण ति [महा० ३ अ०] अन्यत्र तु संप्रति वर्तमानाऽऽगमः, तत्र मध्ये न कुत्राप्येव नवपदाष्ट-सपदादि प्रमाणो नवकारउक्तो दृश्यते। यतो भगवत्यादा-वेवं पचपदान्युक्तानि—'नमो अरिहंताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो बंभीए लिवीए' इत्यादि।' —[अभि० रा० भाग ४, पृ० १८३७]

इसका अर्थ विचारने पर यही सिद्ध होता है कि सभी आचार्य—हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, जसवर्धन, क्षमाश्रमण शिष्य रविगुप्त, नेमिचद, जिनदासगणि आदि, ६८ अक्षरो वाले पाठ को युक्तिसगत मानते है और वही षट्खडागम के पाठ तथा अन्य आगमों के पाठों से [पचपद व पैंतीस अक्षर की मान्यता से भी] ठीक बैठता है और मत्र की एकरूपता को भी सिद्ध करता है। जब कि श्री भगवती जी का पाठ उक्त श्रेणी मे अनु-कूल नही बैठता।

भाषा और लिपि जो भी हो [दोनो ही परिवर्तन-शील है] पर, मत्रगठन और पात्रो की दृष्टि से मत्र के युक्ति-संगत-अनादित्व को सिद्ध करने वाला रूप—प्रथम-रूप ही है, जो पचपरमेष्ठी गर्भित रूप है। 'बभीए लिवीए' मूलमंत्र का अंग नहीं है। हां, यदि इस पद को मंत्र मानना इष्ट हो तो अन्य बहुत से मंत्रों की भांति आठ अक्षरों वाला एक पृथक् मत्र स्वीकार किया जा सकता है।

एक बात और, भगवती जी मे [जैसा कि पहिले मंत्र के द्वितीयरूप मे बतलाया जा चुका है] मंत्र के अंतिम पद में 'लोए' पद के न होने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि वहां मंत्र में गर्भित 'सव्व' पद के प्रयोजन को तो सिद्ध किया गया है, जो कि अन्य चार पदों की अपेक्षा विशेष है। पर, लोए का प्रयोजन नही बतलाया गया। यदि वहां 'लोए' शब्द होता तो सूत्रकार उसका भी प्रयो-जन बतलाते। क्योंकि 'लोए' भी 'सव्व' की भांति—अन्य पदों से विशेष है। तथाहि—

'यहा पर 'सव्वसाहूणं' पाठ मे 'सव्व' शब्द का प्रयोग करने से सामायिक विशेष, अप्रमत्तादिक, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, यथालिंगादि कल्पिक, प्रत्येक बुद्ध, स्वयबुद्ध, बुद्धबोधित, प्रमुख गुणवंत साधुओं को भी ग्रहण किये है।'

— विवाहपण्णत्ति [भगवती०] पृ० २, अमो० ऋ०

हा, 'क्वचित् नमो लोए सव्वसाहूणं' इति पाठः—के सदर्भ में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि—'लोए' का ग्रहण, गच्छ-गण आदि मात्र का ही ग्रहण न माना जाय, अपितु समस्त साधुओं का ग्रहण किया जाय—इस भाव मे किया गया है। इसमे क्वचित्' का अर्थ भगवती से अन्यत्र स्थलों मे ही लिया जायगा—भगवती मे नहीं।

एक स्थान पर 'बंभीलिवी' का अर्थ ऋषभदेव किया गया है। अनुमान होता है कि ऐसा अर्थ किसी प्रयोजन खास की पूर्ति के लिए किया गया होगा। अन्यथा, लिपि तो, लिपि ही है उसे ऋषभदेव के अर्थ में कैसे भी नही लिया जा सकता है। 'लिपि' मूर्ति-मात्र है और उसे नमन करना मूर्तिपूजा का द्योतक होता है—शायद, इसी दोष के निवारण के लिए किन्ही से ऐसा अर्थ किया गया हो। अस्तु, जो भी हो : स्थल इस प्रकार है—

'यहा पर सूत्रकार ने अक्षर स्थापनारूप लिपि को नमस्कार नहीं करते हुए लिपि बताने वाले ऋषभदेव स्वामी को नमस्कार किया है और भी वीरनिर्वाण पीछे ९८० वर्ष मे पुस्तकारूढ ज्ञान हुआ, इससे लिपि को

नमस्कार करना नहीं संभवता है ।'

— विवाह पण्णत्ति [वही] पृ० ३ टिप्पण, अमो. ऋ.

उक्त प्रसंग से यह तो स्पष्ट है कि षट्खंडागम एवं आगम परम्परा में सभी जगह [भगवती के अतिरिक्त] णमोकार मंत्र की एकरूपता अक्षुण्ण रही है—उसके रूप में कही भिन्नता नहीं है। अर्थात् आगम-परम्परा की दृष्टि से भगवती का पाठभेद मेल नही खाता। सम्भव है—विद्वानों ने उस पर विचार किया हो; या 'णमो बंभीए-लिवीए' पद मानते हुए और मूलमंत्र मे 'लोए' पद न मानते हुए भी मूलमंत्र की अनादि एकरूपता पर अपनी सहमति प्रकट की हो। यदि उनके ध्यान मे हो तो पत्र द्वारा दर्शाकर मुझे मार्गदर्शन दें।

स्मरण रहे कि उक्त सभी प्रसग णमोकार मत्र के 'अनादित्व' की दिशा में प्रस्तुत किया गया है। स्वतन्त्ररूप से जैन-आगमो मे वर्णित सभी मत्रो का हम सम्मान करते है, चाहे वे (वीतराग मार्ग मे) किसी रीति से—किन्ही शब्दों और गठनों मे बद्ध क्यो न किये गये हों। ब्राह्मी लिपि अनादि नही है इस सम्बन्ध मे निम्न प्रसग ही पर्याप्त है—

'लेहं लिवीविहाणं, जिणेण बंभीएदाहिणकरेण ।।

— आ. नि. भा. ४७

'लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वाल्लिपि-विधानं तच्च जिनेन भगवता ऋषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमतएव तदादित आरभ्य वाच्यते ।।'

—अभि. राजे. द्वि. पृ. ११२६

लिपिः पुस्तकाऽऽदौ अक्षरविन्यासः सा अष्टादश प्रकारापि श्रीमन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मी नामिकायार्दशिता, ततो ब्राह्मीनाम इत्यभिधीयते ।।'

—अभि. राजे. पचम पृ. १२८४

'अष्टादशलिपि ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना ।'

— त्रे. श. पु. च. १।२।९६३

उक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ जो उन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से संसार मे किया और ऋषभदेव युग की आदि मे हुए उन्हे भी अनादि नही माना जा सकता। एतावता यह टिप्पण भी मत्र के अनादित्व की दिशा में निर्मूल बैठता है कि ब्राह्मी का अर्थ ऋषभदेव किया जाए। क्योंकि मंत्र के अनादित्व मे ऋषभ अर्थ का विधान भी (ऋषभ के सादित्व के कारण) वर्ज्य है। यदि मत्र अनादि है तो उसमें ऋषभ (व्यक्ति) को नमस्कार नहीं, और यदि ऋषभ को नमस्कार है तो मंत्र अनादि नही। अतः निष्कर्ष निकलता है कि—मूलमंत्र-परमेष्टी नमस्कारात्मक रूप है और वही अनादि है—जैसा कि षट्खंडागम तथा अन्य आगमों मे कहा गया है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।।'

—षट्खंडागम—मंगलाचरणम्

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

□□□

[पृष्ठ ४९ का शेषांश]

जन्म लेते ही घर-परिवार में सुख-समृद्धि होने के कारण उनको वर्द्धमान नाम मिला। अपने शौर्य कार्यों के कारण बाल्यावस्था से ही वीर, महावीर, अतिवीर कहे जाने लगे। उनकी कुशाग्र बुद्धि को लक्षितकर लोग उन्हे सन्मति-वीर भी कहने लगे। सांसारिक भोगों से विरक्त हो आत्मोद्धार और लोकोद्धार के लिए स्वजनों और परि-जनों का मोहपाश तोड़ वन की राह पकड़ लेने पर वह निष्परिग्रह, निर्ग्रन्थ, श्रमण साधु हो गये और निगण्ठनात्त-पुत्त के नाम पुकारे जाने लगे।

उन आत्मजयी, कर्मशील, अनेकान्तवादी, जीवबन्धु, परसेवाभावी महामानव की शासन जयन्ती के अवसर पर हम उन्हे सच्ची श्रद्धांजलि तभी भेट कर सकते हैं जब हम उनके बताये हुए उन शाश्वत सिद्धान्तों को व्यवहार मे लावें जिनसे आज भी हमारा और विश्व के सभी प्राणियो का कल्याण सम्भव है।

टिप्पणी—इस लेख में उपयोग में लाये गये प्राकृत पाठ डा० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा सम्पादित 'श्री महावीर-जिन-वचनामृत' नामक पुस्तक से साभार उद्धृत है।

ज्योतिनिकुंज,
चारबाग, लखनऊ-२२६००१

रयणसार के रचयिता कौन?

□ श्री बंशीधर शास्त्री, एम० ए०,

विद्वान् लेखक ने पुष्ट युक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रयणसार कुन्द-कुन्दाचार्य की रचना नही हो सकती। पहले भी ऐसे ग्रन्थो का छानबीन द्वारा पता लग चुका है जो प्राचीन प्रसिद्ध प्रामाणिक आचार्यों के नाम से अन्यों ने लिखे हैं। संभवत: रयणसार भी ऐसी ही रचना हो। विद्वानों को शोधपूर्वक इसका निश्चय करना चाहिए, इसी पवित्र भावना से यह लेख हम यहाँ दे रहे हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक मण्डल विद्वान् लेखक के सभी विचारों से सहमत हो। इस विषय में अन्य विद्वानों के सप्रमाण भी सादर आमन्त्रित है जो यथासमय 'अनेकान्त' मे प्रकाशित किए जाएँगे। —सम्पादक

मुस्लिम शासनकाल में भारत में ऐसी परिस्थितिया हो गई थी जिनके कारण दिगम्बर जैन साधु नग्न नहीं रह सके और इन्हे वस्त्र धारण करने पड़े। ऐसे वस्त्र-धारी साधु भट्टारक कहलाते थे। प्रारम्भ मे कतिपय भट्टारकों ने साहित्य सरक्षण एवं सस्कृति की परम्परा बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान किया था। किन्तु वे वस्त्र, वाहन, द्रव्यादि रखते हुए भी अपने आपको साधु के रूप में ही पुजाते रहे। वे पीछी कमण्डल भी रखते थे। चूंकि दिगम्बर परम्परा में वस्त्रधारी और परिग्रहधारी को साधु नहीं माना जा सकता, इसलिए इन भट्टारकों ने अधि-कांश साहित्य, जो कि उस समय हस्तलिखित होने के कारण अल्प संख्या मे ही था, अपने कब्जे मे कर लिया। इन भट्टारकों ने प्रमुख केन्द्रों मे अपने-अपने मठ बना लिए, विभिन्न प्रकारों से श्रावकों से धन संचय करने लगे और इन श्रावक-श्राविकाओं को शास्त्रों और आगम परम्परा से दूर रखा। उन्होंने धर्म के नाम पर मंत्र-तंत्रादि का लोभ या डर दिखाकर कई ऐसी प्रवृत्तिया चलायीं जो दिगम्बर जैन आगम के अनुकूल नही थी। इन्होने प्राचीन साहित्य अपने अधिकार मे कर लिया और नवीन साहित्य निर्माण करने लगे, वह भी कभी-कभी प्राचीन आचार्यों के नाम पर, ताकि लोग उन्हें प्रामाणिक समझ कर उन प्रवृत्तियों का विरोध नही करें। ऐसे नव निर्मित साहित्य द्वारा उन नवीन प्रवृत्तियो का समर्थन किया गया। इन्होने त्रिवर्णाचार, सूर्य प्रकाश, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि आगम-विरुद्ध ग्रन्थो का निर्माण किया था। स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० परमेष्ठीदास जी जैसे विद्वानों ने इनकी समीक्षा कर स्थिति स्पष्ट कर दी है।

यह ठीक है कि आगरा-जयपुर के विद्वानों द्वारा ज्ञान के सतत प्रसार से उत्तर भारत मे इन भट्टारकों का अस्तित्व समाप्तप्राय हो गया है। तदपि कुछ भाई, जिनमें विद्वान् एव त्यागी भी है, फिर भी भट्टारक परम्परा को प्रोत्साहन देना चाहते है और उन भट्टारकों द्वारा रचित ग्रन्थों का प्रचार करते हैं।

ऐसे ग्रन्थों में 'रयणसार' भी एक है। यद्यपि इसे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित बताया जाता है, किन्तु इस ग्रन्थ की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित नही हो सकता। अपने विचार प्रस्तुत करने से पूर्व मैं कतिपय साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों के मत उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ :—

स्व० डा० ए० एन० उपाध्याय ने प्रवचनसार की भूमिका मे इस प्रकार लिखा है—

"रयणसार ग्रन्थ गाथा विभेद, विचार पुनरावृत्ति, अप-

भ्रंश पद्यों की उपलब्धि, गण गच्छादि का उल्लेख और बेतरतीबी आदि को लिए हुए जिस स्थिति में उपलब्ध है उस पर से वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्द का नहीं कहा जा सकता। कुछ अतिरिक्त गाथाओं की मिलावट ने उसके मूल में गड़बड़ उपस्थित कर दी है और इसलिए जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायं तब तक यह विचाराधीन ही रहेगा कि कुन्दकुन्द इस रयणसार के कर्ता है।"

पुरातन ग्रन्थो के पारखी स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का रयणसार के सम्बन्ध मे भिन्न मत है—

"यह ग्रन्थ अभी बहुत कुछ संदिग्ध स्थिति मे स्थित है। जिस रूप मे अपने को प्राप्त हुआ है उस पर से न तो इसकी ठीक पद्य सख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णतः मूल रूप का ही पता चलता है। ग्रन्थ प्रतियों मे पद्य सख्या और उनके क्रम का बहुत बड़ा भेद पाया जाता है। कुछ अपभ्रश भाषा के पद्य भी इन प्रतियो में उपलब्ध है। एक दोहा भी गाथाओ के मध्य मे आ घुसा है। विचारो की पुनरावृत्ति के साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है, 'गण गच्छादि के उल्लेख भी मिलते हैं, ये सब बातें कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की प्रवृत्ति के साथ संगत मालूम नही होती, मेल नहीं खाती।"

—(पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना)

स्व० डा० हीरालाल जी जैन ने अपने 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' शीर्षक ग्रन्थ मे रयणसार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :—

"इसमें एक दोहा व छः पद अपभ्रश भाषा में पाये जाते हैं। या तो ये प्रक्षिप्त है या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर उत्तरकालीन लेखक की कृति है; गण गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षा कृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।" —पृ० १०५

श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने 'कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न' शीर्षक पुस्तक में रयणसार के सम्बन्ध मे निम्न मत प्रस्तुत किया है :—

यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य रचित होने की बहुत कम सम्भावना है, अथवा इतना तो कहना ही चाहिए कि उसका विद्यमान रूप ऐसा है जो हमें सन्देह में डालता है। इसमें अपभ्रंश के कुछ श्लोक है और गण-गच्छ और संघ के विषय में जिस प्रकार का विवरण है वह सब उनके अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। (पृ० २०)

प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने रयणसार को 'कुदकुन्द भारती' नामक कुन्दकुन्द के समग्र साहित्य में इसलिए सम्मिलित नहीं किया कि इसमें गाथा सख्या विभिन्न प्रतियों मे एकरूप नही है। कई प्राचीन प्रतियों में कुन्दकुन्द का रचनाकार के रूप में नाम नहीं है।

स्व० डा० नेमीचन्द जी ज्योतिषाचार्य ने तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा के दूसरे खण्ड मे पृष्ठ ११५ पर रयणसार के सम्बन्ध मे डा० उपाध्ये का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'वस्तुत शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नही होता।'

डा० लालबहादुर शास्त्री ने अपने 'कुन्दकुन्द और उनका समयसार' नामक ग्रन्थ मे रयणसार का परिचय देकर लिखा है कि 'रयणसार की रचना गम्भीर नहीं है, भाषा भी स्खलित है, उपमाओं की भरमार है। ग्रन्थ पढ़ने से यह विश्वास नही होता कि यह कुन्दकुन्द की रचना है। यदि कुन्दकुन्द की रचना यह रही भी होगी तब इसमे कुछ ही गाथाएं ऐसी होंगी जो कुन्दकुन्द की कही जा सकती है। शेष गाथाएं व्यक्ति विरोध में लिखी हुई प्रतीत होती है। गाथाओं की सख्या १६७ है। (पृ० १४२) (इस ग्रन्थ का विमोचन उपाध्याय श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वाद से हुआ है)।

इस प्रकार उक्त विद्वानों व अन्य प्रमुख विद्वानों द्वारा भी रयणसार कुन्दकुन्द की रचना नही मानी गयी है।

इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्दाचार्य कृत न मानने के कुछ और भी कारण है जिन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

१. इसमें विषयों का व्यवस्थित वर्णन नही हैं। दान, सम्यग्दर्शन, मुनि, मुनिचर्या आदि का क्रमश.-वर्णन न होकर कभी दान का, कभी सम्यग्दर्शन का, कभी पूजन का, कभी मुनि का वर्णन इधर-उधर अप्रासंगिक रूप से, असंबद्ध रूप से मिलता है।

१. कुन्दकुन्दके सभी 'सार' ग्रन्थों (प्रवचनसार, नियमसार और समयसार) पर संस्कृत टीकाएं उपलब्ध है जबकि इसी तथाकथित 'सार' (रयणसार) की सस्कृत टीका नहीं है। प्राचीन काल में कुन्दकुन्द के उक्त तीनों ग्रन्थ नाटकत्रयी के नाम से विख्यात है और यदि उनके सामने यह 'रयणसार' उपलब्ध होता तो नाटकत्रयी ही क्यों कहते ?

२. कुन्दकुन्दाचार्य से लेकर १७वीं शताब्दी तक न तो इसकी कोई हस्तलिखित प्रति मिलती है, न किसी भी आचार्य या विद्वान् ने उस समय तक इसका कोई उल्लेख या उद्धरण दिया है। कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र, पद्मप्रभुमलधारी, जयसेन आदि टीकाकारो ने भी इसका कही भी उल्लेख नही किया। प० आशाधर, श्रुतसागर आदि टीकाकारो ने भी अपनी टीकाओ मे इसका उल्लेख नही किया, जबकि उनकी टीकाओ मे प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरण प्रचुरता से मिलते है।

३. १७वी शताब्दी से पूर्व की इसकी कोई हस्तलिखित प्रति लेखनकाल युक्त अभी तक नही मिली। कोई व्यक्ति किसी प्रति को अनुमान से किसी भी काल की बता दे, वह बात प्रामाणिक नही कही जा सकती।

४. कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ मे विषय को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है जबकि इसमे पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के शब्दो मे, विषय बेतरतीबी से प्रस्तुत किये गये है। वैसे कहा यह जाता है कि 'रयणसार' की रचना प्रवचनसार और नियमसार के पश्चात् की गई थी (देखें रयणसार प्रस्तावना डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृ० २१)। किन्तु रयणसार एवं इन ग्रन्थों की तुलना से विदित हो जाता है कि प्रवचनसार और नियमसार जैसे प्रौढ़ एव सुव्यवस्थित ग्रन्थों का रचयिता रयणसार जैसी संकलित, अव्यवस्थित, पूर्वापर-विरुद्ध और आगम विरुद्ध रचना नही लिखेगा। (इसके आगम विरुद्ध मंतव्यों का आगे विवेचन किया जायगा)।

५. इसकी विभिन्न प्रतियों मे गाथा संख्याएँ समान नहीं है, वे १५२ से लेकर १७० तक है।

६. कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों मे उच्चस्तरीय प्राकृत भाषा के दर्शन होते है, उनके काल में अपभ्रंश भाषा थी ही नहीं। उसका प्रचलन एवं प्रयोग कुन्दकुन्द के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ है। फिर अपभ्रश की गाथायें रयणसार में कैसे आ गईं। डा० लालबहादुर जी शास्त्री के शब्दों में, इसकी भाषा स्खलित है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना कुन्दकुन्द के बहुत काल बाद जब अपभ्रंश का प्रयोग होने लगा होगा, अन्य किसी द्वारा लिखी जाकर कुन्दकुन्दाचार्य के नाम से प्रचारित की गई होगी :

१७वी-१८वी शताब्दी मे अचानक इस ग्रन्थ का प्रादुर्भाव कैसे हुआ यह अभी तक स्पष्ट नही हो सका है। यह ठीक है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक मे कुन्दकुन्द का नाम बिना दिये 'रयणसार' की एक गाथा उद्धृत की गई है। पाठको को ध्यान रहे कि इस ग्रन्थ मे अजैन ग्रन्थों के उद्धरण भी यथा प्रसग उद्धृत किये गये है, अत: उसी प्रकार रयणसार की गाथा भी उद्धृत की गई हो तो क्या आश्चर्य है ? १८वी १९वी शताब्दी मे हुए भूधरदास जी एवं प० सदासुखजी ने इसे कुन्दकुन्द कृत कहा है। सम्भव है कि उस समय कुन्दकुन्द का नाम होने के कारण इस ग्रन्थ का विषय, सिद्धान्त, शैली आदि का विशेष विवेचन न किया गया होगा और इसे कुन्दकुन्द की रचना लिख दी हो, जैसा कि आज भी हो रहा है। कुछ लोग इसके प्रचार के कारण इसे कुन्दकुन्द कृत मान लेते है और दूसरे से ये पूछते है कि इसे क्यों नही मानते।

रयणसार को कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध करने के लिए इसमे मगलाचरण, अन्तिम पद व कई विषय ऐसे लिखे गये है जो कुन्दकुन्द की रचना से साम्यता लिए हुए प्रतीत हों और दूसरी ओर कुन्दकुन्द एवं दिगम्बर मान्यता से असम्मत मत भी इसमें प्रस्तुत कर दिये गये है ताकि लोग उन असम्मत मतो को भी कुन्दकुन्दाचार्य कृत मान लें।

अब रयणसार की ऐसी गाथाओं पर विचार किया जाता है जो आगम परम्परा, कुन्दकुन्दाचार्य कृत अन्य रचनाओं एवं रयणसार की ही अन्य गाथाओं के विपरीत मान्यता वाली है।

दान के प्रसग मे पात्र और अपात्र का विचार न करने वाली निम्न गाथा उल्लेखनीय है :

दाणं भीयणामेत्त दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेस संदसणे किं विधारेण ॥४॥

यदि गृहस्थ आहार मात्र भी दान देता है तो धन्य हो जाता है। साक्षात्कार होने पर उत्तम पात्र-अपात्र का विचार करने से क्या लाभ ?

इसी गाथा के आगे १५ से २०वी गाथा में उत्तम पात्र को ही दान देने का फल बताया है, न कि अपात्र को दान देने का फल। कुन्दकुन्दाचार्य कृत किसी भी रचना में नहीं लिखा है कि अपात्र को दान देना चाहिए।

प्रवचनसार की गाथा २५७ में अपात्र को दान देने का फल इस प्रकार बताया है :

जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय कषायो में अधिक हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा उपकार या दान कुदेव रूप में और कुमानुष रूप में फलता है।

वसुनन्दी श्रावकाचार में २४२वीं गाथा में अपात्र दान का फल निम्न प्रकार लिखा है :

जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज कुछ भी नही उगाता है उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान भी फल रहित जानना चाहिए।

शास्त्रकारों ने मिथ्यादृष्टि को अपात्र कहा है और उसे दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है। दर्शन पाहुड की टीका मे लिखा है कि मिथ्या-दृष्टि को अन्नादिक का दान भी नहीं देना चाहिए। कहा भी है— मिथ्या दृष्टि को दिया गया दान दाता को मिथ्यात्व बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार सागारधर्मामृत में लिखा है—चारित्राभास को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिए ही होता है। (२१-६४/१४६)।

उपासकाध्ययन मे उस दान को सात्विक कहा गया है जिसमे पात्र का परीक्षण व निरीक्षण स्वयं किया गया हो और उस दान को तामस दान कहा गया है जिसमें पात्र-अपात्र का ख्याल न किया गया हो। सात्विक दान को उत्तम एवं सब दानों में तामसदान को जघन्य कहा गया है। (८२९-३१)।

पाठक विचार करें कि अपात्र के दान का इस प्रकार का फल होने पर कुन्दकुन्दाचार्य जैसा महान् आचार्य कैसे कह देता कि पात्र-अपात्र का क्या विचार करना ?

वस्तुतः ऐसी गाथा कोई भट्टारक या शिथिलाचारी ही लिख सकता है जो चाहता है कि लोग उसे आहार दान देते ही रहें, चाहे उसके आचरण कैसे ही क्यों न हों। उनकी परीक्षा न करे और एक बार आहार देने पर उसकी फिर परीक्षा करना या शिथिलाचारी या अनाचारी मान लेने पर भी उसको प्रकाश में लाना सम्भव नही हो सकेगा।

यशस्तिलक चम्पू काव्य में उक्त १४वीं गाथा के आशय का निम्न श्लोक मिलता है—

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्त, सन्त्व-सन्तो वा गृहीदानेन शुद्धयति ॥३३॥

उक्त चम्पू काव्य उत्तरकालीन रचना होने के साथ-साथ एक काव्य ग्रन्थ है, जिसको आचार शास्त्र या दर्शन की मान्यता नही दी जा सकती। वैसे सिद्धान्त की दृष्टि से उक्त श्लोक भी आगम परम्परा के प्रतिकूल ही है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ सच्चे साधु को ही वन्दनापूर्वक आहार दे सकता है, वह असाधु की वन्दना नहीं कर सकता।

आज भी शिथिलाचारियों के विरोध की बात पर उक्त गाथा की दुहाई दी जाती है और उनको दान देने का समर्थन किया जाता है। रयणसार की अन्य गाथाओं मे उत्तम पात्र को दान देने वाली जो गाथायें है उन्हे उद्धृत नही किया जाता, किन्तु १४वी गाथा अवश्य उद्धृत की जाती है। समणसुत्त मे भी उक्त गाथा का समावेश किया है, जब कि उत्तम पात्र को दान देने की प्रेरणा देने वाली न केवल रयणसार मे अपितु अन्य सभी शास्त्रों में गाथाएँ है, किन्तु वे गाथाएँ समणसुत मे नही दी गई है।

इस प्रकार की गाथाओं से अपात्रों—मिथ्यादृष्टि, शिथिलाचारी एवं अनाचारी को प्रोत्साहन एव समर्थन मिलता है। ऐसी गाथा कुन्दकुन्द जैसे आगम परम्परा के संस्थापक की नही हो सकती।

मुनि के आहार के पश्चात् प्रसाद दिलाने वाली निम्न गाथा भी विचारणीय है—

जो मुनिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुजए जिणुवदिट्ठ।
संसार-सार-सोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२॥

जो जीव मुनियों के आहार दान देने के पश्चात् अवशेष अंश को सेवन करता है वह ससार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ने अवशेष अंश के लिए लिखा है कि इसको प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए, इसका दानसार में महत्व बताया गया है।

अब तक मैंने रयणसार की ४-५ मुद्रित प्रतियां देखी है, उनमें यह गाथा उक्त रूप मे ही लिखी गई है। समणसुत्त मे भी उक्त गाथा इसी रूप में सम्मिलित की गई है किन्तु अभी डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार इस गाथा मे आगत 'मुनिभुत्तवसेसं' को मुणिभुक्ताविसेस लिखा गया है। यह परिवर्तन सम्भवतः इसी लिए किया गया है कि प्रसाद खाने का जैन परम्परा से किसी प्रकार औचित्य सिद्ध नही होता, अन्यथा इस परिवर्तन का कारण उन्होंने नही बताया।

निम्न गाथा में मुनि के लिए देय पदार्थों की सूची दी गई है—

हिय मिय-मण्णं पाण णिरवज्जोसहिं णिराउल ठाणं।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरम्रो ॥२३॥

मोक्षमार्ग मे स्थिर (गृहस्थ) (मुनि के लिए) हितकर परिमित अन्नपान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन, आसन, उपकरण को समझकर देता है। (डा० देवेन्द्रकुमार जी ने भावार्थ मे उपकरण के बाद कोष्ठक मे "आदि" और लिखा है)। मुनि के लिए शयन, आसन, उपकरण और आदि क्या है? आज मुनिगण अपने इन शयन, आसन, उपकरण आदि के नाम पर इतना परिग्रह रखते है कि उन्हें लाने ले जाने के लिए बड़ी-बड़ी बसें चाहिए। इतने परिग्रह को रखते हुए वे मुनि निर्ग्रथ दिगम्बर कैसे कहला सकते है?

निम्न गाथा मे सप्त क्षेत्रों मे दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है—

इह णियसुवित्तबीय जो ववइ जिणुत्तसत्त खेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफल भुंजदि कल्लाणपंचफल ॥१६॥

इस लोक में जो व्यक्ति निज श्रेष्ठ धन रूप बीज को जिनदेव द्वारा कथित सप्तक्षेत्रों में बोता है वह तीन लोक के राज्य फल-पंचकल्याणक रूप फल को भोगता है।

इन सप्तक्षेत्रों का किसी प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेख देखने मे नहीं आया। डा० देवेन्द्रकुमार जी ने भावार्थ में सप्तक्षेत्र इस प्रकार लिखे है—१. जिन पूजा, २. मन्दिर आदि की प्रतिष्ठा, ३. तीर्थयात्रा, ४. मुनि आदि पात्रों को दान देना, ५. सहधर्मियों को दान देना, ६. भूखे-प्यासे तथा दुखी जीवों को दान देना, ७. अपने कुल व परिवार वालों को सर्वस्वदान करना। कुन्दकुन्दाचार्य, उनके टीकाकार व अन्य आचार्यों के ग्रन्थों मे क्षेत्र के ये भेद देखने में नहीं आए। प्राचीन ग्रन्थों में उत्तम, मध्यम एवं जघन्य पात्रो के नाम से तीन भेद पात्रों के है, फिर कुपात्र एव अपात्र है; ये सप्तक्षेत्र कब से किस शास्त्रकार ने मान्य किये है, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। इनमें अतिम चार क्षेत्र दत्तियो (पात्रदत्ति, समदत्ति, दयादत्ति और अन्वयदत्ति) के नाम से आदिपुराण मे भरत चक्रवर्ती ने अवश्य बताये है। पुत्र-परिवार को समस्त धन संपदा देना तीन लोक के राज्य फलस्वरूप पचकल्याण रूप फल अर्थात् तीर्थंकर पद देता है, ऐसा कुन्दकुन्द या अन्य किसी आचार्य ने नही लिखा। सभी मनुष्य मरते समय या वैसे भी अपनी धन-संपदा पुत्र परिवार को दे जाते है। क्या वे तीर्थकर प्रकृति के फल को पाते है? ऐसा कथन कर्म सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। स्वयं डा० देवेन्द्रकुमार जी भी उक्त गाथा से सहमत नही दिखते है, इसीलिए उन्होंने भावार्थ में 'पचकल्लाणफल' का अर्थ नही दिया। उत्तम पात्र मुनि को धन देने के लिए कुन्दकुन्द जैसे निर्ग्रथ तपस्वी कैसे कह सकते थे? उनकी गाथाओं में तो मुनि को द्रव्य देना पापमूलक ही बताया गया है।

गाथा सख्या २ में सम्यग्दृष्टि का निम्न स्वरूप बताया है—

पुव्वं जिणेहिं भणियं जहट्ठियं गणहरेहिं वित्थरियं।
पुव्वाइरियक्कमजं त बोल्लइ सोहु सद्दिट्ठी ॥२॥

(जो) पूर्वकाल मे सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए, गणधरों द्वारा विस्तृत तथा पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त वचन को ज्यों का त्यों बोलता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि का ऐसा लक्षण इसी ग्रन्थ में मिलता है अन्यत्र शायद ही मिले।

गृहस्थ के आवश्यक षट्कर्मों में दान का अन्तिम स्थान है, किन्तु रयणसार के कुन्दकुन्द्र दान को देव पूजा से भी पहले मुख्य स्थान देते है—

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।

श्रावक के षट्कर्त्तव्यों का क्रम इस प्रकार है—देव-पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। दान का अन्तिम स्थान होते हुए भी स्वाध्याय, संयम, तपादि की सर्वथा उपेक्षा कर दान को प्रथम स्थान देना तथा १५५ गाथाओं के ग्रन्थ मे दान की व्याख्या एवं प्रशंसा मे ३०-३१ गाथाएँ लिखना बताता है कि इस ग्रन्थकार को दान अतिप्रिय था। भट्टारकगण नाना प्रकारो से धन संग्रह किया करते थे। षट् कर्त्तव्यों मे दान को मुख्य एवं प्रथम स्थान देना उसका सर्वोच्च फल तीर्थंकर पद एवं निर्वाण आदि बताना केवल इसीलिए था कि भक्त लोग उन्हें दान देते रहें।

मेरा आशय यह नही है कि दान का कोई महत्व नही है। श्रावक के कर्त्तव्यो मे उसका अन्तिम स्थान है (जो कि तर्कसिद्ध एवं बुद्धिगम्य भी है)। उसको उसके बजाय प्रथम स्थान कैसे दिया गया ? इस ग्रन्थ में श्रावक के अन्य आवश्यकों, व्रतों, प्रतिमाओं का नामोल्लेख मात्र किया गया है

इस ग्रन्थ की ७वी गाथा मे सम्यग्दृष्टि के चवालीस (सपादक के शब्दो मे) दूषण न होना बताया है। २५ दोष, ७ व्यसन, ७ भय एवं अतिक्रमण-उल्लघन ५ इस प्रकार कुल ४४ दोष बताए गए है। परम्परा में सम्यग्दृष्टि के २५ दोषों का उल्लेख तो यथा प्रसग सर्वत्र मिलता है किन्तु इन ४४ दोषों का उल्लेख अन्यत्र देखने मे नही आया। कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती किसी आचार्य या टीकाकार ने इनका उल्लेख नही किया। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उक्त आचार्यों के समक्ष यह रयणसार न रहा हो। अतिक्रमण-उल्लंघन के ५ अतिचार कौन से है यह भी देखने मे नही आया। डा० देवेन्द्र-कुमार ने व्रत नियम के उल्लंघनस्वरूप ५ अतिचार लिखे हैं। १२ व्रतों के ५-५ अतिचार होते हैं सो वे व्रत नियम के ५ अतिचार कौन से हैं यह स्पष्ट किये जाने की आवश्यकता है।

मुनि के लिए विभिन्न वस्तुओ में ममत्व का निषेध इस प्रकार किया गया है:—

वसदी पडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंघजाइकुले।
सिस्सपीड सिस्सछत्ते सुयजाते कप्पड़े पुत्थे ॥१४४॥
पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइममयारं।
यावच्च अट्टरुद्द ताव ण मुचेदि ण हु सोक्खं ॥१४६॥

(यदि साधु वसतिका, प्रतिमोपकरण मे, गणगच्छ में शास्त्र संघ जाति कुल में, शिष्य-प्रतिशिष्य छात्र में, सुत प्रपौत्र मे, कपड़े मे, पोथी में, पीछी मे, विस्तर मे, इच्छाओं में लोभ से ममत्व करता है और जब तक आर्त्तरौद्र ध्यान नही छोड़ता है तब तक सुखी नहीं होता है।)

क्या दिगम्बर जैन साधु कपड़े, प्रतिमोपकरण, विस्तर आदि रखता है, जो उनके प्रति ममत्व का फल बताया गया है। ये गाथाएँ किसी अदिगम्बर द्वारा लिखी हुई हो तो कोई आश्चर्य नही है। उक्त गाथा में प्रयुक्त 'गण गच्छ' का गठन कुन्दकुन्द के बहुत काल बाद हुआ है। उमास्वामी ने अपने सूत्र २४ अध्याय ९ मे गण शब्द का प्रयोग उक्त गणगच्छ के अर्थ मे नही किया है। डा० देवेन्द्रकुमार जी ने उमास्वामी के उक्त सूत्र का हवाला देते हुए कुन्दकुन्द कृत ही माना है, किन्तु उनके काल में गण या गच्छों का गठन नही हुआ यह तो निश्चित ही है। उत्तरकालीन रचनाओ मे ही गण-गच्छ का प्रयोग मिलता है। इसीलिए डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरा-लाल जी, प० जुगलकिशोर जी मुख्तार सदृश अधिकारी विद्वानों ने इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्द की रचना मानने में सन्देह व्यक्त किया है।

ग्रथकार ने इस रयणसार को न पढ़ने सुनने वाले को मिथ्यादृष्टि बताया है—

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु
सुणेइ ण हु पढ़इ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ
कुदिट्ठी ॥१५४॥

जो व्यक्ति इस ग्रन्थ को नही देखता, नहीं मानता, नहीं सुनता, नही पढ़ता, नहीं चिंतन करता, नही भाता है वह व्यक्ति ही मिथ्यादृष्टि होता है।

क्या कुन्दकुन्द जैसे महान् ग्रन्थकार इस रचना को न देखने, न पढ़ने, न सुनने, न मानने वाले को मिथ्यादृष्टि बताते ? ऐसी गाथा की रचना तो अपने ग्रन्थ की महत्ता दिखाने के लिए भट्टारक ही कर सकते है। न कि संसार-त्यागी आत्मसाधना मे लीन कुन्दकुन्दचार्य।

इस ग्रन्थ में ऐसी ही अन्य गाथाएँ है जिनका सूक्ष्म परीक्षण करने से इनमे विषमताएँ एव विपरीतता मिलेगी।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अपनी प्रस्तावना में इसे कुन्दकुन्द कृत मानने का प्रयास किया है। उन्होने प्रस्तावना के पृ० ६२ पर 'रचनाएँ' शीर्षक पैरा मे लिखा है कि श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य कुन्दकुन्द की २२ रचनाओं का उल्लेख किया है जो वहा उल्लिखित हैं। इस सूची मे रयणसार का नाम भी है। इस सूची के साथ रयणसार के सम्बन्ध में श्री मुख्तार साहब का उक्त मत उद्धृत नही किया जिससे पाठक यही समझें कि मुख्तार साहब रयणसार को कुंदकुंद कृत ही मानते थे, जब कि वास्तविक स्थिति दूसरी ही है।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अनेकान्त के जनवरी-मार्च ७६ के अक में 'रयणसार-स्वाध्याय परम्परा मे' शीर्षक लेख मे लिखा है—"रयणसार नाम की एक अन्य कृति का उल्लेख दक्षिण भारत के भण्डारों की सूची मे हस्त-लिखित ग्रन्थों में किया गया है। श्री दिगम्बर जैन म० चित्तामूर, साउथ आरकाड, मद्रास प्रात मे स्थित शास्त्र-भण्डार में क्रम सं० ३६ मे प्राकृत भाषा के रयणसार ग्रन्थ का नामोल्लेख है और रचयिता का नाम वीरनन्दी है जो संस्कृत टीकाकार प्रतीत होते है। इस टीका की खोज करनी चाहिए।" समझ में नही आया कि डाक्टर साहब ने ग्रथ को बिना देखे ही कैसे मान लिया कि वीर-नन्दी सस्कृत टीकाकार प्रतीत होते है जबकि उन्होंने स्वय सूची में रचयिता के स्थान पर वीरनन्दी का नाम स्पष्ट लिखा हुआ बताया है। चूंकि प्रति सामने नही है, अतः अन्य कल्पना करना ठीक नही है। फिर भी प्राप्त सूचनानुसार सूची में "प्राकृत भाषा के रयणसार के कर्ता का नाम वीरनन्दी है, न कि कुंदकुंद।" जब तक इसे गलत सिद्ध नही किया जावे इस सूची के वर्णन को सही मानना समीचीन होगा। मध्यकाल में वीरनन्दी हुए हैं, उन्होंने आचारसार लिखा था। सम्भव है रयणसार भी उन्हीं का लिखा हुआ हो।

विद्वान् सम्पादक डा० देवेन्द्रकुमार जी ने इसकी कई गाथाएँ प्रक्षिप्त बतलाकर मूल ग्रन्थ से अलग प्रस्तुत की हैं, किन्तु फिर भी ग्रन्थ में कुछ गाथाएँ ऐसी और हैं जिन पर क्षेपक लिखा हुआ है अतः इसके मूल अंश और क्षेपकांश का निर्णय हो पाना सहज नहीं है।

अतः अंतरंग-बहिरंग परीक्षण से यह ग्रंथ वीतराग परम तपस्वी दिगम्बर कुंदकुंदाचार्य द्वारा लिखा हुआ नहीं मालूम होता, अपितु किसी भट्टारक या और किसी के द्वारा उनके नाम पर लिखा हुआ प्रतीत होता है।

विद्वानों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का सम्यक् प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन कर अपना मंतव्य प्रस्तुत करें ताकि लोगों को सही स्थिति ज्ञात हो जावे।

जयपुर उद्योग लि०
सवाई माधोपुर (राजस्थान)

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

□

अग्रवाल जैन जाति के इतिहास की आवश्यकता

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

भगवान महावीर के समय जैन समाज जातियो में विभक्त नही था। सभी वर्ण और जाति के लोग जैन धर्म का पालन करते थे। एक ही घर में कोई जैन था तो कोई वैदिक व बौद्ध। पर आगे चलकर इससे एक बड़ी अड़चन उपस्थित हो गई, क्योंकि घर मे कोई मासाहारी था तो कोई शाकाहारी; कोई वैदिक धर्म पालता था, कोई बौद्ध धर्म तो आपस मे एक खीचा-तानी होती रहती थी। फिर विवाह-सम्बन्ध में भी असुविधा होने लगी। अपने-अपने धर्म और समाज के आचार-विचार में कट्टरता रखने वाले दूसरों के साथ द्वेष करने लगे। कभी-कभी तो एक-दूसरे को मार डालने का भी प्रयत्न हुआ। तब जैनाचार्यों ने जहाँ-जहाँ हजारो लाखों लोगों को जैनी बनाया वहां उनका एक अलग सगठन बना दिया, जिससे उन सब में धार्मिक और सामाजिक एकता और सद्भाव उपस्थित हो गया। स्वधर्मी वात्सल्य को प्रधानता दी गई, जिससे एक दूसरे को पूरी मदद करके धर्ममे स्थिर रखा जा सके। व्यावहारिक अर्थ उपार्जन व विवाह आदि मे भी अड़चन न हो।

वर्तमान मे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायों में कई वंश या जातिया है जो स्थान विशेष के नाम से प्रसिद्ध है, जैसे ओसवाल, श्रीमाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल, बघेरवाल, पोरवाल, पद्मावती पुरवाल, परमार (परवार) आदि। इनमें से कुछ जातियां तो मुख्यरूप से श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी है और कुछ दोनों सम्प्रदायों को मान्य करती है। इनमे से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ओसवाल मुख्य है और दिगम्बर सम्प्रदाय में खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार (परमार) आदि। अग्रवाल जाति ऐसी है जिनमे जैनेतर भी बहुत हैं और जैन भी। जैन मे भी दिगम्बर सम्प्रदाय प्रधान है वैसे स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय के भी हैं। अग्रवाल जाति वालो की संख्या बहुत बड़ी है।

अग्रवाल जाति के सम्बन्ध में छोटे-बड़े बीसों इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें तीन ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(१) डा० सत्यकेतु विद्यालंकार लिखित—'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास', प्रकाशक श्री सरस्वती सदन, मंसूरी. प्रथमावृत्ति सन् १६३८। द्वितीयावृत्ति सन् १६७६ मूल्य ५ रुपया। पता ए-१/३२ सफदरजंग एक्सटेंशन, नई दिल्ली-१६।

(२) श्री परमेश्वरी लाल गुप्त लिखित—'अग्रवाल जाति का विकास' सन् १६४२।

(३) श्री चन्द्रराज भण्डारी—'अग्रवाल जाति क इतिहास' भाग १-२। इनमें से सत्यकेतु की द्वितीया वृत्ति के पृष्ठ ११६ मे लिखा है कि अग्रसेन के पुत्र विभु उसके पुत्र नेमिनाथ उसके बाद विमल, शुकदेव, धनञ्जय और श्रीनाथ क्रमशः राजगद्दी पर बैठे। श्रीनाथ का पुत्र दिवाकर था। इसने पुराने परम्परागत धर्म को छोड़कर जैनधर्म की दीक्षा ली। जैन अग्रवालों मे यह अनुश्रुति चली आती है कि श्री लोहाचार्य स्वामी अगरोहा गए और वहां उन्होने बहुत से अग्रवालो को जैनधर्म की दीक्षा दी। जैनों के अनुसार, उस समय अगरोहा मे राजा दिवाकर राज्य करते थे। वे श्री लोहाचार्य स्वामी के शिष्य हो गए, और उनके अनुकरण मे अन्य भी बहुत से अगरोहा निवासियों ने जैनधर्म को स्वीकार किया। अग्रवालों में बहुसंख्या मे लोग जैनधर्म के अनुयायी हैं। वे सब श्री लोहाचार्य स्वामी को अपना गुरु मानते हैं।

इस अनुश्रुति का प्रमाण जैन ग्रन्थों में ढूंढ़ सकना सुगम नहीं है। जैन पुस्तकों में दो लोहाचार्यों का उल्लेख आया है। पहले चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन भद्रबाहु स्वामी के शिष्य श्री लोहाचार्य थे। ये आचार्य ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए। यह कहना बहुत कठिन

है कि इन दो लोहाचार्यों में से किसने अगरोहा जाकर दिवाकर को जैनधर्म मे दीक्षित किया। पर 'अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम्' में भी राजा दिवाकर का उल्लेख होना और उसे जैन बताना सूचित करता है कि जैन अग्रवालों में प्रचलित अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य पर आश्रित है।

भविष्यपुराण के केदारखण्ड के लक्ष्मी माहात्म्य प्रकरण मे अग्रवैश्यवंशानुकीर्तन मे लिखा है—

दिवाकरो जैनमते शिखिनं पर्वत गतः।
तन्मतं पालयामास जनैः सर्व गणैः वृतः ।।१५६।।

दिवाकर जैन मत में (गया), उसने पर्वत शिखर पर जाकर जैनो के समूह से घिरा रहकर जैन मत का पालन किया।

जैन ग्रन्थो मे अग्रवाल जैन जाति के सम्बन्ध मे विशेष विवरण किस ग्रन्थ मे क्या मिलता है, प्रकाश मे आना चाहिए। अग्रवालो को जैन बनाने वाले लोहाचार्य के सम्बन्ध मे भी दिगम्बर विद्वानों को विशेष प्रकाश डालना चाहिए।

अग्रवाल जाति के इतिहास लेखकों ने जैन ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग नही किया, इसलिए यहा तक लिख देना पड़ा कि अग्रवाल शब्द का प्रयोग मुसलमानी साम्राज्य के समय का है। पर वास्तव मे इससे पहले के भी प्रयोग जैन प्रशस्तियों मे प्राप्त है। प्रशस्तियो और पुष्पिकाओ-लेखन प्रशस्तियो में मध्यकालीन अग्रवाल जैनों सम्बन्धी काफी ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। उसके अभाव मे अग्रवाल इतिहास लेखको को लिखना पड़ा कि मध्यकाल की सामग्री नही मिलती। सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ के नये संस्करण में, मध्यकाल मे अग्रवाल जाति नामक चौथे परिशिष्ट मे केवल सात विशिष्ट खानदानों का ही विवरण दिया है। उनमे केवल लाला हरसुखराय दिल्ली वाले एक ही जैन है, जब कि जैन प्रशस्तियो मे पच्चीसो विशिष्ट खानदानो का विवरण मिलता है।

अग्रवालों के १८ गोत्र माने जाते है, पर जैन प्रशस्तियो में २ नये गोत्रों के नाम भी मिले है। वास्तव मे जैन सामग्री का ठीक से उपयोग करने पर बहुत से नये तथ्य अग्रवाल जाति के इतिहास के सम्बन्ध में प्रकाश में आयेंगे। 'अनेकान्त' पत्र में पं० परमानन्द शास्त्री के कई लेख अग्रवाल जैनों सम्बन्धी प्रकाशित हुए हैं। वे बहुत ही महत्वपूर्ण है।

चन्द्रराज भण्डारी ने दो बड़ी-बड़ी जिल्दों में अग्रवाल जाति का इतिहास प्रकाशित किया है। उनका उद्देश्य व्यावसायिक था, इसलिए उन्होंने वर्तमान में अग्रवालो के विशिष्ट खानदानों व व्यक्तियों, उनका सचित्र विवरण प्रकाशित करने का ही विशेष ध्यान रखा है। पर उनमें भी अग्रवाल जैनो को बहुत ही कम स्थान मिला है, जबकि सैकड़ो विशिष्ट व्यक्ति और खानदान अग्रवाल जैनों के आज भी है जिनका विवरण उनके बड़े ग्रन्थ मे नही आ पाया।

खोज के अभाव मे स्वयं जैन समाज को ही मालूम नही है कि उनमे कौन-कौन से विशिष्ट अग्रवाल जैन कहां-कहा बस रहे है। बहुत से व्यक्तियो के नाम के आगे सरावगी या जैन शब्द रहते है, पर वे किस जाति के है ये मुझे भी पता नही था। अभी अग्रवाल इतिहास को देखने पर मालूम हुआ कि अपने को सरावगी व जैन बतलाने वाले कई विशिष्ट व्यक्ति अग्रवाल जाति के है। इसलिए अग्रवाल जैनो का स्वतन्त्र इतिहास प्रकाशित किया जाना बहुत ही आवश्यक है।

अग्रवाल जैनों ने सैकड़ो मन्दिर व मूर्तियां बनवायीं, हजारो प्रतिया लिखवायी, कवियो से अनुरोध करके काव्यादि ग्रन्थ बनवाये। साधारु आदि कई जैन अग्रवाल कवि थे। इस तरह अग्रवाल जैनो का इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है। दिगम्बर समाज के मन्दिर व मूर्तियो के लेख बहुत कम प्रकाश मे आये है, अन्यथा उनसे भी अग्रवाल जैनो सम्बन्धी काफी महत्व की सामग्री मिल सकती है।

यह प्रथा अग्रवाल जाति की बहुत ही अच्छी है कि जैन जैनेतरो मे विवाह आदि सम्बन्ध खुले आम होते है। जिस घर में कन्या जाती है वहीं के धर्म का पालन करती है।

नाहटा स्ट्रीट, बीकानेर
(राजस्थान)

'व्रात्य' : जैन संस्कृति का पूर्वपुरुष

□ डा० हरीन्द्रभूषण जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

वेदों में जैन संस्कृति

जैन संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है; इतनी प्राचीन कि जिसका समय निर्धारित करना कठिन है। वेद का चाहे जितना भी समय निर्धारित किया जाए, यह बात अत्यन्त सम्भव प्रतीत होती है कि वेद के समकाल में जैन संस्कृति अवश्य रही होगी।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी तथा श्री चन्दा जैसे भारतीय संस्कृति के निष्णात विद्वान्, वेदपूर्वकालीन सिंधुघाटी सभ्यता में प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्तियों को प्रथम जैन तीर्थंकर वृषभदेव की मूर्ति से तुलना करते हैं।[1]

वेदों में ऐसे अनेक संकेत हैं जो जैन संस्कृति के प्रतीक प्रतीत होते हैं। डा० राधाकृष्णन् जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक मनीषी वेदों में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि, इन तीन तीर्थंकरों के नाम होने की बात स्वीकार करते हैं।[2] ऋग्वेद (१० १२१) के 'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे' मन्त्र का हिरण्यगर्भ, श्रमण संस्कृति का युगपुरुष ऋषभ ही है।[3]

ऋग्वेद के दो सूक्तों (७.२१.५ तथा १०.६६.३) में 'शिश्नदेवा.' शब्द आया है। इसका सामान्यत: लिङ्गपूजक अर्थ किया जाता है; किन्तु कुछ विद्वान्[4] हड़प्पा से प्राप्त दो नग्न मूर्तियों के संदर्भ में, 'शिश्नदेवा:' का अर्थ शिश्न-युक्त देवता अर्थात् नग्नदेवता को पूजने वाले करते हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'मुनयो वातरशना: पिशङ्गा वसते मला:', ऋग्वेद (१०.१३५.२) के इस मंत्र के 'वातरशना' का अर्थ, वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र है, अर्थात् दिगम्बर करते हैं।[5]

इस प्रकार वेद में तीर्थंकरों के नाम तथा हिरण्यगर्भ, शिश्नदेव, वातरशना आदि शब्द जैन दृष्टि से अत्यन्त विचारणीय हैं। इसी प्रसंग का एक और वैदिक शब्द है 'व्रात्य' जो हमारे लेख का विषय है।

'व्रात्य' वैदिक वाङ्मय की एक कठिन पहेली है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों (१.१६३.८; ९.१४.२), यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता (३०.८) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३ ४, ५.१), अथर्ववेद (१५.१.१-६), पञ्चविंश ब्राह्मण (१७ १-४), कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६), आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२५.५; ४ १४) तथा महाभारत (५.३५.४६) में 'व्रात्य' का उल्लेख है।[6]

व्रात्य का स्वरूप

उपर्युक्त उल्लेखों में 'व्रात्य' का जो स्वरूप और आधार निर्धारित होता है वह प्रशस्त भी है और अप्रशस्त भी। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता (३०.८) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४.५,१) के अनुसार नरमेध में जिन मनुष्यों का बलिदान किया जाता था उनमें व्रात्य भी थे। पञ्चविंश ब्राह्मण (१७-१ २) व्रात्यों को जाति बहिष्कृत, हीन, दलित तथा निन्दित रूप में उल्लिखित करता है। महाभारत में व्रात्यों को महापातकियों में गिनाया गया है।

इसके विपरीत अथर्ववेद (१५-१) में व्रात्य के लिए अत्यन्त प्रशंसनीय शब्दों का प्रयोग किया गया है—'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्' अर्थात् पर्यटन करते हुए व्रात्य ने प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी। सायण ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'कञ्चित् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशील विश्वसम्मान्य कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्' अर्थात् यहाँ किसी विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्वपूज्य व्रात्य को लक्ष्य करके उक्त कथन किया गया है, जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते थे। व्रात्यों के संबंध में जो अप्रशस्त भावना प्रकट की गई है उसका कारण संभवत: कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का विद्वेष होना चाहिए।

---

१. डा. राधाकुमुद मुकर्जी, 'हिन्दू सभ्यता' पृ २३-२४, तथा 'माडर्न रिव्यू' जून, १९३२ में श्रीचन्दा का लेख।

२. 'भारतीय दर्शन का इतिहास' जिल्द १, पृ. २८७।

३. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका', श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृ. ११८।

४. श्री टी. एन रामचन्द्रन्, 'अनेकान्त', वर्ष १४, कि. ६, पृ. १५७, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

५. 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका'—प्राक्कथन पृ. ११।

६. 'वैदिक इण्डेक्स' मैकडानल तथा कीथ, हिन्दी अनुवादक रामकुमार राय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२, भाग-२, 'व्रात्य' शब्द।

जैन संस्कृति से सम्बन्ध

व्रात्य के सम्बन्ध में अभी तक जो अनुसंधान हुआ है उसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वेदकालीन व्रात्य जैन संस्कृति का प्राचीन पुरुष है।

व्रात्य शब्द व्रत या व्रात से बना है। जैनधर्म में व्रतों का जो महत्त्व है वह आज भी ब्राह्मणेतर धर्म में नहीं है। व्रात्य का अर्थ घुमक्कड़ भी होता है। सायण ने व्रात का अर्थ घूमना किया है। अतः महाव्रती एव निरन्तर भ्रमणशील जैन साधु के लिए व्रात्य शब्द अत्यन्त उपयुक्त बैठता है।[७]

जर्मनी के डा० हावर ने 'देर व्रात्य' नाम से व्रात्यों के संबन्ध में एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने बताया है कि 'व्रात्य' शब्द व्रात से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है व्रत-पुण्य-कार्य मे दीक्षित मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय। वे लिखते हैं कि—'अथर्व. का. १५, सूक्त १०-१३ मे लौकिक व्रात्य को अतिथि के रूप में देश मे घूमते हुए तथा राजन्यो और जनसाधारण के घरों मे जाते हुए दिखलाया गया है। ...अतिथि, घूमने-फिरने वाला साधु ही है, जो अपने साथ अलौकिक बातो का ज्ञान लाता और अपना स्वागत करने वालों को आशीष देता है। प्राचीन भारत मे व्रात्य किसी ब्राह्मणेतर धर्म के प्रतिनिधि थे। वे जहां जाते उनकी आवभगत बड़ी श्रद्धा-भक्ति से होती। यदि वह किसी घर में एक रात ठहरे तो गृही, पृथ्वी के सब पुण्यलोकों को पा जाता है। अब तो वह 'एव विद्वान् व्रात्यः' है जिसके ज्ञान ने अब पुराने कर्मकाण्ड की जगह ले ली है। प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह बात घट सकती है। वह है परिव्राजक, योगी या संन्यासी। योगियों-संन्यासियों का सबसे पुराना नमूना व्रात्य है।[८]

डा० हावर ने व्रात्य का जो चित्र उपस्थित किया है वह जैन परम्परा के अनुकूल है। उन्होंने व्रात्य के जिस ब्राह्मणेतर धर्म के प्रतिनिधि होने की बात कही है वह वस्तुतः जैनधर्म ही हो सकता है।

व्रात्यों की ओर सबसे प्रथम जिस विदेशी विद्वान् का ध्यान आकृष्ट हुआ वह थे बेवर। बेवर का मत था कि व्रात्य, बौद्धधर्म जैसे किसी अब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। यहां डा. बेवर का अभिप्राय जैनधर्म से रहा होगा क्योंकि वेदकाल में बौद्धधर्म का अस्तित्व ही नहीं था। अथर्ववेद का. १५ के प्रथम सूक्त के भाष्य में सायण के द्वारा व्रात्य के लिए प्रयुक्त कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्ट'—कर्मकाण्डी ब्राह्मण जिससे द्वेष करते है, विशेषण भी जैनधर्म के पुरस्कर्ता और अनुयायी के लिए सुसंगत बैठता है।[९]

व्रात्य-अनुश्रुति से संबद्ध श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.४.२) में हिरण्यगर्भ से व्रात्य का सम्बन्ध बताया गया है—'यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपोरुद्रो महर्षि हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'। जैन सस्कृति मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। जैन मान्यता के अनुसार जब ऋषभदेव गर्भ मे आये तो आकाश से स्वर्ण (हिरण्य) की वृष्टि हुई। इसी से वे हिरण्यगर्भ कहलाये—

सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता।
निभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥
—आचार्य जिनसेन; 'महापुराण' पर्व १२-६५

अथर्ववेद के १५वें काण्ड के प्रथम सूक्त मे व्रात्य को आदिदेव कहा है तथा तृतीय सूक्त मे कहा है कि व्रात्य पूरे एक वर्ष तक खड़ा रहता है। जैनो मे ऋषभ को आदि देव कहा जाता है और वे प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् छः माह तक कायोत्सर्ग मुद्रा मे सीधे खड़े रहे।[१०]

अथर्ववेद (१०.१-२) में उल्लेख है कि जिस राजा के अतिथिगृह मे विद्वान् व्रात्य का आगमन हो वह उसे अपना कल्याण माने। ऐसा करने पर वह अपने क्षत्रधर्म और राष्ट्रधर्म से च्युत नही होता—

'तद यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिगृहानागच्छेत् श्रेयासमेनमात्मनो मानयेत्। तथा क्षत्राय नावृश्चते तथा राष्ट्राय नावृश्चते॥'

इतना ही नही, यदि कोई अव्रात्य व्यक्ति भी अपने को व्रात्य बताकर किसी के अतिथिगृह मे आ जाए तो राजा या गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि उसका तिरस्कार न करे—

'अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नाम बिभ्रत्यतिथिगृहानागच्छेत् कर्षेदेतं न चैन कर्षेत ? न चैन कर्षेत।'
—(अथर्ववेद १५.१३, ११.१२)

---

७. 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका—पं० कैलाशचन्द्र, पृ. ११५।

८. 'भारतीय अनुसंधान', हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृ. १९।

९. 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका'; पृ. ११५।

१०. वही; पृ. ११३, ११५ तथा ११७।

फिर भी यदि कोई, विद्वान् व्रात्य का अपशब्द कहकर तिरस्कार करता है तो वह देवताओं के प्रति अपराधी है—

'देवेभ्य आवृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति।'
—(अथर्ववेद; वही)

अथर्ववेद के उपर्युक्त उद्धरण व्रात्य की विद्वत्ता एवं [illegible] तथा समाज में उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान के संबंध में अच्छा प्रकाश डालते है। जैन श्रमण सदैव इसी प्रकार समाज तथा राजकुल में प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहा है।

अथर्ववेद में मागधों का व्रात्यों के साथ निकट संबध बताया गया है; अतः व्रात्यो को मगधवासी माना जाता है। वैदिक साहित्य के उल्लेखों के अनुसार व्रात्य लोग न तो ब्राह्मणों के क्रियाकाण्ड को मानते थे और न खेती तथा व्यापार करते थे। अत वे ब्राह्मण थे और न वैश्य, किन्तु योद्धा थे—धनुष बाण रखते थे।

मनुस्मृति (अ. १०) में लिच्छवियो को व्रात्य बतलाया गया है। लिच्छवि क्षत्रिय थे और मगधदेश के निकट बसते थे। भगवान् महावीर की माता लिच्छवि गणतन्त्र के प्रमुख जैन राजा चेटक की पुत्री थी।[11]

इस प्रकार, व्रात्यों को मगध का वासी और लिच्छवियो को व्रात्य बतलाने मे व्रात्य लोग क्षत्रिय तथा जैनो के पूर्वज प्रतीत होते है।[12]

अथर्ववेद (१५।१८।५) में व्रात्य की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता का वर्णन है—'अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ्नमो व्रात्याय'; अर्थात् दिन मे पश्चिमाभिमुख तथा रात्रि मे पूर्वाभिमुख व्रात्य को नमस्कार है। पश्चिम दिशा सुषुप्ति (शयन) तथा पूर्व दिशा जागरण का प्रतीक समझना चाहिए; अतः उक्त मन्त्र का अर्थ हुआ दिन मे सोने तथा रात्रि मे जागने वाले व्रात्य को नमस्कार है।

यदि हम भगवद्गीता के 'या निशा सर्वभूतानाम्' (२.६९) आदि श्लोक तथा आचार्य पूज्यपाद के समाधिशतक (७८) के—

'व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥'

इस श्लोक पर ध्यान से विचार करें तो उक्त मन्त्र का रहस्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—अर्थात् उस व्रात्य को नमस्कार है जो संसार सम्बन्धी विषय-वासनाओ से विमुख एव आत्मचिन्तन मे सतत सलग्न रहता है।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल ने 'माडर्न रिव्यू' (१९२९, पृ. ४९९) में लिखा था: 'लिच्छवि पाटलिपुत्र के 'अपोजिट' मुजफ्फरपुर जिले मे राज्य करते थे। वे व्रात्य अर्थात् अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतंत्र राज्य के स्वामी थे। उनके अपने पूजा-स्थान थे, उनकी अवैदिक पूजा-विधि थी और उनके अपने धार्मिक गुरु थे। वे जैनधर्म और बौद्धधर्म के आश्रयदाता थे। उनमे महावीर का जन्म हुआ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात संभव प्रतीत होती है कि वैदिक 'व्रात्य' उस संस्कृति का पूर्वज या पूर्वपुरुषों का समुदाय था जिसका आदिदेव ऋषभ था और जो सभ्यता वैदिक काल से भी पूर्व भारत मे विस्तृत थी। □□

---

११. 'जयचन्द्र विद्यालकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पृ. ३४९ का पाद-टिप्पण।

१२. "जैन साहित्य का इतिहास: पूर्व पीठिका; पृ. ११४।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

आचार्य श्री 'युगवीर' जन्म-शताब्दी अंक

सम्पादक-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

*

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम ए., एल-एल बी.,
साहित्यरत्न

*

वर्ष ३० : किरण ३-४
जुलाई-दिसम्बर, १९७७

*

वार्षिक मूल्य ६) रुपया
इस किरण का मूल्य :
५) रुपया

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
(भा० दि० जैन विद्वद् परिषद् द्वारा अभिनन्दन के अवसर पर)

विषयानुक्रमणिका

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादन-मण्डल उत्तरदायी नहीं है। — सम्पादक

सम्पादकीय

प्राच्य-विद्या-महार्णव, सिदान्ताचार्य एवं सम्पादकाचार्य स्व० पं० जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर' को दिवंगत हुए गत २२ दिसम्बर १६७७ को ६ वर्ष हो गये और दसवां प्रारम्भ हो गया। साथ ही उसके दो दिन पूर्व मार्गशीर्ष शुक्ल १०, दि० २० दिसम्बर, १६७७ को उनकी जन्म शताब्दी पूरी हुई थी।

वर्तमान शती के प्रारम्भ से लगभग ७० वर्ष पर्यन्त श्रद्धेय मुख्तार साहब ने जैन संस्कृति, साहित्य और समाज की तन-मन-धन से एकनिष्ठ सेवा की थी। अपने इस सुदीर्घ कार्यकाल में उन्होंने समाज की अनवरत महती सेवा की और विपुल साहित्य का सृजन किया। उनका साधना क्षेत्र पर्याप्त विशाल एव विविध रहा।

समन्तभद्राश्रम तथा वीर सेवा मन्दिर जैसी सस्थाओ की प्रारम्भ मे प्राय: अपने ही एकाकी बलबूते पर उन्होंने स्थापना की और जैन गजट, जैन हितैषी एव अनेकान्त जैसी पत्र-पत्रिकाओं का उत्तम सम्पादन किया। अनेकान्त तो स्वय उनकी ही पत्रिका थी जिसने उनके सम्पादकत्व में जैन पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्राय: सर्वोच्च मान स्थापित किया। मुख्तार साहब ने अनेक शास्त्र-भडारों मे से खोज-खोज कर कितने ही महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रथों का उनकी जीर्ण शीर्ण पांडुलिपियो पर से उद्धार किया, संशोधन किया और उनमें से कई को सुसम्पादित करके प्रकाशित किया। पुरातन जैन-वाक्यसूची, जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, जैन लक्षणावली जैसे अतीव उपयोगी सदर्भ ग्रन्थ तैयार किये और कराये। कई ग्रथों के अद्वितीय अनुवाद भाष्य आदि रचे और ग्रथों की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी। अनेक तथाकथित प्राचीन ग्रंथों के मार्मिक परीक्षण लिख कर और प्रकाशित करके उनकी पोल खोली। कई अन्य लेखकों की नवप्रकाशित कृतियों की गंभीर एवं विस्तृत समालोचनाएँ कीं। उनके अधिक उपयोगी लेख-निबधों में से लगभग डेढ़ सौ तीन सग्रहों में प्रकाशित हो चुके है। मुख्तार साहब ने हिन्दी एवं संस्कृत, दोनों ही भाषाओं में उच्च कोटि की कविता भी की। उनकी "मेरी भावना" तो अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। अपने अन्तिम समय में भी वह हेमचन्द्रीय योगशास्त्र की एक विरल दिगम्बर टीका, अमितगति के योगसार प्राभृत के स्वोपज्ञ भाष्य तथा कल्याणकल्पद्रुम स्तोत्र पर मनोयोग से कार्य करते रहे— ६० वर्ष की आयु मे।

जिस विषय पर और साहित्य के जिस क्षेत्र में भी मुख्तार साहब ने कदम उठाया, बड़ा ठोस कदम उठाया। जैन जगत मे साहित्येतिहासिक अनुसधान में वे अपने समय मे प्राय: सर्वाग्र ही रहे और नए विद्वानों का मार्ग दर्शन किया। पत्र-सम्पादन कला मे तो उनके स्तर को शायद कोई अन्य जैन अभी तक पहुंच ही नही सका है, और पुस्तक समीक्षा तो वैसी कोई करता नही। अपने समय मे समाज मे उठने और चलने वाले प्राय: सभी सुधारवादी या प्रगतिगामी आन्दोलनों में उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष योग रहा। कुरीतियो और भ्रान्त धारणाओं के वे निर्भीक अलोचक थे। श्रीमत हो या पडित, मुनि हो या गृहस्थ, किसी के विषय मे भी खरी बात कहने में वे नही चूकते थे।

मुख्तार साहब स्वामी समन्तभद्र के अनन्य भक्त एवं अध्येता थे। स्वामी के हृदय को जितना और जैसा उन्होंने समझा वैसा शायद आधुनिक युग के विद्वानों में से अन्य किसी ने नही समझा। अपने अन्तिम वर्षों में ६०-६१ वर्ष का वह वृद्ध साधक एक अद्वितीय समन्तभद्र स्मारक की स्थापना का तथा 'समन्तभद्र' नामक प्रकाशमान पत्र द्वारा आचार्यप्रवर समन्तभद्र के विचारो का प्रचार-प्रसार देश-विदेश में करने का स्वप्न देखता रहा— उसका वह स्वप्न चरितार्थ न हो सका।

अपनी जन्मभूमि सरसावा में मुख्तार साहब ने एक विशाल वीर सेवा मदिर भवन का निर्माण कराया था। उनके द्वारा संस्थापित 'वीर सेवा मंदिर' संस्था दरियागंज, दिल्ली में अपने निजी चौमजले भवन मे चल रही है। उनका 'अनेकान्त' भी वहीं से त्रैमासिक के रूप मे प्रका-

शित होता है। मरते समय अपनी शेष निजी सम्पत्ति का भी मुख्तार साहब एक ट्रस्ट —वीर-सेवा-मंदिर-ट्रस्ट बना गये थे। उससे भी गत ८-१० वर्षों में कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

महान् आश्चर्य और खेद का विषय तो यह है कि उस सुदीर्घकालीन साहित्यिक तपस्वी और अनवरत समाज सेवी को हम इतनी जल्दी भूल गए। उनके द्वारा संस्थापित तथा उनके नाम से सम्बद्ध एक सुसमृद्ध संस्था, एक सुसम्पन्न ट्रस्ट और एक सतत उद्बुद्ध शोध-पत्रिका भी विद्यमान है, जो उनकी जीवनव्यापी साधना के उज्ज्वल प्रतीक एवं सच्चे स्मारक हैं जिनके कारण समाज उनकी चिरऋणी रहेगा। इस वर्ष हम उनकी जन्म शताब्दी मना रहे हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि इतने अल्प समय में ही समाज ने उन्हें विस्मृत कर दिया है। उनके उ प्रायः समकालीनों या सहयोगियों में से पं० पन्नालाल बाकलीवाल, बा० सूरजभान वकील, कुमार देवेन्द्र प्रसाद, बैरिस्टर जुगमन्दरलाल जैनी, बैरिस्टर चम्पतराय, पं० नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतलप्रसाद प्रभृति प्रायः सभी जैन जागरण के अग्रनेताओं को हम भुला चुके हैं। इन महानुभावों ने समाज की महती सेवाएं की थी। कई एक के तो निजकी सम्पत्ति से स्थापित ट्रस्ट भी हैं। इन उपकर्ताओं के उपकार को विस्मृत कर देना समाज की कृतघ्नता का परिचायक कहा जाय तो क्या अनुचित है? इस उपेक्षा का एक परिणाम तो यह होता है कि हमारी वर्तमान तथा भावी पीढ़ियां अपने निकट अतीत के इतिहास से भी अनभिज्ञ रह जाती हैं। दूसरे, वे उन यशस्वी पूर्व-पुरुषों के कार्यकलापों से उपयुक्त प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करने से भी वंचित रह जाती हैं।

स्व० आचार्य पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में समाज पर उनका जो ऋण है उसका स्मरण करते हुए उनके प्रति हम विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

कुछ समय पूर्व 'अनेकान्त' परिवार ने यह निर्णय किया था कि इस अवसर पर अनेकान्त का एक उपयुक्त विशेषांक श्रद्धेय मुख्तार साहब की स्मृति में निकाला जाय। कतिपय अनिवार्य कारणों से इस समयोचित कार्य में कुछ विलम्ब हो गया जिसका हमें खेद है। प्रसन्नता की बात है कि उनके प्रति आंशिक कृतज्ञताज्ञापन-स्वरूप हम यह "श्री 'युगवीर' जन्म शताब्दी अंक" प्रस्तुत कर रहे हैं।

— ज्योतिप्रसाद जैन

अनेकान्त

का

साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-अंक

जून, १९७८ में प्रकाश्य, 'अनेकान्त' का आगामी अंक 'साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-अंक' होगा। दो खण्डों में विभक्त, इस अंक के प्रथम खण्ड में 'साहू जी' के गौरवशाली व्यक्तित्व के विविध पक्षों एवं उनके परमार्थमय जीवन और अन्य कल्याण-कार्यों विषयक लेखादि तथा द्वितीय खण्ड में जैन साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास पर मौलिक गवेषणापूर्ण सामग्री सम्मिलित होगी।

'अनेकान्त' के वर्ष ३१ की किरणें १ और २ इसी अंक में समाहित होंगी।

सभी सम्मान्य विद्वानों, मनीषियों, लेखकों एवं सुविज्ञ पाठकों से सानुरोध निवेदन है कि इस अंक के लिए कृपया शीघ्रातिशीघ्र अपने लेख, संस्मरण, पत्र, चित्र आदि भेज कर अनुगृहीत करें।

--गोकुल प्रसाद जैन, सम्पादक

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
(जन्म २० दिसम्बर, १८७७ : मृत्यु २२ दिसम्बर, १९६८)

श्री वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली का शिलान्यास समारोह (१७ जुलाई, १९५४)।
(समाज-शिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद जी भाषण कर रहे है।)
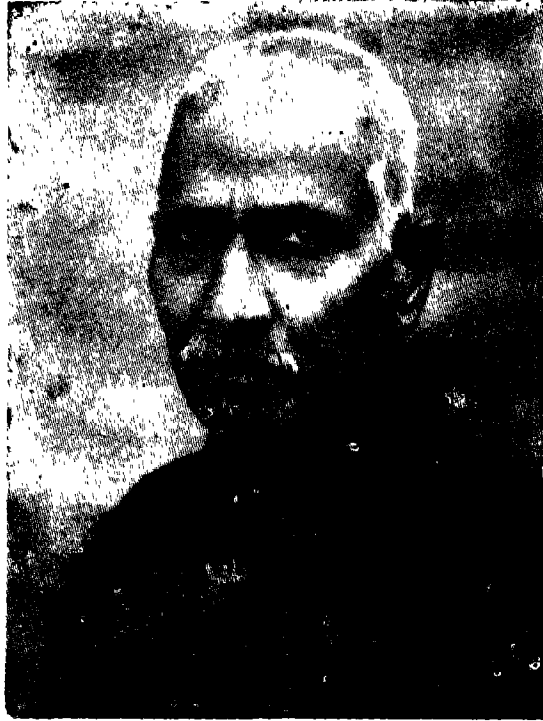
ग्राचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
(५ दिसम्बर, १९४३ को सहारनपुर में सम्मान समारोह के समय लिया गया चित्र)

दक्षिण भारत की तीर्थ यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय का चित्र

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३० किरण ३-४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५०३, वि० सं० २०३३ | जुलाई-दिसम्बर १९७७

चउवीस-तित्थयर-भत्ति

(चौबीस तीर्थकरों की भक्ति)

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पणे ।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ।।२।।
उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।४।।
कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ।।५।।
एवं मए अभित्थुया, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया, ए ए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ।।७।।
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपहा संता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।८।। —आचार्य कुन्दकुन्द

अर्थ— मैं जिनवर, तीर्थंकर, केवली और अनन्त जिनकी स्तुति करता हूँ, जो लोक के नरवरों से पूजित, मलरहित और माहात्म्य से युक्त हैं ।।१।। लोकको प्रकाशित करने वाले तथा धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले जिन देव की वन्दना करता हूँ । अर्हन्त तथा चौबीसों तीर्थंकरों का कीर्तन करता हूं ।।२।। मैं ऋषभ और अजितनाथ की वन्दना करता हूं, सम्भव, अभिनन्दन और सुमतिनाथ की वन्दना करता हूं, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभनाथ की वन्दना करता हूं ।।३।। सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ और शान्तिनाथ की वन्दना करता हूँ ।।४।। जिनवर श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्वनाथ और वर्द्धमान (महावीर) की वन्दना करता हूँ ।।५।। इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये, कर्म-मल-रजसे रहित, बुढ़ापा तथा मरण से रहित जिनवर, चौबीस तीर्थंकर मुझपर प्रसन्न होवें ।।६।। जो जो लोकोत्तम जिन, सिद्ध कीर्तन किए गये, वन्दित और पूजित हैं, वे मुझे आरोग्य, ज्ञान, समाधि और बोधि प्रदान करें ।।७।। चन्द्रसे भी अधिक निर्मल और सूर्य से भी अधिक प्रभावान् तथा सागर के समान गम्भीर सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें ।।८।।

असाधारण प्रतिभा के धनी

□ श्री सुमेरचन्द्र जैन, एम० ए०, नई दिल्ली

जैनधर्म और जैन संस्कृति के प्रचार का कार्य उन्हीं मेधावी पुरुषो ने किया है जिनकी आत्मा मे अहिंसात्मक भावनाओ को फैलाने और लोक कल्याण की तीव्र आकांक्षा जन्मजात विद्यमान है। प्राचीनकाल मे अनेक लोकोत्तर ऋषि पुङ्गव हुए जिन्होंने अपना जीवन आत्म कल्याण और जन साधारण के हित के लिए अर्पित कर दिया। जैन आचार्यो, मुनियो, उपाध्यायो और विद्वानो ने जो अमृतमयी साहित्य का निर्माण किया, उसका प्रमुख उद्देश्य आत्मदर्शन और आत्म वैभव को प्राप्त करना था।

त्याग, वीरता, लोक हित और सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति बनी रहे, यही कल्याणकारी लक्ष्य रहा। फलस्वरूप इतने विशाल साहित्य का निर्माण हुआ जिसको हम भली प्रकार सुरक्षित भी नही रख सके। उन गौरवशाली मुनियों, कवियो और दिग्गज लेखको के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त न कर सके ओम उनकी अमूल्य निधियो से अपरिचित रहे।

साथ ही, कुछ ऐसे व्यक्तियो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने हमारे देदीप्यमान रत्नो मे कांच की तरह चमकते हुए टुकड़ों को उस साहित्य मे मिला दिया जिससे उसके सौन्दर्य मे विकार आ गया। जन साधारण श्रद्धा के वश उस साहित्य की परीक्षा न कर सका। जब नए युग का प्रादुर्भाव हुआ तो विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उन्होने विचार किया कि हमारे यहां परीक्षा-प्रधानी और आज्ञाप्रधानी दोनो मे परीक्षा-प्रधानी को अधिक महत्त्व दिया है। क्यो न हम उस साहित्य का मूल्यांकन करें जो हमारे साहित्य को मलिन कर रहा है। उसे दूर कर भ० महावीर की दिव्य देशना का प्रचार अभिनव रूप से नवीन शैली से किया जाय।

ऐसे ही कुशल आलोचकों, लेखकों और कवियों की पंक्ति मे एक तेजस्वी असाधारण प्रतिभा-संपन्न नर-रत्न का ऐसी जगह उदय हुआ जिसकी सभावना बहुत कम थी। परन्तु प्रवाह बहते देर नही लगती। एक दिन देवबन्द के कानूनगो मोहल्ले मे बैठे हुए चार व्यक्ति चर्चा कर रहे थे। कचहरी के काम मे सचाई नहीं झूठ, बोलना पड़ता है।

सबसे पहले श्रीसूरजभानु वकील बोले : मेरा मन तो इस कार्य से ऊब गया है। मुझे जैनधर्म पर किए गए आरोपो का मुहतोड़ उत्तर देने मे आनन्द आता है। श्री जुगल किशोर मुख्तार जो वहीं उन्ही की देख-रेख मे कार्य करते थे वकील सा. की बात का समर्थन करते हुए कहने लगे : जैनधर्म के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। हमे अपना जीवन इस प्रकार के वातावरण से निकालकर, जिसमे आत्मा की आवाज का हनन होता हो, उसे छोड़कर निर्द्वन्द रीति से धर्म प्रचार के कार्य मे लग जाना चाहिए। मेरे ऊपर आपका बड़ा प्रभाव है। इधर जब तक आपके नाम की आवाज नही आती है तब तक आप कचहरी मे ही बैठे जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का उत्तर लिखने मे सलग्न रहते है। उधर आवाज पड़ी कि उस मुकद्दमे की पैरवी में खड़े होकर बहस करने लगे। आपकी व्युत्पन्न बुद्धि और तत्काल उत्तर देने की क्षमता अपूर्व है। मेरा मन भी अब इस प्रकार के कार्यों की ओर से शिथिल हो गया है।

श्री इश्कलाल पटवारी को जो आर्यसमाजी थे, जैनधर्म के तत्त्वों की ओर आकर्षण था। वे उसके रसिक थे। कहने लगे : पटवारीगिरी के कार्य में सही ढंग से सचाई अपना कार्य नहीं कर पाती। उनमें भी अपने कार्य से विरक्ति का भाव पैदा हो गया। चौथे जैन प्रदीप (उर्दू

मासिक पत्र) के सम्पादक श्री ज्योतिप्रसाद जी है जो गुरुकुल पंचकूला के संस्थापक के यहां ग्राम कारिंदा थे। उनका मन भी इस प्रकार के कार्यों से झकझोर उठा। जिस व्यापार से सत्य का सौन्दर्य मलिन हो जाता है और असत्य बुद्धि का चमत्कार दिखाकर अपना प्रभाव दूसरों पर डाल देना चाहता है, उस मार्ग की ओर कब तक चलेंगे ?

कौन जानता था कि उस दिन की बैठे-बिठाए चारों मित्रों की बातचीत उनकी दिशा ही बदल देगी। फलस्वरूप चारों ने एक-साथ अपने-अपने कार्यों से छुट्टी ले ली। तीन तो हमारे समाज के थे और तीनों ने अपने अपने ढंग से जैनधर्म और जैन संस्कृति की महत्वपूर्ण सेवा की।

देवबन्द (सहारनपुर) उनके प्रचार का केन्द्र बना। श्री जैनीलाल जी के प्रयत्न से छापे के ग्रंथ छपने लगे और सुविधानुसार सरलतापूर्वक लोगों को मिलने लगे।

मुख्तार सा० ने अब अपना कार्यक्षेत्र देवबन्द से हटा कर सरसावा बनाया। अपनी एक लाख की सम्पत्ति का जो स्वयं निज पुरुषार्थ से संचित की थी, उपयोग अर्थात् अपना सर्वस्व दान वीर सेवा मंदिर की स्थापना में लगा दिया।

ग्रांड ट्रंक रोड के समीप भव्य भवन की बिल्डिंग का निर्माण कराया, जहा प्रतिवर्ष विद्वानों को बुलाकर वीर शासन के उत्कर्ष के लिए मंत्रणा की जाती। विद्वानों को आने-जाने का मार्गव्यय प्रदान करना और उत्तम रीति से सभी को सम्मानित करने की भावना वहां पर विद्यमान थी।

उस स्थान को कतिपय सहयोगियो और समाज के नेताओं ने प्रचार जैसे महान कार्य के लिए छोटा समझा। जैन समाज के मूर्धन्य अनभिषिक्त नेता साहू शांतिप्रसाद जी और प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं जैन संस्कृति के मूर्तिमान रूप बाबू छोटेलालजी कलकत्ते वालों के प्रयत्न से दिल्ली में विशाल भवन बनकर तैयार हो गया जहां से प्रकाशित होने वाला साहित्य और अन्वेषण सम्बन्धी स्थायी कार्य सदैव मुख्तार सा० की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रक्खेगा।

परन्तु खेद है कि ऐसी रमणीक साहित्य वाटिका और साहित्य सृजन के उद्गम की धारा को देखकर भी मुख्तार सा० को हार्दिक आनन्द नहीं आया, क्योंकि वह संस्था राजनैतिक दांव-पेच की तरह नेतागिरी के चक्कर में फंस गई। मुख्तार सा० दिल्ली से दूर हमारे जिले एटा में अपने भतीजे के पास रहकर तपस्वियों की तरह अस्सी वर्ष की वृद्धावस्था में भी साहित्य सृजन के कार्य मे दत्तचित्त रहे।

मुख्तार सा० के द्वारा जितना साहित्य निर्माण कार्य हुआ उसका हम सही मूल्यांकन नही कर सकते। उनकी प्रतिभा आलोचक, कवि, समाज-सुधारक, सुलेखक और नवीन लेखकों का निर्माण करने वाले कुशल शिक्षक के रूप में प्रस्फुटित हुई।

विधिवत् संस्कृत का शिक्षण प्राप्त न करने पर भी सकल तार्किक, चक्रचूड़ामणि, आचार्य समन्तभद्र स्वामी के ग्रंथों का रहस्य सरल और सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया। उन्होने अपने ग्रन्थों में एकान्तवाद का खंडन करके अनेकान्तवाद का मंडन किया है; न्याय और सिद्धान्त सम्बन्धी विषय का युक्ति और तर्क सम्मत शैली में प्रतिपादन किया है। ऐसे धुरंधर और दिग्गज आचार्य के रचनाओं को सर्व साधारण के लिए सुलभ बना दिया और दिव्य संदेशों को जनता जनार्दन तक पहुंचा दिया वे उनके अनन्य भक्त थे। समन्तभद्र भारती व्याख्याता के रूप में मुख्तार सा० सदैव स्मरणीय बने रहेंगे।

प्रबल तार्किक होने के कारण उन्होने उन विषयों पर चोट की जो भट्टारक कालीन समय में, कतिपय व्यक्तियों के द्वारा अनार्ष परम्परा का अनुकरण करने के कारण हमारे यहा विकार का कारण बने। मुख्तार सा० के पदचिह्नों पर कई विद्वान चले और उन्होंने उन विषयों की अच्छी समीक्षाएं की जिनका उत्तम सुफल निकला।

जब हम उन्हें कवि के रूप में देखते हैं तो उन्हें केवल

कल्पना की उड़ान उड़ाते हुए न पाकर, जीवन में उतारने वाली जनता के कंठस्थ रहने वाली उत्तम रचनाएं करने वाला पाते हैं।

उनकी लोकप्रिय रचना 'मेरी भावना' कैसे रची गई, यह विचारणीय है। एक दिन उनकी विदुषी बहिन ने कहा कि आप तो संस्कृत मे सामायिक पाठ, स्तोत्र आदि पढ़ते है। हम हिन्दी मे उन्हे कैसे पढ़े। उन्होंने बात को समझा और ग्यारह पद्यो मे इतनी रोचक, सुललित, प्रसाद-गुण-युक्त रचना की जिसका सभी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। उसकी लाखों प्रतिया प्रकाशित हो चुकी है। उनकी मेरी भावना' ने घर-घरमे बच्चों को प्रार्थना करने के लिए प्रोत्साहन दिया।

वे कुशल अन्वेषक और सुलेखक थे। उनके इन्ही गुणो से प्रभावित होकर आज से तीस वर्ष पूर्व हमने एक लेख लिखकर उन्हे अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट करने के लिए समाज का ध्यान आकर्षित किया। हर्ष है कि लाला राजेन्द्र कुमार जी की, जो विद्वानो के महान प्रेमो थे, अध्यक्षता म सहारनपुर मे मुख्तार सा० को ग्रथ भेंट किया गया।

मुख्तार सा. कलम के धनी और जैन वाङ्मय के यशस्वी प्रस्तोता थे। छोटे से लेख मे हम उनकी साहित्य मर्मज्ञता और विषय के अधिकारी रूप का सर्वाङ्गपूर्ण दिग्दर्शन नही कर सकते, पर एक बात अवश्य कहेंगे कि उन्होंने सरस्वती की निस्पृहभाव से सेवा ही नही की बल्कि अनेकों उदीयमान विद्वान् युवकों को कुशल पर्यवेक्षक और समीक्षा करने वाले आचार्य जैसे पद के योग्य बना दिया।

उनकी पैनी सूझ, अनवरत लगन, जिन शासन की भक्ति, जैनधर्म प्रचार की अद्भुत कामना, विषय का तल स्पर्शी ज्ञान और चुने हुए मोतियों को छांट छांटकर निकालनेकी प्रवृत्ति ने उन्हे प्राचीन ऋषियो और विद्वानों की परम्परा मे सलग्न कर दिया, जिन्होने अपनी भक्ति और कार्य करने की अद्भुत क्षमता के कारण वीर शासन की सहस्रगुणी वृद्धि की है।

हम आकांक्षा करते थे कि ऐसे साहित्य मनस्वी, नेत्रोन्मृष्टमुनिरिव सरस्वती के सच्चे साधक हमारी समाज मे पैदा होते रहे जो राकाशशि की धवल चांदनी की तरह जिन शासन का सदैव उद्योत करते रहे। विश्व विजयी अहिंसा और अनेकान्त इन दो मल्लों की तरह उनका बीजारोपण किया हुआ 'अनेकान्त' सदैव फूलता और फलता रहे, जिसकी छाया मे जन साधारण विश्राम, शांति और सुख का अनुभव करे और विद्वान परिमार्जित मार्ग को प्रशस्त बनाते रहे। □□□

म० नं० २४७, एफ ब्लाक,
पाण्डवनगर, पटपड़गंज,
नई दिल्ली

वृषभ-आह्वान

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथममस्वाराणाम्।
अपां नपातमस्विना हुवे धिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं दत्तभोजः ।। अथर्ववेद १६।४२।४

सर्व पापों से सदा जो मुक्त,
देवताओं में सर्व शीर्षस्थ,
वन्दनीय, वृषभ है नाम जिनका,
आत्म साधकों में प्रथम हैं
और इस भवसिन्धु से
पोत जैसा तारना है काम जिनका,
मेरे सह बन्धुओ!
तुम आत्मबल और
तेज को धारण करो
मैं हृदय से आह्वान करता हूं
वृषभ का।

प्रस्तोता : श्री मिश्रीलाल जैन, गुना

सरसावा के संत तुम्हें शत-शत वन्दन

☐ श्री कुन्दन लाल जैन, दिल्ली

१० जून सन् १६४६ की उस पुनीत संध्या का पुण्य-स्मरण मुझे आज भी रोमांचित कर देता है, जब कि मैंने सरसावा स्थिति वीर सेवा मंदिर के विशुद्ध विशाल प्रांगण मे पग धरा था। उपर्युक्त भवन के विशाल द्वार के बंद फाटक की खिड़की से अपना बिस्तर-पेटी निकाल कर जब यहाँ के संत बाबू जुगल किशोर जी मुख्तार के कमरे के सामने वाली सीढ़ियों पर रखा तो बाबू जी कमरे से निकलकर आए उनका सुन्दर सुगठित शरीर था। उन्होंने बदन मे तनी वाली अगरखी और धोती पहन रखी थी, नंगे सिर थे, पैरों मे खड़ाऊं डाले थे। कमरे से बाहर आकर पूछा "कहां से आए हो ?" "बीना से" मैंने रूखा-सा संक्षिप्त सा उत्तर दिया, क्योंकि थका हुआ था। जून मास का ११ या १२ बजे का समय था। भूख लग रही थी।

मुख्तार सा० तुरन्त ही कमरे के भीतर गए और चाबियों का गुच्छा ले आये और जो कमरा मुझे देना चाहते थे उसका ताला खोल दिया और स्नेह से कहा कि यह रहा आपका कमरा। इसमे अपना सामान रख लीजिए; और तुरन्त ही पं० परमानंदजी को आवाज देकर भोजन की व्यवस्था करादी। बीना का नाम सुनते ही मुख्तार सा० मेरी नियुक्ति की बाबत सब कुछ जान गये थे, क्योंकि पं० दरबारीलाल जी कोठिया से उनका पत्र व्यवहार हो चुका था जिसमें मेरी नियुक्ति बावत सब कुछ निश्चित हो गया था।

इस समय मैं सर्वथा अनुभवहीन, अपरिपक्वबुद्धि का २० वर्षीय युवा छात्र ही था। इसी वर्ष स्याद्वाद् विद्यालय छोड़ा था। नम्रता, कार्यकुशलता, सेवाभाव आदि मानवीय गुणों की सर्वथा कमी थी। केवल मेट्रिक और साहित्यशास्त्री पास था। फलतः मैं अपनी कार्यकुशलता से मुख्तार सा० जैसे कठोर परिश्रमी और सर्वश्रेष्ठ साहित्यान्वेषक को सन्तुष्ट न कर सका और छः माह बाद मुझे वहां से चला आना पड़ा। उन दिनों डा० ज्योतिप्रसादजी, लखनऊ वहां थे। स्व० बा० जयभगवान जी, पानीपत प्रायः आते रहते थे। स्व. बा० छोटेलाल जी कलकत्ता वालों का इस संस्था पर वरद हस्त था। मुख्तार सा० और उनमें पिता-पुत्र का संबंध था। ला० सिद्धोमल जी कागजी मुख्तार सा० का बड़ा आदर करते थे।

आदरणीय मुख्तार सा० कितने अध्ययनशील, कठोर परिश्रमी, मितव्ययी और साहित्यसेवी थे, यह मैं उस समय तो अनुभव न कर सका था, पर जब मुझे साहित्य का चस्का लगा और उनके शोधपरक, युक्तियुक्त, अकाट्य साहित्यिक निबंधों का अध्ययन किया तो हृदय श्रद्धा से गदगद हो उठा। मुख्तार सा० १६ से १८ घंटे तक अध्ययन एवं लेखन कार्य किया करते थे। उनकी टेबिल सदा ही ग्रंथों से भरी रहती थी। मुख्तार सा० जरूरत से ज्यादा मितव्ययी थे। फलतः उनके प्रकाशन कार्यों मे प्रायः बाधा आ जाती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन दिनों कागज पर कन्ट्रोल था और अनेकान्त के प्रकाशन के लिए सरकार से कागज का कोटा मिला करता था। प्रायः शासकीय कारणों से कागज समय पर नहीं आ पाता था तो अनेकान्त की किरण लेट हो जाया करती थी और ग्राहकों के उत्सुकता भरे पत्र आने लगते थे, क्योंकि उन दिनों अनेकान्त की प्रतिष्ठा जैन जगत में ही नहीं अपितु जैनेतर अनुसंधित्सुओं मे बहुत अधिक थी और वे लोग बड़ी उत्सुकता से प्रत्येक किरण की प्रतीक्षा किया करते थे।

मुख्तार सा० जैन पुरातत्व एवं संस्कृति के वैज्ञानिक संशोधक के रूप मे युग-युगों तक साहित्यानुरागियों द्वारा वंदनीय रहेंगे। मुख्तार सा० यद्यपि दिगम्बर आम्नाय के कट्टर अनुयायी थे, पर उसमें जो कूड़ा-करकट, अनुचितता

या आगम-विरुद्ध मान्यताएं होती थीं उनकी वे प्रबल युक्ति-पूर्ण अकाट्य तर्कों से धज्जियां बिखेर दिया करते थे। उनके प्रमाण एवं तर्क इतने प्रबल और अकाट्य होते थे कि अच्छे-अच्छे विद्वानों के दांत खट्टे हो जाते थे। समाज का बड़े से बड़ा विद्वान भी उनकी युक्तियो का खंडन करने से कतराता था। भट्टारकीय परपरा एव उनकी विलासिता तथा आगम-विरुद्ध अनौचित्य का मुख्तार सा० ने जिस खूबी से भंडाफोड़ किया था, उससे रूढ़िवादी जैन समाज में बडा तहलका मच गया था और अंधभक्तों ने मुख्तार सा० पर बड़ा कीचड़ उछाला था, पर मुख्तार सा० स्थितप्रज्ञ की भांति अपने तर्कों पर सर्वथा अटल रहे।

मुख्तार सा० जो कुछ लिखा करते थे वह बडा नाप-तोल कर एवं सोच-समझकर लिखा करते थे। उनके लिखे हुए वाक्य में से एक शब्द का भी परिवर्तन करना संभव नहीं होता था। मुख्तार सा० की लेखनी बडी प्रबल और तर्कपूर्ण होती थी। उस समय की यह त्रिमूर्ति (बा० जुगलकिशोर जी मुख्तार, प० नाथूराम जी प्रेमी तथा बा० सूरजभान जी वकील) जैन साहित्य गगन में जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाति सदा-सदा के लिए आलोकित होती रहेगी और आनेवाली पीढ़ी का मार्गदर्शन उनका प्रकाशित साहित्य करता रहेगा। वे लोगों के सदा-सदा के लिए बंदनीय रहेंगे। इन्होंने जैन साहित्य के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व शोध-खोज एवं नये-नये अन्वेषण के तथ्यात्मक आयाम प्रस्तुत किए है वे किसी से छिपे नहीं हैं। यद्यपि उपर्युक्त त्रिमूर्ति आज पृथ्वी-तल पर नहीं है पर हर समझदार साहित्यानुरागी उनके प्रति आदर और श्रद्धा से नतमस्तक है।

मुख्तार सा० का शिक्षण-दीक्षण यद्यपि पडिताऊ ढंग पर हुआ था, पर उनकी शैली इतनी वैज्ञानिक एवं तथ्य परक थी कि स्व० डा० उपाध्ये, स्व० हीरालालजी प्रभृति अनेकानेक विद्वान उनकी लेखनी का लोहा मानते थे, यह सब उन्होंने स्वाध्याय से ही अर्जित किया था। मुख्तार सा० बड़े संयमी एवं सादगी-पसद प्रकृति के व्यक्ति थे। इसी का परिणाम था कि वे इस घनघोर कलिकाल मे भी नब्बे वर्ष की आयु प्राप्त कर अस्थिर शरीर से मुक्त हुए, पर अपना यशःशरीर स्थिर और चिरस्थायी बना गए। वे उच्चकोटि के विचारक, चिन्तक एवं लेखक थे। उनका सारा समय चिन्तन, लेखन, अध्ययन एवं मनन में ही व्यतीत होता था। उन्हें किसी तरह का भी व्यसन नहीं था। यदि व्यसन था तो केवल ग्रंथों एवं पुस्तकों के अध्ययन का। उनका एक शब्द "हैजी, हैजी" बड़ा ही तकिया कलाम था जिसे वे बोलते समय हर वाक्य में प्रयोग किया करते थे और मुझे इस पर बड़ी हंसी आती थी, पर वे इसका तनिक भी बुरा नहीं मानते थे।

मुख्तार सा० का शरीर ८५ वर्ष की अवस्था तक भी पूर्णतया सक्षम एव कार्यरत रहा। अन्तिम समय तक उनकी आखें काम देती रही। कानों से अलबत्ता कम सुनाई देने लगा था, जिसके लिए वे यंत्र का प्रयोग करने लगे थे। बादाम, मुनक्का और खसखस का सेवन उनका नित्य नियम का काम था। जब सन् १९५७ में मैं दिल्ली आ गया और दरियागंज नं० ७ मे रहा करता था तो प्रायः प्रतिदिन उनसे भेंट किया करता था। वे प्रतिदिन दरियागंज नं० ४ मे स्थित वीर-सेवा-मंदिर के चार मंजिले भवन से उतर कर अनाथाश्रम के मंदिर में दर्शन करने जाया करते थे और अपनी बहिन जयवंती के यहां भोजन कर इतनी ही सीढ़ियां चढ़कर ऊपर जाया करते थे। बादाम, मुनक्के की चटनी का प्रयोग मैंने उन्हीं से सीखा था।

मुख्तार सा० अपने आचार-विचार से निश्चय ही उच्च कोटि के संत थे और यदि यह कहूं कि वे सवस्त्र मुनि तुल्य थे तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने जैनधर्म, जैन सस्कृति एवं जैन समाज को जो कुछ दिया है उससे जैन समाज ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य-जगत युग-युगों तक उऋण नहीं हो सकता। पर जैन समाज ने प्रतिदान में उन्हें कुछ भी नहीं दिया। उनके अभिनंदन-ग्रथ की कई बार योजना तैयार की गई पर सदा ही ठप्प रही। अंतिम दिनों में उनकी परिचर्या के लिए एक सेवक की भी व्यवस्था यह कृतघ्न समाज न

कर सका और फलस्वरूप उन्हें वीर सेवा मंदिर, दिल्ली छोड़कर अपने भतीजे श्री श्रीचंद के पास एटा जाकर रहना पड़ा और वहीं उनके प्राण विसर्जित हुए। जिस संस्था के जन्म, निर्माण एवं चरम उत्थान में मुख्तार सा० ने अपना तन-मन-धन सभी कुछ लगाया और अपनी अन्तिम खून की बिंदु भी अर्पित की, उससे उन्हें अंतिम दिनों में आत्मसंतोष न मिल सका, भले ही आज लोग उन्हें श्रद्धा से स्मरण करते हों।

वीर सेवा मंदिर जब तक सरसावे में रहा, तब तक उसकी संपूर्ण साहित्य-जगत में बड़ी प्रतिष्ठा रही और वहां साहित्यिक शोध-खोज का काम भी पर्याप्त एवं सुचारू रूप से सम्पन्न होता रहता था, पर जब से यह संस्था दिल्ली में आई तब से इसका क्रमशः ह्रास होता चला गया और यह राजनीति का अखाड़ा बनकर परस्पर मनोमालिन्य और द्वेष एव कटुता का केन्द्र बनती चली गई और सारी प्रगति अवरुद्ध हो गई, जिससे मुख्तार सा० बहुत ही खिन्न और मन ही मन दुखी रहते थे। अपनी अन्तर्व्यथा किसे सुनाते। वीर सेवा मंदिर जैसा पुस्तकालय एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों का भंडार जैन जगत मे तो शायद ही कहीं मिले। जो भी उच्च कोटि का ग्रंथ कहीं भी प्रकाशित होता था, मुख्तार सा० उसे अपने पुस्तकालय में अवश्य ही मंगा लिया करते थे। अनेकों श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाएं तो अनेकान्त के प्रत्यावर्तन में एकत्रित हुआ ही करती थी।

मुख्तार सा० पर्यूषण पर्व, महावीर जयंती आदि के अवसरों पर जब कभी बाहर जाते थे तो प्राचीन पांडुलिपियों, गुटकों आदि की तलाश अवश्य ही किया करते थे। एक बार पर्यूषण पर्व में वे कानपुर गये हुए थे। अचानक उन्हें किसी पंसारी की दुकान में कुछ हस्तलिखित पत्र दिख गए, जिनसे वह सामान की पुड़ियां बना बनाकर बेचा करता था, मुख्तार सा० ने उन पत्रों को उलटा-पलटा तो वे उन्हें किसी जैन ग्रंथ के प्रतीत हुए, जिसकी वे पिछले कई दिनों से तलाश में थे। वे उस पंसारी से सारा का सारा बस्ता खरीद लाये और घर लाकर जब उन्होंने उनकी छटनी की तो उसमें उन्हें बड़ी महत्त्वपूर्ण कृतियां प्राप्त हुईं।

मुख्तार सा० पैसे के विषय में बड़े बारीक थे तथा हिसाब-किताब में बड़े साफ थे। मैं उनके साथ ही भोजन करता था। किसी भी माह भोजन खर्च की एकमुश्त पूरी रकम नहीं देनी पड़ी, अपितु हर मास रुपये आने पाइयों में भोजन खर्च आता था, जिसे काटकर वे मेरा वेतन दिया करते थे। मुख्तार सा० स्वयं कठोर परिश्रम किया करते थे और दूसरों से भी उतने ही कठोर परिश्रम की अपेक्षा रखा करते थे। यही कारण था कि दो एक विद्वानों को छोड़कर कोई भी विद्वान वीर सेवा मंदिर में स्थायी रूप से नहीं टिक सका। वैसे वीर सेवा मदिर में अनेकों विद्वान और कार्यकर्ता रहे, पर श्रम बाहुल्य एवं पैसे की बारीकी के कारण लोग वहा लम्बे समय तक कार्य न कर सके। वस्तुतः सरसावा के संत बा० जुगल किशोर जी मुख्तार ने जैन साहित्यिक शोध-जगत में जो कीर्तिमान और प्रतिष्ठा स्थापित की उससे भावी पीढ़ी युग-युगों तक कृतज्ञता अनुभव करेगी और उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक रहेगी। पता चला है कि वीर सेवा मंदिर से बहुत से बहुमूल्य अलभ्य ग्रंथ यत्र-तत्र चले गये हैं जो अब उपलब्ध भी नहीं हो सकते हैं। वीर प्रभु से प्रार्थना है कि वीर सेवा मंदिर पुनः प्रगति और उन्नति के पथ पर अग्रसर हो, जिससे स्वर्गस्थ मुख्तार सा० की आत्मा को संतोष और शांति लाभ हो सके। उनके रिक्त स्थान को भरने वाला समाज में आज कोई भी विद्वान दिखाई नहीं देता है। □□□

श्रुत कुटीर,
६८, कुन्तीमार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली-३२

युगसृष्टा की साहित्य-साधना

□ श्री मती जयवन्ती देवी

प्राच्यविद्या महार्णव श्रद्धेय पं० जुगल किशोर जी का जन्म सरसावा (जि० सहारनपुर) निवासी ला० नत्थूमल जी के यहां हुआ था। रिश्ते में ये मेरे भाई लगते थे। बचपन में ही इनकी प्रतिभा-बुद्धि की प्रखरता ने सबको चकित कर दिया था। प्रत्येक स्कूल मे इन्हे मान्यता प्राप्त थी। स्कालरशिप मिलते थे। धार्मिक परिणति स्वभाव से ही थी। जब ये १० वर्ष के थे तो मध्याह्न मे श्मशान भूमि मे जाकर ध्यान लगाते थे। उन दिनो संस्कृत का विशेष प्रचार नही था। ये स्वय के बुद्धि-बल से संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान हो गए। इन्होंने देवबन्द जि० सहारनपुर मे मुख्तारगीरी की प्रैक्टिस शुरू करदी। यही पर प्रसिद्ध समाज-सेवी श्री सूरजभान वकील एवं श्री ज्योतिप्रसाद जी, सम्पादक 'प्रदीप' भी रहते थे। तीनो में घनिष्ठ मित्रता थी और थी साहित्य व समाज सेवा की सच्ची लगन। घंटो तक इसी पर तीनों का विचार-विमर्श चलता रहता। इधर गाधी जी का सत्याग्रह-आन्दोलन भी शुरू हो रहा था। फलस्वरूप सन् १९१४ मे ला० सूरजभान जी व मुख्तार साहब ने वकालत और मुख्तारगीरी करना छोड़ दिया और प्राण-पण से समाज मे फैली अन्धश्रद्धा, कुरीतियो आदि का उन्मूलन करने मे जुट गए। हस्तिनापुर क्षेत्र पर दस्सा-बीसा के ऊपर भारी झगड़ा होने पर भी ये पीछे नही हटे। उसे निबटाकर ही छोड़ा। समय २ पर मासिक पत्रो व साप्ताहिक पत्रों मे निरन्तर समाज-सुधारक लेख निकलते थे। स्वय का 'जैन हितैषी' पत्र निकालकर समाज का बड़ा उपकार किया। इनके दो लड़कियां—सन्मति और विद्यावती—हुई जिनमे सन्मति केवल आठ वर्ष की आयु मे ही काल-कवलित हो गई। सन् १९१८ में इनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। उस समय छोटी पुत्री विद्यावती केवल तीन मास की थी। उसका पालन-पोषण घर पर धाय रखकर हमारे पास ही हुआ। दुर्भाग्यवश तीन साल की आयु में वह भी न रही। इन सब संकटों के बावजूद भी मुख्तार साहब साहित्य-निर्माण मे और भी अधिक संलग्न हो गए। उनकी स्मृति में इन्होंने एक ग्रंथमाला भी निकालने का विचार किया था, उसका पूरा विवरण अनेकान्त मे प्रकाशित है। मेरी भावना, द्रव्य पूजा, पश्चात्ताप आदि छोटे रूप मे होते हुए भी बड़ी महत्त्वशाली है। स्तुति विद्या, स्वयभूस्तोत्र, सिद्धभक्ति, समाधितंत्र आदि अनेको ग्रथों का सरल अनुवाद करके अल्पज्ञानियो को धर्म का प्रकाश दिया।

ये पूज्य आचार्य समन्तभद्र के परम भक्त थे। इन्हें ही अपना गुरु मानकर, समस्त कार्यों के करने से पहले आचार्य श्री का स्मरण-वन्दन करते थे। इनके प्रति अपार भक्ति व श्रद्धा थी। 'स्वामी समन्तभद्र' नाम का ग्रंथ भी लिखा है, जिसमे स्वामी जी के जीवन-चरित्र व उनके अनुपम धर्म, धर्मप्रचार, चमत्कार आदि का विशद वर्णन है। कदम २ पर वे समन्तभद्र जी का स्मरण करते थे। उनकी कृतियों पर गवेषणापूर्ण कई लेख लिखे हैं।

जैनियों में जो दस्सा, बीसा, ओसवाल, परवार आदि भेद चल रहे थे उन सबको एक करने की उनमे प्रबल भावना थी। वे निर्भीकता से यथार्थ बात कहने मे नहीं हिचकते थे, भले ही वह कितना ही विद्वान या धनवान, प्रतिष्ठावान हो।

कानजी स्वामी, स्वामी सत्यभक्त, आदि के कुछ कथनों का इन्होंने डटकर विरोध किया। साहित्य सेवी श्री नाथूराम प्रेमी जी से इनकी घनिष्ट मित्रता थी। ये भी कई बार बम्बई गए और वे भी इनके पास आए थे। साहित्य-निर्माण मे परस्पर परामर्श होते रहते थे। प्राय: सभी लेखक इनको अपने लेख दिखाकर इनकी सम्मति लेते थे, क्योंकि ये अपने समय महान दिग्गज विद्वान थे। सन् १९ में उन्होंने सरसावा मे ही वीर सेवा मंदिर संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य सत्साहित्य की खोज-शोध

एवं प्राचीन महाग्रंथों का सरल भाषा में अनुवाद आदि कराकर धर्म का प्रचार व प्रसार करना था। कई साल तक यह क्रम सुचारू रूप से चलता रहा। इसी बीच उद्योग पति श्री छोटेलाल जी ने सलाह दी कि सरसावा जैसे छोटे कस्बे में अपने उद्देश्य की पूर्ति होना कठिन है। प्रेस आदि की असुविधा है। अतः इस उपयोगी संस्था को देहली में स्थापित किया जाय, जहां नित्य ही विद्वानों का समागम स्वयमेव होता रहेगा और अनेक सुविधाएं उपलब्ध होंगी।

फलतः २१ नं० दरियागंज मे वीर सेवा मंदिर का एक निजी भवन बनाकर संस्था का कार्य चालू किया गया। इतना सब कुछ करते हुए भी ये धर्म में बड़े दत्तचित्त थे। घंटों तक ध्यान, स्वाध्याय व अनेको पाठ नित्य करते थे। इन्होंने श्री महावीर जी क्षेत्र पर जाकर वर्धमान स्वामी की प्रतिमा के समक्ष सातवीं प्रतिमा धारण की जिसका अन्त समय तक पालन किया। आजकल के त्यागियों जैसा उनका त्याग नही था। जो भी त्याग किया केवल बाह्य न हो आतंरिक ज्यादा रहा। दिल्ली के विद्वानों, श्रीमानों का सहयोग प्राप्त हुआ, इसीके अन्तर्गत बा० छोटेलाल जी व मुख्तार साहब के मन में जैन लक्षणावली बनाने की प्रबल उत्कण्ठा हुई। परन्तु इतना महान कार्य आसानी से होने वाला नहीं था। "यादृशी भावना यस्य सफलीभवति तादृशी" के अनुसार यह दुःसाध्य कार्य प्रारम्भ कर ही दिया, परन्तु खेद है कि उनके जीवन-काल मे यह प्रकाशित न हो सका। काश हो जाता तो वे कितना प्रफुल्लित होते। फिर भी उन्हे सन्तोष था कि कभी न कभी अवश्य प्रकाशित हो जायगा। इस कार्यपूर्ति के लिए ग्रंथो का विशाल संग्रह किया गया तथा अति परिश्रम से यह कार्य सम्पन्न हुआ।

मुख्तार साहब के हृदय में वीर भगवान की वाणी का प्रसार करने की उत्कट भावना थी। इससे प्रेरित होकर उन्होंने 'वीर सेवा मंदिर' मे वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाया। जगह २ से विद्वान बुलाए जिन्होने वीर शासन का महत्त्व बतलाया। यही तक नही, बा० छोटेलाल जी व मुख्तार साहब ने राजगृही मे ही, जहाँ भगवान की असली दिव्यध्वनि खिरी थी, यह महोत्सव बड़े पैमाने पर मनाया। फिर कलकत्ते में भी धूम-धाम से मनाया, बाद में भी दिल्ली में मनाते रहे। बीच मे मुख्तार साहब और बा० छोटेलाल जी में कुछ मतभेद होने के कारण विशेष योजना कार्यान्वित न हो सकी।

भाई साहब हमारे यहा बहुत आते थे। हमारी दादी जी उनसे अत्यन्त प्रेम रखती थी, यहां तक कि उन्हें गोद लेने को तैयार थी, परन्तु कानून न होने से गोद तो नहीं लिया, फिर भी पुत्रवत स्नेह करती थी। वे भी मां के बराबर ही समझते थे। मेरे माता-पिता का देहान्त होगया था। मैं दादी बुआ कि संरक्षण मे रही। उन्होने मुझे पढ़ने के लिए इन्ही भाई साहब के पास देवबन्द भेज दिया। ये मुझे बडे प्यार से रखते तथा शिक्षा देते रहे। जब इनकी पत्नी का देहान्त हो गया, तब इन्होंने मुझे शिक्षा प्राप्त करने पं० चन्दाबाई जी के पास भेज दिया। वहा रहकर मैंने १३ वर्ष की उम्र में संस्कृत प्रथमा तथा धर्म मे विशारद पास की। यह सब श्रेय भाई साहब को ही था, जिन्होने इतनी शिक्षा प्राप्त कराई। मेरा जन्म, शिक्षा, विवाह तथा वैधव्य आदि सभी इनके ही सान्निध्य में हुआ।

जब आपने वीर सेवा मंदिर स्थापित किया, तब मैं महीनों वहाँ रहती थी। वहां पर एक कन्याशाला स्थापित की जिसमें बालिकाओं को स्वयं पढ़ाती थी। एक महिला सभा कायम की, जिसमे स्थानीय महिलायें भाग लेती थी और बहुत-कुछ भाषण देना सीख गई थीं। भाई साहब के संस्था के कार्यों मे मैं सहायता करती थी, जैसे ग्रथों की अनुक्रमणिका का बनाना, लेख आदि की प्रेस कापी बनाना, पत्र-व्यवहार करना आदि २।

जब संस्था दिल्ली मे आ गई, मै तब भी इनके पास रही और वीर सेवा मंदिर की सदस्या होकर संस्था के कार्यों में यथाशक्य लगी रहती थी। जब ये वृद्धावस्था के कारण अशक्त रहने लगे, तब इस स्थिति मे डाक्टरों की आवश्यकता पड़ने लगी। अतः इनके छोटे भाई के लड़के डाक्टर श्रीचन्द इन्हें अपने साथ एटा ले गए। वहां परिचर्या होती रही। अन्त मे रोग ने जोर पकड़ा और वे समाधिपूर्वक हम सबको छोड़कर चल दिए।

□□□

मेरी भावना

☐ स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

[इस अमर कृति 'मेरी भावना' की रचना स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने सन् १९१६ में की थी। तब से यह उत्तरोत्तर लोकप्रिय और सर्वप्रिय होकर 'सार्वजनीन भावना' बन गई है।

अब तक 'मेरी भावना' का अनुवाद अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुका है और विविध रूपों में सैकड़ों संस्करणों में इसकी लाखों प्रतियां प्रकाशित होकर जन-जन में प्रचारित हो चुकी हैं।

इस दृष्टि से, 'मेरी भावना' वस्तुतः अपने रचयिता का सच्चा स्मारक बन गई है और यहां पुनरुद्गान एवं पुन:प्रस्तुतीकरण की प्रार्हता रखती है तथा यह इसी प्रकार चिरकाल तक अपने अमर उद्गाता का पुण्य-स्मरण कराती रहेगा। —सम्पादक]

(१)

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते,
सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग का,
निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर जिन, हरि, हर, ब्रह्मा
या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह,
चित्त उसीमें लीन रहो॥

(२)

विषयों की आशा नहिं जिनके,
साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-परके हित-साधनमें जो,
निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या,
बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के,
दुख-समूह को हरते हैं॥

(३)

रहे सदा सत्संग उन्हींका,
ध्यान उन्हींका नित्य रहे,
उनही जैसी चर्यामें यह,
चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊँ किसी जीवको,
झूठ कभी नहीं कहा करूँ,
परधन-वनिता पर न लुभाऊँ,
संतोषामृत पिया करूँ॥

(४)

अहंकार का भाव न रक्खूं,
नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरों की बढ़ती को
कभी न ईर्षा-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी,
सरल-सत्य-व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन में,
औरों का उपकार करूँ॥

(५)

मैत्री-भाव जगत में मेरा,
सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवों पर मेरे,
उरसे करुणा-स्रोत बहे।
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतों पर,
क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव मैं रक्खूँ उन पर,
ऐसी परिणति हो जावे ।।

(६)

गुणी-जनों को देख हृदय में,
मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा,
करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित,
दृष्टि न दोषों पर जावे ।।

(७)

कोई बुरा कहो या अच्छा,
लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ,
या मृत्यु आज ही आजावे।
अथवा कोई कैसा ही भय
या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा,
कभी न पद डिगने पावे ।।

(८)

होकर सुख में मग्न न फूले,
दुख में कभी न घबरावे,
पर्वत-नदी-स्मशान-भयानक
अटवी से नहीं भय खावे।
रहे अडोल-अकंप निरन्तर,
यह मन, दृढ़तर बन जावे,
इष्टवियोग-अनिष्टयोग में,
सहनशीलता दिखलावे ।।

(९)

सुखी रहें सब जीव जगतके,
कोई कभी न घबरावे,
बैर-पाप-अभिमान छोड़ जग,
नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की,
दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना
मनुज-जन्म-फल सब पावें ।।

(१०)

ईति-भीति व्यापे नहिं जग में,
वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्म निष्ठ होकर राजा भी,
न्याय प्रजा का किया करे।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले,
प्रजा शान्ति से जिया करे,
परम अहिंसा-धर्म जगत में,
फैल सर्वहित किया करे ।।

(११)

फैले प्रेम परस्पर जग में,
मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहिं,
कोई मुखसे कहा करे।
बनकर सब 'युगवीर' हृदय से,
देशोन्नतिरत रहा करें,
वस्तुस्वरूप विचार खुशी से,
सब दुख-संकट सहा करें ।।

□□□

सरल स्वभावी महान आराधक

☐ श्री रमाकान्त जैन, लखनऊ

अपने बाल्यकाल मे जो कविताएं मुझे पढ़ने को मिलीं उनमें एक थी 'मेरी भावना'। आत्म-विकास में सहायक और एक अच्छे नागरिक बनने की भावना को प्रस्फुटित करने वाली इस रचना के रचयिता थे प० जुगलकिशोर मुख्तार। घर मे जो पत्र-पत्रिकाए आती थी उनमें एक था सरसावा जिला सहारनपुर से प्रकाशित होने वाला मासिक पत्र 'अनेकान्त'। इस मासिक पत्र के सम्पादक भी प० जुगलकिशोर मुख्तार थे। अतः अपने बालपन में ही मैं मुख्तार श्री के नाम से परिचित हो गया था। संयोग से सन् १९४७ मे जब मै ग्यारह वर्ष का बालक था तभी उनके दर्शनो का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उन दिनों मेरे पिता जी डा० ज्योतिप्रसाद जी उनके सान्निध्य मे सरसावा मे रहकर साहित्य-साधना कर रहे थे। अपना ग्रीष्मावकाश पिता जी के पास व्यतीत करने मै भी लखनऊ से सरसावा गया था।

वही ग्रांड ट्रक रोड पर स्थित वीर सेवा मन्दिर मे, जो प्रचलित अर्थ मे मन्दिर न होकर उनका निजी भवन था, उस विद्वान-पत्रकार-कवि की सौम्य आकृति को देखा। उस समय लगभग सत्तर वर्ष उनकी आयुर ही होगी। देखने मे वृद्ध थे, किन्तु मानसिक अथवा शारीरिक किसी भी प्रकार से शिथिल नही थे। उन वयोवृद्ध को, जिन्हे पिता जी भी बुजुर्ग का सम्मान दे रहे थे, मैंने प्रथम दर्शन मे बाबा जी कहकर सम्बोधित किया था, ऐसा मुझे स्मरण पड़ता है।

मुख्तार साहब तब केवल नाम के मुख्तार थे। देवबन्द मे मुख्तारी छोड़े उन्हें एक अर्सा बीत चुका था। पत्नी और पुत्री के काफी दिनो पहले ही विदा ले चुकने के कारण घर-गृहस्थी के जंजाल से मुक्त हो एकाकी जीवन व्यतीत करते करते हुए वे खुद-मुख्तार हो गये थे।

कदाचित् शहर के कोलाहलपूर्ण वातावरण से बचने के लिए ही तब उन्होंने सरसावा जैसे कस्बे को अपने निवास के लिए चुना था और वहां भगवान महावीर की सेवा करने, अथवा यूं कहिये, उसके बहाने अपनी साहित्य साधना के लिये काफी बड़ी भूमि पर जो सादा किन्तु भव्य भवन बनवाया हुआ था वह मंदिर तो नहीं आश्रम या गुरुकुल सरीखा था। उस भवन की चहारदीवारी के भीतर केवल भगवान महावीर के उपासक साहित्यसाधकों का ही निवास था। पं० जुगलकिशोर जी गुरु और अन्य अनेक विद्वान उनके शिष्य समान प्रतीत होते थे। भवन के मुख्य खण्ड में जिसमे पंडित जी निवास करते थे, तीन कक्ष थे — बीच में एक बहुत बड़ा हाल तथा दो बगली कमरे। बीच के बड़े हाल में पंडित जी का पुस्तक संग्रह था और उसमें पं० परमानन्द शास्त्री और न्यायाचार्य पं० दरबारी लाल कोठिया बैठकर कार्य करते थे। दाहिनी ओर का बगली कक्ष पिताजी का कार्यस्थल और बायीं ओर का बगली कक्ष मुख्तार साहब का विश्राम एवं साधना स्थल था। इन कक्षों के आगे चबूतरा था और उसके आगे बड़ा खुला हुआ आंगन था। चारदीवारी से लगे हुए अन्दर की ओर खुलने वाले कमरो मे हमारा और प० परमानन्द जी शास्त्री का परिवार रहता था। बड़ा शान्तिपूर्ण वातावरण था। भवन मे पानी का बम्बा नही था अपितु एक हैण्ड पम्प था। भवन से लगी हुई नीबू और नारंगी के पेड़ो की एक बगिया भी थी, जिसका दरवाजा प्रायः बन्द रहा करता था।

गरमी के दिन थे। अतः तड़के ही उठकर स्नानादि से निवृत्त हो कस्बे के मंदिर में दर्शन कर पिताजी सात बजे तक अपने कक्ष मे पहुंच जाते थे और मैं भी उनका साथ देता। अन्य विद्वान भी अपने कक्ष में आ जाते थे। पंडित जुगलकिशोर जी भी अपने कक्ष में अपने कार्य पर लगे दीखते। पिता जी दस बजे तक अनवरत रूप से अपने कार्य में लगे रहते। मैं भी समय काटने हेतु उनके पास बैठा हुआ कुछ न कुछ अध्ययन-अभ्यास करता और

कुछ नहीं तो पंडित जी के पुस्तकालय से निकलवाकर कोई रोचक किताब ही पढ़ता रहता था। दस बजे उठ कर मैं पंडित जी को भोजन के लिये बुलाने चला जाता था। उन दिनों वह हमारे यहाँ ही भोजन करते थे। भोजन के समय वह प्रायः मौन रहते थे। वैसे भी मित-भाषी थे। 'अनेकान्त' के सम्पादकाचार्य मुझे तो एकान्त-प्रिय और स्वकेन्द्रित प्रकृति के ही लगे। अधिकांशतः वह अपने कक्ष में बैठे हुए लेखनी ही चलाते रहते थे।

सायंकाल के भोजनोपरान्त कभी-कभी हम लोगों के पास भी आ बैठते और पिताजी से इधर-उधर की विविध विषयों पर चर्चा होती और मैं मौन श्रोता का कार्य करता। किन्तु एक दिन मैंने भी चर्चा मे भाग लेने का साहस किया। कक्षा सात की संस्कृत की पोथी में सुभाषितानि में मैंने श्लोक पढ़ा था—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

मुझे लगा कि पंडित जी की मेरी भावना का निम्न पद उनकी मौलिक रचना न होकर उपर्युक्त श्लोक का अनुवाद मात्र है—

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊं या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे।

हल्दी की गांठ लेकर पंसारी बन बैठने की कहावत को चरितार्थ करते हुए मैंने एक सायंकाल पंडित जी का छेड़ ही दिया कि उनकी 'मेरी भावना' के पद तो संस्कृत सुभाषितो के अनुवाद मात्र हैं, जैसे 'कोई बुरा कहो या अच्छा' वाला पद 'निन्दन्तु नीतिनिपुणाः' श्लोक का अनुवाद है। बिना बुरा माने वह सहज भाव से बोले—'तुमने यह बात सही पकड़ी है कि 'मेरी भावना' के पद संस्कृत सुभाषितों के अनुवाद है, किन्तु वे मात्र शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद या छायानुवाद हैं और, उनमे अपनी रुचि से मैंने कुछ घटाया-बढ़ाया है, जैसे उस पद में जहाँ मैंने यह कहा है "अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे" उसका कोई उल्लेख तुम्हारे श्लोक में नहीं है और वैसे भी कई शाब्दिक हेरफेर है।' पंडित जी के स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति होता तो कदाचित् मुझसे रुष्ट हो जाता और बिगड़कर कहता कि छोटे मुँह बड़ी बात करते हो, किन्तु पंडित जी ने जिस सहज भाव से मेरी बात सुनकर उसे सराहते हुए अपनी बात समझाई वह उनके विनम्र स्वभाव और बड़प्पन की परिचायक है।

वीर सेवा मन्दिर मे मैं लगभग डेढ़ माह रहा। इस बीच वहाँ दो एक साधु-सन्तों को, जो जैनेतर थे, आते-ठहरते देखा। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को वीर-शासन-जयन्ती का आयोजन हुआ। प्रभात-फेरी के उपरान्त ध्वजारोहण हुआ। उस अवसर पर बाहर से भी कई सज्जन पधारे थे जिनमे दिल्ली के श्री मार्ईदयाल जैन के नाम का मुझे अब भी स्मरण है, और मुख्तार साहब की ओर से सबके सामूहिक भोजन का प्रबन्ध हुआ था।

ग्रीष्मावकाश समाप्त होने पर मैं लखनऊ वापस चला आया और कुछ दिनों बाद पिताजी भी सरसावा से लखनऊ चले आये। अब तीस वर्ष पुरानी वह प्रवास कथा हो गई है और उसके संस्मरण भी स्मृतिपटल पर धूमिल हो चले है। अभी तीन-चार दिन पूर्व पिताजी से यह सुनकर कि पंडित जुगल किशोर मुख्तार की जन्मशती आगामी २० दिसम्बर को और उनकी नौवीं पुण्यतिथि २२ दिसम्बर को पड रही है, मुझे भी अकस्मात् पंडितजी के साथ बीता वह डेढ माह का प्रवास और अपने बाल-मन पर पड़ी उनकी छाप की याद ताजा हो आई। फलस्वरूप प्रस्तुत संस्मरण द्वारा उन सरल स्वाभावी ऋषि-तुल्य, सरस्वती के महान आराधक के प्रति इस सुअवसर पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु लेखनी को नहीं रोक सका।

□□□

ज्योति निकुंज,
चारबाग, लखनऊ-१

अनुसंधान के आलोक-स्तम्भ

□ डा० प्रेमसुमन जैन

श्रद्धेय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैन समाज के उन कीर्ति स्तम्भों में से हैं, जो समाज व देश को जगाने के लिए ही जन्मते है। मुख्तार जी का सम्पूर्ण जीवन जैन-साहित्य के अध्ययन-अनुसधान में ही व्यतीत हुआ। समाज के अधिकांश विद्वानो के वे प्रेरणास्रोत थे। पत्रकारिता के क्षेत्र मे उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया है। मेरा दुर्भाग्य है कि मुझे उनके दर्शन प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नही हुआ। यद्यपि उनके गवेषणापूर्ण लेखो एवं ग्रन्थों का अवलोकन मैं मननपूर्वक करता रहा हूं। उनकी गवेषणात्मक निष्पक्ष दृष्टि ने मुझे अधिक प्रभावित किया है।

श्री मुख्तार जी में अनुसंधान की प्रवृति १६०७ में जैन गजट के सम्पादक होने के बाद प्रारम्भ हुई। इसी वर्ष में १ सितम्बर के अंक मे प्रकाशित आपके लेख 'हर्ष समाचार' से अनुसन्धान के प्रति आप की बढ़ती हुई अभिरुचि का पता चलता है तथा ८ सितम्बर, १६०७ के अंक म सम्मेद शिखर तीर्थ के सम्बन्ध मे लिखा गया आपका अग्रलेख इस प्रवृति की पुष्टि करता है। 'जैनगजट' के सम्पादक कार्य से जो समय बचता था, मुख्तार जी उसे जैन-साहित्य के गम्भीर अध्ययन मे लगाते थे। इस अध्ययन का यह सुफल हुआ कि भट्टारको द्वारा जैन शास्त्रों मे जो जैन-धर्म के विरुद्ध बातें लिख दी गयी थी, उनका निराकरण करना मुख्तार जी ने प्रारम्भ कर दिया। केवल इतना ही नहीं, उन्होने अपने अध्ययन के आधार पर एक मौलिक खोज यह भी की कि जैन-शास्त्रो के प्रक्षिप्त अशों के मूल स्रोत भी खोज निकाले। बाद में यही खोज 'ग्रन्थ-परीक्षा' नामक पुस्तक के चार भागो मे प्रकाशित हुई।

मुख्तार जी ने जैन-साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान के लिए मुख्तारगिरी को भी छोड़ दिया। एकचित्त होकर वे जैन-साहित्य की सेवा में लग गये। १६१६ के लगभग आपने अपने गम्भीर अध्ययन के आधार पर 'जैनाचार्यों तथा जैन तीर्थंकरों में शासनभेद' के नाम से एक लेखमाला का प्रारम्भ किया, जिसमें आप ने प्रमाणित किया कि वीरशासन (जैनधर्म) का प्राप्त रूप एकान्त मौलिक नहीं है। उसमें बहुत कुछ मिश्रण हुआ है और संशोधन की आवश्यकता है। यद्यपि इसके विरुद्ध भी आवजें उठायी गयीं, लेकिन श्री मुख्तार जी अपनी स्थापनाओं पर अटल रहे और शान्त भाव से अध्ययन करते रहे। आप अपनी स्थापना के प्रति विश्वत रहते थे, क्योंकि कोई बात विना प्रमाण के नहीं लिखते थे। श्री नाथूराम जी प्रेमी ने आप की प्रमाणिकता के विषय में लिखा है—'आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आप की कलम से कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं वह सप्रमाण सुनिश्चित।'

'ग्रन्थपरीक्षा' का तीसरा भाग जब १६२८ में प्रकाशित हुआ तो मुख्तार जी के गहन अध्ययन एवं प्रमाणिकता से अधिकाधिक लोग परिचित हुए। जो लोग जैन धर्म को प्रक्षेपों से दूषित कर रहे थे, सत्यता प्रकट होते ही शान्त हो गये। श्रीमान् प्रेमी जी ने उक्त ग्रंथ की भूमिका में लिखा है—'मैं नहीं जानता हूं कि पिछले कई सौ वर्षों से किसी भी जैन विद्वान ने कोई इस प्रकार का समालोचक ग्र थ इतने परिश्रम से लिखा होगा...... इस प्रकार के परीक्षा लेख जैन साहित्य में सब से पहिले हैं ....जांच करने का यह ढंग विल्कुल नया है और इसने जैन धर्म का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करने वालों के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।'

श्री मुख्तार जी की इन सूक्ष्म और मौलिक दृष्टि से मैं तभी परिचित हुआ जब किसी वसुनन्दि नाम के आचार्य द्वारा लिखित प्राकृत रचना 'तत्व-विचार' का परीक्षण कर रहा था। यह ग्रन्थ ३०० गाथाओं का है। आचार सम्बन्धी जैन धर्म के प्रमुख तत्वों का इसमें सुन्दर

वर्णन है। श्री मुख्तार जी ने बम्बई प्रवास में इसकी पांडुलिपि देखी थी। वहाँ से आकर आप ने अनेकान्त मे एक लेख लिखा, जिसमें यह सम्भावना व्यक्त की कि 'तत्व विचार' मौलिक ग्रन्थ प्रतीत नही होता। इसे सग्रह ग्रन्थ होना चाहिए'[1], मुख्तार जी की इस सूचना ने मुझे सतर्क कर दिया और जब मैंने सूक्ष्म दृष्टि से ग्रन्थ का परीक्षण किया तो सचमुच 'तत्वविचार' की लगभग २५० गाथायें अन्यान्य २०-२२ प्राकृत के ग्रथों से संगृहीत की गयी मिली, जिनमें कुछ श्वेताम्बर ग्रन्थ भी है[2]। श्री मुख्तार सा० के 'पुरातन जैन वाक्य सूची' ग्रन्थ से इस सम्बन्ध में मुझे पर्याप्त सहायता मिली। श्री मुख्तार सा० का यह प्रयत्न अपने ढंग का अकेला रहा है। वे कितने परिश्रमी थे यह जानने के लिए अकेला यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है।

अनुसंधान के क्षेत्र में श्री मुख्तार सा० का दूसरा प्रशंसनीय कार्य जैनाचार्यों के विषय में खोजवीन करने का है। पात्र केसरी और विद्यानन्द की पृथकता आप के प्रयत्न से ही मान्य हो सकी। पंचाध्यायी के कर्त्ता की आपने खोज की तथा महान आचार्य स्वामी समन्तभद्र के इतिहास एवं साहित्य के विषय में तो आपने अपना जीवन ही लगा दिया है। श्री मुख्तार सा० की जैन शासन के प्रति इस सेवा को देखते हुए प० राजेन्द्रकुमार जी का कथन यथार्थ है कि 'मुख्तार साहिब यह काम न करते तो दिगम्बर-परम्परा ही अस्त-व्यस्त हो जाती। इस कार्य के कारण मैं उन्हें दिगम्बर परम्परा का संरक्षक मानता हूं।' इसी तरह महावीर भगवान् के समय आदि के सबन्ध में जो मतभेद एवं उलझनें उपस्थित थीं उनका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके आपने सर्वमान्य समन्वय किया और वीर शासन-जयन्ती की खोज तो आपके जीवन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है।

श्री मुख्तार साहब ने एक और महत्वपूर्ण कार्य का सूत्रपात्र किया। वह है विलुप्तप्राय ग्रन्थों का सन्दर्भों के आधार पर पुनराकलन। आपने विशाल जैन-साहित्य में लिखे उल्लेखों के आधार पर ऐसे बहुत से अप्राप्य ग्रन्थों की एक सूची तैयार की थी। कुछ ग्रन्थों की प्राप्ति भी उन्हें हुई थी। किन्तु यह अधिकांश कार्य अधूरा ही पड़ा है। इसके लिए गहन अध्ययन एवं अथक परिश्रम की आवश्यकता है। फिर भी मुख्तार साहब के इस कार्य को पूरा करने से, मैं समझता हूँ, उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि ही अर्पित नहीं होगी, अपितु जैन-साहित्य की बहुत बड़ी सेवा भी।

श्री मुख्तार साहब की अनुसंधान प्रवृत्ति के विकास का फल 'अनेकान्त' है। अनेकान्त के प्रकाशन से केवल जैन-साहित्य ही प्रकाश में नहीं आया, बल्कि जैन विद्वानों की एक लम्बी परम्परा प्रारंभ हुई। मुख्तार सा० के सम्पादकीय टिप्पणों से कोई अच्छे से अच्छा लेखक भी नहीं छूट सका। उन्होंने लेख को हमेशा देखा है, लेखकों को नहीं। शायद इसी का यह परिणाम है कि लेखन में दिनोंदिन प्रामाणिकता की वृद्धि होती गयी और कई लेखक मुख्तार सा० की इस कृपा से पाठकों में उनसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकें[3]।

इस तरह स्वर्गीय श्री मुख्तार सा० की जैन-साहित्य के अनुसंधान के क्षेत्र में अपूर्व देन है। जीवन के अन्तिम दिनों में भी वे उसी उत्साह और लगन के साथ साहित्य साधना में रत रहे। वे अनुसंधान के एक ऐसे आलोक-स्तम्भ थे, जिससे निरन्तर अनेक दीपक प्रज्वलित होते रहे है। मुख्तार सा० ने हमेशा सबको गति प्रदान की है। ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम दिनो में भी वे इस स्वभाव को नहीं भूले तथा जब अपनी अन्तिम सांसों के कारण गतिरोध हो रहा था तो मुख्तार सा० ने अपनी सांसें उन्हें प्रदान कर दी। समय भी उनसे उपकृत हो गया। ऐसे महान् तपस्वी के चरणों मे मुझ अकिंचन के अनन्त प्रणाम। □□□

---

१. अनेकान्त, वर्ष प्रथम, किरण ५, पृ० २७५.

२. इस विषय का लेखक का एक लेख अनेकान्त की वर्ष २१ की किरण ७ में प्रकाशित हुआ है।

३. 'जैन जागरण के अग्रदूत' में प्रकाशित परिचय के आधार पर।

जैन समाज के भीष्मपितामह

□ श्री देवेन्द्रकुमार जैन

उन्नीसवी शताब्दी का वह अरुण युग जिसमे सभ्यता और संस्कृति ही नही शिक्षा और संस्कार पश्चिमोदय के प्रभात में इस देश के जन-मानस पर अंकित हो रहे थे, उसी युग में भारतीय श्रमण संस्कृति मे आप्यायित, पूर्व जन्म के सुसंस्कारों से समन्वित बालक 'किशोर' ने जैन कुल में जन्म लिया। बचपन से ही उसकी प्रतिभा तथा सुसंस्कारों का विकास हो चला था, यह उनके जीवन की विविध घटनाओं से प्रमाणित होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का वास्तविक उन्मेष संघर्षों के बीच होता है। जिसके जीवन में और जिस समाज मे संघर्ष न हो उसे मृतप्राय समझना चाहिए। जुगलकिशोर मुख्तार के रूप में जैन समाज को एक ऐसा ही व्यक्ति मिला था जो जन-जीवन को झकझोर कर उसे वास्तविक रूप मे ला देना चाहता था। बाबू सूरजभानु वकील, अर्जुनलाल जी सेठी और जुगलकिशोर जी ऐसे ही परम्परा के प्रवर्तक थे, जिसे आज की भाषा में समाजसुधारक कहते हैं। वास्तव में इस परम्परा का प्रवर्तन जैन समाज के अनुपम विद्वान् गुरुवर्य्य पं० गोपालदास जी बरैया ने किया था। समय-समय पर इन विद्वानों के लेखों ने तथा वक्तृताओ ने जैन समाज मे जागृति का शखनाद फूका, इसमे कोई सदेह नही है। पं० मुख्तार जी इसी पीढ़ी के विद्वानो मे से थे। किन्तु अपनी पीढ़ी में उन्होंने सबसे अधिक कार्य किया। क्या इतिहास, क्या दर्शन, क्या साहित्य और क्या धर्म-संस्कृति तथा राष्ट्रीयता सभी क्षेत्रों मे मुख्तार जी की प्रवृत्तियां सलग्न रही है। उन समस्त प्रवृत्तियो के कार्य-कलापो के मध्य 'युगवीर' का प्रबल व्यक्तित्व संलक्षित होता है।

असाधारण व्यक्तित्व की भांति पं० मुख्तार जी का कृतित्व भी असाधारण रहा है। इसलिए वे जैन समाज में भीष्मपितामह के तुल्य थे, जिसने समाज की झंझावातों को सदा अकेले ही झेल कर राष्ट्र का पथ प्रशस्त किया। वे संघर्षों से अकेले जूझते रहे और सदा समाज को कुछ न कुछ नही अपितु बहुत ही अमूल्य रत्न देते रहे। उनके जीवन में अवरोधक बहुत रहे, किन्तु उनकी उन्होने कभी चिंता नहीं की। उनकी जीवन-व्यापिनी चिंता एक ही रही और वह थी साहित्य की गवेषणा तथा जैनसिद्धान्त की प्रतिष्ठा। उनका जीवन ऐसे ही पार्थ धनुर्धरों के लिए समर्पित था। वे आसन्न काल तक कभी इस भीष्म व्रत से विचलित नही हुए, सदा अटल ही रहे। उनकी जीवन-साधना जितनी सरल और निश्छल थी उनका महान् उनको व्यक्तित्व भी। युग-युगो के अनुभवों तथा कर्म-निरत साधना में सपृक्त हो उन्होंने समाज को जो दिया वह अपरिमेय तथा अमूल्य है। उन्होने साहित्य सम्बन्धी जितना कार्य अकेले किया उतना एक सस्था भी सम्भवतः न कर पाती। वीरसेवा मन्दिर के प्रकाशनों से स्पष्ट है कि उस महान् साहित्यकार ने कितना अधिक कार्य किया। कठिन से कठिन तथा अप्रकाशित ग्रन्थों को सरल भाषा में प्रकाशित कर जनसुलभ बनाने में आपकी कर्मठ साधना तथा कठोर श्रम एवं विद्वत्ता श्लाघनीय है। इतना ही नहीं, मौलिक साहित्य का सर्जन कर आप ने समाज को एक चेतना तथा जागृति प्रदान की। 'मेरी भावना' तो एक राष्ट्रीय गौरव की कृति बन गई है। अकेली इस रचना ने ही आपको पर्याप्त यश तथा लोकाश्रय प्रदान किया। इसी प्रकार, साहित्य के अनाघ्रात क्षेत्र में 'जैनग्रंथ परीक्षा' और चिन्तन-मनन के साथ प्रकाशित 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' जैसे ग्रन्थ लिख कर आपने अनुसन्धान जगत् में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

सम्पादन तथा अनुवाद :

'जैन गजट', 'जैन हितैषी' तथा 'अनेकान्त' जैसे

समाज के मुख्य पत्रों के सम्यक् सम्पादन के अतिरिक्त आप ने कई ग्रन्थों का सम्पादन तथा हिंदी अनुवाद भी किया है। ये सभी ग्रन्थ संस्कृत से हिन्दी में अनूदित किए गए हैं। इनके नाम इस प्रकार है :—

(१) आचार्य प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र, (२) युक्त्यनुशासन, (३) स्वयम्भूस्तोत्र, (४) योगसार प्राभृत (५) समीचीन धर्मशास्त्र, (६) अध्यात्म रहस्य, (७) अनित्यभावना, (८) तत्त्वानुशासन, (९) देवागम (आप्त-मीमांसा), (१०) सिद्धिसोपान (आ० पूज्यपाद विरचित सिद्धभक्ति का भावात्मक हिन्दी पद्यानुवाद), (११) सत्साधुस्मरणमंगलपाठ (संकलन तथा हिन्दी अनुवाद)।

सम्पादन तथा अनुवाद में लेखक ने मूल भाव को बनाये रखने का पूरा यत्न किया है और यही उनकी मुख्य विशेषता है। मूल लेखक के भावो को हृदयगम कर उसके भावों को सरल भाषा में प्रकट करना मुख्तार जी का ही कार्य है। 'युक्त्यनुशासन' जैसे जटिल, दार्शनिक तथा महान् ग्रन्थ का प्रामाणिकता के साथ हिन्दी अनुवाद कर यथार्थ मर्म को प्रकाशित करना मुख्तारश्री की प्रतिभा का ही कार्य है। इसी प्रकार 'देवागम' तथा 'अध्यात्म-रहस्य' जैसे कठिन ग्रन्थों की गुत्थियां सुलझा कर हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने की सामर्थ्य आप में ही लक्षित हुई है। विस्तार से यहां पर सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद की विवेचना न करके इतना कहना ही पर्याप्त समझता हू कि सम्पादन तथा अनुवाद कार्य के क्षेत्र मे आप जैन समाज के विरले ही विद्वान् है। दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् प० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य के शब्दो मे : 'युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थ का सुन्दरतम अनुवाद, समन्तभद्र के अनन्यनिष्ठ भक्त साहित्य-तपस्वी पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने जिस अकल्पनीय सरलता से प्रस्तुत किया है वह न्याय-विद्या के अभ्यासियों के लिए आलोक देगा। सामान्य-विशेष, युतसिद्धि अयुतसिद्धि, क्षणभंगवाद, संतान आदि परिभाषिक दर्शन शब्दों का प्रामाणिकता से भावार्थ दिया है। आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार की यह एकान्त साहित्य-साधना आज के मोल-तोल वाले युग को ही महंगी नहीं मालूम होगी, जब वह थोड़ा-सा भी अन्तर्मुख होकर इस तपस्वी की निष्ठा का अनुवाद की पंक्ति-पंक्ति पर दर्शन करेगा। स्पष्ट ही, लेखक की साहित्य-साधना महान् है। इस साहित्य देवता की सभी विशेषताओं पर प्रकाश डालना संभव भी नहीं है। इस छोटे से लेख मे कितना लिखा जा सकता है ? किन्तु साहित्यिक मूल्याकन की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आपका जितना साहित्य सृजन का कार्य है वह अत्यन्त श्रमसाध्य निष्ठा तथा लगन से परिपूर्ण है। सम्पादन तथा अनुवाद-जगत् मे ऐसी रचनाए अत्यन्त अल्प हैं। इनके महत्व को वही समझ सकता है जो ऐसे दुरूह ग्रन्थों का अनुवाद करने बैठा हो और अपनी सच्चाई तथा ईमानदारी के कारण सफल न हो सका हो। इससे अधिक इस सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है ? वास्तविकता यही है कि विद्वानों के वास्तविक महत्व का मूल्यांकन उस विषय का विशेषज्ञ विद्वान् ही कर सकता है।

मुख्तारश्री बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता, लेख, निबन्ध तथा समाजसुधारक से सम्बन्धित सामयिक साहित्य पर सफल तथा सरल रचनाए प्रस्तुत कर उन्होने जैन समाज मे अमिट स्थान बना लिया है। मैं समझता हूं कि उनके लगभग पाँच सौ से भी अधिक निबंध प्रकाशित हो चुके है और लगभग दो दर्जन पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है। उन सब का विवेचन यहां अपेक्षित नही है।

वस्तुत. जैन समाज के एक महान् व्यक्तित्व मुख्तारश्री साहित्य जगत के कीर्तिमान नक्षत्र थे. इसमे कोई संदेह नही। आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने जीवन की अन्तिम सास तक लेखन-पठन कार्यों मे व्यवधान नही आने दिया। बाहर से कोई न कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ मगवाकर उसका श्रवण-मनन चिन्तन करना उनके जीवन का सहज व्यापार हो गया था। समाज ऐसे विद्या धनी तपःपूत, साहित्यसेवी और विद्वद्वर तथा जैन समाज के भीष्मपितामह की जन्म शताब्दी पर अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। □□□

साहित्य-तपस्वी की अमर साधना

□ श्री अगरचन्द नाहटा

मनुष्य जन्म के समय तो प्राय: एक समान बालक होता है। यद्यपि पूर्व जन्म के सस्कार और अपने समय के वातावरण द्वारा उसका विकास भिन्नता लिए होता है, पर छोटी उम्र तक इतना अधिक अन्तर नही दिखाई देता। ज्यों-ज्यो वह बड़ा होता चला जाता है, स्वतन्त्र गुणों का विकास अधिक स्पष्ट हो जाता है। फिर भी कई बालक बाल्यावस्था में तो साधारण से लगते है, पर आगे चलकर तेज निकल आते है। उनकी प्रतिभा, परिश्रम, संयोग और परिस्थितियां अपना रंग दिखाती है। कभी-कभी तो किसी आकस्मिक संयोग से जीवन-धारा पूर्णत: बदल जाती हैं; एक विलासी व्यक्ति परित्यागी बन जाता है। एक मूर्ख व्यक्ति पंडित बन जाता है। शारीरिक विकास भी इतना अधिक अन्तर वाला होता है कि एक ही व्यक्ति के समय-समय पर लिए हुए चित्रों से उसे पहचानना कठिन हो जाता है। बाल्यावस्था मे जो दुबला-पतला होता है, वह बड़ा होने पर काफी स्थूल याने मोटा-ताजा हो जाता है। नेहरू जी आदि अनेक व्यक्तियों के बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के अनेक चित्रों कोदेखते हैं तो यह कल्पना में भी नही आता कि ये सभी एक ही व्यक्ति के चित्र हैं। कुछ इसी तरह का आन्तरिक चित्र स्वर्गीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार का भी मुझे दिखाई देता हैं। साधारणतया मुख्तारगिरी याने मुख्तारपने का काम या पेशा करने वाले व्यक्ति भिन्न प्रकार के होते हैं। मुख्तार साहब इस दृष्टि से एक निराले ही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने जीवन के करीब ४० वर्ष साहित्य सेवा में लगा दिये। मुख्तार साहब की सक्षिप्त जीवनी डा० नेमिचन्द शास्त्री के द्वारा लिखी हुई, जैन विद्वत्परिषद से प्रकाशित हुई है। उससे अभी तक जो बातें ज्ञात नहीं थीं, वे प्रकाश मे आई है। उनके निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति और भी बहुत-से अज्ञात तथ्य बतला सकते हैं। मुख्तार साहब की बहुमुखी प्रतिभा, सतत अध्ययनशीलता और विशिष्ट लेखन अवश्य ही हमारे लिए एक स्पृहणीय व्यक्तित्व का भव्य चित्र उपस्थित करता है।

मुख्तार साहब का परिचय तो मुझे बहुत पीछे मिला। पर जब मैं जैन पाठशाला में पढ़ता था तभी उनकी 'मेरी भावना' नामक कविता देखने को मिली, और वह बहुत ही अच्छी लगी। ऐसी सुन्दर भावना वाले व्यक्ति 'युग वीर' संज्ञक कौन हैं, इसका उस समय कुछ भी पता नही था। जब साहित्य-शोध रुचि पनपी तथा अनेक नये-नये ग्रंथों का अध्ययन चालू हुआ तभी मुख्तार साहब की 'ग्रन्थपरीक्षादि' पुस्तकें पढ़ने में आईं। कहाँ 'मेरी भावना' के लेखक मुख्तार साहब और कहाँ 'ग्रन्थ-परीक्षा' के लेखक मुख्तार साहब। कुछ भी ताल-मेल नही बैठ सका। 'ग्रंथ-परीक्षा' मे गहरी छानबीन करके सत्य को बड़े नग्न रूप मे उपस्थित किया गया है जो श्रद्धाशील व्यक्तियों के लिए मर्मान्तिक प्रहार और कटु सत्य-सा कहा जा सकता है, क्योकि जिन ग्रन्थों को जिन आचार्यों की रचना मानते रहे, उनको उन्होंने बहुत परवर्ती रचनाएँ सिद्ध किया, और जिन विधि-विधान वाले ग्रन्थों को श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता था उनमें से रोमाचक बातों को प्रकाश में लाना जिससे उन ग्रंथो के प्रति धारणा ही बदल जाय, इस प्रकार का क्रान्तिकारी कदम बहुत विरले व्यक्ति ही उठा पाते हैं। कई व्यक्ति सही बात को जानते भी हैं पर समाज के विद्रोह एवं निन्दा के भय से साहसपूर्वक उन्हें प्रकट नहीं कर पाते, जबकि मुख्तार साहब ने 'ग्रन्थ-परीक्षा' में वड़ा निर्भीक और साहसिक कदम उठाया और परीक्षा का एक आदर्श उपस्थित किया। वास्तव में परीक्षक पक्षपात से काम नही ले सकता। उसे तो तथ्य पर ही पूर्ण निर्भर रहना पड़ता है।

मुख्तार साहब का वास्तविक परिचय तो मुझे जबसे उनका 'अनेकान्त' पत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ, तभी मिला। 'अनेकान्त' अपने ढंग का निराला मासिक पत्र देखने में आया। उसमें सम्पादक की सत्य संशोधक वृत्ति, विशाल अध्ययन, गम्भीर चिन्तन, जैन साहित्य और शासन की सेवा भावना आदि कई बातें एक साथ देखने को मिलीं, जिससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनके सूचित अलभ्य ग्रन्थों की खोज का काम भी मुझे बहुत आवश्यक लगा। मुख्तार साहब ने ऐसे कई ग्रन्थों की सूची 'अनेकान्त' में प्रकाशित की थी जिनका उल्लेख तो मिलता है पर प्रतियों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। इसी तरह मुख्तार साहब के कई लेख तो बहुत ही पठनीय लगे।

उनसे मिलने का प्रसंग तो दिल्ली में वीर सेवा मंदिर की स्थापना के समय ही मिला। अपने व्यापारिक केन्द्र कलकत्ता व आसाम जाते-आते समय मैं दिल्ली में प्रायः ठहर जाता और 'वीर-सेवा-मदिर' मे जाकर मुख्तार साहब से मिलने की उत्सुकता रहती। इतने बड़े विद्वान् होने की छाप तो मुझ पर पहले से ही अनेकान्त और उनके ग्रन्थों से पड़ चुकी थी, पर वे इतने सरल और प्रेम-मूर्ति होंगे, इसकी कल्पना नहीं थी। मेरे लेख 'अनेकान्त' में छपने लगे। इससे वे मेरी शोध प्रवृत्ति और रुचि से भली भांति परिचित हो चुके थे। अतः प्रथम मिलन मे ही उन्होंने बहुत हर्ष व्यक्त किया और इससे मुझे भी बड़ा आनन्द हुआ। फिर तो वीर सेवा मन्दिर उनसे मिलने के लिए जाना एक जरूरी कार्य हो गया और प्राय. जब तक वे दिल्ली में रहे, मैं उनसे मिलने पहुंचता ही रहा।

नये-नये ग्रन्थों की खोज और उन पर प्रकाश डालने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। एक बार मैं जब वीरसेवा मन्दिर गया तो उन्होंने मुझे अजमेर के भट्टारकीय भण्डार से लाई हुई कुछ प्रतियां दिखाईं। छोटी या बड़ी कोई भी रचना उन्हें अच्छी लगती तो उसके सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन में वे जुट जाते। प्रारम्भ मे वे मुझे कुछ सम्प्रदायनिष्ठ लगे, पर मेरे साथ उनका व्यवहार सच्चे स्वधर्मी-वात्सल्य के रूप में ही रहा।

बीच में मैं एक बार मिलने गया तो कलकत्ते के बाबू छोटेलाल जी जैन भी वहीं थे। कलकत्ता में छोटेलाल जी से मिलना होता ही रहता था। मुख्तार साहब के वे बड़े भक्त थे और उन्होंने मुख्तार साहब को काफी सहयोग भी दिया। पर आगे चलकर कुछ बातों में मतभेद हो जाने से उन दोनों को मैंने दुःखी-सा अनुभव किया। अन्तिम बार जब मुख्तार साहब से मिला तो उन्हें काफी परेशान-सा पाया। उनकी इच्छा के अनुरूप कार्य नही हो रहा था, इससे वे बड़े व्यग्र थे और संस्था के प्रति उदासीन भी नजर आये। मुख्तार साहब बहुत कर्मठ व्यक्ति थे और वीर सेवा मन्दिर की स्थापना द्वारा उन्होंने बहुत सुन्दर स्वप्न देखे थे, अतः इच्छानुरूप कार्य न होते देख उन्हें दुःख होना स्वाभाविक भी था। यद्यपि वीर सेवा मन्दिर द्वारा अनेकान्त पत्र भी प्रकाशित होता है, दो विद्वान् भी वहां कार्यरत हैं, पर मुख्तार साहब के वहां रहते हुए जो आकर्षणप्रद बात वहां थी वह उनके बाद दिखाई न देना स्वाभाविक ही है। अनेकान्त को जो रूप उन्होने दिया था उसमें भी परिवर्तन हुआ और अन्य कार्य जितनी तेजी से हो रहे थे, उनकी गति भी मन्द पड़ गई। फिर भी उनके द्वारा स्थापित संस्था अच्छा कार्य कर रही है। मुख्तार सा० के प्रारम्भ किये हुए 'लक्षणावली' ग्रंथ के तृतीय(अन्तिम) भाग का प्रकाशन अब पूर्ण होने वाला है।

मुख्तार साहब वृद्धावस्था में भी जिस तरह कार्यरत थे, दूसरे व्यक्ति विरले ही नजर आते है। ९२ वर्ष की उम्र मे भी उनका स्वाध्याय और लेखन बराबर चलता रहा, यह बहुत ही उल्लेखनीय है। अनेक ग्रन्थों पर उन्होंने गम्भीर विवेचन लिखा। इन वर्षों मे उनका झुकाव अध्यात्मिक ग्रन्थों की ओर अधिक नजर आया। 'पुरातन वाक्य-सूची' को तैयार करने और लेखकों का विस्तृत परिचय देने में उन्हें बहुत अधिक अध्ययन और श्रम करना पड़ा है। विविध विषयों पर उन्होंने काफी लिखा है। उनकी सत्यनिष्ठा, अध्ययनशीलता, अटूट लगन और गम्भीर चिन्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दान को उन्होंने परिग्रह का प्रायश्चित बतलाया। इस तरह के अनेक नये विचार उनके द्वारा हमे मिले। शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा था, अतः विचार भी उच्च थे। उन्होंने अपनी सम्पत्ति का बहुत अच्छा सदुपयोग किया। समाज और साहित्य के

[शेष पृष्ठ २५ पर]

मुख्तारश्री और समीचीन धर्म शास्त्र

□ श्री सी. एल. सिंघई 'पुरन्दर'

स्वतन्त्र भारत ने सारनाथ स्थित अशोक स्तम्भ के शीर्षस्थ सिंहों को राज्य-चिह्न के रूप मे अपनाकर सम्राट् अशोक द्वारा धर्मविजय को युद्धविजय से श्रेष्ठ प्रदर्शित करने वाली नीति का महत्व प्रतिपादित किया। इस देश में दिग्विजयी सम्राटों के स्वर्ण-मुकुट धर्मविजयी संतों के चरणों में झुकते रहे हैं लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसी धर्मविजय फणिमण्डलांतर्गत उरगपुर (पांड्य प्रदेश की राजधानी) के संन्यस्त राजपुत्र ने की थी। करहाटक की राजसभा में उसने निम्नांकित श्लोक के रूप मे आत्मपरिचयादि दिया था, जो श्रवण बेलगोल के शिलालेख (शिला लेख क्र० ५४) मे उत्कीर्ण है।

"पूर्वं पाटलिपुत्रमध्य नगरे भेरीमया ताडिता,
पश्चान्मालव सिंधु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽपि हं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कट संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥"

इस गर्वोक्ति से प्रकट होता है कि न केवल दक्षिण भारत की कांची नगरी के वादार्थियों को स्वामी समन्तभद्र ने पराजित किया था, अपितु उत्तर भारत स्थित पाटलिपुत्र (पटना), मालवा, सिन्धु, ठक्क (पंजाब का एक भाग), विदिशा (आजकल मध्यप्रदेश मे है) आदि में भी विजयपताका फहराई थी। उक्त श्लोक तो विख्यात है। मुख्तार साहब ने समीचीन धर्मशास्त्र की प्रस्तावना मे श्री समन्तभद्र की दो अन्य गर्वोक्तियां भी अंकित की है जिनका अधिक प्रचार नही हो सका है —

"कांच्यां नग्नाटकोऽहं, मलमलिनतनुर्लांबुशे पांडुपिंडः,
पुण्ड्रोड्रे शाकभक्षी, दशपुरनगरे मिष्टभोजीपरिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः, पांडुरागस्तपस्वी,
राजन् यस्याऽस्तिशक्तिः, स वदति पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी।"

कांची के इस नग्नाटक (दिगम्बर साधु) को आप्तमीमांसा की ताड़पत्रीय प्रति में राजकुमार प्रकट किया गया—

'इतिश्री फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिप सूनोः,
श्रीस्वामीसमन्तभद्रमुनेः कृतो आप्तमीमांसायाम्।'

उन्हें धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र और साहित्यशास्त्र के साथ ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्रादि विषयों में भी निपुणता प्राप्त थी, जैसा कि निम्नांकित आत्म-परिचय से प्रकट है:—

"आचार्योहं, कविरहमहं, वादिराट्, पंडितोहं,
दैवज्ञोहं, भिषगहमहं, मान्त्रिकस्तांत्रिकोहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायाभिलायाम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहम्॥"

उक्त पद्य में आचार्य प्रवर के १० विशेषणों का उल्लेख हुआ है:—

(१) आचार्य, (२) कवि, (३) वादिराट्, (४) पंडित, (५) दैवज्ञ (ज्योतिषी), (६) भिषक्, (७) मांत्रिक, (८) तांत्रिक, (९) आज्ञासिद्ध, (१०) सिद्ध सारस्वत।

स्वामी समन्तभद्र की तुलना में निर्भीक एवं प्रभावक अन्य आचार्य नही ठहरते। इसी से स्व० पं० जुगलकिशोर जी उन पर मुग्ध थे।

उन्होंने २१ अप्रैल, १९२९ को दिल्ली में समन्तभद्राश्रम की स्थापना की थी। आगे चलकर यही वीर सेवा मन्दिर कहलाया। उन्होंने आचार्यश्री के अनेक ग्रन्थों पर भाष्य लिखे और उन्हें सटीक प्रकाशित कराया। उनकी अन्तिम इच्छा एक मासिक पत्र और निकालने की थी, जिसका नाम भी 'समन्तभद्र' प्रस्तावित किया था। प्रस्तावित मासिक-पत्र की आवश्यकता की पूर्ति, वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित अनेकान्त ही करेगा, ऐसी आशा है।

श्री समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता उनके उपासकाचार को प्राप्त होने का कारण, इस ग्रन्थ की सरल संस्कृत भाषा और अधिकतर अनुष्टुप छन्दों में गृहस्थाचार का विशद् विवेचन है। 'गागर मे सागर' भर दिया है। विषयवस्तु और शैली दोनों ही उत्कृष्ट है।

सर्वप्रथम इसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखी। कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं में अनेक टीकायें लिखी गईं। हिन्दी मे सर्वप्रथम विस्तृत भाष्य पंडित सदासुख कासलीवाल (जयपुर निवासी) ने लिखा जो ढूंढारी गद्य में है। जयपुर के आसपास का क्षेत्र ढूंढार कहलाता है। यह भाष्य वि० सं० १९२० मे लिखा गया। मुख्तार सा० ने श्रावकाचार की विस्तृत व्याख्या २०० पृष्ठों में की है और ११९ पृष्ठों मे तो केवल प्रस्तावना ही लिखी, जिसे माघ सुदी ५ स० २०११ वि० को पूर्ण किया। जीवन के बहुमूल्य १२ वर्ष इसमें लगाये। यह ग्रन्थ वीर सेवामन्दिर से अप्रैल १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ है।

स्व० मुख्तार सा० ने ग्रन्थ का बहुप्रचलित नाम रत्नकरड श्रावकाचार न रखकर 'समीचीन धर्मशास्त्र' रखा है। ग्रन्थकर्ता श्री समन्तभद्र ने ग्रन्थारम्भ मे सकल्प किया है कि—

देशयामि 'समीचीनं धर्मं'-कर्म-निवर्हणं।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

मुख्तार सा० ने रत्नकरण्ड नाम ग्रन्थांत के निम्नलिखित श्लोक से फलित किया है :—

येन स्वयं वीत कलंक-विद्या-दृष्टि-क्रिया-'रत्नमरंड'-भावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषुविष्टपेषु ॥१४९

ग्रन्थकर्ता ने अन्य ग्रन्थों के भी दो-दो नाम गिनाये हैं, जैसे—देवागम का अपरनाम आप्तमीमांसा, स्तुतिविद्या का अपर नाम जिनस्तुतिशतक या जिनशतक, स्वयंभूस्तोत्र का अपर नाम समन्तभद्र स्तोत्र, और यह भी लिखा है कि वे सब प्राय: अपने-अपने आदि या अन्त के पद्यों की दृष्टि से रखे गये हैं।

ग्रन्थकर्ता के अन्यान्य ग्रन्थ कठिन भाषा में है और विषय भी दुरुह है। अतः कुछ विद्वानों को संदेह हुआ कि देवागम, युक्त्यनुशासन जैसे ग्रन्थों के कर्ता उद्भट विद्वान प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र ने यह ग्रन्थ नहीं लिखा। इसके कर्ता कोई दूसरे ही समन्तभद्र होंगे। इस संदेह का प्रधान कारण है इस ग्रन्थ में उस तर्कपद्धति का अभाव जो अन्य ग्रन्थों में प्राप्त है। स्व० मुख्तार सा० ने इसे सप्रमाण श्री समन्तभद्राचार्य प्रणीत सिद्ध किया है। इसी सम्बन्ध में डा० हीरालाल जैन ने १९४४ ई० में एक निबन्ध लिखा था—'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय। इसका विस्तृत और सप्रामाण उत्तर मुख्तार सा० ने अनेकान्त द्वारा १९४८ में दिया था, जिसे विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में दिया है। प्रस्तावना में ६ अन्य समन्तभद्रों का उल्लेख करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि ये ग्रन्थ उन्ही समन्तभद्र स्वामी की रचनाएँ हैं जिनकी कृतियाँ आप्तमीमासादि है।

वास्तव में आचार्यश्री ने ये ग्रन्थ लिखकर बालकों एवं बालबुद्धि गृहस्थों पर अत्यन्त अनुग्रह किया है। प्रत्येक परीक्षालय ने इसे पाठ्यक्रमो मे स्थान दिया है, प्रत्येक पाठशाला में इसका पठनपाठन होता है, प्रत्येक जिनमन्दिर तथा सुशिक्षित गृहस्थ के गृह मे यह प्राप्तव्य है।

इस ग्रन्थ की अनेक बालबोधटीकाएं हिन्दी में हुई हैं। सोनगढ से भी हिन्दी टीका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

'समीचीन धर्मशास्त्र' का प्राक्कथन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एव (आमुख) डा० आ० ने० उपाध्ये महोदय से लिखा कर गौरववृद्धि की गई है। समर्पण पत्र श्री समन्तभद्र स्वामी के नाम हैं :—

'त्वदीयं वस्तु भो: स्वामिन्! तुभ्यमेव समर्पितम्।'

ग्रन्थ को ७ सात अध्यायों मे विभक्त करना मुख्तार सा० की सूझबूझ है। यह विभाजन बड़े अच्छे ढग से किया गया है।

स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवाल ने १८९८ ई० में ग्रन्थ के २१ पद्यों के क्षपक होने का संदेह व्यक्त किया

था। मराठी भाषा के विद्वान पं० नाना रामचन्द्र नाग ने तो केवल १०० श्लोक मान्य करके ५० कम कर दिये। मुख्तार सा० को जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे ताडपत्रीय ऐसी प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमे १९० श्लोक है परन्तु उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि वास्तव मे १५० श्लोक होना चाहिए। उन्होंने श्री प्रभाचन्द्राचार्य एवं पं० सदा-सुख कासलीवाल के चरणचिन्हो पर चल कर समीचीन धर्मशास्त्र मे १५० श्लोक ही रखे।

श्री समन्तभद्राचार्य का विस्तृत परिचय २५ पृष्ठो में दिया है जिसे मुख्तार सा० ने 'संक्षिप्त परिचय' कहा है। इसका कारण यह है कि उन्होने आचार्य प्रवर के सम्बन्ध में बहुत शोध की थी, इसलिए इतना लिखने पर भी लगता था कि बहुत कम लिखा है।

श्री आ० ने० उपाध्ये ने भूमिका मे लिखा है कि— 'हिन्दी व्याख्या केवल मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद नही है, बल्कि जैन न्याय सम्मत विषयो पर कुछ सदृश प्रकरणों को श्री समन्तभद्र तथा उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो के ग्रन्थों से लेकर गुण-दोष-विवेचिका विचारणा को भी प्रस्तुत करती है।'

व्याख्या के क्रम मे कुछ शब्दो की शोधपूर्ण विवेचना दृष्टव्य है; यथा—

श्लोक क्र० २८ मे 'पाखंडि' का प्रचलित अर्थ धूर्त, दभी या कपटी अमान्य करके पाप का खडन करने वाला तपस्वी किया है। इसी अर्थ मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयसार की गाथा क्र० १०८ अति प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त होना बताया है।

श्लो० क्र० २८ में 'मातगदेहजम्' का अर्थ चाडाल का काम करने वाला ही नहीं, चाण्डाल के देह से उत्पन्न अर्थात् जन्म या जाति से चाण्डाल भी किया है।

श्लोक क्र० ५८ में 'विलोम' की व्याख्या है अल्प मूल्य में मिले हुए द्रव्यो को अन्य राज्य मे बहुमूल्य बनाने का प्रयत्न। इससे अपने राज्य की जनता उन द्रव्यों के उचित उपयोग से वंचित रह जाती हैं। इसलिए यह एक प्रकार का अपहरण है। विलोप में दूसरे प्रकार का अप-हरण भी शामिल है जो किसी की सम्पति को नष्ट करके रतुत किया जाता है।

श्लोक क्र० ५९ में 'परदार-निवृत्ति' की व्याख्या— जो स्वदार नही, वह परदार है। कुछ लोग परदार का अर्थ पर की स्त्री करते हैं। एकमात्र उसी का त्याग करके कन्या तथा वेश्या सेवन की छूट रखना संगत प्रतीत नहीं होता।

श्लोक क्र० ७७ में हिंसादान की व्याख्या—हिंसा के ये उपकरण यदि कोई गृहस्थ इसलिए माँगे देता है कि उसने भी आवश्यकता के समय उनसे वैसे उपकरणों को माँग कर लिया है और आगे भी उसके लेने की सम्भावना है तो ऐसी हालत में उसका वह देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। उसमें भी यह कुछ बाधा नही डालता। जहाँ इन हिंसोपकरणों को देने मे कोई प्रयोजन नही है, वही यह व्रत बाधा डालता है।

श्लोक क्र० ८५ मे वे ही कंदमूल त्याज्य हैं जो प्रासुक अथवा अचित्त नही है। प्रासुक कंदमूलादि वे कहे जाते हैं जो सूखे होते है, अग्न्यादिक मे पके या खूब तपे होते है, खटाई तथा लवण से मिले होते है अथवा यंत्रादि से छिन्न-भिन्न किये होते है, जैसा कि निम्न प्राचीन प्रसिद्ध गाथा से प्रकट है :—

"सुक्कं पक्कं तत्तं, अंबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं॥"

नवनीत मे अपनी उत्पत्ति से अंतर्मुहूर्त के बाद ही सम्मूर्च्छन जीवों का उत्पाद होता है। अतः इस काल-मर्यादा के बाहर का नवनीत ही वहाँ त्याज्य कोटि में है, इसके पूर्व का नही।

श्लोक ८६ मे 'अनुपसेव्य' की व्याख्या—स्त्रियो को ऐसे अति महीन एव झीने वस्त्र नही पहनना चाहिए जिनसे उनके गुह्य अंग स्पस्ट दिखाई पड़ते हों।

श्लोक क्र० ११९ में द्रव्यपूजा की व्याख्या—वचन तथा काय को अन्य व्यापारों से हटा कर पूज्य के प्रति प्रणामांजलि तथा स्तुति पाठादि के रूप में एकाग्र करना ही द्रव्यपूजा है। जल, चन्दन, अक्षतादि से पूजा न करते हुए भी पूजक माना है। श्री अमितगति आचार्य के उपा-सकाचार से भी द्रव्यपूजा के इसी अर्थ का समर्थन होता है :—

वचो-विग्रह-संकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते ।
तत्र मानससंकोचो, भावपूजा पुरातनैः ।।"

श्लोक क्र० १४७ में 'भैक्ष्य' की व्याख्या—भैक्ष्य का अर्थ भिक्षासमूह है । उत्कृष्ट श्रावक अनेक घरों से भिक्षा लेकर अन्त के घर या एक स्थान पर बैठकर खाता है, जिसका समर्थन श्री कुंदकुंदाचार्य के सुत्तपाहुड में आए हुए 'भिक्खं भमेइ पत्तो' से होता है (पात्र हाथ में लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण करना) । ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक भेद श्री समन्तभद्र स्वामी के समय में नहीं थे । श्री मुख्तार सा० क्षुल्लक पद को पुराना और ऐलक पद को पश्चाद्वर्ती मानते थे, जैसा कि उनके गवेषणापूर्ण निबंध 'ऐलक पद-कल्पना' स्पष्ट है, जो अनेकान्त, वर्ष १० की संयुक्त किरण ११-१२ में प्रकाशित हुआ था ।

इसी श्लोक में 'गृहतो मुनिवनमित्वा' से सूचित किया है कि मुनिजन तब वनवासी थे, चैत्यवासी नहीं थे । श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने 'वनवासी और चैत्यवासी' शीर्षक शोधपूर्ण लेख १९२० ई० में जैनहितैषी में प्रकाशित कर इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है ।

उक्त दृष्टांतों से प्रकट होता है कि स्व० पं० जुगलकिशोर का ज्ञान तलस्पर्शी था और उनकी मौलिक स्थापनाएं बेजोड़ थीं । वाङ्मयाचार्य की उपाधि से वे विभूषित किये गये थे । काश ! जैन समाज ने कोई विश्वविद्यालय स्थापित किया होता तो निश्चयरूपेण वे डाक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किये गये होते ।

□□□

[पृष्ठ २१ का शेषांश]

लिए उनका सर्वस्व दान प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है । जैसा कि मैंने अपने 'जैन सन्देश' वाले लेख में लिखा था उनकी अन्तिम भावनाओं को हमें शीघ्र ही मूर्त रूप देना चाहिए । अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका तो अनेकान्त का 'स्मृति-अंक' ही निकला । वीर सेवा मन्दिर को एक शोध केन्द्र का रूप दिया जाय । दिल्ली में ऐसी संस्था उचित व्यवस्था करने पर बहुत उपयोगी हो सकती है । उसके ग्रंथालय कोस मृद्ध बनाया जाय और लोग अधिकाधिक लाभ उठा सकें, ऐसी सुव्यवस्था की जाय । अन्त में उनकी जन्म शताब्दी के पुण्य अवसर पर मैं माननीय मुख्तार साहब को सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मेरे प्रति उनका जो वात्सल्य भाव था उसे स्मरण कर गद्गद् होता हूं । वास्तव में मुख्तार साहब ने अपने जीवन मे इतना काम किया कि वे व्यक्ति ही नहीं संस्था बन गये । पुण्य प्रभाव से मुख्तार साहब ने मृत्यु भी अच्छी पाई और स्वास्थ्य भी ठीक रहा । लगन थी ही, अतः वे काफी कार्य कर सके ।

□□□

ऋषभ वन्दना

अग्निमीड़े पुरोहितं यक्षस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ।
अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीउत्रो नूतनैरुत स देवो एह वक्षषि ।। ऋग्वेद १.१.१.२

ऋषभ वन्दना—
अग्र-नेता आदि ब्रह्मा की
वन्दना के स्वर जगाता हूँ ।
विश्व के जो हैं हितेषी,
सर्व कार्यों के शुभारम्भ में
जिन्हें आह्वान करना है जरूरी,
मुक्ति पथ के यात्रियों को जो सदा आदर्श,
त्रिरत्नधारी,
जन्म-मृत्यु से भरे संसार को
हवि के प्रदाता,
दिव्य शक्तियाँ वे मेरे सान्निध्य में लायें,
आत्म वैभव जागृत करके
मुझे पावन बनाय ।
मैं ऋषभ की वन्दना के स्वर जगाता हूँ ।

प्रस्तोता : श्री मिश्रीलाल जैन
एडवोकेट, गुना

मुख्तार श्री की बहुमुखी प्रतिभा

□ पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

साहित्य के अनन्य उपासक स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार एक ख्यातिप्राप्त इतिहासकार थे। उनका लौकिक शिक्षण हाई स्कूल तक ही हो सका था। धार्मिक शिक्षण भी एक स्थानीय (सरसावा) छोटीसी पाठशाला में साधारण ही हुआ था। परन्तु वे बाल्यावस्था से ही अतिशय प्रतिभाशाली रहे है, तर्कणाशक्ति भी उनकी अद्भुत थी। इसीलिए वे सुरुचिपूर्ण सतत अध्यवसाय से एक आदर्श साहित्यस्रष्टा और समीक्षक हो सके। उन्होंने जीवन में वह महान कार्य किया है जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्वानों से सम्भव नही हुआ।

जिस समय समाज मे रूढिवाद प्रबल था, उस समय उन्होंने घोर सामाजिक विरोध का दृढ़ता से सामना करते हुए, भट्टारकों के द्वारा भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद और अकलंक जैसे प्रतिष्ठाप्राप्त पुरातन आचार्यों के नाम पर जो भद्रबाहुसंहिता, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, पूज्यपाद-श्रावकाचार और अकलंकप्रतिष्ठा-पाठ आदि ग्रन्थ लिखे गये है उनका अन्त.परीक्षण कर उन्हें जैनागम के विरुद्ध सिद्ध किया। समय-समय पर लिखे गये उनके इस प्रकार के निबन्ध 'ग्रन्थ-समीक्षा' के नाम से पुस्तकरूप में ४ भागों मे प्रकाशित हुए है। उनके इस दृढतापूर्ण कार्य को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने आचार्य प्रभाचन्द्र की 'त्यजति न विद्वानः कार्यमुद्विज्य धीमान् खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन।' इस उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ किया है। उन्होंने जिस विरोधी वातावरण मे इस कार्य को सम्पन्न किया है उसमे अन्य किसी को यह साहस नही हो सकता था कि उपर्युक्त ग्रथो को इस प्रकार से अप्रामाणिक घोषित कर सके।

भाष्यकार के रूप में :

उन्होंने संलग्नतापूर्वक निरन्तर चलने वाले अपने अध्ययन से जो उत्कृष्ट आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया, वह आश्चर्यजनक था। इस प्रकार से जो उन्होंने प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया उसके बल पर ही स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्त्वानुशासन, देवागमस्तोत्र, कल्याणकल्पद्रुम (एकीभावस्तोत्र) और योगसार-प्राभृत जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रथों पर भाष्य लिखे है। ग्रथ के अन्तर्गत रहस्य को प्रस्फुटित करने वाले उनके इन भाष्यों की भाषा भी तदनुरूप सरल और सुबोध है। इन भाष्यो के परिशीलन से ग्रथकार के अभिप्राय को समझने मे किसी को कोई कठिनाई नही हो सकती। उनकी पद्धति यह रही है कि प्रथमत. ग्रथ के विवक्षित श्लोक आदि का नपे-तुले शब्दों मे शब्दानुवाद करते हुए यदि उसमे कही कुछ विशेष शब्दार्थ की आवश्यकता दिखी तो उसे दो डैशो (—) के मध्य मे स्पष्ट कर देना और तत्पश्चात् वाक्यगत पदों की गम्भीरता को देखकर व्याख्या के रूप मे तद्गत ग्रन्थाकार के आशय को उद्घाटित कर देना।

मु० सा० कुशाग्रबुद्धि तो थे ही, साथ ही वे अध्ययनशील भी थे। जब तक वे किसी ग्रथ का मननपूर्वक पूर्णतया अध्ययन नहीं कर लेते तब तक उसके अनुवादादि मे प्रवृत्त नहीं होते थे। आवश्यकतानुसार वे एक-दो बार ही नही, बीसो बार ग्रंथ को पढते थे[1]। साथ ही ग्रंथ में जहां-तहां प्रयुक्त विभिन्न शब्दों के अभीष्ट आशय के ग्रहण करने का भी पूरा विचार करते थे। कारण कि इसके बिना ग्रंथ के मर्म का उद्घाटित नही किया जा सकता।

उदाहणार्थ समीचीन-धर्मशास्त्र—उनके रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के भाष्य—को ही ले लीजिए। वहां श्लोक २४ मे 'पाषण्डी' शब्द का प्रयोग हुआ है[2]। इसका प्राचीन

१. योगसार-प्राभृत की प्रस्तावना (पृ० २५) मे उन्होंने स्वयं उस ग्रथ के सौ से भी अधिक बार पूरा पढ़ जाने की सूचना की है।

२. सग्रन्थारम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्तवर्तिनाम्। पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥ (स. ध. शा. २४, पृ. ५६)

अर्थ मूल में 'पाप का खण्डन करने वाला (साधु)' रहा है। पर बाद में वह 'धूर्त' या 'ढोंगी' अर्थ में रूढ हो गया। अब यदि उसके उपर्युक्त आशय को न लेकर वर्तमान म प्रचलित 'धूर्त' अर्थ को ले लिया जाय तो प्रकृत श्लोक का अर्थ ही असगत हो जाता है। कारण कि वहां पाखण्डियों के आदर-सत्कार को पाखण्डिमूढ़ता—जो पाखण्डी नहीं है उन्हें पाखण्डी समझ लेना—बतलाया है। अब यदि पाखडी का अर्थ 'धूर्त' ग्रहण कर लिया जाता है तो उसका अभिप्राय यह होगा कि जो वास्तव मे धूर्त नही है, उन्हे धूर्त मानकर उनका धूर्तो जैसा आदर-सत्कार करना, इसका नाम पाखण्डिमूढता है। यह अर्थ प्रकृत मे कितना असगत व विपरीत हो जाता है यह ध्यान देने के योग्य है और जब उसका यथार्थ अर्थ 'पाप का खण्डन करने वाला समीचीन साधु' किया जाता है तब वह प्रकृत मे सगत होता है जो ग्रथकार को अभीष्ट भी रहा है। यथा—

"जो परिग्रह, आरम्भ और हिंसा मे निरत है तथा भवभ्रमण कराने वाले कुत्सित कार्यरूप आवर्त—जल की चक्राकार घूमने रूप भंवर—मे फसे हुए है, ऐसे वेषधारी साधुओ को यथार्थ साधु समझकर उनका यथार्थ साधुओं के समान आदर-सत्कार करना, इसका नाम पाखण्डिमूढ़ता—पापप्रध्वसक यथार्थ साधुविषयक अज्ञान—है।"

इससे पाठक समझ सकते है कि श्रद्धेय मुख्तार साहब कितने तलस्पर्शी अध्येता थे। विवक्षित ग्रथ की व्याख्या के लिए उन्होंने उसके समकक्ष अन्य अनेक ग्रथों का गम्भीरतापूर्ण अध्ययन किया है। इस से वे व्याख्येय ग्रथो मे जहां-तहां तुलनात्मकरूप से अन्य कितने ही ग्रथों के उद्धरण दे सके है। साथ ही उन्होने महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाओ मे भी इस मर्म को उद्घाटित किया है। पर्याप्त चिन्तन के साथ ही उन्होंने विवक्षित श्लोक आदि की व्याख्या की है। ग्रथ के मर्म को प्रस्फुटित करने के लिए जहा जितना आवश्यक था उतना ही उन्होंने लिखा है—अनावश्यक या ग्रंथ के बाह्य उन्होने कुछ भी नही लिखा।

मुख्तार सा० का यह कार्य इतना विस्तृत है कि उस सबका परिचय कराना अशक्य है। यहा मैं केवल उनके अन्तिम भाष्य—योगसार-प्राभृत की व्याख्या—का संक्षेप में परिचय करा देना चाहता हूं। यह भाष्य उन्होने लगभग ८५-८६ वर्ष की अवस्था मे लिखा है। उसके पढ़ने से अनुमान किया जा सकता है कि इस वृद्धावस्था मे भी—जब कि बहुतो की बुद्धि व इन्द्रियां काम नही करतीं—उनकी ग्रहण-धारणशक्ति कितनी प्रबल रही है।

इसकी प्रस्तावना (पृ० १७-१६) में उन्होने ग्रन्थ के 'योगसार-प्राभृत' इस नाम की सार्थकता को प्रकट करते हुए बतलाया है कि यह नाम योग, सार और प्राभृत इन तीन शब्दो के योग से निष्पन्न हुआ है। इनमे योग शब्दके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए नियमसार (गा० १३७-३६) के आधार से बतलाया है कि आत्मा को रागादि के परित्याग और समस्त सकल्प-विकल्पो के अभाव मे जोड़ना—उससे सयुक्त करना, इसका नाम योग है। साथ ही विपरीत अभिप्राय को छोडकर जिनोपदिष्ट तत्त्वों मे आत्मा को सयुक्त करना, यह भी योग कहलाता है। योग शब्द का यह अर्थ 'युनक्ति आत्मानिमिति योगः' इस निरुक्ति के अनुसार किया गया है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि रागादि के साथ समस्त सकल्प-विकल्पो को छोड़कर तत्त्वविचार मे सलग्न होना, इस प्रकार की प्रशस्त ध्यानरूप प्रवृत्ति का नाम योग है।

दूसरा जो सार शब्द है, उसका अर्थ विपरीतता का परिहार—यथार्थता—है (नि० सा० ३)। इस प्रकार 'योगसार' का अर्थ हुआ—विपरीतता से रहित योग का यथार्थ स्वरूप। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ, स्थिरांश, सत् और नवनीत, इन अर्थों मे भी उक्त सार शब्द का प्रयोग देखा जाता है। तदनुसार 'योगसार' का अर्थ 'योगविषयक कथन का नवनीत' समझना चाहिए। जिस प्रकार दही को बिलोकर उसके सारभूत अंश नवनीत को निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार अनेक योगविषयक ग्रथो का मंथन करके उनका सारांशरूप प्रकृत योगसार ग्रंथ है।

तीसरा शब्द प्राभृत है, जिसका अर्थ 'भेंट' होता है। तदनुसार जिस प्रकार किसी राजा आदि के दर्शन के लिए जाने वाला व्यक्ति उसे भेंट करने के लिए कुछ न कुछ सारभूत वस्तु ले जाता है, उसी प्रकार परमात्मारूप राजा का दर्शन करने के लिए भेंटरूप यह ग्रंथकार का प्रकृत ग्रंथ है।

२. देखिए समीचीन-धर्मशास्त्र मूल पृ० ५६ और प्रस्तावना पृ० ६-११।

निष्कर्ष यह हुआ कि यथार्थ योगस्वरूप का प्ररूपक यह योगसार-प्राभृत ग्रन्थ अध्येता के लिए परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाला है।

जयधवला (१, पृ० ३२५) के अनुसार प्राभृत (प्र+आभृत) यह होता है जो प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर द्वारा प्रस्थापित हुआ है, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् विद्यास्वरूप धन से सम्पन्न ऐसे आरातीय आचार्यों के द्वारा धारण किया गया—जिसका व्याख्यान किया गया है—या पूर्व परम्परा से जो लाया गया है।

यह है मुख्तार सा० की सूक्ष्म दृष्टि जो ग्रन्थकार के हृदय को स्पर्श कराती है। इस ग्रन्थ-नाम की यथार्थता मे ग्रंथकार को योग शब्द से उपर्युक्त प्रशस्त ध्यान ही अभीष्ट रहा है। यथा—

विविक्तात्मपरिज्ञानं योगात् संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः॥
—यो० सा० प्रा० ९-१०

अर्थात् योग से कर्म-कालिमा को धो डालने वाले योगियों ने योग उसे ही कहा है जिसके आश्रय से विविक्त—समस्त पर भावों से भिन्न शुद्ध—आत्मतत्त्व का बोध होता है। इस प्रकार, चूंकि वह आत्मावबोध प्रशस्त ध्यान से ही सम्भव है, अतः वही प्रकृत मे ग्राह्य रहा है।

इस प्रकार, अपने उक्त सार्थक नाम के अनुसार योगस्वरूप की प्ररूपणा करने वाला प्रस्तुत ग्रंथ अतिशय मनोमोहक है; उसकी भाषा सरल व सुललित है; विषय के प्रतिपादन की शैली भी उत्कृष्ट है। ग्रथकार श्री अमितगति ने भगवान् कुन्दकुन्द के समस्त आध्यात्मिक साहित्य का मनन कर तदनुसार ही इस ग्रंथ को रचा है। उसमें बहुत से श्लोकों में समयसारादि ग्रथोंकी छाया स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इसे भाष्यकार ने तुलनात्मक रूप से कही अपनी व्याख्या के मध्य में और कही टिप्पणी के रूप मे इतर ग्रथगत समान उद्धरणो को देकर स्पष्ट भी कर दिया है।

ग्रथ का प्रमुख विषय योग है। उसके विवेचन के लिए जिन प्रासंगिक विषयो का—जीवाजीवादि तत्त्वो का—विवेचन आवश्यक प्रतीत हुआ, उनका भी वर्णन ग्रथ मे कर दिया गया है। तदनुसार ग्रथ इन नौ अधिकारो मे विभक्त है—(१) जीवाधिकार, (२) अजीवाधिकार, (३) आस्रवाधिकार, (४) बन्धाधिकार, (५) संवराधिकार, (६) निर्जराधिकार, (७) मोक्षाधिकार और (८) चारित्राधिकार। प्रतियों में नौवें अधिकार का कोई विशेष नाम नही उपलब्ध हुआ—उसका उल्लेख प्रायः 'नवमाधिकार' के नाम से हुआ है। भाष्यकार ने उसका निर्देश 'चूलिकाधिकार' नाम से किया है। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार से किया है—

"दूसरे अधिकारों की तरह उसका कोई खास नाम नही दिया गया, जबकि ग्रंथसन्दर्भ की दृष्टि से उसका दिया जाना आवश्यक था। वह अधिकार सातों तत्त्वों तथा सम्यक्चारित्र जैसे आठ अधिकारों के अनन्तर 'चूलिका' रूप में स्थित है—अधिकारों के विषय को स्पर्श करता हुआ उनकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करता है—और इसलिए उसका नाम यहां 'चूलिकाकार' दिया गया है। जैसे किसी मन्दिर (भवन) की चूलिका—चोटी—उसके कलशादि के रूप मे स्थित होती है, उसी प्रकार 'योगसार-प्राभृत' नामक इस ग्रंथ-भवन की चूलिका—चोटी—के रूप मे यह नवमा अधिकार स्थित है, अतः इसे 'चूलिकाधिकार' कहना समुचित जान पड़ता है।"

—(प्रस्तावना पृ० २५)

ग्रंथगत समस्त श्लोक सख्या ५४० है। विषय का विवेचन अधिकारों के नामानुसार यथास्थान रोचक आध्यात्मिक पद्धति से किया गया है। उसका परिचय भाष्यकार ने प्रस्तावना पृ० २५-३१ मे श्लोक संख्या के निर्देशपूर्वक स्पष्टता से करा दिया है।

प्रथम जीवाधिकार के अन्तर्गत आत्मा और ज्ञान के प्रमाण तथा ज्ञान की व्यापकता को बतलाने वाला निम्न श्लोक प्राप्त होता है—

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।
लोकालोकं यतो ज्ञेय ज्ञानं सर्वगतं ततः॥१९॥

यह श्लोक प्रवचनसार, गा० १-२३ का प्रायः छायानुवाद है[1]। इस श्लोक की व्याख्या मुख्तार सा० ने सरलतापूर्वक विस्तार से की है। आत्मा ज्ञानप्रमाण क्यों है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने यह बतलाया है कि

१. आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं। णेयं लोगालोगं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

यदि आत्मा को ज्ञान से—क्षायिक अनन्त केवलज्ञान से—बड़ा माना जाय तो उसका वह बढ़ा हुआ अंश ज्ञानविहीन होने से अचेतन (जड़) ठहरेगा। तब वैसी अवस्था में वह ज्ञानस्वरूप कैसे माना जा सकता है? इसके विपरीत, यदि उसे ज्ञान से छोटा माना जाता है तो उस आत्मा से ज्ञान का जितना अंश बढ़ा हुआ होगा वह स्वाश्रयभूत आत्मा के बिना निराश्रय ठहरता है। सो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण कभी गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रहता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा ज्ञान के प्रमाण है—न उससे बड़ा है और न छोटा भी[1]।

आगे यह ज्ञान ज्ञेय—अपने विषयभूत लोक-अलोक—प्रमाण है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्या में लोक और अलोक के स्वरूप को दिखलाकर कहा गया है कि ज्ञेय तत्त्व लोक और अलोक है, कारण कि उनसे भिन्न अन्य किसी ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। इसका भी कारण यह है कि जो ज्ञान का विषय है वही तो ज्ञेय कहा जाता है। इस प्रकार की ज्ञान की सीमा के बाहर लोक और अलोक को छोड़कर अन्य किसी ज्ञेय का जब अस्तित्व सम्भव नहीं है तब यह स्वयंसिद्ध है कि ज्ञान अपने विषयभूत लोक-अलोक के ही प्रमाण है।

इस प्रकार, जब यह सिद्ध हो गया कि आत्मा ज्ञान प्रमाण और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है तब चूंकि अलोक सर्वव्यापक है, अतएव उसको विषय करने वाला ज्ञान भी सर्वगत सिद्ध होता है। इसका यह तात्पर्य निकला कि आत्मा अपने ज्ञान गुण के साथ सर्वव्यापक होकर लोक के साथ अलोक को भी जानता है। यह स्थिति सर्वज्ञता को प्राप्त सभी केवलज्ञानियों की समझना चाहिए।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम में जब जहां-तहां आत्मा—संसारी आत्मा—को अपने प्राप्त शरीर के प्रमाण ही बतलाया गया है, तथा मुक्त जीवों के आत्मप्रदेश अन्तिम शरीर के प्रमाण से कुछ हीन ही रहते है, यह भी कहा गया है; तब उस आत्मा को सर्वगत कहना कैसे संगत होगा? इसके समाधान स्वरूप व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तात्मायें सभी वस्तुतः स्वात्मस्थित[2]—अपने अन्तिम शरीर के आकार में विद्यमान आत्मप्रदेशों में ही स्थित—हैं, उनके बाहर उनका अवस्थान नहीं है, फिर भी आत्मा को जो सर्वगत कहा गया है वह औपचारिक है।

इस उपचार का कारण यह है कि ज्ञान उस दर्पण के समान है जिसमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं[3], अर्थात् दर्पण जैसे न तो पदार्थों के पास जाता है और न उनमें प्रविष्ट ही होता है, तथा वे पदार्थ भी न तो दर्पण के पास आते हैं और न उसमें प्रविष्ट ही होते है; फिर भी वे पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होकर तद्गत से दिखते अवश्य है, इसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान भी न तो पदार्थों के पास जाता है और न उनमें प्रविष्ट ही होता है, तथा पदार्थ भी न ज्ञान के पास आते है और न उसमें प्रविष्ट भी होते हैं; फिर भी वे उस ज्ञान के विषय अवश्य होते है—उनके द्वारा निश्चित ही जाने जाते है। यह वस्तु स्वभाव ही है—जिस प्रकार दर्पण और पदार्थों की इच्छा के बिना ही उसमें उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञान और पदार्थों की इच्छा के बिना ही उस केवलज्ञान के द्वारा अलोक के साथ लोक में स्थित सभी पदार्थ जाने जाते है। इस प्रकार, विषय की व्यापकता से विषयी ज्ञान को भी

१. इस स्पष्टीकरण की आधारभूत प्रवचनसार की अगली ये तीन गाथायें रही है—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स तो आदा। हीणो वा अधिगो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि। अधिगो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥
सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा। णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

२. स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः। प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात् पुरुषः पुराणः॥ (विषापहार १)

३. नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने। सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्यादर्पणायते ॥ (र० क० श्रा० १)
तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ (पु० सि० १)

सर्वव्यापक कहा गया है[1]।

दूसरे अजीवाधिकार में तत्वार्थसूत्र के अनुसार धर्मादि द्रव्यों के उपकार को बतलाकर (१५-१७) आगे यह कहा गया है—

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं [-पे] परमार्थतः।
करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन् कदाचन्॥

यहां 'परमार्थतः' पद पर बल देते हुए व्याख्या मे उसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि यह जो उपकार का कथन है वह व्यवहार नय के आश्रित है। निश्चयनय की अपेक्षा सभी द्रव्य अपने अपने स्वरूप मे निमग्न होकर स्वभाव परिणमन ही करते है—उनमे से कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का उपकार-अपकार नही करता। इन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वभाव मे परिणत रहते है, इसलिए वे वस्तुतः किसी का भी उपकार नहीं करते। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य वैभाविकी शक्ति से सहित होने के कारण स्वभाव और विभाव दोनो प्रकार का परिणमन करते है। जीवो मे जो विभाव परिणमन होता है वह कर्म तथा शरीरादि के सम्बन्ध से समागी जीवो मे ही होता है—मुक्त जीवों मे कर्म और शरीर का अभाव हो जाने के कारण वह नही होता, उसमे केवल स्वभाव परिणमन ही होता है। पुद्गलों मे से परमाणुओं मे स्वभाव परिणाम और स्कन्धो मे विभाव परिणमन होता है।

पंचास्तिकाय (७४-७५) आदि ग्रन्थों में जो पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु इस प्रकार चार भेद निर्दिष्ट किये गये है तथा उनका स्वरूप भी कहा गया है, वह उसी प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में भी (२-१९) सक्षेप से कहा गया है। इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने उसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि सख्यात, असंख्यात, अनन्त अथवा अनन्तानन्त परमाणुओ के पिण्डरूप वस्तु को स्कन्ध कहा जाता है। स्कन्ध का एक-एक परमाणु करके खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब वह देश स्कन्ध कहलाता है। इसी क्रम से जब यह देश स्कन्ध आधा रह जाता है तब वह प्रदेश स्कन्ध कहलाता है। प्रदेश स्कन्ध के खण्ड होते-होते जब उसका खण्ड होना संभव नहीं रहता तब वह परमाणु कहलाता है। इस प्रकार, मूल स्कन्ध के उत्तरवर्ती और देश स्कन्ध के पूर्ववर्ती जितने भी खण्ड होंगे उन सबको स्कन्ध ही कहा जाता है। इसी प्रकार, देश स्कन्ध आदि नामों का क्रम भी जानना चाहिए[2]।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुख्तार सा० ने जितने ग्रन्थों का भाष्य लिखा है वह उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचायक है—वे इस महत्वपूर्ण कार्य मे सर्वथा सफल रहे है। उनके इन भाष्यो से ग्रन्थो का महत्व और भी बढ गया है। इन भाष्यो के आधार ले सर्वसाधारण उन ग्रन्थो के मर्म को भली भाँति समझ सकते है। □□□

---

१. इस व्याख्या का आधार आचार्य अमृतचन्द्र की वृत्ति रही है—ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्य-पर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तम्, तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद् भगवानपि सर्वगत एव। एव सर्वगतज्ञानविषयत्वात् सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात् तद्गता एव भवन्ति। तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकारानुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणा स्वरूपनिष्ठत्वात्। अय क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः। (प्रवचनसार १-२६)।

२. इस व्याख्या का आधार पंचास्तिकाय की यह जयसेनवृत्ति रही है—समस्तोऽपि विवक्षितघट-पटाद्यखण्डरूपः सकल इत्युच्यते, तस्यानन्तपरमाणुपिण्डस्यस्कन्दसज्ञा भवति। तत्र दृष्टान्तमाह—षोडशपरमाणुपिण्डस्य स्कन्दकल्पना कृता तावत् एकैकपरमाणोरपनयेन नवपरमाणुपिण्डे स्थिते ये पूर्वविकल्पा गतास्तेऽपि सर्वे स्कन्दा भण्यन्ते। अष्टपरमाणुपिण्डे जाते देशो भवति, तत्राप्येकैकापनयेन पञ्चपरमाणुपर्यन्तं ये विकल्पा गतास्तेषामपि देशसज्ञा भवति। परमाणुचतुष्टयपिण्डे स्थिते प्रदेशसज्ञा भण्यते, पुनरप्येकैकापनयेन द्वयणुकस्कन्दे स्थिते ये विकल्पा गतास्तेषामपि प्रदेशसज्ञा भवति।..........परमाणुश्चैवाविभागीति। (पंचास्तिकाय ७५)

मुख्तार श्री : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ श्री परमानन्द जैन शास्त्री

मुख्तार श्री जुगल किशोर जी का जन्म का नूनगोयान वंश में मगसिर सुदी एकादशी सं० १८३४ मे सरसावा मे हुआ था। उनके पिता का नाम चौधरी नत्थूमल था और माता का नाम भूदेवी था। मुख्तार साहब बाल्यकाल से पढने मे चतुर थे। उन्होने उर्दू, फारसी और अंग्रेजी मे मैट्रिक की परीक्षा पास की थी। पढने की रुचि अधिक थी। अतएव धार्मिक ग्रन्थो का भी अध्ययन किया। शुरू मे मुख्तारकारी का काम सहारनपुर मे किया, किन्तु बाद मे देवबन्द चले गए और वहां अपना कार्य करने लगे। उनका विवाह हो गया और वे गार्हस्थ-जीवन बिताने लगे। कुछ समय बाद उन्हे वकालत से घृणा हो गई और उन्होने उसका परित्याग कर दिया।

आचार्य जुगल किशोर मुख्तार इस युग के साहित्य तपस्वी और जैन साहित्य और इतिहास के वयोवृद्ध विद्वान लेखक थे। वे पक्के सुधारक, स्वाभिमानी, अपनी बात पर अडिग, प्रतिभा के धनी और समीक्षक थे। उनकी प्रतिभा तर्क की कसौटी पर कसकर ही किसी बात को स्वीकार करती थी। वह जो कुछ भी लिखते, निडर होकर लिखते, दूसरे के लेखो में कमी या विरुद्धता पाते तो उसका निराकरण करते। उनकी भाषा कुछ कठोर होती तो भी वे उसे सरल नहीं बनाते। हा, वे जो कुछ लिखते थे उसे बराबर सोच समझकर लिखते। उसमे विलम्ब भले ही हो जाता, पर वह सम्बद्ध विचारधारा से प्रतिकूल नहीं होता था। मुझे उनके साथ सरसावा और दिल्ली मे वीर सेवा मन्दिर में काम करने का वर्षो अवसर मिला है। जो लेख वे लिखना चाहते थे उन पर वे पहले चर्चा कर लेते थे, और फिर लिखने बैठते। लेख पूरा होने पर या कभी-कभी तो अधूरा लेख ही सुना देते या पढ़ने को दे देते थे। उसके सम्बन्ध मे वे जो कुछ पूछते व प्रमाण मांगते वह यथा संभव मैं उन्हें तलाशकर देता था। कभी-कभी वे रात को दो बजे लिखने बैठ जाते, तब मुझे आवाज देकर बुलाते और मैं आकर उन्हे यथेष्ट ग्रथ या प्रमाण निकालकर दे देता। वे लिखना प्रारम्भ करते और उसे पूरा करने मे लगे रहते, उठने-बैठते सदा उसी का विचार करते रहते थे। उसके पूरा होने पर ही वे विराम लेते। फिर मुझे उसकी कापी करने को देते और कापी होने पर वे उसे छपने को भिजवाते थे। जब मै कोई लेख लिखता तो उन्हे जरूर सुनाता। सुनकर वे जो कुछ निर्देश करते उसके अनुसार ही उसे पूरा कर उन्हें दे देता। इससे लेख मे प्रामाणिकता आ जाती और अशुद्धिया भी नही रहती थीं।

यद्यपि मुख्तार साहब की प्रकृति मे नीरसता थी और वह कभी-कभी कठोरता मे भी परिणत हो जाती थी तथा कषाय का आवेश भी उनमें झुँझलाहट उत्पन्न करता, पर वे उसे बाहर प्रकट नही करते थे। अवसर आने पर उसका प्रभाव अवश्य कार्य करता था। वे इतिहास की दृष्टि में असम्प्रदायिक थे। उन्हें सम्प्रदाय से इतना व्यामोह नही था, वे सत्य को पसन्द करते थे। प्रमाण व युक्ति से जो बात सिद्ध होती थी, उसे कभी भी बदलने को तैयार नही होते थे। अनेक अवसरों पर वे इस बात मे खरे थे। प्रमाण-विरुद्ध बात को कभी स्वीकार नहीं करते थे और न सुनी सुनाई बातों पर आस्था ही करते थे। जैसे कोई दार्शनिक या वकील अनेक तरह की दलीलें देकर मुकदमा या विवाद को जीतने का प्रयत्न करता है, वैसे ही मुख्तार साहब भी प्रमाणों के आधार पर अपना अभिमत व्यक्त करते अथवा लेख का निष्कर्ष निकालते थे; इसलिए उनके लेख विद्वत-जगत में ग्राह्य और प्रमाण रूप मे माने जाते है। वे अपनी सूक्ष्म विचार धारा एवं आलोचना और समीक्षात्मक दृष्टि से पदार्थ पर गहरा चिन्तन तथा मनन करते थे। उनके समीक्षा ग्रथ भी इसी बात के द्योतक

हैं। भट्टारकों की अधार्मिक प्रवृत्तियों और आम्नाय विरुद्ध चर्चाओं पर उन्होंने जो समीक्षाए लिखी है, वे जैन समाज में प्रमाण रूप से मानी जाती है और अभी समाज में उनकी अवश्यकता बनी हुई है। यद्यपि वे अप्राप्य हैं किन्तु भावी पीढ़ी के लिए वे अधिक प्रमाणभूत होंगी भविष्य के विचारकों को वे पथ प्रदर्शन का काम अवश्य करेंगी। समीक्षा ग्रन्थ लिखकर उन्होने विद्वानों के लिए आलोचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। अब कोई भी विद्वान निर्भय होकर आर्ष मार्ग के विरुद्ध ग्रन्थो की समीक्षा कर सकता है।

आपने कभी कोई लेख झट-पट नही लिखा। सन्मति तर्क के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर पर जो 'सन्मति-सूत्र और सिद्धसेन' नाम का निबन्ध मुख्तार सा० ने लिखा है और वह अनेकान्त वर्ष ९ की किरण ११-१२ मे प्रकाशित हुआ है। वह कितना युक्ति-पुरस्सर है इसे बतलाने की आवश्यकता नही, पाठक उसे पढ़कर स्वयं अनुभव कर सकते है। उसम जो युक्तिया दी गई है, उनका उत्तर आज तक भी नहीं दिया गया। खीचा-तानी की जा सकती है, पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर मुख्तार साहब का लिखना युक्ति-सगत और प्रमाणभूत है यह स्वयं अनुभव में आ जाता है। उसमे तथ्यो को तोड़ा-मरोड़ा नही गया है प्रत्युत वास्तविक तथ्यो को देने का उपक्रम किया गया है। मुख्तार सा० की समीक्षात्मक दृष्टि बड़ी पैनी और तर्कशालिनी है। समीक्षा लेखो के अतरिक्त शोध-खोज लेख भी उनके महत्वपूर्ण है; उदाहरण के लिए 'स्वामी पात्रकेशरी और विद्यानन्द' वाला लेख कितने विचारपूर्ण और नवीन तथ्यों को प्रकाश मे लाने वाला है। उसमे उन दोनों को एक समझने वाली भ्रांति का उन्मूलन कर वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया गया है। इसी तरह भगवान महावीर और उनका समय वाला लेख भी सम्बद्ध और प्रामाणिक है। यद्यपि उनके लेख कुछ विस्तृत हैं पर वे रोचक और वस्तुस्थिति के यथार्थ निदर्शक है। इसी तरह श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जांच, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की एक सटिप्पण प्रति, समन्त-भद्र का मुनि जीवन और आपात्काल, समन्तभद्र का समय और डा० के० बी० जो पाठक, सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव, जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्यों का शासन भेद, आदि लेख भी वस्तुतत्त्व के उद्बोधक हैं। लेखों की भाषा भी प्रौढ़ और सम्बद्ध एवं स्पष्ट है।

उपासना सम्बन्धी लेख भी उनके कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे भक्तियोग पर अच्छा प्रकाश डालते है और निष्काम-भक्ति की महत्ता के हार्द को प्रस्फुटित करते हैं। भक्तिपरक निबन्धों में उपासनातत्त्व, उपासना का ढंग, भक्तियोगरहस्य, वीतराग की पूजा क्यों ? और वीतराग की प्रार्थना क्यो है, जिनमे भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विवेचना किया गया है और निष्काम भक्ति से होने वाले सुखद परिणाम का अच्छा चित्रण किया गया है। उन्होंने सिद्धि को प्राप्त शुद्धात्माओ की भक्ति द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम 'भक्तियोग' अथवा भक्ति मार्ग बतलाया है वह यथार्थ है। पूजा, भक्ति, उपासना, आराधना, स्तुति, प्रार्थना, वन्दना और श्रद्धा सब उसी के नामान्तर हैं। अन्तर्दृष्टि पुरुषों के द्वारा आत्मगुणों के विकास को लक्ष्य मे रखकर गुणानुराग रूप जो भक्ति की जाती है वही आत्मोत्कर्ष की साधक होती है। लौकिक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, यश, भय और रूढ़ि आदि के वश होकर जो भक्ति की जाती है उसे प्रशस्त अध्यवसाय की साधक नही कहा जा सकता, और न उससे संचित पापों का नाश, या आत्म गुणो का विकास ही हो सकता है। स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् दार्शनिक आद्यस्तुतिकार ने भी परमात्मा की स्तुति रूप भक्ति को कुशल परिणाम की हेतु बतलाकर उसके द्वारा श्रेयोमार्ग को सुलभ और स्वाधीन बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि वीतराग परमात्मा की यथार्थ भक्ति केवल परिणामों की कुशलता की ही सूचक नही, प्रत्युत आत्म-सिद्धि की सोपान है—घातिकर्म का विनाश कर निरंजन भाव की साधिका हैं। अस्तु, मुख्तार साहब ने जो कुछ लिखा, वह आचार्यों द्वारा प्रतिपादित परम्परा से लेकर लिखा है। उन्होंने उसमें अपनी तरफ से कुछ भी मिलाने का प्रयत्न नही किया; किन्तु उसके भाव को अपने शब्दों एव भावों के भाषा-सौष्ठव के साथ प्रकट किया है।

आपके सामाजिक लेख क्रांति के जनक है। आप के उन लेखों से जैन समाज में क्रांति की धारा बह चली।

उनसे समाज में क्रांति तो जरूर हुई किन्तु वह अस्थायी रही। सामाजिक लेखों में, जैनियों में दया का अभाव, जैनियों का अत्याचार, नौकरों से पूजा कराना, जैनी कौन हो सकता है, जाति-पंचायतों का दण्ड-विधान, जातिभेद पर आचार्य अमितगति, विवाह समुद्देश आदि लेख समाज में जागृति लाने वाले हैं। इन लेखों में उस समय की कुत्सित प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए समाज में नव जीवन लाने के लिये आडम्बरयुक्त प्रवृत्तियों को अनुचित बतलाया तथा यह भी लिखा कि हृदय की शुद्धि के बिना बाह्य प्रवृत्तियां मिथ्या हैं, निस्सार है, उनका जीवन में कुछ भी उपयोग नहीं।

पत्र सम्पादक :

मुख्तार साहब सन् १९०७ में 'जैन गजट' के सम्पादक बनाये गये। उस समय के आपके सम्पादकीय लेख देखने से पता चलता है कि उस समय आप में लेखन कला और सम्पादन कला का विकास हो रहा था। उसके बाद वे 'जैन हितैषी' के सम्पादक बनाये गए। उस समय आपकी विचार धारा प्रौढ़ और लेखों की भाषा भी परिमार्जित थी तथा विचारों में गहनता और ऐतिहासिकता आ गई थी। उस समय आपने 'पुरानी बातों की खोज' शीर्षक से अनेक लेख लिखे। सन् १९२९ में आपने दिल्ली के करोलबाग में 'समन्तभद्राश्रम' की स्थापना की और 'अनेकान्त' पत्र को जन्म देकर उसका सम्पादन-प्रकाशन किया। आपकी सम्पादन कला निराली है। वह अपनी ही विशेषता रखती है। 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष में प्रकाशित आपके लेख ऐतिहासिक दृष्टि से वस्तु तत्त्व के विवेचक और मूल-भ्रांतियों के उन्मूलक थे। उस समय आप की ऐतिहासिक विचार धारा प्रौढ़ बन गई थी। 'अनेकान्त' में आपके अनेक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। कितने ही लेख समीक्षात्मक, उत्तरात्मक, दार्शनिकऔर विचारात्मक लिखे गये। आप के ये सब लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। पाठकों को उनका अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये।

इतिहास लेखन :

मुख्तार साहब ने आचार्य समन्तभद्र का इतिहास [लि]खा, जो पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई को समर्पित किया गया था और जिसका प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ था। सन् १९२५ से पहले किसी भी जैन विद्वान ने किसी भी आचार्य के सम्बन्ध में ऐसा खोजपूर्ण इतिहास ग्रन्थ लिखा हो, यह मुझे ज्ञात नहीं, जैसा कि मुख्तार साहब ने स्वामी समन्तभद्र का इतिहास ग्रन्थ लिखा। मुख्तार साहब को रत्नकरण्ड-श्रावकाचार की प्रस्तावना और समन्तभद्र के इतिहास को लिखने में पूरे दो वर्ष का समय लगा। प्रस्तावना और इतिहास दोनों ही शोधपूर्ण हैं। उसके लिए मुख्तार साहब ने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। दिल्ली की आर्किलाजिकल डिपार्टमेंट की लाइब्रेरी से एपिग्राफिया इंडिका और कर्णाटिका, अनेक जरनल और कनिंघम के आदि पुरातत्त्व-विषयक ग्रन्थों का आलोडन कर अनेक उपयोगी नोट्स लिये और सरसावा में बैठकर बड़े भारी परिश्रम से समन्तभद्र का इतिहास लिखा। इसमें लेखक ने आचार्य समन्तभद्र के मुनि जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला। भस्मक व्याधि के समय आपात्काल में उन्होंने अपनी साधुचर्या का किस कठोरता और दृढ़ता से पालन किया और रोगोपशांति के बाद जैन शासन की सर्वोदयी धारा को कैसे प्रवाहित किया और भगवान महावीर के शासन की हजार गुणी वृद्धि की, आदि का विस्तृत वर्णन है। साथ में, उनकी महत्वपूर्ण कृतियों का भी परिचय कराते हुए उनके समयादि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। आचार्य समन्तभद्र का समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है। इस इतिहास के प्रकाशित होने के बाद भी वे उनके सम्बन्ध मे अन्वेषण करते हुए लिखते रहे हैं। समन्तभद्र पर उनकी बड़ी आस्था जो थी। समन्तभद्र का यह इतिहास ग्रन्थ अप्राप्य है। अत. इसका पुन: प्रकाशन होना चाहिए, और परिशिष्ट में समन्तभद्र के सम्बन्ध में जो सामग्री प्रकाश मे आई है उसे यथा स्थान दिया जाना चाहिए।

व्यक्तित्व :

मुख्तार साहब का व्यक्तित्व महान है। उनमे सहिष्णुता और कार्य क्षमता अधिक है। वे श्रम करने मे जितने दक्ष और उत्साही थे, विरोधियों के विरोध सहने या पचाने मे उतने ही सक्षम थे। सन् १९१० मे खतौली के दस्सो और बीसों के पूजाधिकार-विषयक ऐतिहासिक मुकदमे मे

आपने गुरुवर्य्य गोपाल दास जी वरैया ने दस्सों की ओर से गवाही दी थी, तब आप स्थिति पालकों के रोष के भाजन बनें, तथा धर्म विरोधी घोषित किये गये और जाति बहिष्कार की धमकी के पात्र हुए। उस समय आपने 'जिन पूजाधिकार-मीमांसा' नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसमे जिनपूजा, पूजक और उसका अधिकार और फल पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जहाँ वे प्रबल सुधारक थे, वहाँ कर्मठ अध्यवसायी भी थे और अपने विचारो मे चट्टान की तरह अडिग रहने वाले थे। सन् १९१७ मे ग्रन्थ परीक्षा के दो भाग प्रकाशित हुए। इनमें से प्रथम भाग मे उमास्वामी श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार और जिनसेन त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थो की परीक्षा की गई है और दूसरे भाग मे भद्रबाहुसहिता की परीक्षा की गई है। इसमें ग्रन्थ के अन्तरग परीक्षण के साथ प्रत्येक अध्याय का वर्ण्य विषय, तुलनात्मक अध्ययन और ग्रन्थ मे असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथा विरोधी तथ्यो का स्पष्टीकरण किया गया है। इसमे लेखक की तटस्थ वृत्ति और विषय का प्रतिपादन श्लाघनीय है।

ग्रन्थ परीक्षा, तृतीय भाग मे, जो सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ है, भट्टारक सोमसेन के त्रिवर्णाचार, धर्म परीक्षा, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और पूज्यपाद उपासकाचार की परीक्षा अंकित है। सोमसेन द्वारा इस त्रिवर्णाचार मे वैदिक सस्कृति के हारीति पाराशर और मनु आदि विद्वानों के ग्रन्थो के अनेक पद्य ज्यो के त्यो उठाकर रक्खे गए है। मुख्तार साहब के गम्भीर अध्ययन ने ग्रन्थ की अप्रामाणिकता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। भट्टारक सोमसेन ने जैन संस्कृति के आचार मार्ग को कलंकित किया था। मुख्तार साहब ने ग्रन्थ परीक्षा द्वारा उस कलक को धोकर जैन सस्कृति को पुन समुज्ज्वल किया। ग्रन्थ परीक्षा की उनकी यह स्वतन्त्र विचारधारा विद्वानो के द्वारा अनुकरणीय है।

ग्रन्थ परीक्षा का चतुर्थ भाग सन् १९३४ मे प्रकाशित हुआ है। इसमें 'सूर्य प्रकाश' ग्रन्थ का परीक्षण किया गया है जिसमे आर्ष विरुद्ध एवं असबद्ध बातो का दिग्दर्शन कराते हुए तथा अनुवाद सम्बन्धी त्रुटियों का उद्घाटन करते हुए उसे अप्रामाणिक ठहराया है। इस तरह मुख्तार साहब के ये चारों परीक्षा ग्रन्थ महत्वपूर्ण कृतियां है।

इन परीक्षा ग्रन्थो के प्रकाशन के समय जैन समाज में जो बवंडर उठा, उसमें मुख्तार साहब को धर्म विघातक बतलाया गया, अनेक धमकी भरे पत्र मिले, पर मुख्तार साहब घबड़ाये नही, बिना सोचे-समझे ही समाज मे क्षोभ की लहर फैली, अनेक स्थिति-पालकों ने विविध प्रकार के दोषारोपण किये। उस समय भी आपने साहस और धैर्य से काम लिया। उनकी सहनशीलता ने उन्हें जो शक्ति प्रदान की, उससे विरोधियों को मुंह की खानी पड़ी और धीरे-धीरे वे विरोधी जन भी उनके प्रशसक बन गए।

सन् १९२२ मे जब विवाह-समुद्देश नाम का ट्रैक्ट प्रकाशित हुआ, तब उसके उत्तर मे 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नाम का लेख लिखा गया, जिसके उत्तर मे मुख्तार साहब ने सन् १९२५ मे 'विवाह-क्षेत्र प्रकाश' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमें 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' का जोरदार खण्डन करते हुए अनेक प्रमाणों द्वारा अपनी पूर्वमान्यता को पुष्ट किया। सन् १९२२ मे 'जैनाचार्यों और जैन तीर्थंकरो का शासन भेद' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमे जैनाचार्यों और जैन तीर्थंकरों के शासन भेद का स्पष्ट विवेचन किया। पर किसी विद्वान को मुख्तार साहब के खिलाफ लिखने का साहस नही हुआ, क्योंकि मुख्तार साहब ने अपनी लौह लेखनी से जो भी लिखा वह सब सप्रमाण और सयुक्तिक लिखा था। इस कारण विरोधी जनों को अप्रिय एवं अरुचिकर होते हुए भी वे उसका प्रतिवाद करने में सर्वथा असमर्थ रहे। उनके युक्ति-पुरस्सर लेख को देखकर विरोधियों को विरोध करने का साहस भी नहीं होता था। इससे पाठक मुख्तार साहब की लेखनी की महत्ता को सहज ही समझ सकते है।

मुख्तार साहब की महत्ता जैन धर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा और संयमाराधन की उत्कट भावना में है। वे ज्ञान के साथ चारित्र को भी महत्व देते थे और जितना उनसे हो सकता था उसे वे जीवन में करते रहे। वे स्वामी समन्तभद्रोदित सप्तम प्रतिमा का अनुष्ठान करते थे और त्रिकाल सामयिक करना अपना कर्तव्य मानते थे। वे रात-दिन साहित्य-साधना में संलग्न रहते थे। इसी से

सामाजिक और व्यक्तिगत बुराइयों से बचे रहते थे। मैंने उन्हें कभी दूसरों की निन्दा करते हुए नहीं देखा। वे कर्मठ अध्यवसायी और साहित्य तपस्वी थे, साहित्य सृजन के प्रति उनकी अद्भुत लगन थी। यद्यपि उनके जीवन में रूक्षता और कृपणता दोनों का सामंजस्य था, वे एक पैसा भी फिजूल खर्च नहीं करते थे। यद्वातद्वा खर्च करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था, वे उपयोगिता को देख कर खर्च करते थे। वे मितव्ययी थे और जो खर्च करते थे, उसका पाई-पाई का पूरा हिसाब भी रखते थे। राष्ट्र एवं देश के नेताओं के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। महात्मा गांधी के निधन पर 'गांधी स्मारक निधि' के लिए आपने स्वयं एक सौ एक रुपया दिया और पांच-पांच दिन का वेतन अपने विद्वानों से भी दिलवाया था। कांग्रेस के प्रति भी उनकी अच्छी निष्ठा थी। वे सूत कातकर चर्खा संघ को देते और बदले में खादी लेकर कपड़ा बनवाते थे।

कृतित्व :

उनका रहन-सहन सादा था। अधिकतर वह गाढे का प्रयोग किया करते थे। राष्ट्र की सुरक्षा में भी उन्होंने राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी के पास एक सौ रुपया भेजा था। वे साहित्य रसिक थे और उसमें ही रचे-पचे रहते थे।

उन्होंने सन् १९१६ में 'मेरी भावना' नाम की एक कविता लिखी, जो राष्ट्रीय गीत के रूप में पढ़ी जाती है। यह कविता बड़ी लोकप्रिय हुई। इसके विविध भाषाओं में अनुवादित अनेक संस्करण निकले। लाखों प्रतियां छपीं। उसके कारण लाखों व्यक्ति मुख्तार साहब के परिचय में आये और वे सदा के लिए अमर बन गये। पाठकों की जानकारी के लिए मेरी भावना के तीन पद्य नीचे दिये गये है :—

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर-कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रक्खूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥

× × × ×

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊं या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे।

× × × ×

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे,
बैर-पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान चरित उन्नति कर अपना मनुज जन्म फल सब पावें ॥

मुख्तार साहब ने 'मेरी भावना' के पद्यों में अनेक आर्षग्रन्थों का सार भर दिया है। पद्यों में जहां शब्द योजना उत्तम है वहां भाव भी उच्च और रमणीय है।

मुख्तार साहब केवल गद्य लेखक ही नहीं थे किन्तु कवि भी थे। आपकी कविता हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलती है। कवि भावुक होते है और वे कविता की उड़ान में अपने को भूल जाते है। पर मुख्तार साहब की गणना उन कवियों में नहीं होती; क्योंकि उनकी कविता केवल कल्पना पर आधारित नहीं है। मुख्तार साहब की कविताओं का आधार संस्कृत के वे पद्य है जो विभिन्न आचार्यों द्वारा रचे गये है। घटना-क्रम की कविता 'अज सम्बोधन' है जिसमें वध्य भूमि को जाते हुए बकरे का चित्रण किया गया है। उसमें उसका सजीव भाव समाया हुआ है। आपकी हिन्दी की कविताओं में मानव धर्म वाली कविता में, अछूतोद्धार की भावना का सजीव चित्रण है—उसमें बतलाया गया है कि मल के स्पर्श से कोई अछूत नहीं होता। मल-मूत्र साफ करने का कार्य तो मानव अपने जीवन काल में कभी न कभी करता ही है। फिर बेचारे इन अछूतों को ही मल-मूत्र उठाने के कारण अपवित्र क्यों माना जाता है—

गर्भवास और जन्म समय में कौन नहीं अस्पृश्य हुआ ?
कौन मलों से भरा नहीं किसने मल-मूत्र न साफ किया ?
किसे अछूत जन्म से तब फिर कहना उचित बताते हो ?
तिरस्कार भंगी-चमार का करते क्यों न लजाते हो ॥४॥

संस्कृत की कविता, 'मदीया द्रव्य पूजा', वीर स्तोत्र और समन्तभद्र स्तोत्र आदि हैं। समन्तभद्र स्तोत्र की कविता का एक पद्य नीचे दिया जाता है—

वैद्यक-मान्त्रिक-भिषग्वर-तान्त्रिको यः
सारस्वतं सकलसिद्धिगतं च यस्य।

मान्यः कविगमकवाग्मिशिरोमणिः
वावीश्वरो जयति वीरसमन्तभद्रः ।।

'अनित्य भावना' आचार्य पद्मनन्दी की कृति है जिसका आपने सन् १९१४ में पद्यानुवाद किया था। उसके एक श्लोक का पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है—

एक दिवस भोजन न मिले, या नींद न निशि को आवे,
अग्नि समीपी अम्बुज दल सम, यह शरीर मुरझावे।
शस्त्र व्याधि जल आदिक से भी, यह शरीर मुरझावे,
चेतन क्या थिर बुद्धि देह में, विनशत अचरज को है।

इसी तरह आचार्य देवनन्दी की 'सिद्ध-भक्ति' का पद्यानुवाद भी सुन्दर हुआ है, जो 'सिद्धि-सोपान' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। वह सुन्दर और कण्ठ करने योग्य है; यथा—

स्वात्मभाव की लब्धि 'सिद्धि' है, होती वह उन दोषों के
उच्छेदन से, आच्छादक जो ज्ञानादिकगुण-वृन्दों के।
योग्य साधनों को सुयुक्ति से, अग्नि प्रयोगादिक द्वारा,
हेम-शिला से जग मे जैसे हेम किया जाता न्यारा ।।

इस तरह मुख्तार साहब की पद्य रचनाएं सभी सुन्दर और भावपूर्ण है।

व्याख्याकार या भाष्यकार :

आपकी समस्त कृतियों की संख्या ३०-३५ है जिनमें कुछ छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी है। उनमे से आपने जिनका अनुवाद तथा सम्पादन किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं:— पुरातन जैन-वाक्य-सूची, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र युक्त्यनुशासन, अध्यात्मरहस्य, समीचीनधर्मशास्त्र, सत्साधुस्मरण मंगलपाठ, प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र कल्याणकल्पद्रुम, तत्त्वानुशासन, देवागम, (आप्तमीमांसा) योगसार प्राभृत और जैन ग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह (प्रथम भाग), समाधितन्त्र।

आपकी इन कृतियों का अध्ययन करने से स्पष्ट पता चलता है कि मुख्तार साहब ने इन ग्रन्थो के अनुवाद, सम्पादन, प्रस्तावनादि लिखने मे पर्याप्त श्रम किया है। मूलानुगामी अनुवाद के साथ व्याख्या या भाष्य द्वारा ग्रन्थ के मर्म को स्पष्ट किया गया है। भाष्यकार को मूल लेखक की अपेक्षा उसके हार्द को स्पष्ट करने के लिए विशेष परिश्रम और प्रतिभा का उपयोग करना पड़ता है, मूल ग्रन्थकार के भावों को अक्षुण्ण रखते हुए उनकी सरल और स्पष्ट व्याख्या करनी पड़ती है, मूल ग्रन्थ की तह में (गहराई में) छिपे हुए तथ्यों को प्रकाश मे लाने के लिए भाष्यकार को तलस्पर्शी पाण्डित्य के साथ तथ्यों का विश्लेषण करना अनिवार्य होता है। मूल ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त शब्द किन-किन स्थानों में और किस-किस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, इसके लिए मूल ग्रन्थ का गहराई से पारायण करना पड़ता है। भाष्य लिखते समय मूल ग्रंथ के शब्द को सामने रखते हुए वाच्य-वाचक सम्बन्ध, अभिधेय, संवेदन और वाक्यार्थ को अभिव्यंजना का परिज्ञान आवश्यक होता है। तभी भाष्यकार मूल ग्रंथ के गंभीर अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ हो सकता है।

मुख्तार साहब ने अनुवाद करने से पूर्व स्वामी समन्तभद्र भारती के ग्रंथों का एक शब्दकोष पं० दीपचन्द जी पाण्डया, केकड़ी से तैयार कराया था। मूल ग्रंथ के पाठ संशोधन के पश्चात् अनुवाद प्रारम्भ किया। अनुवाद हो जाने के बाद भाष्य लिखने के लिए ग्रंथ और अनुवाद का पारायण तथा संशोधन किया और भाष्य लिखने से पूर्व मूल ग्रंथकार की दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए विविध ग्रंथों का परिशीलन किया तथा लिखते समय उन्हें सामने रखा। मुख्तार साहब का दृष्टिकोण मूल के हार्द को स्पष्ट करना था, अतएव उन्होंने मूल ग्रथ के पद्यों के अन्दर अन्तर्निहित अर्थ को उसकी गहराई में जाकर, तलदृष्टा बन, मूल को स्पष्ट करने वाली व्याख्या या भाष्य लिखा। अनुवाद और भाष्य लिखने में मुख्तार साहब ने अथक श्रम किया, तभी वह मूल ग्रन्थ के अनुकूल और उपयोगी हो सका है। उसमे उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी मिलाने का प्रयत्न नही किया। अतएव वह भाष्य लिखकर वे उसमें कितने सफल हुए इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही कर सकते है कि स्वामी समन्तभद्र के ग्रथों का जो अनुवाद और भाष्य लिखा, वह कितना परिमार्जित और मूल ग्रंथकार की दृष्टि का अभिव्यंजक है। मैंने उसे लिखते समय पढ़ा और बाद मे प्रेस कापी करते हुए भी पढ़ा है। मुझे तो उसमें कोई स्खलन प्रतीत नही हुआ। कारण कि मुख्तार साहब लिखने में बहुत सावधानी रखते थे। साथ

ही शब्दों को जांच-तोल कर रखते थे। उनकी लेखनी फटपट और चलता हुआ नहीं लिखती थी। लिखते समय की उनकी एकाग्रता और संलग्नता अनुकरणीय है।

'तत्त्वानुशासन' का भाष्य लिखते समय आचार्य रामसेन के मूल पद्यों का मूलानुगामी अनुवाद किया और बाद में भाष्य लिखा। भाष्य लिखते समय मूल ग्रंथकार की दृष्टि को *अक्षुण्ण रखते हुए पद्यों में आये हुए* विशेषणों का स्पष्टीकरण किया। पाठकों की जानकारी के लिए उसके दो पद्यों का अनुवाद और व्याख्या नीचे दी जाती है—

संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनि ॥

परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह-नियंत्रण, व्रतों का धारण और मन तथा इंद्रियों का जीतना यह सब ध्यान *की उत्पत्ति-निष्पत्ति में सहायभूत सामग्री है। व्याख्या* में यहां संग-त्याग में बाह्य परिग्रहों का त्याग अभिप्रेत है; क्योंकि अन्तरग परिग्रह में क्रोधादि कषायों का निग्रह में समावेश है। कुसंगति का त्याग भी संगत्याग में आ जाता है। वह भी सद्ध्यान में बाधक होती है। व्रतों में अहिंसादि महाव्रतों तथा अणुव्रतों आदि का ग्रहण है। अनशन ऊनोदर आदि के रूप में अनेक प्रतिज्ञाएँ भी व्रतों में शामिल है। इन्द्रियों के जय में स्पर्शन-रसना घ्राण-चक्षु श्रवण ऐसी पांचों इन्द्रियों की विजय विवक्षित है। ध्यान की और भी सामग्री है। परन्तु यहाँ सर्वतो मुख्या सामग्री का *उल्लेख* हैं। शेष सामग्री का 'च' शब्द में समुच्चय चाहिए। उसे (अन्य) ग्रन्थों के सहारे जुटाना चाहिये। इस ग्रंथ में भी परिकर्म आदि के रूप में जो कुछ अन्यत्र कहा गया है उसे भी ध्यान की सामग्री समझना चाहिए।

इंद्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभु ।
मन एव जये-त्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥

इन्द्रियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में मन प्रभु सामर्थ्यवान है, इसलिए (मुख्यतः) मन को ही जीतना चाहिए। मन को जीतने पर मनुष्य (वास्तव में) जितेन्द्रिय होता है—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियों से भी पहले मन को जीतने का सहेतुक निर्देश किया गया है और यह बतलाया है कि मन को जीतने पर मनुष्य सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। जिसने अपने मन को नहीं जीता वह इन्द्रियों को क्या जीतेगा ? मन के संकल्प-विकल्प रूप-व्यापार को रोकना अथवा मन को जीतना (मन की चंचलता को दूर कर उसे स्थिर करना) कहलाता है। मन का व्यापार रुकने अथवा उसकी चंचलता मिटने पर इन्द्रियों का व्यापार स्वतः रुक जाता है—वे अपने विषयों में उसी प्रकार प्रवृत्त नहीं होतीं जिस प्रकार कि वृक्ष का मूल छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसमे पत्र-पुष्पादिक की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

'तत्त्वानुशासन' की प्रस्तावना बहुत विचार-विमर्श के बाद लिखी गयी है। उसके लिखने में मुख्तार साहब ने अच्छा श्रम किया है। इस संबन्ध मे मैंने उन्हें पर्याप्त सामग्री दी थी। उन्होने मेरा उल्लेख भी किया है। रामसेन के समय का निर्णय उन्होंने कितने सुन्दर और सरल ढंग से किया, यह देखते ही बनता है।

आपके ग्रंथों की प्रस्तावनाएं बड़ी मार्मिक और शोधपूर्ण हैं। 'अध्यात्म-कमल मार्तण्ड' की प्रस्तावना में १७वीं शताब्दी के विद्वान् तथा प्रथित ग्रन्थकार पांडे राजमल्ल का परिचय और उनकी कृतियों के संबन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

पुरातन जैन वाक्य-सूची की प्रस्तावना और उसका संपादन आपने सहयोगी विद्वानों के साथ किया। ग्रन्थ अन्वेषण करने वाले विद्वानों के लिए वह उपयोगी है। मुख्तार साहब ने उसकी प्रस्तावना मे प्रत्येक ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में अच्छा विचार किया है; खासकर सन्मति सूत्र और सिद्धसेन के सम्बन्ध में जो विचार अथवा निष्कर्ष दिया गया है वह मौलिक है। गोमम्टसार की त्रुटि-पूर्ति पर भी प्रकाश डाला है और भी अनेक विद्वानों के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है जो शोधक विद्वानों के लिए उपयोगी है।

'समन्तभद्र भारती' के ग्रंथों का अनुवाद और व्याख्या बहुत ही परिश्रम के साथ सम्पन्न की गई है; खासकर

युक्त्यनुशासन का हिन्दी अनुवाद उन्होंने कितनी सरल भाषा मे प्रस्तुत किया है, यह उनकी महत्वपूर्ण देन है जो दार्शनिक विषय पर भी अच्छा प्रकाश डालती है। देवागम का अनुवाद भी उन्होंने सरल ढंग से प्रस्तुत किया है, जो पठनीय है।

इसी तरह, समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) का अनुवाद, भाष्य और प्रस्तावना बड़ी महत्वपूर्ण है। वह मूल ग्रन्थ पर अच्छा प्रकाश डालती है, और टीकाकार प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध मे भी ऐतिहासिक दृष्टि से यथेष्ट प्रकाश डालती है।

आपका अन्तिम भाष्य अमितगति प्रथम का 'योगसार प्राभृत' है जिसका उन्होने बीसो बार अध्ययन किया है और बहुत-कुछ चिंतन के बाद उसका मूलानुगामी अनुवाद और भाष्य प्रस्तुत किया है। यह उनकी अन्तिम कृति है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है। आशा है समाज उससे विशेष लाभ उठाने का प्रयत्न करेगा।

मुख्तार साहब का जीवन सादा रहा है। वे सदा सिपाही की भाँति कार्य करने के लिए तत्पर रहते थे। परावलम्बी होना उन्हें तनिक भी पसद नही था। वे अपना सब कार्य स्वय करके प्रसन्न रहते थे। उनके इस सेवा कार्य को देखते हुए यह स्वाभाविक लगता है कि ऐसे निःस्वार्थ सेवाभावी विद्वान का समाज ने कोई सार्वजनिक सम्मान नही किया, इसका हमें खेद है। पर कुछ व्यक्ति विशेष की अपनी कमजोरिया भी होती है जो उसे आगे बढ़ने नही देती। मुख्तार साहब का जीवन एकांगी था। वे जितना साहित्यिक विषयों पर विचार करते थे उतना उन्होने समाज के बारे मे कभी चिन्तन नही किया। समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण प्राय: अनुदार सा रहा प्रतीत होता है। इस कारण उनके कितने ही कार्य अधूरे पड़े रहे, जिन्हें वे स्वय सम्पन्न करना चाहते थे। वे वीर सेवा मन्दिर जैसी उच्चकोटि की संस्था के सस्थापक थे। उन्हें अच्छे कार्यकर्ता विद्वानों का सहयोग भी मिला था। उनकी प्रौढ़ लेखनी से प्रभावित हो बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता ने उन्हे आर्थिक सहयोग स्वयं दिया और अपने दूसरे मित्रों से दिलाया; मुख्तार साहब के व्यक्तित्व को उभारने का भी प्रयत्न किया। वीर शासन-जयन्ती के अवसर पर सरसावा मे अध्यक्ष पद से जो भाषण दिया था उसमे उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि 'मैं मुख्तार साहब को वर्तमान मुनियों से भी कही अच्छा मानता हूँ जो सामाजिक झगड़ों से दूर रहकर ठोस साहित्य के निर्माण द्वारा जिन शासन और समाज की सेवा कर रहे है।' बाबू छोटेलाल जो की उदारता, उत्साह और परिश्रम से तथा पूज्य प० गणेश प्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से वीर सेवा मन्दिर का भवन दिल्ली में बन गया। मुख्तार सा० का बाबू छोटेलाल जी के साथ पिता-पुत्र जैसा सुदृढ़ प्रेम-सम्बन्ध बहुत वर्षो तक रहा, पर कुछ कारणों से परस्पर मतभेद उत्पन्न हो गया था। बाद मे उसमे पत्र-व्यवहारादि द्वारा कुछ सुधार हो गया और उनका परस्पर पत्र-व्यवहार भी चालू हो गया था, किन्तु दुर्भाग्य है कि सन् १९६२ के बाद उन दोनों का परस्पर मिलन नही हो सका।

मुख्तार साहब का अन्तिम जीवन भी सानन्द व्यतीत हुआ। वे वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से अपने भतीजे डा० श्रीचन्द्र जी संगल के पास एटा चले गए थे। संगल जी ने अपने ताऊजी की सेवा प्रसन्नता से की। डा० साहब का सारा परिवार उनकी सेवा मे संलग्न रहता था। वे उनकी सेवा से प्रसन्न भी थे। डा० साहब ने लिखा है कि उनका अन्त समय बड़ी शाति के साथ व्यतीत हुआ और मै रातभर उनके पास बैठा रहा। णमोकार मत्र और समत-भद्रस्तोत्र का पाठ करते हुए उन्होंने अपने शरीर का परित्याग किया। उनका देहावसान २२ दिसम्बर को ९१ वर्ष २२ दिन की आयु में प्रातःकाल हुआ। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति होना असभव है। मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ उनकी आत्मा को परलोक मे सुख-शान्ति की कामना करता हूँ।

□□□

युगसृष्टा की साहित्य साधना

□ श्री गोकुलप्रसाद जैन, नई दिल्ली

आचार्य श्री जुगल किशोर मुख्तार साहित्य-तपस्वी, स्वाध्याय योगी, समाज सुधारक, कुरीतियो एवं अंधविश्वासो के निराकर्ता एव यथार्थ आर्षमार्ग के प्रणेता थे। आपमे सत्य के प्रति अपूर्व निष्ठा थी तथा आपने जिनवाणी की रक्षा का जीवनव्रत लिया था। आपने जैन इतिहास, साहित्य और पुरातत्व को गुफाओं, मन्दिरो और सरस्वती भण्डारों की घुटन से बाहर निकाल कर उसे जन-जन के लिए सुलभ बनाया।

भट्टारक प्रायः अपनी यशोगाथा फैलाने की भावना से एवं कवित्व प्रदर्शन के हेतु विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के अंश चुराकर, भानुमती का कुनबा तैयार कर देते थे। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस साहित्यक चोरी को पकडा और दिन-रात अथक परिश्रम करके ग्रन्थ-परीक्षा के नाम से एक शोध-खोज ग्रथ प्रकाशित करवाया, जिससे समाज को वास्तविकता का पता चला।

वस्तुतः मुख्तार साहब का जीवन आरम्भ से ही आदर्श, साधनापूर्ण एव त्यागमय रहा। सरसावा (जिला सहारनपुर) मे मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी, वि० स० १६३४ को आपका जन्म हुआ। आपके पिता चौधरी नत्थूमल जैन एव माता भुई देवी थी। शैशव से ही इस बालक मे ऐसी चुम्बकीय शक्ति थी कि माता-पिता, पास-पड़ोस तथा सभी सम्पर्की व्यक्तियों को यह अनुरंजित किए रहता था।

बालक जुगल किशोर ने पांच वर्ष की आयु में उर्दू-फारसी की शिक्षा आरम्भ की। शिक्षा दीक्षा में वह बालक मौलवी साहब की दृष्टि मे दूसरा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर था। उसकी विलक्षण प्रतिभा दैवी-शक्ति-सम्पन्न लगती थी। उसका दूसरा विशेष गुण था उसकी तर्कणा शक्ति। अध्ययन के अलावा वह खेल-कूद के भी प्रेमी थे।

आपने सरसावा में हकीम श्री उग्रसेन जी द्वारा स्थापित पाठशाला में हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन किया तथा संस्कृत में बढ़ती अभिरुचि के कारण आप जैन शास्त्रों के स्वाध्याय के प्रति उन्मुख हुए।

आपने स्थानीय अंग्रेजी स्कूल से नौवीं कक्षा तक विधिवत् अध्ययन कर स्वाध्यायी छात्र के रूप से मैट्रिक परीक्षा दी।

जीवन संघर्ष

आपने मैट्रिक परीक्षा पास करने के पश्चात् स्वयं जीविका निर्वाह करने का विचार किया, क्योकि अभिभावकों पर निर्भर रहना आपने अकर्मण्यता समझी। अतः १८६६ मे आपने प्रान्तिक सभा की ओर से उपदेशक का कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु दो मास के बाद यह विचार आया कि धर्मप्रचार जैसा पवित्र कार्य वेतन लेकर न किया जाए। अतः उपदेशक-वृत्ति से त्यागपत्र देकर स्वतन्त्र वृत्ति के रूप मे आपने मुख्तार-गीरी आरम्भ की। इस वृत्ति मे आपने सदा न्याय और सत्य का आधार लिया। लगभग १० वर्ष मुख्तारी करके आपने धन और यश दोनों अर्जित किये। वैसे तो आपका अधिकांश समय जैन साहित्य, जैन कला एवं जैन पुरातत्त्व के अध्ययन-अनुसन्धान मे व्यतीत होता ही था, किन्तु बाद मे आप मुख्तारगीरी छोड़कर मात्र ज्ञान साधना में लीन हो गये।

पारिवारिक जीवन

श्री 'मुख्तार' साहब के कार्यों में उनकी धर्मपत्नी बड़ा योगदान करती थी। आपने पत्नी की यथार्थ सेवा प्राप्त कर अपना बौद्धिक विकास किया। आपके ७ अक्तूबर, १८६६ में एक कन्या का जन्म हुआ किन्तु सन् १६०७ मे फैली प्लेग की बीमारी से ८ वर्ष की यह बालिका कालकवलित हो गयी। सन् १६१७ में आपको दूसरी बेटी का सौभाग्य प्राप्त हुआ, परन्तु ठीक सवा तीन माह पश्चात् आप पर दूसरा वज्रपात हुआ और पच्चीस वर्षों की जीवन-संगिनी आपका साथ छोड़

कर चल बसी। पत्नी के इस वियोग ने पंडित जी को झकझोर दिया। बाद में यह बालिका भी चल बसी।

(वीर सेवा मन्दिर) समन्तभद्राश्रम—२१ अप्रैल, १९२९ को दिल्ली में मुख्तार श्री ने समन्तभद्राश्रम की स्थापना की और यहीं से 'अनेकान्त' मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। बाद में यही आश्रम वीर सेवा मन्दिर में परिवर्तित होकर दिल्ली से सरसावा चला गया और एक शोध संस्थान के रूप में जैन साहित्य की विभिन्न शोध प्रवृत्तियों का प्रकाशन और अनुसंधान करने लगा। मुख्तार साहब ने अपनी समस्त सम्पत्ति का ट्रस्ट कर दिया और उस ट्रस्ट से वीर सेवा मन्दिर अपनी बहुमुखी प्रवृत्तियों का संचालन करने लगा।

पूज्यपाद पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी, प० नाथूराम जी प्रेमी, बाबू सूरजभान वकील, पं० चन्दाबाई आरा, बाबू राजकृष्ण जी दिल्ली, साहू शान्ति प्रसाद जी आदि प्रमुख व्यक्तियों ने मुख्तार सा० के अगाध पांडित्य और ज्ञान-साधना की भूरि-भूरि प्रशसा की। बाबू छोटेलाल जी जैन ने तो कलकत्ते में 'वीर शासन महोत्सव' के अवसर पर उन्हें वाङ्मयाचार्य की उपाधि से विभूषित किया।

कवि : मुख्तार साहब की काव्य रचनाओं का संग्रह 'युग भारती' के नाम से है। आपकी सबसे प्रसिद्ध और मौलिक-रचना 'मेरी भावना' तो वस्तुत: 'राष्ट्रीय भावना' ही बन गई है।

निबन्धकार : आपके निबन्धो का सग्रह 'युगवीर निबन्धावली' के नाम से दो खण्डों में प्राप्त है, जिसमें समाज सुधारात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्ध है। इसके अलावा आपने 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया, जिसमें ३२ निबन्ध हैं। आपके निबन्धों में सामयिक, राष्ट्रीय, आचारमूलक, भक्तिपरक, दार्शनिक एवं जीवनशोधक निबन्ध हैं जो आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आलोकित करते हैं। आप एक सामाजिक क्रान्तिद्रष्टा थे।

भाष्यकार : मुख्तार साहब केवल मौलिक लेखक ही नहीं एक मेधावी भाष्यकार भी थे। आपने आ० समन्तभद्र की प्रायः समस्त कृतियों पर ग्रन्थ लिखे हैं। भाष्य ग्रंथों में लिखित आपकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाओं से वे ग्रन्थ और भी अधिक उपयोगी बन गये हैं।

समीक्षक : आपके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ ग्रंथ परीक्षा और समीक्षा से ही होता है। ग्रंथ परीक्षा के दो भागों का प्रकाशन १९१६ मे हुआ था।

इतिहासकार : विभिन्न ऐतिहासिक शोध निबन्ध लिखकर आपने अपनी सच्ची इतिहासकार की प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसे निबन्धों में, 'वीर शासन की उत्पत्ति और स्थान', 'श्रुतावतार कथा', 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य और उनके सूत्र', 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा और 'स्वामि-कुमार' आदि विशेष उल्लेखनीय है।

सम्पादक : आचार्य श्री ने स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, देवागम, अध्यात्म रहस्य, तत्त्वानुशासन, समाधि तन्त्र, पुरातन जैन वाक्यसूची, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह (प्रथम भाग), समन्तभद्र भारती आदि ग्रंथों का सम्पादन किया और उनकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनायें लिखी, जो अत्यन्त उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक है।

पत्रकार : श्री मुख्तार साहब प्रथम कोटि के सम्पादक रहे। आपका पत्रकार जीवन साप्ताहिक पत्र 'जैन गजट' के सम्पादन से प्रारम्भ हुआ। समाज ने आपकी सम्पादन कला की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। नौ वर्ष तक इसका सफल सम्पादन करने के बाद श्री नाथूरामजी प्रेमी ने आपको "जैन हितैषी" का सम्पादक नियुक्त किया, जिसका सम्पादन उन्होंने सन् १९३१ तक किया। आपने वीर सेवा मन्दिर के मुख पत्र 'अनेकान्त' का सम्पादन एवं प्रकाशन भी प्रारम्भ किया जो जैन शोध और समीक्षा विषयक प्रामाणिक एवं सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है।

आपका सारा जीवन वस्तुतः चिरन्तन साधना, अध्यवसाय एवं तपस्या का जीवन रहा है। आप वस्तुतः जितेन्द्रिय, सयमी, निष्ठावान् एवं ज्ञान तपस्वी थे। आप प्रकाण्ड ज्ञानी, दृढ़ अध्यवसायी एव महान साहित्य साधक थे। आपका व्यक्तित्व उदात्त था। आपने लोक सेवा एवं साहित्य सेवा द्वारा ऐसे ज्ञानालोक की सृष्टि की है जो युगयुगान्तर तक जैन परम्परा को आलोकित करती रहेगी। □□□

३, राम नगर,
नई दिल्ली-५५

नेमिदूत काव्य के पूर्ववर्ती संस्करण

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। छोटे-मोटे हजारों ग्रन्थ एवं स्तोत्र आदि फुटकर काव्य जैनों के लिखे हुए, संस्कृत में आज भी प्राप्त हैं, पर जैन संस्कृत साहित्य का उल्लेख संस्कृत साहित्य के इतिहास में बहुत ही कम होता रहा। हर्ष है कि इधर कई ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनसे विशाल और महत्त्वपूर्ण जैन संस्कृत साहित्य की काफी जानकारी प्रकाश में आयी है। गुजराती मे प्रो० हीरालाल कापड़िया ने 'जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास' लिखा, वह ३ भागों में प्रकाशित हो चुका है। डा० नेमिचन्द्र जैन का भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी मे 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित हुआ है। जैन संस्कृत महाकाव्यों पर जैनेतर विद्वानों ने शोध प्रबन्ध लिखे है, जिनमे से डा० श्यामसुन्दर दीक्षित के शोध प्रबन्ध का एक भाग जयपुर से छप भी चुका है। डा० सत्यव्रत का शोध प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है। जैन स्तोत्र साहित्य आदि पर भी शोध कार्य हुआ है, पर वे शोध प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नही हुए। अभी अनेको शोध प्रधान ग्रंथ संस्कृत साहित्य पर लिखे जाने अपेक्षित है।

जैन विद्वानों ने पाद पूर्ति काव्य भी काफी बनाये है, जिनके सम्बन्ध मे काफी वर्ष पहले मेरा खोजपूर्ण लेख 'जैन सिद्धात भास्कार' मे प्रकाशित हुआ था। ऐसे काव्यों मे मेघदूत के चतुर्थ पाद पूर्ति रूप विक्रम कवि का नेमिदूत काव्य भी उल्लेखनीय है। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर से नेमिदूत काव्य का नया संस्करण अभी मई ७६ में ही प्रकाशित हुआ है जिसकी प्रति मुझे हाल ही में प्राप्त हुई है। प्रकाशन सुन्दर है। इस में मूल काव्य के अतिरिक्त स्वर्गीय लक्ष्मण अमरजी भट्ट का समश्लोकी हिन्दी अनुवाद और उन्हीं के पोते भंवरलाल भट्ट 'मधुप' का हिन्दी अनुवाद या टीका भी प्रकाशित है। पूज्य उपाध्याय विद्यानन्द जी की प्रेरणा से प्रकाशित यह संस्करण अवश्य ही बहुत उपयोगी और महत्त्व का है। समश्लोकी अनुवाद और टीका जैनेतर विद्वानों की रचना है। इसे प्रकाश में लाना अवश्य ही निर्वाण समिति का एक उल्लेखनीय व उत्तम कार्य है। समश्लोकी अनुवाद सम्वत् १९८६ में लक्ष्मण भट्टजी ने किया। वास्तव मे यह बहुत कठिन कार्य है और हिन्दी टीका द्वारा यह ग्रन्थ सब के समझने योग्य हो गया है। पर मालूम होता है कि लेखक, प्रकाशक आदि को यह जानकारी नहीं थी कि इससे पहले भी इस काव्य का एक अच्छा संस्करण, संस्कृत टीका और हिन्दी पद्यानुवाद के साथ, करीब ३० वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है। इसलिए इस लेख मे आवश्यक जानकारी दी जा रही है।

विक्रम कवि का नेमिदूत काफी वर्ष पहले काव्य माला के द्वितीय गुच्छक मे सर्व प्रथम प्रकाशित हुआ था। स्वर्गीय पंडित उदयलालजी कासलीवाल ने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया और वह भी प्रकाशित हो चुका है। सन् १९१६ मे, अर्थात् ६० वर्ष पहले स्वर्गीय नाथूरामजी प्रेमी ने जैन हितैषी पत्रिका में 'विक्रम का नेमि चरित्र' लेख प्रकाशित किया था जो उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ मे सुलभ है। उन्होंने विक्रम कवि को दिगम्बर आम्नाय का श्रावक व १४ वी शताब्दी का अनुमानित किया था। वैसे उन्होंने स्वयं लिख दिया था कि "यों काव्य के विषय से तो कवि श्वेताम्बर या दिगम्बर किस सम्प्रदाय का था, इसका कुछ पता नही चलता, क्योंकि काव्य मे जो कुछ कहा गया है वह सम्प्रदाय की सीमा से बाहर है।" प्रेमीजी ने खंभात के संवत् १३५८ के शिलालेख मे जो सागण का नाम आया है, उसे नेमिदूत के कर्त्ता विक्रम का पिता सागण मान लिया है। 'हुंकार वंश' को हूंबड़ और सिंहपुरवंश को नरसिंहपुरा मान लिया, पर ये तीनो ही बातें उनके अनुमान पर ही आधारित समझनी चाहिये, मेरी राय मे ये वास्तविक नहीं हैं। कवि ने तो अंतिमपद्य मे अपने को केवल सागण का पुत्र विक्रम ही बतलाया है। इससे अधिक जाति, स्थान या रचनाकाल का कोई उल्लेख नही किया।

नेमिदूत का एक उल्लेखनीय संस्करण विनयसागरजी ने संवत् २००४ में सम्पादित करके श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, जैन प्रेस, कोटा द्वारा संवत् २००५ में प्रकाशित करवाया था, जिसका मूल्य रु० १-५०

है। यह ग्रंथ कई वर्षों तक संस्कृत के पाठ्यक्रम में भी रहा है। इसके प्रारम्भिक 'दो शब्द' में विनयसागरजी ने तो कवि विक्रम को खंभात के रहने वाले १४ वीं शताब्दी के श्वेताम्बर खरतरगच्छाधीश जिनेश्वर सूरि के भक्त श्रावक थे, लिखा है। उन्होंने मुनि विद्याविजय जी के नेमिदूत पद्यानुवाद की प्रस्तावना मे कवि विक्रम को १२ वी सदी के कर्णावती के मन्त्री "सागण का पुत्र कहा है," इसका भी उल्लेख किया है परन्तु उल्लेखित नेमिदूत पद्यानुवाद और मुनि विद्याविजय जी का वक्तव्य मेरे देखने मे नही आया।

कोटा के उपरोक्त सस्करण मे डा० फतेसिंह लिखित 'नेमिदूत का काव्यत्व' और सवत् २००४ में लिखी हुई मेरी 'प्रस्तावना' प्रकाशित हुई थी। मैंने नेमिदूत की सस्कृत टीका की २ प्रतियाँ विनयसागरजी को भेजी थीं और टीकाकार गुणविनय के सम्बन्ध मे प्रस्तावना में विशेष प्रकाश डाला था। इस संस्करण मे गुणविनय की अज्ञात टीका सर्व प्रथम प्रकाशित हुई, जोकि सवत १६४४ मे बीकानेर मे रची गई थी। इस सस्करण की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमे भैसरोड गढ (मेवाड) के महाराज श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरंजन' का किया हुआ नेमिदूत का हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रकाशित हुआ था। यह पद्यानुवाद समश्लोकी तो नही, पर महत्त्वपूर्ण है। चूडावत वंश के ठाकुर एक जैनेतर कवि हिम्मतसिंहजी ने नेमिदूत का पद्यानुवाद करके अवश्य ही एक उल्लेखनीय काय किया है। इस पद्यानुवाद का पहला और अन्तिम पद्य पाठकों की जानकारी के लिए नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

'जीवत्राण मे दत्तचित्त हो, बन्धुवर्ग परिजन भव-भोग।
उग्रसेन तनुजा को भी तज, लिया उन्होंने विचल योग॥
श्री मन्नेमिनाथ प्रभो वह, मोक्ष मार्ग मे करके प्रेम।
छायावाले रम्य रामगिरी, पर जा रहे धार दृढ़ नेम॥"

अन्तिम पद्य

'मेदपाट भू के अन्तर्गत, दुर्ग एक अत्यन्त ललाम।
चर्मणवती नदी-तट गिरि पर भैसरोडगढ़ जिसका नाम।
किया यहाँ पर 'हिम्मत' ने यह सस्कृत से भाषा अनुवाद।
काव्य रसिक पढ करके इसका लेवें काव्य कला का स्वाद॥

प्रस्तुत पद्यानुवाद के पद्यानुवाद कवि ठाकुर हिम्मतसिंहजी ने महिषासुर वध और शनिश्चर कथा नामक २ और काव्य भी लिखे हैं, अर्थात् ये अच्छे कवि थे।

विनयसागरजी को नेमिदूत की प्राचीनतम प्रति संवत् १४७२ और १५१६ की प्राप्त हुई थी। उन्होंने तीन मूल प्रतियो और २ टीका की प्रतियों के आधार से उपरोक्त संस्करण का सम्पादन किया था। संस्कृत टीका और हिन्दी पद्यानुवाद के साथ-साथ उन्होने काव्य की अकारादि पद्यानुक्रमणिका भी दे दी थी। इस तरह यह सस्करण काफी उपयोगी बन गया था, पर हिन्दी टीका या गद्य मे अर्थ इस संस्करण मे नही छपा था जोकि इन्दौर वाले संस्करण में छपा है। उदयलाल कासलीवाल ने जो इसका हिन्दी अनुवाद किया था, वह अब प्राप्त नहीं है। इन्दौर वाले सस्करण मे पहले समश्लोकी अनुवाद, उसके बाद उसकी हिन्दी टीका (१-१ पद्य के नीचे) छपी है और अन्त मे मूल सस्कृत काव्य छपा है। समश्लोकी पद्यानुवाद मे चौथा चरण नेमिदूत वाला सस्कृत मे ही ज्यो का त्यो रख दिया है, अर्थात् उसका हिन्दीकरण नही किया गया। मेरी राय मे, उसका भी हिन्दी पद्यानुवाद कर दिया जाता तो अच्छा होता, अन्यथा हिन्दी टीका के बिना उन पक्तियो को समझना हिन्दी पाठकों के लिए कठिन ही होता।

इन्दौर वाले नये संस्करण के प्रकाशकीय मे श्री बाबूलालजी पाटोदी ने, जो प्रकाशन समिति के मन्त्री है, कवि विक्रम के आगे 'मुनिवर' और 'मुनिश्री' विशेषण लगा दिए है और हिन्दी टीकाकार भंवरलाल भट्ट ने भी कवि को जैन मुनि लिख दिया है, वह ठीक नहीं है। वास्तव मे कवि विक्रम मुनि नही थे, विद्वान् श्रावक ही थे। उन्होने स्पष्ट रूप से अपने को सांगण का पुत्र ही लिखा है। अतः उसे मुनि बतलाना भ्रमोत्पादक है।

पूज्य उपाध्याय विद्यानन्दजी की प्रेरणा से स्थापित इन्दौर की श्रीवीर-निर्वाण-ग्रथ प्रकाशन समिति ने वास्तव मे बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसके सभी प्रकाशन सुन्दर एव उपयोगी है। विशेषतः वीरेन्द्रकुमार जैन का महाकाव्यात्मक उपन्यास 'अनुत्तरयोगी तीर्थंकर महावीर' (तीन खण्ड) जैसा अद्वितीय ग्रथ प्रकाशित करके समिति ने एक कीर्तिमान् स्थापित कर दिया है। २५०० वें वीर निर्वाण महोत्सव की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जायेगी। □ □ □

नाहटा भवन, बीकानेर (राज०)

जैन साहित्य और शिल्प में रामकथा

□ श्री मारुतिनन्दन तिवारी

मर्यादा पुरुषोत्तम राम प्राचीन काल से ही हिन्दू देवसमूह के लोकप्रिय देवता रहे हैं। हिन्दू देवकुल के अतिरिक्त राम को जैन एवं बौद्ध देवकुलो मे भी विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की विस्तृत विवेचना करने वाली वाल्मीकि की रामायण सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के इतिहास मे सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रही है। परवर्ती युगो मे भी रामकथा से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गए। महाभारत और पुराणो के अतिरिक्त भास, कालिदास, भवभूति और राजशेखर जैसे रचनाकारो ने भी अपने ग्रन्थो मे रामकथा के प्रेरक प्रसंगो के उद्धरण दिए है। अद्‌भुतरामायण, अध्यात्म-रामायण और आनन्दरामायण जैसे ग्रंथ सीधे रामकथा से सम्बन्धित है। विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं मे भी रामयण की रचना की गई थी, जिनमे तुलसीकृत रामचरितमानस सर्व प्रमुख है। हिन्दुओ के अतिरिक्त बौद्धो एवं जैनो ने भी रामकथा सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की थी। बौद्ध ग्रथ दशरथजातक मूलतः रामकथा से ही सम्बन्धित है।

कृष्ण, गणेश, लक्ष्मी एवं सरस्वती जैसे हिन्दू देवताओं के समान ही राम को भी हिन्दू देवकुल से जैन देवकुल मे ग्रहण किया गया है। जैन ग्रथों मे राम और कृष्ण को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की गई थी। इसकी पुष्टि उक्त देवों पर स्वतन्त्र जैन ग्रन्थो की रचना से होती है। उत्तराध्ययन-सूत्र, अंतगडदसाओं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और हरिवंशपुराण जैसे जैन ग्रंथ कृष्ण के जीवनचरित्र के विस्तृत निरूपण से सम्बन्धित है। राम-लक्ष्मण और कृष्ण-बलदेव के प्रति प्रारम्भ से ही जनमानस का पूज्य-भाव रहा है और इन्हें अवतारपुरुष स्वीकार किया गया है। जैनों ने धार्मिक लोकमान्यताओं के सम्मान की दृष्टि ही उक्त देवों को अपनी परम्परा में सम्मिलित किया है। यही नही, जैन ग्रन्थों में रावण और जरासंध जैसे अत्याचारी व्यक्तित्वों को भी सम्मानित स्थान प्रदान किया गया था। इन अनार्य शासको को अपने देवकुल में सम्मिलित कर जैनो ने सम्भवतः अनार्य जातियों की भावनाओं की रक्षा की थी। रामकथा के तीन प्रमुख चरित्रों राम, लक्ष्मण और रावण को जैन देवकुल के तिरसठ शलाकापुरुषो की सूची मे सम्मिलित किया गया है। राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव रहे है।

रामकथा से सम्बन्धित जैन ग्रथो की रचना तीसरी शती ई० से निरन्तर सोलहवी शती ई० तक होती रही है। रामकथा के निरूपण से सम्बन्धित कुछ प्रमुख जैन ग्रंथ विमलसूरिकृत पउमचरिय (तीसरी शती ई०), संघदासकृत वसुदेवहिंडी (६०६ ई०), रविषेणकृत पद्मपुराण (६७८ ई०), स्वयंभूकृत पउमचरिउ (आठवी शती ई०), शीलांकाचार्यकृत चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (८६८ ई०), गुणभद्रकृत उत्तरपुराण (नवी शती ई०), पुष्पदन्तकृत महापुराण (९६५ ई०), भद्रेश्वरकृत कहावली (ग्यारहवी शती ई०), हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र (बारहवी शती ई०) एवं देवविजयगणिकृत राम-चरित (१५९६ ई०) रहे है। स्पष्ट है कि विमलसूरिकृत पउमचरिय ही रामकथा से सम्बन्धित प्राचीनतम जैन कृति है। जैन परम्परा मे निरूपित रामकथा की कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी शासक दशरथ के राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नाम के चार पुत्र थे। राम का विवाह विदेह के शासक जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ था। लंका के शासक रावण ने सीता के सौन्दर्य के वशीभूत होकर उसका अपहरण किया। इससे राम अत्यन्त दुःखी हुए। सीता की खोज के कार्य के अन्तर्गत ही राम-लक्ष्मण की भेंट वानरराज सुग्रीव से हुई। राम-

लक्ष्मण ने किष्किन्धा के राज्य को प्राप्त करने में सुग्रीव की सहायता की। बाद में सुग्रीव की सेना के साथ ही राम-लक्ष्मण ने लंका की ओर प्रस्थान किया। रावण के अनुज विभीषण ने रावण को अपहृत सीता ससम्मान राम को लौटा देने का परामर्श दिया, जिसे रावण ने अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप सीता की मुक्ति के लिए राम को रावण मे युद्ध करना पड़ा। राम और रावण की सेनाओं के मध्य हुए भयंकर युद्ध में रावण की मृत्यु हुई। अन्ततः राम ने सीता को प्राप्त किया और लंका के सिंहासन पर विभीषण को प्रतिष्ठित किया।

लंकाविजय के पश्चात् राम और लक्ष्मण सीता के साथ अयोध्या लौट आए। जैन परम्परा के अनुसार, राम की ८००० रानियाँ थी जिनमें सीता और तीन अन्य प्रमुख थी। लक्ष्मण की १६००० रानियाँ थी, जिनमे पृथ्वीसुन्दरी प्रमुख थी। स्मरणीय है कि हिन्दू परम्परा मे राम और लक्ष्मण दोनों को एकपत्नीक बताया गया है। जैन परम्परा के अनुसार, लक्ष्मण की मृत्यु के बाद राम साधु हो गए। सतत साधना के पश्चात् राम को केवलज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति हुई। जैन तीर्थकरो (या जिनों) द्वारा उद्बोधित मार्ग का अनुसरण न करने के कारण ही मृत्यु के बाद लक्ष्मण को नरक मे जाना पड़ा। शास्त्रविरुद्ध कार्यों को करने के कारण रावण भी नरक मे उत्पन्न हुआ। जैन आर्यिका का जीवन व्यतीत कर सीता ने मोक्ष प्राप्त किया।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कुछ बातों के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से जैन परम्परा की रामकथा हिन्दू परम्परा पर ही आधृत है। राम और लक्ष्मण की अनेक पत्नियों, लक्ष्मण द्वारा रावण के वध, राम द्वारा जिन-मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्त करने जैसे उल्लेख स्पष्टत हिन्दू परम्परा से भिन्न है। जैन परम्परा मे रावण को दशमुखी राक्षस के स्थान पर विद्याधरवंशी शासक बताया गया है जो मनुष्य था। ग्रीवा के हार की नौ मणियो में पड़ने वाले प्रतिबिंबों के कारण ही उसे दशानन बताया गया है।

जैन ग्रन्थों में रामायण का निरूपण जहाँ अत्यन्त लोकप्रिय विषय रहा है, वहीं मूर्त अंकनों में रामकथा या राम के स्वतंत्र चित्रणों के उदाहण अत्यन्त सीमित हैं। किसी श्वेताम्बर स्थल से राम के मूर्त अंकन के उदाहरण नहीं प्राप्त होते है। राम के मूर्त चित्रणों के उदाहरण केवल खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर से ही प्राप्त होते हैं। चन्देल शासकों के काल में निर्मित ९५४ ई० का यह पार्श्वनाथ मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। मन्दिर के मण्डप की उत्तरी भित्ति पर राम-सीता की मूर्ति उत्कीर्ण है। त्रिभंग मुद्रा में अवस्थित राम-सीता के पार्श्व मे कपिमुख हनुमान आमूर्तित है। चतुर्भुज राम की दो भुजाओ में लंबा शर है। ऊर्ध्व वाम भुजा से राम वाम पार्श्व में अवस्थित सीता का आलिगन कर रहे हैं, जिसमें उनकी उंगलियाँ सीता का स्तन स्पर्श करती हुई प्रदर्शित हैं। राम की निचली दाहिनी भुजा हनुमान के मस्तक पर आशीर्वाद देने की मुद्रा (पालित मुद्रा) मे है। किरीटमुकुट, कर्णफूल, चेन्नवीर, मेखला, वनमाला और धोती आदि से शोभित राम की पीठ पर तूणीर चित्रित है। द्विभुज सीता की वाम भुजा मे नीलोत्पल प्रदर्शित है, जब कि दक्षिण भुजा आलिगन की मुद्रा मे राम के कंधों पर स्थित है। सीता स्तनहार, अलकृत शिरोभूषा, धोती आदि से सुशोभित है। राम के दक्षिण पार्श्व की हनुमान आकृति कौपीन एवं अन्य आभूषणो से सज्जित है। हनुमान की एक भुजा राम की उंगलियों का स्पर्श करने की मुद्रा मे ऊपर उठी है।

उपर्युक्त चित्रण के अतिरिक्त पार्श्वनाथ मन्दिर के दक्षिणी शिखर के समीप रामकथा का एक दृश्य भी चित्रित है। दृश्य में रावण द्वारा अपहृत सीता को अशोकवाटिका में एक वृक्ष के नीचे आसीन दरशाया गया है। कपिमुख हनुमान क्लांतमुखी सीता को राम का सन्देश ओर मुद्रिका देने की मुद्रा में प्रदर्शित हैं। हनुमान खड्गधारी राक्षस आकृतियों से वेष्ठित है।

□□□

जैन कर्म-सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन

□ डा० राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दू संस्कृति का प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान है पुनर्जन्मवाद में आस्था। पुनर्जन्मवाद का मूल है कर्मवाद। हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत परिगणित होने वाली तीनों धाराएं—ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णावादि), जैन और बौद्ध कर्मवाद में आस्था रखती हैं। ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म के अन्तर्गत परिगणित होने वाला मीमांसा दर्शन तो 'कर्म' ही को सब कुछ मानता है—'कर्मेति मीमामकाः'। बौद्ध सृष्टिमत समस्त वैचित्र्य का मूल कर्म को स्वीकार करते है और जैन कर्म तथा जीवात्मा का अनादि सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। तीनों ही धाराओं मे सृष्टि का मूल 'कर्म' मानने वाले उपलब्ध है—मानवेतर किसी सर्वोपरि सत्ता 'ईश्वर' को अस्वीकार करते है। तीनों अनादि वासना, कषाय और तण्हा को कर्मबन्ध का मूल मानते है। तीनों ही इनका समुच्छेद स्वीकार करते है। इन तमाम समानताओं के बावजूद 'कर्म' के स्वरूप के सम्बन्ध मे जैनदर्शन की धारणा सर्वथा भिन्न है।

जैनेतर दर्शनों मे वैशेषिक दर्शन 'कर्म' को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उनकी दृष्टि मे, 'कर्म' वह है जो द्रव्य समवेत हो, जिसमे स्वयं कोई गुण न हो और जो संयोग तथा विभाग में करणान्तर की अपेक्षा न रखता हो। गुण की तरह यहाँ कर्म भी द्रव्याश्रित धर्म विशेष है। गुण द्रव्यगत सिद्ध धर्म का नाम है जबकि क्रिया 'साध्य' है। कर्म मूर्त द्रव्यो में ही रहता है और मूर्त द्रव्य वे होते है जो अल्प परिमाण वाले होते है। वैशेषिको के यहां आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा विभु या व्यापक है—अतः इनमें कर्म नही होता। पृथ्वी, जल, वायु, तेज तथा मन इन्ही मूर्त पाच द्रव्यों में कर्म की वृत्ति रहती है। यह कर्म पांच प्रकार का है—उत्प्रेक्षण, आकुचन, प्रसारण तथा गमन। अन्य सर्वाविध क्रियाओं का अन्तर्भाव 'गमन' में ही हो जाता है। यहां कभी-कभी क्रिया और कर्म पर्याय रूप में भी समझे जाते हैं, कभी-कभी क्रिया आत्मा के द्वारा प्राप्य 'कर्म' कहा जाता है। पाणिनी ने 'कर्म', जो कर्त्ता की क्रिया से ईप्सिततम रूप में प्राप्त होता है—उसे कहा है। विवेकशील मानव के सन्दर्भ में मीमांसा दर्शन ने 'कर्म' के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेध्य रूपों पर पर्याप्त विचार किया है। मानव के ही सन्दर्भ में प्रारब्ध, सचित और क्रियमाण कर्मचक्र का विचार उपलब्ध होता है। गीता में 'कर्म' शब्द का विशिष्ट और सामान्य, संदर्भ-सापेक्ष तथा संदर्भ-निरपेक्ष अनेक रूपो मे प्रयोग मिलता है। शांकर अद्वैत-वेदात की दृष्टि से, 'गीताकार' के 'भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसमितः' की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक ने जो कुछ कहा है, उसका आशय यह है कि निःस्पंद ब्रह्म मे मायोपाधिक आद्यस्पंद या हलचल ही 'कर्म' है। इस प्रकार, सारी सृष्टि ही गत्यात्मक होने से क्रियात्मक या कर्मात्मक है। स्थिति तो केवल ब्रह्म है। 'स्थिति' के वक्ष पर ही 'गति' है—हलचल है—बनना-बिगड़ना है—संसार है। वैशेषिक दर्शन का कर्म भी वही है—वैसे उसे माया अथवा मायोपाधिक स्पद का पता नही है। जैन दर्शन भी जब कायवाङ्मना कर्म को योग' कहता है, तब वह काय, वाक् तथा मन प्रदेश मे होने वाले आत्मपरिस्पंद को ही क्रिया या योग कहता है। यहां योग, क्रिया तथा कर्म को सामान्यतः पर्याय रूप मे लिया गया है—वैसे अन्यत्र 'कर्म' का स्वरूप सर्वथा भिन्न रूप में कहा गया है।

जैन दर्शन मे 'कर्म' के स्वरूप पर विचार करते हुए यह माना गया है कि कर्म और जीवात्मा का अनादि सम्बन्ध है। कर्म ही के कारण जीव व शरीर एक साथ होता है यानी जीव एवं शरीर होता है। कर्मों के ही कारण जीव में कषाय आती है और कषाय के ही कारण कर्म के योग्य पुद्गलों का आत्मा में उपश्लेष होता है।

इस प्रकार जो पौद्गलिक, मूर्त तथा द्रव्यात्मक है—भौतिक है—वह आयतन घेरता है। जिस प्रकार पात्र विशेष में फल-फूल तथा पत्रादि का मदिरात्मक परिणाम विशेष होता है, उसी प्रकार आत्मा में एकत्रयोग, कषाय तथा योग्य पुद्गलों का भी जो परिणाम होता है—वही 'कर्म' है। कषायवश काय, वाक्, मनःप्रदेश मे आत्मपरिस्पंद होता है और इसी परिस्पदवश योग्य पुद्गल खिच आते है। इस प्रकार कर्म से आत्मा का बन्ध या सम्बन्ध होता है और सम्बन्ध होने से विकृति या गुण प्रच्युति होती है। प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि का कहना है कि आत्मा द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते है। उस क्रिया के निमित्त से परिणाम विशेष को प्राप्त होने वाले पुद्गल को भी कर्म कहा जाता है। जिन भावो के द्वारा पुद्गल आकृष्ट होकर जीव मे सम्बद्ध होते है—वे भाव कर्म कहलाते है और आत्मा मे विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गलपिंड को द्रव्य कर्म कहा जाता है। पचाध्यायी मे तो यह भी बताया गया है कि आत्मा मे एक वैभाविक शक्ति है जो पुद्गलपुंज के निमित्त को या आत्मा मे विकृति उत्पन्न करती है। यह विकृति कर्म और आत्मा के संबध से उत्पन्न होने वाली एक अन्य ही आगन्तुक अवस्था है। इस प्रकार, आत्मा शरीर रूपी कावड मे कर्म रूपी भाग को निरन्तर वहन करता रहता है। इसी से राहत पाना है, आत्मा को निरावृत करना है।

आत्मा से कर्म का सम्बन्ध 'बन्ध' का कारण बनता है। यह कर्म या तन्मूलक बन्ध चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभव या अनुभाग और प्रदेश। कर्म या बन्ध का स्वभाव ही है—आत्म की स्वभावगत विशेषताओ का आवरण करना। 'स्थिति' का अर्थ है—अपने स्वभाव से अच्युति। स्वभाव का तारतम्य अनुभव है और 'इयत्ता' प्रदेश। स्वभाव की दृष्टि से 'कर्म' आठ प्रकार के कहे गये हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय को घातिया कर्म कहते है, क्योंकि ये आत्मगुण-ज्ञान, दर्शनादि का घात करते है। अवशिष्ट चार अघातिया है। जीवनमुक्त के शरीर से ये सम्बद्ध रहकर भी उसके आत्मगत गुणों का घात नही करते। हां, विदेहमुक्त-सिद्ध' में घातिया 'अघातिया कर्मों की स्थिति नहीं रहती। जैन कर्म सिद्धान्त में इन कर्म भेदों का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है। लेकिन सामान्य से समझने के लिये कर्म के १४८ भेद हैं। ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस. आयु के चार, नाम के बयालीस, गोत्र के दो तथा अन्तराय के चार भेद हैं। फिर इनके अवान्तर भेद हैं।

इस कर्मबन्ध का जिस प्रकार ब्राह्मणदर्शनों या बौद्ध दर्शन में 'चक्र' मिलता है—वह कर्मचक्र यहां भी आचार्यो ने निरूपित किया है। ब्राह्मण दर्शनों मे माना गया है कि कर्म अपने सूक्ष्म रूप में जो संस्कार (अदृष्ट या अपूर्व रूप मे) छोड़ते है—वे 'सचित' होते जाते हैं। इस 'संचित' भण्डार का जो अंश फलदान के लिये उन्मुख हो जाता है—वह 'आरब्ध या प्रारब्ध' कहा जाता है और जो तदर्थ उन्मुख नही है—वह 'अनारब्ध' या 'सचित' कहा जाता है। किया जा रहा कर्म 'क्रियमाण' है। इस प्रकार 'क्रियमाण' से 'संचित' और 'संचित' से 'प्रारब्ध' और फिर 'प्रारब्ध' योग के रूप में क्रियमाण' कर्म और फिर इससे आगे-आगे का चक्र चलता रहता है। बौद्ध दर्शन में उसे 'अविज्ञप्ति कर्म' कहते हैं, जिसे ऊपर वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'अदृष्ट' तथा मीमासा दर्शन के अनुसार 'अपूर्व' कहा गया है। साख्य कर्मजन्य सूक्ष्म बात को 'संस्कार' नाम से जानता है। अविज्ञप्तिकर्म का ही स्थूल रूप 'विज्ञप्ति कर्म' है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन मे धर्म, चित्त और चैतसिक सूक्ष्म तत्त्व है जिनके घात-प्रतिघात से समस्त जगत् उत्पन्न होता है। एक अन्य दृष्टि से इन्हे 'संस्कृत' और 'असंस्कृत'—दो भेदों में विभक्त किया जाता है। इन्हे 'सास्रव' और 'अनास्रव' नाम से भी जाना जाता है। संस्कृत धर्म हेतु प्रत्ययजन्य होते हैं। इसके भी चार भेदो में दो मे से एक है—रूप। रूप के ग्यारह भेद हैं—पाँच इन्द्रिय और पाँच विषय तथा एक अविज्ञप्ति। चेतना जन्य जिन कर्मों का फल सद्यः प्रकट होता है—उन्हें 'विज्ञति' कर्म कहते हैं और जिनका कालान्तर में प्रकट होता है—उन्हें 'अविज्ञप्ति' कहते हैं। इन्हे 'संचित' 'प्रारब्ध' के समानान्तर रख कर परख सकते है। सामान्यतः यह विवेचन वैभाषिक बौद्धों के अनुसार है।

(शेष पृ० ४८ पर)

सोलंकी-काल के जैन मन्दिरों में जैनेतर चित्रण

□ डा० हरिहर सिंह

गुजरात में ११वी से १३वी सदी तक सोलंकी राजाओं का प्रभुत्व था। इस काल मे गुजरात एक शक्तिशाली राज्य बना। इसकी राजनैतिक सीमाओं का विस्तार तो हुआ ही, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र मे भी काफी उन्नति हुई। इस काल मे यहाँ श्वेताम्बर जैनधर्म का बोलबाला था। कलिकाल सर्वज्ञ आ० हेमचन्द्र के प्रभाव से कुमारपाल जैसे प्रतापी राजा ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया और परमार्हत् विरुद से अभिहित हुआ। गुजरात के अधिकाश सुन्दर एव विशाल जैन मन्दिर इसी काल मे निर्मित हुए। तत्कालीन सभी जैन मन्दिर श्वेताम्बर है। ये कला एवं स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने है। आबू (सम्प्रति सिरोही, राजस्थान) और कुभारिया (बनासकाठा, गुजरात) के जैन मन्दिर तो न केवल गुजरात प्रत्युत सम्पूर्ण भारत की शान है।

विन्यास की दृष्टि से जैन मन्दिर सामान्यतया समसामयिक हिन्दू मन्दिरो से साम्य रखते है, तथापि जैन मन्दिरों की कुछ अपनी विशेषताए हैं जैसे गूढमण्डप और रंगमण्डप के बीच मे त्रिकमण्डप का निर्माण, मन्दिर के चारो ओर देवकुलिकाएं, मन्दिर के सामने बलानक की सरचना इत्यादि। उनके अलंकरण मे भी थोडी भिन्नता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैनधर्म का अपना देवकुल है। अत. मन्दिर की साज-सज्जा में जैन-मूर्तियो एवं प्रतीकों का ही भरपूर उपयोग किया गया है। परन्तु जैन देवकुल में सभी देवता जैन ही हों ऐसी बात नही है। अष्टदिक्पाल, गणेश इत्यादि हिन्दू देवताओ को जैन देवकुल में ज्यो का त्यों आत्मसात् कर लिया गया है। जैन मन्दिरों में कुछ ऐसे भी चित्रण है जो निश्चित रूप से हिन्दू ही है जिन्हे प्रायः मन्दिर के भूषण स्वरूप ही स्वीकार किया गया है। ऐसे चित्रण कुम्भारिया के शांतिनाथ-मन्दिर में और आबू के आदिनाथ-मन्दिर (विमलवसही) में सुरक्षित हैं।

कुम्भारिया स्थित शांतिनाथ-मन्दिर (१०८१ ई०) के गर्भगृह द्वार तथा उत्तरी मुखचतुष्की द्वार पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ प्रदर्शित है। चारों मूर्तियाँ त्रिभंग मुद्रा में खडी है। इनके एक हाथ मे जलपात्र और दूसरा कट्यवलंबित है। पहचान के लिए इनके वाहन भी अंकित है अर्थात् गगा के साथ मकर और यमुना के साथ कूर्म। तत्कालीन हिन्दू मन्दिरो मे भी ये इसी प्रकार प्रदर्शित है, परन्तु गुजरात के अन्य किसी भी जैन मन्दिर की द्वारशाखाओ पर इनकी मूर्तियाँ नहीं है यद्यपि मध्यभारत (खजुराहो आदि) के जैन मन्दिरो मे इन्हे यथोचित स्थान प्राप्त है। गुजरात के अन्य जैन मन्दिरों में इनके स्थान पर प्रायः जलपात्र धारण की हुई नारी को आमूर्तित किया गया है। जैनधर्म मे नदी-पूजा का कोई महत्व नहीं है और सम्भवत. इसीलिए अन्य जैन मन्दिरो मे इन्हे प्रदर्शित नही किया गया है। प्रस्तुत जैन मन्दिर मे इन नदी-देवियो का अंकन आकस्मिक ही है। सम्भवतः कलाकार हिन्दू धर्मावलम्बी था और उसने अपने धर्म का उद्घाटित करने के लिए जलपात्र धारण की हुई नारियो के साथ देवियो के वाहन अंकित कर उन्हे गंगा-यमुना का रूप दे दिया। यह भी सम्भव है कि सूत्रधार ने भूल से इन्हे यहाँ प्रदर्शित किया हो।

आबू के आदिनाथ-मन्दिर मे देवकुलिकाओं के सामने निर्मित पट्टशालिका (भमती या भ्रमन्तिका) के तीन वितानों मे हिन्दू चित्रण है। देवकुलिका संख्या ११ में जैन विद्यादेवी रोहिणी के तीन ओर गणेश, वीरभद्र और भैरव के साथ मातृकाओं की मूर्तियां प्रदर्शित की गई है। सभी मूर्तियां चार भुजावाली है और ललितासन मुद्रा में आसीन है। प्रत्येक को उसके वाहन एवं आयुधों के साथ उत्कीर्ण किया गया है। इनमे वैष्णवी, चामुण्डा और माहेश्वरी की पहचान स्पष्ट है। जैन देवकुल में सप्तमातृकाएं नही है, अतएव इनके हिन्दू होने में किंचित् भी संदेह नही है।

देवकुलिका संख्या २६ में कालीय नाग-पाश का दृश्य चित्रित है। संपूर्ण दृश्य को तीन भागों में दर्शाया गया है। वर्गाकार मध्यभाग में वृत्त में कृष्ण द्वारा कालीय के बाँधने का चित्रण है। कालीय तीन फणों से युक्त है, उसका ऊपरी भाग मानवाकार तथा निचला नाग जैसा है। उसे अनेक गिरहों में समूचे वृत्त मे रखा गया है। कृष्ण उसके कंधे पर सवार होकर एक हाथ से उसे नाथ रहे है तथा दूसरे मे चक्र धारण किये हुए हैं। कालीय शांतमुद्रा में दोनों हाथ जोडे हुए है जो उसकी पराजय का द्योतक है। इसी दृश्य मे हाथ जोडे हुए नाग नागिनियों का भी चित्रण है। आयताकार पार्श्व भागों मे एक ओर कृष्ण अन्य खिलाडियों के साथ कन्दुक खेल रहे है तथा दूसरी ओर कृष्ण (विष्णु के अवतार) शेषनाग पर शयन कर रहे है, लक्ष्मी चंवर डुला रही है और एक गण उनके पैर का मर्दन कर रहा है। इसी दृश्य मे कृष्ण-चाणूर का द्वन्द्व भी प्रदर्शित है। हालांकि कालीय पाश की कथा जैन पुराणो मे काफी मशहूर है परन्तु प्रस्तुत दृश्य हिन्दू कथा की ही अनुकृति है, क्योंकि कृष्ण के शेषशायी होने तथा कन्दुक खेलने की कथा केवल हिन्दू पुराणों मे ही है।

देवकुलिका संख्या ४६ मे नृसिहावतार का चित्रण है। नृसिह भगवान् का ऊपरी भाग सिंह जैसा और निचला मानवाकार है। उनकी सोलह भुजाए है। विभिन्न आयुधों से युक्त वह दैत्यराज हिरण्यकश्यप को अपने दोनों पैरों के बीच दबाकर उसके पेट को पैने नाखून से फाड़ रहे हैं। खड्ग एवं ढाल धारण किये हुए दैत्यराज बिलकुल बेबस मालूम पड़ता है। सम्पूर्ण चित्रण सोलह पंखड़ियों वाले गोल पद्म के बीच प्रदर्शित है। यद्यपि मूर्ति एक समतल शिलाखण्ड पर बनाई गई है, तथापि उसमें पर्याप्त उभार है और कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु दैत्यराज के मुख से उसके भयभीत होने का कोई चिन्ह नही दिखता। इसे मूर्तिकार की कमजोरी ही कह सकते है। यह चित्रण हिन्दू ही है, क्योंकि हिन्दू पुराणों ने नृसिह को विष्णु का अवतार कहा है।

विमलवसही के उपर्युक्त दोनों वैष्णव चित्रण (कालियादमन व नृसिहावतार) भ्रमंतिका के प्रमुख आकर्षण है। जहां सब कुछ जैन हो वहां इस प्रकार के चित्रणो को कैसे स्थान मिला, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सभवत: कलाकार वैष्णव धर्मावलम्बी था। जहां उसने सैकड़ो जैन चित्रण प्रदर्शित किये वहां उसे कुछ-एक वैष्णव चित्रण उत्कीर्ण करने में किंचित् भी हिचकिचाहट नहीं हुई। मन्दिर के सरक्षक ने भी इसका विरोध न कर समर्थन ही किया होगा, क्योंकि इससे न केवल मन्दिर के गौरव में ही अपितु जैनेतर लोगों को आकर्षित करने में भी सहायता मिली होगी।

□□□

(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

महर्षि कुन्दकुन्द ने 'पचास्तिकाय' मे जैन चिन्तनधारा के अनुरूप 'कर्मचक्र' को स्पष्ट किया है। मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—सभी बन्ध के कारण हैं। यह तो माना ही गया है कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है, अर्थात् जीव अनादि काल से संसारी है और जो संसारी है वह राग, द्वेष आदि भावों को पैदा करता है, जिनके कारण कर्म आते है। कर्म से जन्म लेना पड़ता है, जन्म लेने वाले को शरीर ग्रहण करना पड़ता है। शरीर से इन्द्रिया होती है। इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के कारण राग-द्वेष होते है और फिर रागद्वेष से पौद्गलिक कर्मों का आकर्षण होता है। इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है।

इस कर्मचक्र से मुक्ति पाने के लिये तीनों ही धाराएं यत्नशील है। तदर्थ कही शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है और कही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का तथा कही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश है। कही परमेश्वर अनुग्रह या शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय का निर्देश है। इस प्रकार, विभिन्न मार्गों से हिन्दू संस्कृति की विभिन्न धाराओं में कर्मचक्र से मुक्ति पाने और स्वरूपोपलब्धि तक पहुंचने का क्रम निर्दिष्ट हुआ है। जैन-दर्शन तो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र को सम्मिलित रूप से मोक्ष मार्ग मानता है। □□□

अधिष्ठाता, कला संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

श्रावस्ती का जैन राजा सुहलदेव

□ श्री गणेशप्रसाद जैन

राजा सुहलदेव श्रावस्ती का राजा था। मुस्लिम इतिहासकारों ने राजा सुहलदेव का समय १०२३ ई० लिखा है। मीराते-मसऊदी (फारसी तवारीख) में चिश्ती साहब ने लिखा है : "निजद दरियाय-कुटिला (टेढ़ी) जेर दरख्ता गुलचिकाँ व जर्बनावक हमचू भी जान शहीद सु दन्द।" अर्थात् कुटिला नदी के किनारे महुए के पेड़ के नीचे एक तीक्ष्ण बाण की मार से सैयद सालार मसऊद मारा गया। एक भी मुस्लिम सैनिक जिन्दा नहीं बचा।"

चिश्ती साहब आगे लिखते हैं : "मसऊद (गाजीमियां) अपनी भारी भरकम शाही सेना के साथ १७वी शावान ४२३ हिजरी (सन् १०३३ ई०) को बहराइच पहुँचा। कोसल (कौड़ियाल) के निकट उसमें और हिन्दू सेना मे युद्ध छिड़ा। हिन्दू-सेना पराजित हो रही थी, तभी राजा 'सुहलदेव' भूकंप की तरह हिन्दू-सेना के बीच आ धमके। उन्होने युद्ध की कमान सम्हाली और मुस्लिम-वाहिनी मे मार-काट करते हुए घुस गए। भुट्टे की तरह मुस्लिम सैनिकों का सर काट रहे थे। हिन्दू सेना के उखड़े पाँव जम गए। उन्होने उत्साहपूर्वक युद्ध किया। मुस्लिम-वाहिनी मैदान छोड़कर भागी। राजा सुहलदेव और उनकी सेना मुगलवाहिनी को खदेड़ती-खदेड़ती बहराइच मे उसके पड़ाव तक लाई। वहाँ पुनः गहरा युद्ध हुआ। युद्ध में मसऊद के साथ उसकी सेना का प्रत्येक मुगल सैनिक मारा गया। एक भी जीवित नही बचा। यह रज्जकुल मुरज्जव के १८वी हिजरी ४२४ (सन् १०३४ ई०) की घटना है। रणक्षेत्र बहराइच से केवल ८ मील की दूरी पर है।"

सैयद सालार मसऊद भारत सम्राट् (बादशाह) का सगा भानजा था। वह महान् योद्धा था। उस पर बादशाह की विशेष मेहरबानी थी। उपर्युक्त युद्ध के लिए बादशाह की विशिष्ट-मुगल-वाहिनी मसऊद की सिपहसालारी में आई थी। बड़े-बड़े सैनिक-योद्धा अपनी सेना सहित मदद मे शामिल थे। बहराइच का सैफुद्दीन, महोवा का हसन, गोपामऊ का अजीजुद्दीन, लखनऊ का मलिक आदम, कड़े मानिकपुर का मलिक फंज, मसऊद के सगे मामा रजबहठीले, सैयद इब्राहिम, सिकन्दर बरहना आदि सभी अपनी पूरी ताकत से युद्ध जीतने की कोशिश कर रहे थे। किन्तु राजा सुहलदेव के जोश-खरोश के सामने कोई टिक न सका।

सालार-मसऊद हिन्दुओं से युद्ध के समय हमेशा युद्ध के नियमों के खिलाफ काम करके युद्ध जीतता था। वह हिन्दू सेना के समक्ष हरावल (गायों का बेडा) खडा कर देता। हिन्दू सैनिक गाय पर शस्त्र-प्रयोग नही करते थे और मुसलमान सैनिक हरावल के पीछे से हिन्दू सेना पर धुआँधार शस्त्र-प्रहार करते और विजयी होते। किन्तु राजा सुहलदेव ने बुद्धि का प्रयोग किया। उन्होने बिना भाले वाले बाणों की हलकी मार से गायो के हरावल को हटा दिया। अब मैदान साफ था और सीधा सामना था। मुस्लिम सैनिक रणक्षेत्र में युद्ध लड़ने के अभ्यासी नही थे। गायों के पीछे से शस्त्र का वार करने वाले सैनिकों को नेत्रों के सामने यमराज खड़े दिखने लगे।

राजा सुहलदेव के साथ जब सैयद सालार मसऊद का युद्ध हो रहा था, उसी समय वाराणसी में सुलतान महमद के पुत्र के नेतृत्व में (मसऊद रजब की १८ के लगभग) वाराणसी को ध्वस्त किया जा रहा था।

सुबुक्तगीन की तवारीख १०५६ ई० सन् की रचना है। उसमें इस युद्ध का वर्णन १०३४ ई० लिखा है। चिश्ती साहब की मीराते-मसऊदी वाली घटना तवारीखे महमूदी किताब से लेकर लिखी है। तवारीखेमहमूदी मुल्ला गजनवी का लिखा हुआ है। मुल्ला गजनवी इस युद्ध में सैयद सालार मसऊद की सेना के साथ था।

बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल मे 'फाइव हीरोज' शीर्षक से आर० ग्रीमेन का एक लेख प्रकाशित है,

जिसमें लिखा है कि मसऊद ने कौड़ियाल के मैदान में देशी राजाओं को पराजित किया था, किन्तु राजा सुहलदेव के आते ही युद्ध की स्थिति बदल गई। मसऊद 'रजब' की १८वीं तारीख सन् ४२४ हिजरी को अपने साथियों सहित मारा गया।

एशियाटिक सोसाइटी के सन् १९०० के जर्नल के प्रथम पृष्ठ पर मि० स्मिथ का लेख है। उसमें लिखा है कि राजा सुहलदेव 'भर-थारू' जाति अथवा 'डोम' जाति का था। वह सहेट-महेठ अथवा अशोकपुर का शासक था। सालार बहराइच मे राजा सुहलदेव के हाथों मारा गया। अशोकपुर में भी सुहलदेव और सालार से युद्ध हुआ था। राजा सुहलदेव जैन था।

जनरल कनिंघम ने सुहलदेव को गोंडा का 'थारू' राजा लिखा है। वंश परिचय में लिखा है कि उसका आदि-पुरुष मोरध्वज (सन् ९०० ई० मे) था। उसके बाद इस वंश में हंसध्वज (हंसधज) सन् ९२५ ई० मे, मकरध्वज (मकरधज) सन् ९४० ई० में और सुधन्वध्वज सन् ९७५ ई० मे तथा सुहृदलध्वज सन् १००० ई० में हुए है। उस समय नगरी का नाम चन्द्रिकापुरी था।

'आर्कियालाजिकल सर्वे' की रिपोर्ट मे लिखा है कि राजा सुहृदलध्वज वहाँ का अन्तिम जैन-राजा था। यह इतिहास में सुहिलदेव या सुदिलदेव एवं सुहिराल के नाम से विख्यात है। यह महमूद गजनी का समकालीन था और इसी सुहिलदेव का सालार मसऊद से युद्ध हुआ था।

अन्यत्र वर्णित है कि आठवी शताब्दी मे 'सुधन्वा' नाम का श्राबस्ती का राजा था। यह जैनधर्मी था। इस राजा के दरबार में स्वामी शंकराचार्य एवं जैन विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ था। शंकराचार्य विजयी हुए और सुधन्वा ने वैदिकधर्म स्वीकार कर लिया था। तभी से उसके वंशज वैदिकधर्म का पालन कर रहे हैं, किन्तु उनकी सहानुभूति अभी तक बराबर जैन धर्म के प्रति बनी हुई है। इसीलिये १२वीं शताब्दी तक भी जैन धर्म का ह्रास नहीं हुआ।

मंखकृत श्रीकण्ठचरित में राजा सुहलदेव के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मंख' के भ्राता अलंकार ने अपने यहां उच्चकोटि के साहित्यिकों की एक गोष्ठी आयोजित की थी। उस गोष्ठी में राजा सुहलदेव पधारे थे। (राजतरंगिणी ८.३३५४.२)। उस समय अलंकार विदेश-मन्त्री था। राजतरंगिणी में उसे सन्धि-विग्रहिक लिखा है। (श्रीकण्ठचरित, अ० २५)

अलंकार और मंख दोनो कश्मीर के दो राजाओं के समय उच्च पदाधिकारी थे। प्रथम राजा सुसाल था और दूसरा जयसिंह। सुसाल का समय १११२ ई० सन् से लेकर ११२८ ई० सन् तक और जयसिंह का ११२८ से ११४९ ई० सन् तक था। श्रीकण्ठचरित का रचनाकाल सन् ११३५ से ११४५ के मध्य माना जाता है। राजतरंगिणी का रचयिता कल्हण मंख और अलंकार का सम्बन्धी था।

बौद्धग्रन्थो में 'अनाथपिण्डद' नाम से श्रावस्ती के सबसे बड़े धनी सुदत्त सेठ का कथन है। उस सेठ ने १८ करोड स्वर्ण-मुद्राएँ देकर प्रसेनजित राजकुमार से जेतवन का बगीचा तथागत गौतम बुद्ध के लिए खरीदा था। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण सेठ 'सुदत्त' की उपाधि 'महत्त' प्रचारित हुई। सेठ सुदत्त का परिचय बौद्ध-ग्रन्थों मे 'सेट्ठि' उपाधि से है। इसी 'सेट्ठि' का अपभ्रंश 'सहेट' है और सेठ की उपाधि महत्त का 'महेट' प्रचलित हो गया है। अब 'श्रावस्ती' सहेट-महेट के नाम से जानी जाने लगी है।

राजा सुहलदेव ने 'गोंडा-फैजाबाद' मार्ग पर बसे आलोकपुर (हटीला) ग्राम में एक दुर्ग का निर्माण कराया था। उन्होंने इस दुर्ग के निकट भी दो बार मुस्लिम सेना को परास्त किया था। बहराइच जिले का 'चदरा का किला' भी राजा सुहलदेव द्वारा ही निर्मित है। (इण्डियन ऐंटीक्वेरी, पृ० ४६)। सैयद सालार मसऊद के साथ हुए युद्ध में राजा सुहलदेव के विजयी होने के पश्चात् केवल श्रावस्ती ही नही, अपितु पूरा अवध क्षेत्र ही निष्कण्टक हो गया था। राजा के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्रों आदि ने लगभग दो सौ वर्षों तक शान्ति और धर्मपूर्वक श्रावस्ती का शासन-सूत्र सम्हाला। ई० सन् १२२६ में शमसुद्दीन अल्तमश के ज्येष्ठ पुत्र मलिक ने अवध के इस अंचल को जीतकार अपने अधीन किया। तबकाने-नासिरी में यह

(शेष पृष्ठ ५३ पर)

राजस्थान में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाएं

□ डा० शिवकुमार नामदेव

मध्यकालीन राजस्थान में कला के विकास को विभिन्न राजा-महाराजाओं द्वारा समूचे रूप में प्रोत्साहित किया गया था। व्यक्तिगत ऐश्वर्य को चिरस्थायी रखने वाले शासक भवन-निर्माण एवं मन्दिर-निर्माण पर अत्यधिक ध्यान देते थे। राजस्थान के अत्यधिक भूभाग मे मध्य-कालीन जैन प्रतिमाएं स्वतन्त्र रूप से एवं मन्दिरों पर उत्कीर्ण मिलती है।

जोधपुर से उ० प० ५६ किलोमीटर की दूरी पर ओसिया नामक स्थान है। यह समृद्धिशाली नगर था, जहां ब्राह्मण एवं जैनों के लगभग २० मन्दिर निर्मित हुए थे। ओसिया का प्रमुख जैन मन्दिर भगवान् महावीर का है। इस मन्दिर का निर्माण आठवीं सदी के अन्तिम काल मे हुआ था तथा उसका पुनर्निर्माण दसवी सदी मे हुआ था। जोधपुर राज्य के इतिहास के प्रथम भाग मे ओसिया का विवरण देते हुए श्री गौरीशंकरजी ओझा ने लिखा है कि यहाँ एक जैन मन्दिर है जिसमें विशालकाय महावीर स्वामी की मूर्ति है। यह मन्दिर मूलतः सवत् ८३० (ई० ७७३) के लगभग प्रतिहार राजा वत्सराज के समय में बनाया गया है। मन्दिर की निकटवर्ती धर्मशाला का पाया खोदते समय श्री पार्श्वनाथ की एक धातु प्रतिमा मिली थी, जो सम्प्रति कलकत्ता के एक जैन मन्दिर मे विद्यमान है।

इस महावीर-मन्दिर के मुखमण्डप के उत्तरी छज्जे पर पद्मावती यक्षी की प्रतिमा उत्कीर्ण है। कुक्कुट सर्प पर विराजमान द्विभुजी यक्षी की दाहिनी भुजा मे सर्प और बायीं मे फल है। स्पष्ट है कि पद्मावती के साथ आठवी सदी में ही वाहन कुक्कुट-सर्प एवं भुजा में सर्प को सम्बद्ध किया जा चुका था।

ग्यारहवी सदी की एक अष्टभुजी प्रतिमा राजस्थान के झालरापाटन के जन मन्दिर (सन् १०४३) की दक्षिणी वेदिका पर उत्कीर्ण है। ललितमुद्रा में विराजमान यक्षी की भुजाओं में वरद, वज्र, पद्मकलिका, कृपाण, खेटक, पद्मकलिका, घण्ट एव फल प्रदर्शित है। यक्षी के करो मे पारम्परिक आयुधो (पाश एव अंकुश) एवं वाहन (कुक्कुट सर्प) का अभाव है, परन्तु सर्प-फणो का चित्रण पद्मावती की पहचान का समर्थक है। दूसरी ओर भुजा मे सर्प की अनुपस्थिति एव सर्प फणो का मण्डन देवी के महाविद्या वैरोट्या से पहचान के विरुद्ध है। पूर्व अंकनो मे भुजाओं मे सर्वदा सर्प से युक्त वैरोट्या के मस्तक पर कभी सर्पफण का प्रदर्शन नही प्राप्त होता है।

राजस्थान मे लूनी-पुनाकाब लाइन पर नालोतरा स्टेशन है। वहां से ६ मील पर पहाडों मे नाकोडा पार्श्वनाथ स्थान है। ग्यारहवी सदी मे नाकोडा नामक ग्राम मे भूमि खोदते समय पार्श्वनाथ की मनोहर प्रतिमा मिली थी जो अब वहा के मन्दिर में स्थापित है।

जैसलमेर की पुरानी राजधानी लोद्रवा मे सात जैन मन्दिर है। ये सातों मन्दिर तीन मंजिले हैं। यहा मुख्य मन्दिर सहस्रफण पार्श्वनाथ का है। यह मूर्ति अत्यन्त भव्य एवं कलापूर्ण है। उदयपुर से ४० मील पर धुलेव गांव अतिशय क्षेत्र है। नदी के पास कोट के भीतर एक प्राचीन मन्दिर है। यहां आदिनाथ का मन्दिर है। यहां केशर बहुत अधिक चढाई जाती है, इसी से इसका नाम केशरियानाथ पड गया। मन्दिर के सामने फाटक पर गजारूढ़ महाराज नाभि और मरुदेवी की मूर्तियां है।

चौहान जाति की उपशाखा देवडा के शासकों की भूतपूर्व राजधानी सिरोही की भौगोलिक सीमाओं में स्थित देलवाडा के हिन्दू और जैन देवालय प्रसिद्ध है। धरातल से एक मील उत्तर में पहाड़ी की चोटी पर स्थित देलवाड़ा के पांच जैन मन्दिर श्वेत संगमरमर से निर्मित है। ये मन्दिर आज भी उन पोरवाल जाति के महाजनों (विमलशाह, वस्तुपाल एवं तेजपाल) का स्मरण कराते हैं, जिन्होंने चाँदी के सिक्के व्यय करके परमार शासकों से

देवालय के निर्माण के लिए देलवाड़ा की पहाड़ी पर जमीन खरीदी थी।

वस्तुपाल-तेजपाल का मन्दिर १२३१ ई० में निर्मित हुआ है। इसमें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित है। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने इन मन्दिरों की शैली पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "इसके मण्डप और अन्तरालयों की पच्चीकारी अद्वितीय है। इस मन्दिर की शैली विशेष रूप से प्रशंसनीय है। गुम्बद ऐसे प्रतीत होते है जैसे अर्ध-कमल का फूल खिला हो। इसकी नक्काशी को देखने वाला एकाएक अपनी आंख को नहीं हटा सकता।" फर्गुसन ने इस मन्दिर की शैली के सम्बन्ध में लिखा है—"ऐसा प्रतीत होता है कि हेनरी सप्तम के काल में जो गिरजाघर वेस्टमिन्स्टर में बना, वह इन दोनों मन्दिरो की तुलना में बिलकुल फीका है।

विमलशाह गुजरात के प्रतापी नरेश भीमदेव के मन्त्री थे। उन्होंने विक्रम ११वीं सदी में विमलवसही का निर्माण किया। विमलशाह के मन्दिर मे जैन तीर्थंकर आदिनाथ की पीतल की मूर्ति है। कला की सुन्दरतम कृति बनाने के लिए मूर्ति की आँख में हीरा लगाया गया और हीरे व पन्ने जैसे कीमती चमकदार पाषाणों का हार बनवाया गया। यह मूर्ति तीन फुट ऊंचे चबूतरे पर स्थित है। जेम्स टाड ने इस मंदिर के विषय मे लिखा है कि "भारतवर्ष के भवनों में यदि ताजमहल के बाद कोई भव्य भवन है तो वह है विमलशाह का मन्दिर।"

विमलवसही के गूढ़मण्डप के दक्षिणी द्वार पर चतुर्भुजी पद्मावती की मूर्ति (१२वीं सदी) उत्कीर्ण मिलती है। कुक्कुट-सर्प पर आरूढ़ पद्मावती की भुजाओं में सनाल पद्म, पाश, अंकुश एवं फल प्रदर्शित है। लूणवसही के गूढमण्डप के दक्षिणी प्रवेशद्वार की दहलीज पर चतुर्भुजा पद्मावती की एक लघु आकृति उत्कीर्ण है। मकरवाहना यक्षी के हाथों में वरदाक्ष, सर्प, पाश एवं फल प्रदर्शित हैं। वाहन मकर का प्रदर्शन परंपरा के विरुद्ध है, पर सर्प एवं पाश का चित्रश पद्मावती की पहचान का समर्थक है। साथ ही दहलीज के दूसरे छोर पर पार्श्व यक्ष का चित्रण भी इसके पद्मावती होने को प्रमाणित करता है। संभव है कि वाहन मकर का प्रदर्शन पार्श्व यक्ष के कूर्मवाहन से प्रभावित रहा हो। विमलवसही की देवकुलिका ४९ के मण्डप के वितान पर उत्कीर्ण षोडशभुजी देवी की सम्भावित पहचान महाविद्या वैरोट्या एवं यक्षी पद्मावती दोनों से ही कर सकते हैं। सप्त सर्पफणों से मंडित एवं ललितमुद्रा में विराजमान देवी के आसन के समक्ष तीन सर्पफणों से युक्त नाग (वाहन) आकृति को नमस्कार मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया हैं। नाग की कटि के नीचे का भाग सर्पाकार है। नाग की कुंडलियां देवी के दोनों पार्श्वों में उत्कीर्णित दो नागी आकृतियों की कुंडलियों से गुम्फित है। हाथ जोड़े एवं एक सर्प से मण्डित नागी आकृतियों की कटि के नीचे का भाग भी सर्पाकार है। देवी की भुजाओ मे वरद, नागी के मस्तक पर स्थित त्रिशूल, घण्ट, खड्ग, पाश, त्रिशूल, चक्र (छल्ला), दो ऊपरी भुजाओं में सर्प, खेटक, दण्ड, सनाल पद्मकलिका, वज्र, सर्प, नागी के मस्तक पर स्थित एवं जलपान प्रदर्शित हैं। दोनों पार्श्वों में दो कलशधारी सेवक एवं वाद्य करती आकृतियां अंकित हैं। सप्त सर्पफणों का मण्डन जहां देवी की पद्मावती से पहचान का समर्थन करता है, वहीं कुक्कुट-सर्प के स्थान पर वाहन के रूप में नाग का चित्रण एवं भुजाओं में सर्प का प्रदर्शन महाविद्या वैरोट्या से पहचान का आधार प्रस्तुत करता है।

जयपुर के निकट चांदनगांव एक अतिशय क्षेत्र है। यहां महावीरजी के विशाल मंदिर में भगवान् महावीर की सुन्दर और भव्य मूर्ति है। जोधपुर के निकट गांधाणी तीर्थ में भगवान् ऋषभदेव की धातु-मूर्ति ९३७ ई० की है। बूंदी से २० वर्ष पूर्व कुछ प्रतिमाएं प्राप्त हुई थी। उनमें से तीन अहिच्छत्र मे ले जाकर स्थापित की गई हैं। तीनों का रंग हल्का कत्थई है एवं तीनों शिलापट्ट पर उत्कीर्ण हैं। बाईं से दाईं ओर को प्रथम शिला फलक ३॥ फीट है। मध्य में फणालंकृत पार्श्वनाथ तीर्थंकर की खड्गासन प्रतिमा है। इसके परिकर में नीचे एक यक्ष और दो यक्षियाँ हैं, जो चंवर धारण किये हुए हैं। उनके ऊपर कायोत्सर्ग मुद्रा मे ३० इंच आकार की एक तीर्थंकर प्रतिमा है तथा उसके ऊपर ७ इंच अवगाहना की एक पद्मासन प्रतिमा है। इसी प्रकार दाईं ओर भी दो

प्रतिमाएं हैं। यह शिलाफलक पंच बालयति का कहलाता था। पाषाण बलुआई है, लेख या लांछन नहीं है।

मध्य में हल्के कत्थई रंग की पद्मासनस्थ पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, ऊपर सर्पफण है। अवगाहना २। फीट है। सिंहासन में दो सिंह जिव्हा निकाले बैठे हैं। यक्षी पद्मावती एक बच्चे को छाती से चिपटाये हुए है, जो उस देवी के अपार वात्सल्य का सूचक है। भगवान् के शिरो-पार्श्व में दोनों ओर गज उत्कीर्ण है। उनके कुछ ऊपर इन्द्र हाथों में स्वर्ण-कलश लिये क्षीरसागर के पावन जल से भगवान् का अभिषेक करते प्रतीत होते हैं। फण के ऊपर त्रिछत्र है अलंकरण सामान्य है।

अन्तिम प्रतिमा खड्गासन अवस्था में है। अवगाहना २।। फीट है। अधोभाग में दोनों ओर इन्द्र और इन्द्राणी चंवर लिये हुए हैं। मध्य में यक्ष-यक्षी विनत मुद्रा में बैठे हैं। मूर्ति के सिरे के दोनों ओर विमानचारी देव हैं। एक विमान में देव एवं देवी है। दूसरे में एक देव है। छत्र के एक ओर हाथी का अंकन है। भामण्डल और छत्रत्रयी है।

राजस्थान का पाली जिला न केवल ऐतिहासिक एवं व्यापारिक दृष्टि से विख्यात है, अपितु धार्मिक दृष्टि से भी अद्भुत महत्त्व भी रखता है। इस जिले में सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के दर्शनीय, पूजनीय एवं धार्मिक स्थान हैं। यह जिला जैनों का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहा बड़े-बड़े आचार्यों, विद्वानों, साधु-सन्तों एवं यति-मुनियों ने सत्य और अहिंसा की मशाल जलाई है। पाली जिले की गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी, जहां जैनों के लिए धार्मिक श्रद्धास्थली बनी हुई है, वहां पर्यटकों, इतिहास-वेत्ताओं और पुरातत्वज्ञों के लिए भी इसका बड़ा महत्त्व है। राणकपुर, नाडोल, नारलाई, वरकाना एवं घाणेराव के पास स्थित मुंछाला-महावीर गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी का मुख्य स्थान है जिसकी सूक्ष्म शिल्पकला अत्यन्त सुन्दर है। राणकपुर का प्रमुख जैन मन्दिर आदिनाथ का हैं जो चौमुखी हैं। राणकपुर का जैन मन्दिर शिल्पकला एवं स्तम्भों के लिए जगत् विख्यात है। इसी जैन पंचतीर्थी की कड़ी के रूप में पाली जिले का श्री राता महावीर तीर्थ-स्थान भी अपनी प्राचीनता एवं ऐतिहासिक महत्ता एवं शिल्पकृतियों के लिए प्रख्यात है। मन्दिर का निर्माण वि० सं० ६२१ में आचार्य महाराज श्री सिद्धिसूरि जी के उपदेश से श्रेष्ठि गोत्र के वीरदेव ने कराया था। मन्दिर शिल्प-कलाकृतियों का भंडार है। इसमें मूलनायक भगवान् महावीर की प्रतिमा के अतिरिक्त अनेक छोटी-बड़ी जैन प्रतिमाएं विद्यमान हैं।

राणकपुर या राणापुर का नाम महाराणा कुंभा के नाम राणा पर रखा गया था। यह स्थान सादड़ी से १४-१५ मील की दूरी पर अरावली की पहाडी मे स्थित है। यहा के मंदिरों मे नेमिनाथ, आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ के मदिर प्रमुख है। यहां के आदिनाथ मंदिर में ऋषभनाथ की विशाल पद्मासन मूर्ति अत्यंत मनोज्ञ है। कुल मिलाकर वेदिकाओं में ४२५ मूर्तिया प्रतिष्ठित है।

☐ ☐ ☐

(पृष्ठ ५० का शेषांश)

बात स्वीकार की गई है कि अवध के इस इलाके को जीतने में सुल्तान अल्तमश को एक लाख बीस हजार मुसलमान योद्धाओं की बलि देनी पडी थी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रमाण यह सिद्ध करते है कि राजा सुहलदेव अद्भुत वीर, साहसी, सुशील, धर्म-परायण, रणकुशल, राजनीतिज्ञ और चतुर शासक थे। साथ ही साथ वह उच्चकोटि के कवि और साहित्यक थे। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि राजा सुहलदेव और सैयद सालार मसऊद के युद्ध की इस भारी ऐतिहासिक घटना का वर्णन किसी हिन्दू इतिहासकार ने नहीं किया। मुसलमान इतिहासकारों और कुछ विदेशियो ने ही इस पर प्रकाश डाला है।

आज भी भारतीय इतिहास के अनेक पृष्ठ अन्धकार की कारा में पड़े शोधकर्ताओं की प्रतीक्षा कर रहे है।

सैयद सालार मसऊद गाजीमियां के नाम से मशहूर हो गया है। इसका जयन्ती-वर्ष जेष्ठ के कृष्ण पक्ष में प्रथम रविवार को कुछ मुसलमान-हिन्दूओं के द्वारा वाराणसी और बहराइच में मनाया जाता है।

☐ ☐ ☐

हेमचन्द्राचार्य की साहित्य-साधना

□ डा० मोहनलाल मेहता

आचार्य हेमचन्द्र का जैन साहित्यकारों में ही नहीं, समस्त संस्कृत साहित्यकारों में प्रमुख स्थान है। इन्होंने साहित्य के प्रत्येक अंग पर कुछ न कुछ लिखा है। कोई ऐसा महत्वपूर्ण विषय नहीं जिस पर हेमचन्द्र ने अपनी लेखनी न चलाई हो। इन्होंने व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य, चरित्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र, नीति आदि अनेक विषयों पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे है। इन सब ग्रन्थों का परिमाण लगभग दो लाख श्लोक-प्रमाण है। समग्र भारतीय साहित्य में इतने विशाल वाङ्मय का निर्माण करनेवाला अन्य आचार्य दुर्लभ है। हेमचन्द्र की इसी प्रतिभा एवं ज्ञान-साधना से प्रभावित होकर विद्वानों ने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया।

हेमचन्द्र सूरि का जन्म विक्रम संवत् ११४५ की कार्तिकी पूर्णिमा को गुजरात के धुंधुका ग्राम में हुआ था। इनका बाल्यावस्था का नाम चांगदेव था। ११५४ में ये देवचन्द्रसूरि के शिष्य बने एवं इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। देवचन्द्रसूरि अपने शिष्य के गुणो पर बहुत प्रसन्न थे एवं सोमचन्द्र की विद्वत्ता से अति प्रभावित थे। अतः उन्होने अपने सुयोग्य शिष्य को ११६६ की वैशाख शुक्ल तृतीया को आचार्यपद प्रदान कर दिया। सोमचन्द्र के शरीर की प्रभा एवं कान्ति स्वर्ण के समान थी, अतः उनका नाम हेमचन्द्र रखा गया। वि० संवत् १२२९ में हेमचन्द्र का निधन हुआ।

हेमचन्द्रविरचित विविधविषयक ग्रथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

शब्दानुशासन—यह व्याकरण शास्त्र है। इस पर स्वोपज्ञ लघुवृत्ति, बृहद्वृत्ति, बृहन्न्यास, प्राकृतवृत्ति, लिंगानुशासन सटीक, उणादिगण विवरण, धातुपारायण-विवरण आदि हैं। ग्रन्थकार ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों में रही हुई त्रुटियों से रहित सरल व्याकरण की रचना की है। इसमें सात अध्याय संस्कृत के लिए हैं तथा एक अध्याय प्राकृत (एवं अपभ्रंश) के लिए है। इस व्याकरण की रचना इतनी आकर्षक है कि इस पर लगभग ६० टीकाएँ एवं स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

काव्यानुशासन—यह अलंकार शास्त्र है। इसमें काव्य के प्रयोजन, हेतु, गुण-दोष, ध्वनि इत्यादि सिद्धान्तों पर गहन एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ अलंकार-चूडामणि नामक वृत्ति एवं विवेक नामक व्याख्या है।

छन्दानुशासन—हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन और काव्यानुशासन की रचना करने के बाद छन्दानुशासन लिखा है। इसमें संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के छन्दों का सर्वांगीण परिचय है। इस पर छन्दश्चूडामणि नामक स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

द्वयाश्रयमहाकाव्य—इस काव्य की रचना आचार्य ने अपने व्याकरण ग्रन्थ शब्दानुशासन के नियमों को भाषागत प्रयोग मे समझाने के लिए की है। जिस प्रकार शब्दानुशासन संस्कृत और प्राकृत भाषाओं मे विभक्त है, उसी प्रकार यह महाकाव्य भी संस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओं में है। इसके २८ सर्गों में से प्रारम्भ के २० सर्ग संस्कृत में है जो संस्कृत-व्याकरण के नियमों को उदाहृत करते हैं तथा अन्तिम ८ सर्ग (कुमारपाल चरित) प्राकृत मे है जो प्राकृत-व्याकरण के नियम उदाहृत करते हैं। इस द्वयाश्रय काव्य के दो प्रयोजन हैं: एक तो व्याकरण के नियमो को समझाना और दूसरा गुजरात के चौलुक्यवंश का इतिहास प्रस्तुत करना। इस ऐतिहासिक काव्य में चौलुक्यवंश का और विशेषतः उस वंश के नृप सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का गुणवर्णन किया गया है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—इस चरित्र-ग्रन्थ में जैन परम्परा के ६३ शलाकापुरुषों अर्थात् महापुरुषों का काव्या-

त्मक जीवनवृत्त है। ये शलाकापुरुष इस प्रकार हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव। इस विशाल ग्रन्थ की रचना हेमचन्द्राचार्य ने अपने जीवन की उत्तरावस्था में की थी। इसमें जैन पुराण, इतिहास, सिद्धान्त एवं तत्वज्ञान के संग्रह के साथ समकालीन सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियों का प्रतिबिम्ब भी दृष्टिगोचर होता है। इसका परिशिष्ट पर्व अर्थात् स्थविरावलिचरित जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

कोश—आचार्य हेमचन्द्र ने इन चार कोशग्रन्थों की रचना की है—१. अभिधानचिन्तामणि, २. अनेकार्थसंग्रह, ३. निघण्टुशेष, ४. देशीनाममाला। अभिधानचिन्तामणि में अमरकोश के समान एक अर्थ अर्थात् वस्तु के लिए अनेक शब्दों का उल्लेख है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है। अनेकार्थसंग्रह में एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। अभिधानचिन्तामणि एकार्थककोश है जब कि अनेकार्थसंग्रह नानार्थककोश है। निघण्टुशेष में वनस्पतियों के नामों का संग्रह है। यह कोश आयुर्वेदशास्त्र के लिए विशेष उपयोगी है। इसे अभिधानचिन्तामणि का पूरक कहा जा सकता है। देशीनाममाला में ३५०० देशी शब्दों का संकलन है। ये शब्द संस्कृत अथवा प्राकृत व्याकरण में सिद्ध नहीं होते। देशी शब्दों का ऐसा अन्य कोश उपलब्ध नहीं है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

प्रमाणमीमांसा—न्यायशास्त्र के इस ग्रन्थ में पहले सूत्र है और फिर उन पर स्वोपज्ञ व्याख्या है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि यह सूत्र और व्याख्या दोनों को मिलाकर भी मध्यकाय है। यह न तो परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्त्वालोक जितना संक्षिप्त ही है और न प्रमेयकमलमार्तण्ड और स्याद्वादरत्नाकर जितना विस्तृत ही। इसमें प्रमाणशास्त्र के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का मध्यम प्रतिपादन है। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

योगशास्त्र—इसमें जैन योग की प्रक्रिया का पद्यबद्ध प्रतिपादन है। यह श्रमण-धर्म एवं श्रावक-धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना करता हुआ ध्यानमार्ग के द्वारा मुक्तिप्राप्ति का निरूपण करता है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

द्वात्रिंशिकाएँ—स्तोत्र-साहित्य की दृष्टि से हेमचन्द्रकृत अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक द्वात्रिंशिकाएँ उत्तम रचनाएं हैं। इनमें बत्तीस-बत्तीस श्लोक होने के कारण इन्हें 'द्वात्रिंशिका' नाम दिया गया है। अयोगव्यवच्छेदिका में जैन सिद्धान्तों का सरल प्रतिपादन है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका में जैनेतर सिद्धान्तों का निराकरण है तथा इस पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है जो जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अर्हन्नीति—यह जैन नीतिशास्त्र की एक उत्तम कृति है। इसमें राजा, मन्त्री, सेनापति तथा राज्य के विविध अधिकारियों एवं प्रशासकों के कर्तव्यों और अधिकारों का निर्देश है। इसे लघु-अर्हन्नीति भी कहते हैं।

इन महत्त्वपूर्ण कृतियों के अतिरिक्त वीतरागस्तोत्र, महादेवस्तोत्र, द्विजवदनचपेटिका, अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय आदि के रचयिता भी आचार्य हेमचन्द्र ही हैं। इनका ज्ञान बहुमुखी था, इनकी प्रतिभा विलक्षण थी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१ सिद्धहेमचन्द्रव्याकरण—हेमचन्द्र, सेठ आनन्दजी कल्याणजी पेढ़ी, अहमदाबाद, १९३४
२. प्राकृतव्याकरण—हेमचन्द्र, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९५८
३ काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, दो भाग, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८
४. छन्दानुशासन—हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१२
५. द्व्याश्रयकाव्य—हेमचन्द्र, दो भाग, गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस, बम्बई, १९१५-१९२१
६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—हेमचन्द्र, छः भाग, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३६-१९६५
७. परिशिष्टपर्व—हेमचन्द्र, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १८९१
८. अभिधानचिन्तामणि—हेमचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९४६
९. अनेकार्थसंग्रह—हेमचन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९२९

(शेष पृष्ठ ७४ पर)

क्या 'रूपकमाला' नामक रचनाएं अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी हैं?

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

बहुत बार रचनाओं के नाम एक बड़ा भ्रम पैदा कर देते हैं। मूल रचना बिना देखे-पढ़े उसके नाम के आधार पर अनुमान या कल्पना कर ली जाती है। 'रूपकमाला' नामक दो-तीन रचनायें प्राप्त है, जो अलंकार-शास्त्र विषयक नहीं हैं, पर उनके नाम से वैसा भ्रम हो गया कि उन्हे कई विद्वानो ने अलकार विषयक जैन रचनाओ में सम्मिलित कर दिया।

'जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास' का पाचवां भाग 'लाक्षणिक साहित्य' संबन्धी है, जिसके लेखक प० अम्बालाल शाह जैन-साहित्य के अच्छे विद्वान् हैं। इस पाँचवें भाग के पृष्ठ १२३ में पहले रूपक-मंजरी का उल्लेख किया गया है। उसमें यह भी लिखा है कि जिनरत्नकोष के पृष्ठ ३३२ मे उसका नाम 'रूप-मंजरीनाममाला' दिया हुआ है। ग्रन्थ का नाम देखते हुए उसमे रूपक अलंकार विषयक निरूपण होगा, यह अनुमान होता है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अलकार विषयक माना जा सकता है। पर वास्तव मे गोपाल के पुत्र रूपचन्द ने रूपमंजरीनाममाला ही रची है और उसकी प्रति बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में और अन्य कई ग्रन्थालयों में मैंने देखी है। उसका नाम रूपकमंजरी किसी ने गलती से लिख दिया मालूम पड़ता है। इसी कारण, इसके अलंकार विषयक होने का अनुमान कर लिया गया। पर है यह वास्तव में नाममाला ही अर्थात् कोष विषयक है, अलंकार विषयक नहीं है।

उपर्युक्त 'जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास' के पाँचवें भाग के उसी पृष्ठ में रूपक-मंजरी के बाद 'रूपकमाला' ग्रंथ का उल्लेख है। उसे अलंकार विषयक रचना मान लिया गया है, यद्यपि पं० अम्बालाल शाह को इसमें शंका अवश्य रही है। उन्होंने लिखा है—

'रूपकमाला—

'रूपकमाला' नाम की तीन कृतियों के उल्लेख मिलते हैं:—

१. उपाध्याय पुण्यनन्दन ने 'रूपकमाला' की रचना की है और उस पर समयसुन्दरगणि ने वि० स० १६६३ में 'वृत्ति' की रचना की है।

(वास्तव मे रचयिता का नाम पुण्यनन्दन नही, पुण्यनन्दि है।)

२. पार्श्वचन्द्रसूरि ने वि० सं० १५८६ में 'रूपकमाला' नामक कृति की रचना की है।

३. किसी अज्ञातनामा मुनि ने 'रूपकमाला' की रचना की है।

ये तीनों कृतियां अलंकार विषयक हैं या अन्य विषयक, यह शोधनीय है।"[1]

अभी-अभी इसी का अनुसरण डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने 'काव्यप्रकाश' की यशोविजयकृत टीका के उपोद्घात मे किया है। इसमें रूपकमंजरी के संबन्ध में तो यही लिख दिया है कि नाम के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि इसमें रूपक अलंकार के विषय में विवेचन होगा। पर रूपकमाला के सबन्ध में पं० अम्बालाल शाह की इस सका को कि 'ये तीनों कृतियां अलकार विषयक हैं या अन्य विषयक, यह शोधनीय है', डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने स्थान नही दिया। इससे उन्होंने रूपकमाला को अलंकार विषयक रचनायें ही मान लिया। पर वास्तव में यह भ्रमोत्पादक है। इसीलिए इसका स्पष्टीकरण और निर्णय यहां कर देना आवश्यक है।

पुण्यनन्दि की रूपकमाला नामक रचना मेरे समक्ष है। इसमें हिन्दी भाषा के ३२ पद्य हैं। इसमें 'शील' धर्म का गुणवर्णन करने का उल्लेख प्रथम पद्य में ही कर

(शेष पृष्ठ ७३ पर)

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृष्ठ १२३।

वाचक कुशललाभ के प्रेमाख्यानक काव्य

□ डा० मनमोहन स्वरूप माथुर

सूफी कवियों की भाति ही जैन कवियों ने भी मध्य-काल में अनेक प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रणयन किया। इसमे सूफियों का उद्देश्य जहाँ दो भिन्न संस्कृतियों के समन्वय का था वही जैन कवियों का उद्देश्य था समाज में शील एव सतीत्व के उपदेश तथा स्वामिभक्ति का प्रचार। इसी शृङ्खला के कवि है उपाध्याय अभयधर्म के शिष्य वाचक कुशललाभ। कुशललाभ ने अपने जीवनपर्यन्त जैन एव जैनेतर कथानकों को ग्रहण कर निम्नलिचित प्रेमाख्यानों की काव्यात्मक रचना की :

१. माधवानल काम कन्दला चउपई। २. ढोला मारवणी चउपई। ३. जिनपालित जिनरक्षित सधिगाथा। ४. अगडदत्त-रास। ५. तेजसार-रास चउपई। ६. भीमसेन हसराज चउपई। ७. स्थूलिभद्र छत्तीसी, और ८. कनकसुन्दरी चउपई[1]।

माधवानल कामकंदला के अति प्राचीन लोकप्रचलित प्रेमाख्यान पर कवि ने माधवानल कामकदला चउवई नामक रचना का निर्माण किया। इसका रचनाकाल वि० स० १६१६ फाल्गुन शुक्ला १३ रविवार कहा गया है। इसमे माधव और कामकंदला के प्रेम की कहानी कही गई है।

ढोला-मारू के परंपरित आख्यान पर कवि ने 'ढोला-मारवणी चउपई' नामक कृति की रचना वि० स० १६१७ की अक्षण तृतीया को की। इसके दोहे अत्यन्त प्राचीन हैं। कवि ने अपनी चउपइयों के साथ इन दोहों को प्रसंगानुसार संगठित किया, जिसे कवि ने इन शब्दों में स्वीकार किया है। :'दूहा घणा पुराणा अछह, चौपइबंध कितो मैं पछह।"

'जिनपालित जिनरक्षित सधिगाथा' का रचना सवत् १६२१ है। इसमे चंपापुरी के सेठ माकदा के दो पुत्रों जिनपालित और जिनराक्षित की रोमांचक यात्रा एवं जिनरक्षित की कामासक्तता के साथ जिनरक्षित सघ की स्थापना की कथा ८५ छदों मे कही गई है।

जैन ऋषि परम्परा के प्रमुख चरित्र अगडदत्त पर कवि ने ३१९ छदो मे 'अगड़दत्तरास' नाम से एक सुन्दर रचना का निर्माण किया। प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर इस कृति का रचनाकाल वि० सं० १६२५ कार्तिक सुदी १५ गुरुवार है।[2] इसमे कवि ने अगड़दत्त की ललित प्रवृत्तियो द्वारा नारी के विश्वासघाती चरित्र का कथन कर वैराग्य भावना की स्थापना की है।

इसी शैली का अन्य ग्रंथ है - तेजसार रास चउपई। इसमें कुशललाभ ने तेजसार के बाहुबल और प्रेम-क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए उसके श्रावक रूप की प्रतिष्ठा की है। साथ ही, कवि ने तेजसार के जन्म और पूर्वजन्म की घटनाओं के आकलन द्वारा दीपपूजन के माहात्म्य को भी प्रस्तुत किया है।[3]

---

१. इस रचना का कुछ सूचियों में 'गुणसुंदरी चउपई' नाम मिलता है। डा० के० सी० कासलीवाल द्वारा निर्मित सूची में 'कनक सुंदरी चउपई' नाम से वर्णित है। किन्तु यह कुशललाभ की संदिग्ध रचना है।

२. म० प्राच्य विद्या मन्दिर, पूना, हस्तलिखित ग्रथ ६०५ गाथा ३१८।

३. डा० मनमोहन स्वरूप माथुर : कुशललाभ और उनका साहित्य (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध); पृ० ६९।

कुशललाभ द्वारा रचित 'भीमसेन हंसराज चउपई' एक भावना विषयक प्रेमाख्यान है।[1] इसमें भीमसेन के गौरव और मदनमंजरी के प्रेम का सात्विक वर्णन करना ही कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। रचना की पुष्पिका के आधार पर यह वि० सं० १६४३ श्रावण शुक्ला सप्तमी की कृति घोषित होती है।[2]

'स्थूलिभद्र छत्तीसी' आलोच्य कवि की ३७ छंदों में लिखित एक लघु प्रेमाख्यान है।[3] इसमें कुशललाभ ने जैन ऋषि स्थूलिभद्र और वेश्या कोशा के प्रेम एवं उनके संयमी जीवन की कहानी कही है।

कुशललाभ की उक्त सभी प्रेमाख्यानक रचनाएं परम्परा से सम्बद्ध है। इन काव्यो का आधार लोक-प्रचलित कथाएं, विक्रम चक्र की कथाएं, प्राकृत अपभ्रंश के मानकग्रंथ 'कथासरित्सागर' एवं जैन आगम साहित्य की अधिगृहीत कथाएं है। उक्त प्रथम दो कृतियां जैनेत्तर प्रेमाख्यान हैं, शेष जैन लोक तत्वो और सदाचारों से सम्पन्न है।

'माधवानल कामकंदला चउपई' कथासरित्सागर मे ईल्लक नाम के वणिक की स्त्री के विरह से मृत्यु, श्रीधर की बात में कुमुदिका का श्रीधर का प्रेम[4] तथा क्षेमकर की सिंहासन 'द्वात्रिंशिका' की २६वीं बात मे वर्णित धनह श्रेष्ठि द्वारा बताये गये द्वीप के देवालय मे लिखित लेख को पढ़ कर विक्रम द्वारा खड्ग ग्रहण कर स्त्री तथा पुरुष को पुनर्जीवन देने के लिये अपने मस्तक को काटने की घटना[5] आदि मे ढूंढा जा सकता है।

'ढोलामारवणी चउपई' की कथा देशज भाषाओं की प्राण रही है। बारहवीं शताब्दी के आसपास 'ढोला' शब्द के प्रियतम और पति अर्थ मे रूढ़ हो जाने से इस कहानी का आदि कवि अज्ञात ही है। यहीं से इस कथा-परम्परा का आरम्भ माना जा सकता है।

जैन साहित्य में अगड़दत्त की कथा अति प्राचीन है जो 'वसुदेव हिंडी' के उपविभाग 'धमिलहिंडी'[6] के माध्यम से प्रसारित हुई। यही परम्परा प्राकृत में विकसित हुई और उसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाली कड़ी है कुशल-लाभ कृत 'अगड़दत्तरास'।

जैनधर्म मे ब्रह्मचर्य के उपदेश-निमित्त कोशा की चित्रशाला मे उसके प्रेमी स्थूलिभद्र के चातुर्मास बिताने की कथा प्राचीन काल से ही कही जाती रही है। आगमों मे इसका वर्णन है।[7] 'वसुदेवहिंडी', 'समराइच्चकहा' मे सासारिक विषयभोगो की क्षणभगुरता सिद्ध करने के लिये मधुबिंदु दृष्टात का उपयोग किया है।[8] यही सूत्र कुशल-लाभ की आलोच्य कृति मे वर्णित है।[9] अतः इन्ही ग्रथों से 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' रचना का संबन्ध जोड़ना चाहिये :

'जिनपालितजिनरक्षित संधिगाथा' का आधार वर्जित दिशा और दो भाइयो के कथातन्तुओं वाले 'मोटिफ' है।

---

१. "इति श्री भावनाविषये राजा श्री भीमसेन हंस संबध चउपई समाप्त"—एल० डी० इस्टीट्यूट आफ इण्डोलोजी, अहमदाबाद, ग्र० १२१७।

२. सवत लोक-वेद सिणगार, वर्षा ऋतु जलधर विस्तार। श्रावण मास शुक्ल सप्तमी, रच्यो राय श्री गुरुपय नमी ॥ चौ: ६२०।
लोक ३, वेद ४, सिणगार १६=१६४३।

३ श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, ग्रं० ४२०६।

४. मोहनलाल दलीचंद देसाई, आनन्दकाव्य महोदधि, मौलिक ७, पृ० १५६।

५. मोहनलाल दलीचंद देसाई, आनन्दकाव्य महोदधि, मौ० ७, पृ० १५६।

६. डा० जे० सी० जैन, प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ० १६६।

७. मुनि हस्तीमल मेवाड़ी, आगम के अनमोल रत्न,।

८. डा० जे० सी० जैन, प्रकृत जैन कथा साहित्य पृ० १७७।

९. उभारि मधकूप अध तात ताल
भयंग बध कठि एकबिण
हरक सीर सग्रही, मनुष्य दुक्ख स्यूं रहइ।
गयंद मत्त रोसि तत्त, धूणी लाग सड सहस,
मखियां चटक पीर ऊपजी
सबही सरीर, वेदना सहहिं ॥
परति मुक्खी मद्द लक्क वक्क लाल विक्खइं,
आहार को पुरुष तेण वार,
आऊ ज्यूं उगार आप ही कहइ।
सहत बिंदु तास मुक्ख ना तजइ महत्त दुक्ख,
देषि जे ससार सुक्ख, जांणि जे विचार मुक्ख,
सुक्ख ज्यूं लहइ ॥
श्री अभय जैन ग्रथालय, बीकानेर, ४२०६, गाथा २३।

इसका पूर्ववर्ती जैन कथा रूप 'हंसराज वच्छराज कथा' में देखा जा सकता है। वही 'तेजसार रास चउपई' एव 'भीमसेन हंसराज चउपई' रचनाओं का भी उद्‌गम ऐसी ही जैन धर्म से सम्बन्धित रचनाओं तथा कथानक रूढ़ियों से है।

उक्त प्रेमाख्यानकों के नायक-नायिका राजकुल के राजकुमार-राजकुमारियाँ अथवा राजकुल से सम्बन्धित मन्त्री, पुरोहित, सामन्त; सेठ के पुत्र-पुत्रियां है। इनमें प्रेम का आरभ प्रत्यक्ष दर्शन और रूप-गुण-श्रवण द्वारा हुआ है। नायक-नायिकाओं में प्रेमोद्दीपन एव उनके सयोग मे सहायक तोता, मन्त्री पुत्र, भाट, खवास (नाई), सखियां आदि पात्र हुए है। ढोला मारवणी एव माधवानल कामकंदला एव भीमसेन हंसराज चउपई मे नायक ने नायिका की प्राप्ति के लिये वैराग्य धारण कर राजमहल आदि का त्याग किया है। मार्ग मे उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। नायिका के मिलन के पश्चात् उपर्युक्त सभी काव्यों मे घर लौटते हुए भयकर कठिनाइयों (ओखा) का पुनः सामना करना पड़ता है; यथा, राक्षसियों द्वारा नायक को रोकना[1], नायक-नायिका के विश्राम स्थल की छत का गिरना[2], नायिका की मृत्यु[3], प्रतिनायक द्वारा नायक का आतथ्य[4] इत्यादि। किन्तु इन बाधाओं को विद्याधरियों, विद्याधरो[5], वैताल[6], जोगी-जोगिनी[7] आदि ने दूर करके नायक-नायिकाओं को मिलाया है। घर लौटने पर नगरवासियो, माता-पिता द्वारा स्वागत किया जाता है तथा प्रजा आनन्द उत्सव मनाती है।

कुशललाभ के जैनकथानक संबन्धी प्रेमाख्यानो में इस उत्सव में कोई गुरु नायक को धर्म में दीक्षित करता है। तत्पश्चात् नायक अपने बड़े पुत्र को राज्यभार संभलाकर संन्यासी बनते चित्रित किया गया है, जबकि जैनेतर प्रेमाख्यानक रचनाओं मे सुखमय पारिवारिक जीवन के साथ कथा का अन्त है। इस प्रकार, जहां जैनेन्तर रचनाओं की कथावस्तु सुखान्त है, वही जैन चरित सम्बन्धी प्रेमाख्यानों की प्रसादान्त।

प्राय: सभी प्रेमाख्यानकों में अलौकिक शक्तियों में आस्था, जादू-टोने, मंत्र-तंत्र में विश्वास, भविष्यवाणियों मे श्रद्धा, स्वप्नफल और शकुनों में विश्वास रखने की बातों का प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। अन्धविश्वास के कारण ही ढोलामारवणी चउपई का नायक ढोला अपने वियोग का कारण पूर्वजन्म के फलो को मानता है—

"पैलें भव पाय में कीया, तो तुझ विन इतरा दिन
सैमुख बात करै बाषाण, जीवन जन्म आज सुप्रमाण ॥"

और भविष्यवाणी द्वारा शकर पुरोहित को गगा घाट पर पुत्र माधव की प्राप्ति होती है।[8] 'भीमसेन हंसराज चउपई' की नायिका मदनमंजरी को भी हंस की भविष्यवाणी पर २१ दिन बाद गर्भ प्राप्त होता है।[9] जादू-टोनों की बात तो सभी रचनाओं मे कदम-कदम पर वर्णित है। यह भाग्यवादिता एव अन्धविश्वासों के प्रति आस्था साधारण पात्रों से लेकर राजा आदि में भी विद्यमान है।

कुशललाभ के सभी प्रेमाख्यानों मे एक ही प्रकार की लोक वार्ताओं का समावेश हुआ है। इस समानता से इनकी आन्तरिक एकता को बल मिला है। तत्कालीन लोक-समाज की रीति नीति, सभ्यता और लोक संस्कृति का सहज चित्रण इन प्रेमाख्यानों की विशेषता है।

---

१. तेजसार रास चउपई, जिनपालित जिनरक्षित संधि गाथा।
२. अगड़दत्त रास।
३. माधवानल कामकंदला चउपई, ढोलामारवणी चउपई, भीमसेन हंसराज चउपइ।
४. ढोलामारवणी चउपई, तेजसार रास चउपई।
५. तेजसार रास चउपई, अगड़दत्त रास।
६. माधवानल कामकंदला चउपई।
७. ढोलामारवणी चउपई।
८. आनन्दकाव्य महोदधि, मौक्तिक ७, माधवानल कामकंदला चउपई, चौ० ५६-६१।
९. एह देह छडी करी इण घरि मुझ अवतार।
मदनमंजरी नइ उदरि, अवतरि मू निद्धारि ॥
एल० डी० इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद, प्र० १२१७ छं० २५३।

राजस्थानी के अन्य प्रेमाख्यानकों की भांति ही कुशललाभ के प्रेमाख्यानकों में भी पात्रों का जीवन-व्यापार एवं क्रियाकलाप मानव की मूल प्रवृत्तियों के अनुसार संचालित हैं। इन मूल प्रवृत्तियों में काम और आत्मप्रदर्शन की मूल प्रवृत्तियों का चित्रण प्रमुख रूप से हुआ है। नायक-नायिकाओं में डटकर मिलनोत्सुकता के मूल मे उनका रूपाकर्षण एवं मांसल सुख-प्राप्ति की तीव्र लालसा है। विरहकाल मे भी यदि उन्हें कोई वेदना है तो मात्र उनके रसगधयुक्त यौवन के अभाव की।

सभी प्रेमाख्यानो का आरंभ मगलाचरण द्वारा किया गया है। जैनेतर काव्यो मे यह मगलाचरण गणपति, सरस्वती, शकर और कामदेव की स्तुति द्वारा किया गया है, जबकि जैन रचनाओं मे सरस्वती वदना के साथ गुरुवंदना, जिनप्रभु, आश्रयदाता आदि की स्तुति के साथ हुआ है। मगलाचरण के बाद इनमे जबूद्वीप, शत्रुंजय गिरि, कवि परिचय का भी उल्लेख किया गया है। इनमें वर्णनात्मकता का बाहुल्य है। कवि ने इन रचनाओं का अन्त पुष्पिका द्वारा किया है जिनमे कवि ने अपने गुरु खरतरगच्छीय उपाध्याय अभयधर्म तथा स्वय का नामोल्लेख किया है।

कुशललाभ की आधिकाश प्रेमाख्यानक रचनाओं में अधिकारिक कथा का आरभ प्रायः किसी नि.सन्तान राजा अथवा पुरोहित द्वारा संतान-प्राप्ति के प्रयत्न के वर्णन से हुआ है। देवी-देवता, ऋषि-मुनि के अभिमन्त्रित फल अथवा उनके बताये अनुसार पुष्कर या अन्य पवित्र स्थलो' की जाव देने पर उस राजा के यहा पुत्र अथवा पुत्री का जन्म हुआ है। युवा होने हर किसी अपराध मे पिता' से कहा-सुनी होने पर या राजाज्ञा से' नायक को घर छोड़ना पड़ा है। इसी निष्कासन से नायक के वैशिष्ट्य के द्वारा इन रचनाओं मे प्रेम तत्त्व उभरा है।

कुशललाभ के प्रेमाख्यानों में यों तो नवरस खोजे जा सकते हैं। परन्तु प्रधानता शृंगार रस की ही है। जैन कथात्मक प्रेमाख्यानों में शान्तरस सहायक एवं उद्देश्यपूर्ति के रूप में प्रयुक्त रस है। श्री श्रीचन्द जैन के अनुसार, "जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य, किन्तु वह आरंभ नहीं परिणति है।......नारी के शृंगारी रूप, यौवन तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण जैन कवियो ने बहुत सूक्ष्मता से किया है।"[४]

कवि ने अपनी काव्यवस्तु को हृदयंगम कराने के लिये सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का प्रयोग किया है। यह प्रयोग सहज, स्वाभाविक एवं भावोत्कर्षक है। इन अर्थालकारों के अतिरिक्त इनमें राजस्थानी के वयण सगाई अलंकार[५] का भी सफल निर्वाह हुआ है—

आडा खवाळा आपणा, घणे गमे वेसाड़या घणा।
(ढोलामारवणी चउपई, चौ० ६८)।
रायह दीठो तेह सरूप।
(भीमसेन हसराज चउपई, चौ० ६८)।
सोवन मइ-सुंदर आवास
(तेजसार रास चउपई, चौ० ३१७)।

कुशललाभ ने अलंकारो के साथ ही विविध छंदों का भी प्रयोग किया है। ये छंद है—दूहा, चउपई, गाहा, छप्पय, कवित्त, सवैया, बेक्खरी, त्रोटक, वस्तु, काव्य, छन्द, रोमकी, नाराच, त्रिभंगी, चावकी इत्यादि। इन छदो के अतिरिक्त कवि ने लोक प्रचलित ढालों को ग्रहण कर इन रचनाओ को संगीतात्मकता प्रदान की है। संगीत को बनाये रखने की दृष्टि से अनेक स्थलों पर कवि द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त छद काव्यशास्त्रीय लक्षणों से मेल नहीं

(शेष पृ० ६० पर)

१. माधवानल कामकंदला चउपई, ढोलामारवणी चउपई तेजसाररास चउपई, भीमसेन हंसराज चउपई।
२. तेजसार रास, पार्श्वनाथ दशभव-स्तवन आदि रचनाएं।
३. माधवानल कामकदला चउपई, अगड़दत्तरास, स्थूलिभद्रछत्तीसी।
४. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. १३२-३३।
५. 'वैण सगाई' कविता के किसी चरण के दो शब्दो में प्रायः करके प्रथम और अन्तिम शब्दो के संबन्ध स्थापित करती है। यह संबन्ध एक ही वर्ण अथवा मित्र वर्णों के द्वारा किया जाता है।
——नरोत्तमदास स्वामी—'वैण सगाई' लेख—राजस्थानी, वाल्यूम २, सं० १९९३।

जैन दर्शन की अनुपम देन : अनेकान्त दृष्टि

□ श्री श्रीनिवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र

जैनदर्शन भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है। इसमें अनेक नवीन उद्भावनाएं की गई है। तत्त्व-विवेचन या प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र मे ही नही अपितु कैवल्य के स्वरूप और साधन के विषय मे भी जैन दार्शनिकों ने अनूठी सूझ का परिचय दिया है। जैन दर्शन के रत्नत्रय से भारतीय दर्शन के पाठक परिचित ही है। उमा स्वाति ने बतलाया है कि सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

यहा बतलाये गये सम्यग् दर्शन आदि तीनों ही जैन-दर्शन मे रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध है। ये तीनो मिलकर ही मोक्ष के साधन है। इनमें सम्यग् दर्शन का स्थान प्रथम है। यह मोक्ष का प्रथम द्वार है। सम्यग् दर्शन क्या है यह बतलाते हुए उमा स्वाति कहते है कि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रति श्रद्धा न करना ही सम्यग्दर्शन है।[2] जैनदर्शन के विविध आचार्यो ने तत्त्वों या पदार्थों का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। उमा स्वाति के अनुसार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष-ये सात तत्त्व है।[3] इन जीव आदि पदार्थो का जो स्वरूप है उन्हें उसी रूप मे मोह तथा सशय आदि से रहित होकर जानना 'सम्यग्ज्ञान' कहलाता है।[4] जीव आदि पदार्थों के स्वरूप के विषय मे विविध वाद प्रचलित है। उदाहरण के लिये जीवात्मा को ही ले लीजिये। बौद्ध के मत में, क्षणिक पञ्चस्कन्ध की सन्तति से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इसीलिये उसे अनात्मवादी कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि मे आत्मा नित्य है, कर्ता और भोक्ता है। वह शरीर आदि से भिन्न एक तत्त्व है। सांख्य-योग के मत में पुरुष या आत्मा बुद्धि से परे है, वह असग है। बुद्धि ही कर्त्री है और बुद्धिस्थ सुख-दुःख को पुरुष अपना समझ लेता है, यही उसका भोग है ; वस्तुतः वह न कर्ता है न भोक्ता है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जीवात्मा आभास मात्र है, वस्तुतः ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। अविद्या के कारण ही जीव मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना कर ली जाती है। इन सब परस्पर विरुद्ध वादों के रहते जीव के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करना कठिन है। फिर सम्यग्ज्ञान कैसे होगा? तब तो मोक्ष-प्राप्ति की कल्पना भी नही की जा सकती।

प्रायः सभी जीव आदि पदार्थों के स्वरूप के विषय में विवेचकों का मत-भेद दृष्टि-गोचर होता है। जिस प्रकार अनेक अन्धे एक हाथी को टटोलते है, कोई उसके पेट को स्पर्श करके उसे दीवार सा कहता है और कोई उसके पैर को छूकर उसे खम्भे के समान बतलाता है और कोई पूंछ को पकड़कर रस्से के समान कह देता है ; यही दशा एकान्तवादी विवेचकों की है। जैसे कोई आंखो वाला सभी अन्धों को एकत्रित करके यह समझा देता है कि तुम सभी का ज्ञान आंशिक रूप मे सत्य है, हाथी के एक-एक अंग का ही तुमने अनुभव किया है ; इन सब का समुदित रूप हाथी है; हाथी के शरीर मे ये सभी अनुभव सत्य है; किन्तु आंशिक रूप में। इसी प्रकार, किसी तत्त्ववेत्ता की भांति जैन दर्शन ने वस्तुओं के स्वरूप को समझने के लिए अनेकान्तवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

अनेकान्तवाद क्या है? इसका विचार कैसे हुआ? किसी भी वस्तु को उसके अनेक (सभी सम्भव) पहलुओं से देखना, जांचना अथवा उस तरह देखने की वृत्ति रखकर वैसा प्रयत्न करना ही अनेकान्त दृष्टि है।[5]

---

१. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र (ओरियन्टल लाइब्रेरी पब्लिकेशन, मैसूर विश्व-विद्यालय, १९४४), १.१।

२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। वही, १.२।

३. वही, १४।

४. द्र०, सर्वदर्शन संग्रह, जैनदर्शन।

५. प० सुखलाल सघवी, प्रस्तावना, सन्मतिप्रकरण (ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३), पृ० ८४।

अनेकान्तवाद का व्यवस्थित विवेचन भगवान् महावीर का उपदेश माने गये जैन आगमों में मिलता है। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् महावीर से पूर्व अनेकान्तवाद का संकेत ही नहीं मिलता। संसार के उपलब्ध वाङ्मय में परम प्राचीन जो ऋग्वेद है उसमें भी 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'[1] यह वेद का वचन तत्त्व की अनेक रूपता का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार, ऋग्वेद में कहा गया है—नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'।[2] उपनिषदों में भी 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके,'[3] 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[4] 'सदसच्चामृतं च यत्'[5] इत्यादि वचनों द्वारा एक ही तत्त्व में अनेक विरुद्ध पक्षों का कथन किया गया है। भगवान् महावीर के समकालीन भगवान् बुद्ध के उपदेशों में जो अव्याकृत प्रश्न कहे गये हैं उनमें भी अनेकान्तवाद की झलक देखी जाती है। फिर भी जैनेतर वाङ्मय में अनेकान्तवाद का निखरा स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन आगमों में ही वह रूप मिलता है।

जैन आगमों का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है। आगमों के जो भाष्य आदि उपलब्ध होते हैं उनमें भी तर्क शैली से विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। जैन वाङ्मय के दार्शनिक ग्रंथों में ही इसका विस्तृत विवेचन मिलता है। इसका विकसित रूप प्रथमतः उमा स्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्य में प्राप्त होता है। आगे चलकर सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि अनेक विद्वानों द्वारा अनेकान्तवाद की अधिकाधिक विशद व्याख्या की गई है। देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र तथा यशोविजय जी के साहित्य में अनेकान्तवाद को अधिक समन्वयात्मक व्याख्या है।

सम्भवतः जैन आगमों में भी प्रथमतः तत्त्व के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान करने के लिये ही अनेकान्तवाद की खोज की गई होगी। विद्वानों ने इस के उद्भव के विषय में एक अन्य प्रकल्पना भी प्रस्तुत की है। उनका विचार है कि बौद्धिक अहिंसा ही अनेकान्तवाद के रूप में प्रतिफलित हुई है। जब अहिंसा के सिद्धान्त को बौद्धिक क्षेत्र में भी लागू किया जाता है तो यह अहिंसा हमें दूसरों के विचारों का आदर करने और उनकी सहानुभूतिपूर्ण परीक्षा करने की प्रेरणा देती है। वस्तुतः मानव की दृष्टि किसी एक ही पदार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न हो सकती है; क्योंकि पदार्थ के अनेक पहलू होते हैं। अन्य विचारकों की दृष्टि के प्रति आदर भाव रखकर हम वस्तु के तात्त्विक रूप को अधिक समझ सकते है। इस प्रकार, जैन धर्म की अहिंसा जब दूसरों के विचारों के प्रति आदर भाव सिखलाती है, अर्थात् बौद्धिक अहिंसा के रूप में आती है तो उसे अनेकान्तवाद कहते है।[6]

भारतीय दर्शन के जैनेतर आचार्यों ने अनेकान्तवाद के मन्तव्य का तर्क तथा युक्तियों के आधार पर खण्डन किया है, इसके मानने वालों पर नाना प्रकार के व्यंग्य भी किये है जिनमें शंकराचार्य, धर्मकीर्ति तथा वाचस्पति मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। इधर जैन विद्वानों ने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का उत्तर दिया है तथा अनेकान्तवाद की अधिकाधिक युक्तिसगत व्याख्या करने का प्रयास किया है। हरिभद्र सूरि के अनेकान्तवाद के विजयपताका आदि ग्रंथों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित होती है। अनेकान्तवाद के विषय में एक सामान्य आक्षेप यह है कि एक ही वस्तु मे विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, एक ही वस्तु युगपत् सत् और असत् कैसे हो सकती है? इसका समाधान है-दृष्टि-भेद से, जैसे सांख्य की दृष्टि में कुण्डल उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् है (सत्कार्यवाद); किन्तु न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में कुण्डल उत्पत्ति से पूर्व असत् है (असत्कार्यवाद)। अनेकान्त दृष्टि के अनुसार, इन दोनों मतों में सत्यता है। दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं अपितु एक दूसरे के पूरक है, एक दूसरे की कमी को पूरा करते हैं। वस्तुतः कार्य

---

१. ऋग्वेद, १.१६४.४६।
२. वही, १०.२.१२९।
३. ईशावास्योपनिषद्, ५।
४. कठोपनिषद्, २.२०।
५. प्रश्नोपनिषद्, २.५।
६. मि०, इन्ट्रोडक्शन, अनेकान्तजयपताका (बड़ोदा आरियन्टल इन्स्टीट्यूट, १९४७), पृ० c XIV.

और कारण ये दोनों एक दृष्टि से अभिन्न हैं और दूसरी से भिन्न भी हैं। जब हम दोनों को अभिन्न रूप में देखते है तो कुण्डल को सुवर्ण से अभिन्न समझते हुए (या कहिये सुवर्ण का परिणाम या रुपान्तर मानते हुए) उत्पत्ति से पूर्व भी सुवर्ण में कुण्डल को सत् कहने लगते हैं, अथवा सुवर्ण में कुण्डल रचना की शक्ति है, इसी शक्ति की दृष्टि से कुण्डल को उत्पत्ति से पूर्व सत् कह दिया जाता है। दूसरी दृष्टि मे सुवर्ण से कुण्डल भिन्न है। यदि भिन्न न होता या पहले से ही सुवर्ण में कुण्डल विद्यमान होता तो सुवर्णकार उसे बनाने के लिये प्रयत्न क्यों करता? अतः कहा जाता है कि कुण्डल आदि कार्य सुवर्ण मे असत् है। इस प्रकार, दो विरुद्ध धर्म सत्त्व तथा असत्त्व युगपत् एक कुण्डल मे रहते है। दृष्टि भेद से सत् और असत् का समन्वय करने पर तत्त्व का यथार्थ-बोध होता है। सिद्धसेन दिवाकर बतलाते है कि सद्वाद और असद्वाद दोनो अनेकान्त दृष्टि से नियमित हों तभी सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनते है, क्योंकि एक-एक व्यस्त होकर वे दोनों संसार के दुःख से मुक्ति नहीं साधते।[1]

अनेकान्तवाद को संशयवाद कहकर भी इसका खण्डन किया गया है। यह ठीक है कि अनेकान्तवाद को स्याद्-वाद से पृथक् नहीं किया जा सकता; किन्तु स्याद्वाद मे जो 'स्यात्' शब्द है वह क्रियापद नहीं है और उसका अर्थ यह नहीं है—ऐसा भी सम्भव है। वस्तुतः यहा 'स्याद्' शब्द अव्यय है, जिसका अर्थ है 'किसी प्रकार'(कथञ्चित्)। अतः 'स्यादस्ति' का अर्थ है 'वस्तु किसी प्रकार किसी दृष्टि से है'। इसी प्रकार, 'स्यान्नास्ति' का अर्थ होगा—'वस्तु किसी दृष्टि से नहीं भी है'। एक ही वस्तु मे दृष्टि-भेद या अवस्था-भेद के अनुसार भाव और अभाव का निर्णय किया जा सकता है, यह अभी ऊपर बतलाया गया है। अतः स्याद्वाद या अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं है और न यह अज्ञानवाद ही है। वस्तुतः यह वाद वस्तु के स्वरूप का निश्चयात्मक रूप में ही विवेचन करता है और साथ ही विविध आचार्यों के विरोधी वादों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय भी करता है।

भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में समन्वय और सह-अस्तित्व की भावना का आदर किया है। इस भावना का बीज वेदों तथा उप-निषदों मे विद्यमान है। यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। वेदान्त के 'अनिर्वचनीयवाद' में, बुद्ध के 'अव्याकृतवाद' में तथा उत्तरवर्ती विभज्यवाद और सांख्य की परिणामी नित्यता में इस समन्वय-भावना के संकेत मिलते हैं। न्यायसूत्रों मे भी नितान्त एकान्तवादियों के मतों का निराकरण करके दृष्टि–भेद की ओर संकेत किया गया है। फिर भी अनेक आचार्यों ने जो जैनदर्शन के अनेकान्त-वाद का जोरदार शब्दों मे खण्डन किया है उसके पीछे तत्कालीन प्रवृत्ति ही कही जा सकती है। वादों के विवाद मे प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करना और अपने सम्प्रदाय के युक्त या अयुक्त मत का प्रतिपादन करना मतवादी अपना कर्तव्य समझता था। अन्य दर्शनों के आचार्यों ने ही नहीं, अनेकान्तवाद के पोषक आचार्यों ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया था। यदि सभी मतवादी सत्य की खोज को लक्ष्य करके एक तत्त्वान्वेषी की भांति दूसरे की दृष्टि का आदर करते तो सत्य के विवेचन मे अधिक सफल होते।

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त तत्त्व विवेचन मे ही सहा-यक नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसकी उप-योगिता है। इसका व्यावहारिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक महत्व है। व्यावहारिक दृष्टि से यह अनेकान्तवाद बहुत से विवादो और झगड़ों से मानव-समाज को बचा सकता है। विरोधी के विचारो के प्रति सहिष्णुता का भाव यदि प्रत्येक मानव मे होगा तो विवाद-ग्रस्त विषयों में दूसरे के पक्ष को समझकर उसे सुलझाने की प्रवृत्ति स्वयं ही हो जायेगी। हमारे अनेक विवादों, वैमनस्यों और मत–भेदों का मूल है दूसरे के भाव को न समझना या विरोधी के विचारो के प्रति सहिष्णुता न रखना।

धार्मिक विवादों से बचने के लिये भी अनेकान्त दृष्टि उपयोगी है। धर्मसहिष्णुता का भाव रखकर ही विविध सम्प्रदाय एक दूसरे के साथ सुख-शान्ति से रह सकते हैं। यदि किसी के तथाकथित धार्मिक आचरण से

---

१. द्र०, सन्मतिप्रकरण, ३.५.१।

समाज के अन्य व्यक्तियों के मन में दुःख होता है या समाज की शान्ति एवं व्यवस्था भंग होती है या समाज की यथेष्ट प्रगति में बाधा पड़ती है अथवा समाज के किसी अन्य अहित की आशङ्का है तो अनेकान्त दृष्टि मानव को सन्मार्ग दिखला सकती है। ऐसी दृष्टि वाला व्यक्ति अपने मन्तव्य पर आग्रह नहीं करता, दूसरों के हृदय को समझने का भी प्रयास करता है और मानवता-विरोधी मन्तव्य या आचरण से विलग हो जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी अनेकान्तवाद स्वीकार्य ही है। तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान आदि को प्रायः सभी दर्शनों ने दुःख-निवृत्ति या मुक्ति का साधन माना है। किन्तु तत्त्वज्ञान क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? इत्यादि विषयों मे विविध आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत है— 'नैको मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्'। फिर तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान कैसे सम्भव है? इसका उत्तर है अनेकान्त दृष्टि से। जब जिज्ञासु जन तत्त्व-सम्बन्धी या आत्म-सम्बन्धी विविध वादो को एक ही सत्य के अनेक पहलू मान लेता है तो उन विवादों मे उलझा नही रहता, वह तो साधना मे मग्न होकर सत्य की खोज मे तत्पर रहता है।

अनेकान्त दृष्टि का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है। मानव-मन श्रद्धा और तर्क दोनों से युक्त है। किसी समय श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो किसी समय तर्क की प्रवृत्ति उग्र हो जाती है। श्रद्धा से आप्लावित जन तर्क या बुद्धि की अवहेलना कर देता है और तर्क का पक्षपाती श्रद्धा को केवल अन्ध-परम्परा मान लेता है। किन्तु केवल श्रद्धा भाव से या केवल तर्क से किसी तथ्य का निर्णय करना कठिन है। श्रद्धा का अभिप्राय है मानव के अर्जित ज्ञान के प्रति विश्वास तथा आस्था रखना। यदि मानव जाति ने केवल इतना ही किया होता तो सभ्यता और संस्कृति का विकास उत्तरोत्तर न हुआ होता। दूसरी ओर, केवल तर्क का क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित है। वह प्रत्येक व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति, योग्यता और संस्कारों पर निर्भर है। किञ्च, मानव जाति के अर्जित ज्ञान-विज्ञान पर आस्था रखकर ही तर्क के द्वारा आगे बढ़ा जा सकता है। अतः केवल श्रद्धा या केवल तर्क ज्ञान प्राप्ति के अधूरे साधन है नितान्त अपूर्ण है। इनका समन्वय ही मानव को समुन्नत कर सकता है। यह समन्वय अनेकान्त दृष्टि से ही हो सकता है।

इस प्रकार, अनेकान्त दृष्टि केवल तत्त्व निर्णय मे ही सहायक नही है, यह वह दृष्टि है जिसके द्वारा मानव का जीवन शान्त और सुखी हो सकता है, जिसमे मनुष्य के पारस्परिक विवादो, सामाजिक संघर्षों का अन्त हो सकता है। इस अनेकान्त दृष्टि का निरूपण करके भगवान् महावीर ने मानव जाति का महान् कल्याण किया है।

कुरुक्षेत्र विद्यालय,
कुरुक्षेत्र हरियाणा)

□ □ □

(पृष्ठ ६० का शेषांश)

खाते। तुक के आग्रह से कवि ने छंदो के पदान्त हकार, इकार एव अकार रूप में कर दिये हैं।

इन प्रेमाख्यानो की भाषा मध्यकाल में प्रचलित लोक भाषा राजस्थानी है, जिसे विद्वानों ने 'जूनी गुजराती' अथवा प्राचीन राजस्थानी कहा है। यह राजस्थानी-व्याकरण सम्मत, गुजराती शब्दों और विभक्तियों की बहुलता लिये हुए है। इसका प्रमुख कारण गुजराती और राजस्थानी भाषा का एक ही मूल शौरसेनी प्राकृत से उद्गम तथा मध्यकाल में गुजरात और राजस्थान की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता का होना है। ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य है—कितला, घरना, थई, मूकी, मोकलस्यां, नगरनो, एतलू, वीजी, पामी, जूवा, मोकलई इत्यादि।

इस प्रकार कुशललाभ के प्रेमाख्यानक काव्य मध्य-कालीन राजस्थानी सस्कृति एवं साहित्यिक प्रवृत्ति के जीवन्त प्रतीक है। उनमे प्रकृति का खुलकर उपयोग हुआ है। यह प्रयोग उद्दीपन की अपेक्षा आलंबन रूप में ही अधिक हो पाया है।

प्राध्यापक-हिन्दी विभाग,
जनता महाविद्यालय (कु० क्षे० वि० वि०
से संबद्ध), बावल (हरियाणा)

जैन कला : उद्गम और आत्मा

☐ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

जैन धर्म का उद्देश्य है मनुष्य की परिपूर्णता अर्थात् संसारी आत्मा की स्वयं परमात्मत्व में परिणति। व्यक्ति मे जो अन्तर्निहित दिव्यत्व है उसे स्वात्मानुभूति द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए यह धर्म प्रेरणा देता है और सहायक होता है। सामान्यत: इस मार्ग मे कठोर अनुशासन, आत्मसंयम, त्याग और तपस्या की प्रधानता है। किन्तु एक प्रकार से कला भी 'दिव्यत्व की प्राप्ति का और उसके साथ एकाकार हो जाने का पवित्रतम साधन है', और कदाचित् यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि '*धर्म के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि मे यथार्थ कला-*बोध जितना अधिक सहायक है उतना अन्य कुछ नही।' संभवतया यही कारण है कि जैनों ने सदैव ललित कलाओं के विभिन्न रूपों और शैलियों को प्रोत्साहन दिया। कलाएं निस्संदेह, मूलत: धर्म की अनुगामिनी रही किन्तु उन्होंने इसकी साधना की कठोरता को मृदुल बनाने मे भी सहायता की। धर्म के भावात्मक, भक्तिपरक एव लोकप्रिय रूपों के पल्लवन के लिए भी कला स्थापत्य की विविध कृतियों के निर्माण की आवश्यकता हुई, अत: उन्हें वस्तुत: सुन्दर बनाने में श्रम और धन की कोई कमी नही की गयी। जैन धर्म की आत्मा उसकी कला में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। यह यद्यपि बहुत विविधतापूर्ण और वैभवशाली है परन्तु उसमें जो शृंगारिकता, अश्लीलता या सतहीपन का अभाव है, वह अलग ही स्पष्ट हो जाता है। वह सौंदर्यबोध के आनन्द की सृष्टि करती है पर उससे कहीं अधिक, सशक्त, उत्प्रेरक और उत्साहवर्धक है और आत्मोत्सर्ग, शांति और समत्व की भावनाओं को उभारती है। उसके साथ जो एक प्रकार की अलौकिकता जुड़ी है, वह आध्यात्मिक चिन्तन एवं उच्च आत्मानुभूति की प्राप्ति में निमित्त है।

विभिन्न शैलियों और युगों की कला एवं स्थापत्य की कृतियां समूचे देश में बिखरी है, परन्तु जैन तीर्थ स्थल विशेष रूप से, सही अर्थों में कला के भंडार हैं; और एक जैन मुमुक्ष का आदर्श ठीक वही है, जो 'तीर्थयात्री' शब्द से व्यक्त होता है, जिसका अर्थ है ऐसा प्राणी जो सांसारिक जीवन में अजनबी की भांति यात्रा करता है। वह सांसारिक जीवन जीता है, अपने कर्त्तव्यो का पालन और *दायित्वों का निर्वाह सावधानीपूर्वक करता* है, तथापि उसकी मनोवृत्ति एक अजनबी दृष्टा या पर्यवेक्षक की बनी रहती है। वह बाह्य दृश्यों से अपना एकत्व नहीं जोड़ता और न ही सांसारिक सम्बन्धो और पदार्थों में अपने आप को मोहग्रस्त होने देता है। वह एक ऐसा यात्री है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के त्रिविध मार्ग का अवलम्बन लेकर अपनी जीवनयात्रा करता है, और अपनी आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर तब तक बढ़ता चला जाता है जब तक कि वह अपने लक्ष्य अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति नही कर लेता। वास्तव मे, जैन धर्म के पूजनीय या पवित्र स्थान को तीर्थ (घाट) कहते हैं क्योंकि वह दु:खों और कष्टों से पूर्ण संसार को पार करने में मुमुक्ष के लिए सहायक होता है और निरन्तर जन्ममरण के उस भ्रमण से मुक्त होने में भी सहायता देता है जो इस सहायता के बिना कभी मिट नहीं सकता। यही कारण है कि जैन तीर्थयात्रा का वास्तविक उद्देश्य आत्मोत्कर्ष है। कदाचित् इसीलिए जैनों ने अपने तीर्थक्षेत्रों के लिए जिन स्थानों को चुना, वे पर्वतों

की चोटियों पर या निर्जन और एकान्त घाटियों मे हैं ; जो जनपदों और भौतिकता से प्रदित सांसारिक जीवन की धापाधापी से भी दूर हरे-भरे प्राकृतिक दृश्यों तथा शांत मैदानों के मध्य स्थित हैं, और जो एकाग्र ध्यान और आत्मिक चिन्तन में सहायक एवं उत्प्रेरक होते है। ऐसे स्थानों के निरन्तर पुनीत संसर्ग से एक अतिरिक्त निर्मलता का संचार होता है और वातावरण आध्यात्मिकता, अलौकिकता, पवित्रता और लोकोत्तर शांति से पुनर्जीवित हो उठता है। वहाँ, वास्तु स्मारकों (मदिर देवालयों आदि) की स्थापत्य कला और सबसे अधिक मूर्तिमान तीर्थंकर प्रतिमाएं अपनी अनन्त शांति, वीतरागता और एकाग्रता से भक्त तीर्थयात्री को स्वयं 'परमात्मत्व' के सान्निध्य की अनुभूति करा देती है। आश्चर्य नहीं यदि वह पारमार्थिक भावातिरेक में फूट पड़ता है—

'चला जा रहा तीर्थ क्षेत्र मे अपनाए भगवान को।
सुन्दरता की खोज मे, अपनाए भगवान को॥'

तीर्थक्षेत्रो की यात्रा भक्त जीवन की एक अभिलाषा है। ये स्थान, उनके कलात्मक मन्दिर, मूर्तियाँ आदि जीवंत स्मारक है मुक्तात्माओं के, महापुरुषो के, धार्मिक तथा स्मरणीय घटनाओं के। इनकी यात्रा पुण्यवर्धक और आत्मशोधक होती है। यह एक ऐसी सचाई है जिसका समर्थन तीर्थयात्रियो द्वारा वहा बिताये जीवन से होता है। नियम, सयम, उपवास, पूजन, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचनो का श्रवण, भजन-कीर्तन, दान और आहारदान आदि विविध धार्मिक कृत्यो में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता है। विभिन्न व्यवसायो और देश के विभिन्न प्रदेशों से आये आबाल-वृद्ध नर-नारी वहा पूर्ण शांति और वात्सल्य से पुनीत विचारों मे मग्न रहते है।

यह एक तथ्य है कि भारत की सास्कृतिक धरोहर को समृद्ध करने वालों में जैन अग्रणी रहे हैं। देश के सांस्कृतिक भन्डार को उन्होने कला और स्थापत्य की अगणित विविध कृतियो से सम्पन्न किया जिनमे से अनेकों की भव्यता और कलागरिमा इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी है कि उनकी उपमा नही मिलती और उन पर ईर्ष्या की जा सकती है।

यह भी एक तथ्य है कि जैन कला प्रधानतः धर्मोन्मुख रही, और जैन जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू की भांति कला और स्थापत्य के क्षेत्र मे भी उनकी विश्लेषात्मक दृष्टि और यहां तक कि वैराग्य की भावना भी इतनी अधिक परिलक्षित है कि परम्परागत जैन कला में नीतिपरक अंकन अन्य अंकनों पर छा गया दिखता है, इसीलिए किसी-किसी को कभी यह खटक सकता है कि जैन कला में उसके विकास के साधक विशुद्ध सौंदर्य को उभारने वाले तत्वों का अभाव है ; उदाहरणार्थ, मानसार आदि ग्रथों मे ऐसी सूक्ष्म व्याख्याए मिलती है जिनमे मूर्ति शिल्प और भवन निर्माण की एक रूढ़ पद्धति दीख पड़ती है और कलाकार से उसी का कठोरता से पालन करने की अपेक्षा की जाती थी। किन्तु, यही बात बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की कला मे भी विद्यमान है, यदि कोई अन्तर है तो वह श्रेणी का है।

जैन मूर्तियो मे जिनों या तीर्थंकरो की मूर्तिया निरसंदेह सर्वाधिक है और इस कारण यह आलोचना तर्क संगत लगती है कि उनके प्राय: एक जैसी होने के कारण कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर कम मिल सका। पर इनकी भी अनेक मूर्तियां अद्वितीय बन पड़ी है, यथा—कर्नाटक के श्रवणबेलगोल की विश्वविख्यात विशालकाय गोम्मट-प्रतिमा, जिसके विषय मे हैनरिख जिम्मर ने लिखा है—"वह आकार-प्रकार मे मानवीय है, किन्तु हिमखन्ड के सदृश मानवोत्तर भी, तभी तो वह जन्म-मरण के चक्र, शारीरिक चिन्ताओं, व्यक्तिगत नियति, वासनाओं, कष्टों और होनी-अनहोनी के सफल परित्याग की भावना को भलीभाति चरितार्थ करती है।" एक अन्य तीर्थंकर मूर्ति की प्रशंसा में वह कहता है—"मुक्त पुरुष की मूर्ति न सजीव लगती है न निर्जीव, वह तो अपूर्व अनत शाति से ओतप्रोत लगती है। एक अन्य द्रष्टा कायोत्सर्ग तीर्थंकर-मूर्ति के विषय में कहता है कि 'अपराजित बल और अक्षय शक्ति मानो जीवंत हो उठे हैं, वह शालवृक्ष (शाल-प्रांशु) की भांति उन्नत और विशाल है।" अन्य प्रशसकों के शब्द है, 'विशालकाय शांति', 'सहज भव्यता', या परिपूर्ण काय-निरोध की सूचक कायोत्सर्ग मुद्रा जिससे ऐसे महापुरुष का संकेत मिलता है

जो अनन्त, अद्वितीय केवल-ज्ञानगम्य सुख का अनुभव करता है और ऐसे अनुभव से वह उसी प्रकार अविचलित रहता है जिस प्रकार वायु-विहीन स्थान में अचंचल दीप-शिखा। इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर मूर्तियां उन विजेताओं की प्रतिबिम्ब है जो, जिम्मर के शब्दों में, लोकाग्र मे सर्वोच्च स्थान पर स्थिर है और क्योंकि वे रागभाव से अतीत है अतः सभावना नही कि उस सर्वोच्च और प्रकाशमय स्थान से स्खलित होकर उनका सहयोग मानवीय गतिविधियों के इस मेघाच्छन्न वातावरण मे आ पड़ेगा। तीर्थ सेतु के कर्ता विश्व की घटनाओ और जैविक समस्याओ से भी निर्लिप्त है, वे अतीन्द्रिय, निश्चय, सर्वज्ञ, निष्कर्म और शाश्वत शांत है। यह तो एक आदर्श है जिसकी उपासना की जाये, प्राप्ति की जाये। यह कोई देवता नही जिसे प्रसन्न किया जाये, तृप्त या सतुष्ट किया जाये, तृप्त स्वभावतः इसी भावना से जैन कला और स्थापत्य की विषय-वस्तु ओतप्रोत है।

किन्तु, दूसरी ओर, इन्द्र और इन्द्राणी, तीर्थंकरों के अनुचर यक्ष और यक्षी, देवी सरस्वती, नवग्रह, क्षेत्रपाल और सामान्य भक्त नर-नारी, जैन देव-निकाय के अपेक्षाकृत कम महत्व के देवताओं या देवतुल्य मनुष्यो के मूर्तन मे, तीर्थंकरों और अतीत के अन्य सुविख्यात पुरुषो के जीवन चरित्र के दृश्यांकनों मे और विविध अलकरण प्रतीकों के प्रयोग मे कलाकार किन्हीं कठोर सिद्धान्तो से बंधा न था, वरन् उसे अधिकतर स्वतन्त्रता थी। इसके अतिरिक्त भी, कलाकार को अपनी प्रतिभा के पदर्शन का पर्याप्त अवसर था, प्राकृतिक दृश्यो तथा समकालीन जीवन की धर्म निरपेक्ष गतिविधियों के शिल्पांकन या चित्रांकन द्वारा जो कभी-कभी विलक्षण बन पड़े, जिनसे विपुल ज्ञातव्य तत्त्व प्राप्त होते हैं और जिनमे कलात्मक सौंदर्य समाया हुआ है। पर, इन सबमे भी कलाकार को जैन धर्म की शुद्धाचार नीति को ध्यान में रखना था, इसीलिए उसे शृंगार, अश्लीलता और अनैतिक दृश्यो की अपेक्षा करनी पड़ी।

जहां तक स्थापत्य का प्रश्न है, आरम्भ में जैन साधु क्योंकि अधिकतर वनों में रहते थे और भ्रमणशील होते थे, अतः जनपदों से दूर पर्वतों के पार्श्वभाग में या चोटियों पर स्थित प्राकृतिक गुफाएँ उनके अस्थायी आश्रम तथा आवास के उपयोग में आयी। यहाँ तक कि आरम्भ में निर्मित गुफाएँ सादी थी और सल्लेखना धारण करने वालों के लिए उनमे पालिशदार प्रस्तर शय्याएँ प्रायः बना दी जाती थी। तीसरी-चौथी शती ईसवी से, जनपथो से हटकर बने मन्दिरों या अधिष्ठानों में लगभग स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति जैन साधुओं के एक बड़े समूह मे चल पड़ी, इससे शैलोत्कीर्ण गुफा मन्दिरों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, इस धर्म की विविध व्यावहारिक आवश्यकताओं ने, निस्सदेह, विशेष कार्यों के लिए अपेक्षित भवनो को प्रभावित किया।[१] तथापि, जैन साधु अपने जीवन से सयम धर्म को कभी अलग न कर सके। सम्भवतया यही कारण है कि अजन्ता और एलोरा के युगों मे भी, थोड़ी सख्या मे ही जैन गुफाओं का निर्माण हुआ, और पाचवी से बारहवी शताब्दियों के मध्य ऐसे लगभग तीन दर्जन मात्र गुफा मन्दिर ही निर्मित किये गये, वे भी केवल दिगम्बर आम्नाय द्वारा, श्वेताम्बर साधुओ ने पहले ही जनपदों में या उनके समीप रहना आरम्भ कर दिया था।

मन्दिर-स्थापत्य-कला का विकास प्रत्यक्षतः मूर्ति-पूजा के परिणामस्वरूप हुआ जो जैनो से कम से कम इतिहास काल के आरम्भ से प्रचलित रही है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है कि वज्जि देश और वैशाली के अर्हत-चैत्यों का अस्तित्व था जो बुद्ध-पूर्व अर्थात महावीर-पूर्व काल से विद्यमान थे, (तुलनीय महापरिनिव्वान-सुत्तन्त)। चौथी शती ईसा-पूर्व से हमें जैन मूर्तियों, गुफा-मन्दिरों और निर्मित देवालयों या मन्दिरों के अस्तित्व प्रत्यक्ष मिलने लगते है।

अपने मन्दिरों के निर्माण में जैनो ने विभिन्न क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों को तो अपनाया, किन्तु उन्होंने अपनी स्वयं की सस्कृति और सिद्धान्तों की दृष्टि से कुछ लाक्षणिक विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया जिनके कारण जैनकला को एक अलग ही स्वरूप मिल गया।

कुछ स्थानों पर उन्होंने समूचे 'मन्दिर-नगर' ही खड़े कर दिये।

मानवीय मूर्तियों के अतिरिक्त, अलंकारिक मूर्तियों के निर्माण में भी जैनों ने अपनी ही शैली अपनायी, और स्थापत्य के क्षेत्र मे अपनी विशेष रुचि के अनुरूप स्तंभाधारित भवनों के निर्माण में उच्च कोटि का कौशल प्रदर्शित किया। इन में से कुछ कला-समृद्ध भवनों की विख्यात कला-मर्मज्ञों ने प्राचीन और आरम्भिक मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की सुन्दरतम कृतियों में गणना की है। बहुत बार, उत्कीर्ण और तक्षित कलाकृतियों मे मानव-तत्व इतना उभर आया है कि विशाल, निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मूर्तियों में जो कठोर संयम साकार हो उठा लगता है उसका प्रत्यावर्तन हो गया। कला कृतियों की अधिकता और विविधता के कारण उत्तरकालीन जैन कला ने इस धर्म की भावनात्मकता को अभिव्यक्त किया है।

जैन मन्दिरों और वसदियो के सामने, विशेषतः दक्षिण भारत में, स्वतंत्र खड़े स्तंभ जैनो का एक अन्य योगदान है। मानस्तंभ कहलाने वाला यह स्तंभ उस स्तंभ का प्रतीक है जो तीर्थंकर के समवशरण (सभागार) के प्रवेश द्वारों के भीतर स्थित कहा जाता है। स्वयं जिन-मन्दिर समवसरण का प्रतीक है।

जैन स्थापत्यकला के आद्य रूपों में स्तूप एक रूप है, इसका प्रमाण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। वहाँ एक ऐसा स्तूप था जिसके विषय में ईसवी सन् के आरम्भ तक यह मान्यता थी उसका निर्माण सातवें तीर्थंकर के समय में 'देवों' द्वारा हुआ था और पुनर्निर्माण तेईसवें तीर्थंकर के समय में किया गया था। यह स्तूप कदाचित् मध्यकाल के आरम्भ तक विद्यमान रहा। किन्तु, गुप्त-काल की समाप्ति के समय तक जैनों की रुचि स्तूप के निर्माण में नही रह गयी थी।

एक बात और, जैसा कि लांगहर्स्ट का कहना है, 'स्थापत्य पर वातावरण के प्रभाव का यथोचित्त महत्व समझते हुए हिन्दुओं की अपेक्षा जैनों ने अपने मन्दिरों के निर्माण के लिए सदैव प्राकृतिक स्थान को ही चुना।'[3] उन्होने जिन अन्य ललित कलाओं का उत्साहपूर्वक सृजन किया उनमें सुलेखन, अलंकार, लघुचित्र और भित्तिचित्र, संगीत और नृत्य है। उन्होंने सैद्धांतिक पक्ष का भी ध्यान रखा और कला, स्थापत्य, सगीत एव छन्दशास्त्र पर मूल्यवान् ग्रंथों की रचना की है।

कहने की आवश्यकता नही कि जैन कला और स्थापत्य में जैन और जैन संस्कृति के सैद्धातिक और भावनात्मक आदर्श अत्यधिक प्रतिफलित हुए है, जैसा कि होना भी चाहिए था।[4]

ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ—१

□□□

१. जिम्मर (हैनरिख). फिलासफीज़ आफ इन्डिया, १९५१ न्यूयार्क, पृष्ठ १८१-८२।

२. स्मिथ (वी. ए.) : हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इन्डिया सीलोन १९३० आक्सफोर्ड पृष्ठ ६।

३. लांगहर्स्ट (ए. एच): हम्पी रूइन्स, मद्रास, पृष्ठ ९९।

४. तुलनीय : जैन (ज्योति प्रसाद) : जैन सोर्सेज आफ द हिस्ट्री आफ ऐंश्येंट इन्डिया १९६४ दिल्ली, अध्याय १०।
जैन (ज्योति प्रसाद) : रिलीजन एन्ड कल्चर आफ जैन्स (मुद्रण मे), अध्याय ८ और प्रस्तुत ग्रन्थ के विभिन्न अध्याय।

प्रशमरतिप्रकरण-कार तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के कर्ता से भिन्न

□ डा० कुसुम पटोरिया, नागपुर

तत्त्वार्थसूत्र जैन तत्त्वज्ञान का संग्राहक, सुन्दर, सुव्यवस्थित और महत्त्वपूर्ण ग्रथ है, जो दोनों ही सम्प्रदायों में आगम-ग्रन्थों की भांति ही समाहृत है। तत्वार्थसूत्र का भाष्य स्वोपज्ञ है या अन्योपज्ञ यह प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है। श्वेताम्बर परम्परा स्वोपज्ञ भाष्य के अतिरिक्त प्रशमरतिप्रकरण आदि ग्रन्थों को उमास्वाति प्रणीत मानती है।

प्रशमरतिप्रकरण ३१३ कारिकाओं में रचित ग्रन्थ है, जिसमे सक्षेप मे जैन तत्वज्ञान को गुम्फित किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत भाषा में प्रणीत है। तत्त्वार्थसूत्रकार ही प्रथम आचार्य है, जिन्होंने संस्कृत सूत्र-शैली मे जैन तत्त्वज्ञान को पिरोया है। प्रशमरति-प्रकरण भी संस्कृत में सक्षिप्त शैली मे रचित है। प्रशमरतिप्रकरण का तत्त्वार्थसूत्र से कहीं-कहीं शब्दशः साम्य है।

साम्य

प्रशमरति-प्रकरण की चार कारिकाओं में तत्त्वार्थ-सूत्र के सूत्र ज्यों के त्यों विद्यमान है।

प्रशमरति—

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।
साकारोऽनाकरश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥[1]

तत्त्वार्थसूत्र—

उपयोगो लक्षणम्।[2] स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः॥[3]

प्रशमरति—

उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि।
सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात्॥[4]

तत्त्वार्थसूत्र—

सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।
तद्भावाव्ययं नित्यम्। अर्पितानर्पितसिद्धेः॥[5]

प्रशमरति—

एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा॥[6]

तत्त्वार्थसूत्र—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तन्निसर्गादधिगमाद्वा।[7]

प्रशमरति—

एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः।
एकादीन्येकस्मिन् भाष्यानि त्वाचतुर्भ्यः इति॥[8]

तत्त्वार्थसूत्र—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।[9]

प्रशमरति—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंपदः साधनानि मोक्षस्य।
तस्विकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः॥[10]

तत्त्वार्थसूत्र—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[11]

प्रशमरतिप्रकरण की उक्त कारिकाओं में तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र के सूत्र ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिए गये है। उक्त साम्य प्रशमरतिप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र के एक-कर्तृत्व का आभास देता है।

---

१. प्रशमरतिप्रकरण, कारिका १६४।
२. तत्त्वार्थसूत्र २/८।
३. वही २/६।
४. प्रशमरतिप्रकरण २०४।
५. तत्त्वार्थसूत्र ५/२६, ५/३०, ५/३१, ५/३२ (दिगम्बर पाठानुसार)।
६. प्रशमरतिप्रकरण, कारिका २२२।
७. तत्त्वार्थसूत्र १/२-३।
८. प्रशमरति-२२६।
९. तत्त्वार्थसूत्र १/३०।
१०. प्रशमरति २३०।
११. तत्त्वार्थसूत्र १/१।

प्रशमरतिप्रकरण की भाष्य के साथ भी काफी समानता है। प्रशमरति में उपयोग को द्विविध साकार एवं अनाकार बताया है।[१] तत्त्वार्थभाष्य में भी ज्ञानोपयोग को साकार तथा दर्शनोपयोग को अनाकार शब्दों से उल्लिखित किया है।[२] प्रशमरति में कहा गया है: सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में से एक के भी अभाव में मोक्षमार्ग असिद्धिकर है।—

तास्वेकतराभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः।[३]

इन्हीं शब्दों का भाष्य में प्रयोग है :—

एकतराभावेऽप्यसाधनानि।[४]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी चारित्र कभी होता है कभी नहीं, किन्तु चारित्र के होने पर सम्यग्दर्शन और ज्ञान का लाभ सिद्ध ही है। इस बात को प्रशमरतिप्रकरण तथा भाष्य मे लगभग एक-से शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है।

प्रशमरति—

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तर भवति।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः॥[५]

तत्त्वार्थभाष्य—

एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम्।
उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।[६]

प्रशमरति मे शिक्षा, आगम, उपदेशश्रवण अधिगम के तथा स्वभाव और परिणाम निसर्ग के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं।

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च॥[७]

भाष्य में भी ये ही पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं—

आगमः अधिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षाउपदेशइत्यनर्थान्तरम्।...निसर्गः परिणामः स्वभाव. अपरोपदेशइत्यनर्थान्तरम्।[८]

तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में अभिनिबोध को उल्लिखित किया है।[९] प्रशमरति में भी मतिज्ञान को अभिनिबोधक कहा है।[१०]

संसारानुप्रेक्षा का प्रशमरतिप्रकरण का वर्णन भाष्यानुसारी है—

माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव।[११]

भाष्य— माता हि भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति।
भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति......।[१२]

इस प्रकार प्रशमरतिप्रकरण का तत्त्वार्थसूत्र व तत्त्वार्थभाष्य से शाब्दिक साम्य है, जो आपाततः दोनों के कर्ता के ऐक्य की संभावना को जन्म देता है।

वैषम्य

प्रशमरतिप्रकरण तथा सभाष्य तत्त्वार्थ में महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अन्तर है।

१. **द्रव्य संख्या**—तत्त्वार्थसूत्रकार मुख्य ५ द्रव्य मानते हैं। काल द्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय मे वे उदासीन है। श्वेताम्बर पाठ 'कालश्चेत्येके'[१३] तो निश्चित रूप से काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व के विषय मे सूत्रकार की तटस्थता को द्योतित कर रहा है। दिगम्बर पाठ 'कालश्च' के द्वारा भी सूत्रकार की मान्यता का विश्लेषण करें, तो यह कह सकते हैं कि सूत्रकार इस विषय में तटस्थ थे।

अजीव द्रव्यों के वर्णन से पांचवे अध्याय का आरम्भ होता है यहां प्रथम सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चारों को अजीवकाय कहा गया है। यहां काल के कायत्व का अभाव होने से उसका परिग्रहण नहीं किया गया। द्रव्याणि[१४] जीवाश्च[१५] इन दो सूत्रों के उपरान्त

---

१. प्रशमरति, १९४।
२. तत्त्वार्थसूत्र १/९ का भाष्य।
३. प्रशमरति २३०।
४. तत्त्वार्थसूत्र १/१ का भाष्य।
५. प्रशमरति, २३१।
६. तत्त्वार्थसूत्र १/१ का भाष्य।
७. प्रशमरति २२३।
८. तत्त्वार्थसूत्र १/३ का भाष्य।
९. तत्त्वार्थसूत्र १/१३।
१०. प्रशमरति २२५। ११. प्रशमरति १५६।
१२. तत्त्वार्थसूत्र २/७ का भाष्य। १३. तत्त्वार्थसूत्र५/३८।
१४. वही ५/२। १५. वही ५/३।

कालद्रव्य का उल्लेख संभव व आवश्यक था, किन्तु यहां कालद्रव्य का वर्णन नहीं है। जीवद्रव्य का वर्णन पहले के अध्यायों में हो चुका। पांचवे काल व्यतिरिक्त चार अजीव द्रव्यों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् सूत्रकार द्रव्य का सामान्य लक्षण करते हैं। गुणपर्ययवद् द्रव्यम्[1]। इसके उपरान्त वे कालद्रव्य का उल्लेख करते हैं।[2] यदि सूत्रकार काल को भी पृथक् द्रव्य मानते, तो अवश्य उसका उल्लेख भी अजीवद्रव्यों की गणना के साथ अर्थात् 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गल के[3] तुरन्त बाद 'द्रव्याणि' सूत्र के पहले करते अथवा जीवाश्च के साथ अर्थात् उसके तुरन्त बाद करते। इतना नहीं तो कम से कम द्रव्य का सामान्य लक्षण करने के पूर्व अवश्य करते।

आकाशादेकद्रव्याणि। निष्क्रियाणि च।[4] इन दो सूत्रों द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों को एक-एक तथा निष्क्रिय कहा है। कालद्रव्य भी निष्क्रिय है, पर उसकी निष्क्रियता का सूत्रों में कहीं संकेत नहीं है। द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या[5] का विचार करते समय 'नाणो.'[6] अणु को अप्रदेशी कहा है। काल भी अप्रदेशी है, परन्तु उसका उल्लेख नहीं है। कालद्रव्य की यह उपेक्षा सिद्ध करती है कि वे काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

भाष्यकार ने तो सर्वत्र द्रव्य को पांच प्रकार का ही कहा है। एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति।[7] आकाशाद् धर्मादीन्येन द्रव्याण्येव भवन्ति। पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि।[8]

धर्म से आकाश तक धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य है। पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं। यहाँ भी उन्होंने काल द्रव्य का उल्लेख नहीं किया है।

एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति ·· न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।[9]

कालश्चेत्येके का भाष्य है—एके त्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।[10]

प्रशमरतिकार निर्विवाद रूप से षड्द्रव्य इष्ट है—

धर्माधर्माकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः।
पुद्गलवर्णमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः॥
... ...
जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः॥[11]

इस प्रकार द्रव्यों के विषय में सैद्धान्तिक मतभेद है।

२. जीव के भाव :—

तत्त्वार्थसूत्र में जीव के पाँच भाव माने गये हैं। वही भाव भाष्यकार को अभीष्ट हैं।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारणामिकौ च।[12]

प्रशमरतिप्रकरणकार ने छह भाव माने हैं। सान्निपातिकभाव का भी परिग्रहण किया है :—

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारणामिकश्चैव।
औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते॥
ते चैकविंशतित्रिद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः।
षष्ठश्च सान्निपतिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः॥[13]

३ ऊर्ध्वलोक :—

प्रशमरतिप्रकरणकार ने ऊर्ध्वलोक को १५ प्रकार का कहा है। ये १५ भेद कौन से है, इनका विवरण नहीं है। देव चार प्रकार के है, इनमे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क मध्यलोक मे रहते है। वैमानिक ऊर्ध्वलोक मे रहते है। वे दो प्रकार के है : कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्पोपपन्न १२ प्रकार के है। कल्पातीत मे नौ ग्रैवेयक, (दिगम्बर परम्परानुसार नौ अनुदिश भी) तथा ५ अनुत्तर विमानवासी देव है। इनके अतिरिक्त, सिद्धशिला भी ऊर्ध्वलोक में है, जिसमें सिद्धों का निवास है। इस प्रकार १२ कल्पों के बारह, ग्रैवेयकों का एक, अनुत्तर विमानों का एक तथा ईषत्प्राग्भार या सिद्धशिला का एक भेद मिलाकर १५ भेद होते है।

---

१. वही ५/३७ या ३८। २. वही ५/३९।
३. वही ५/१। ४. तत्त्वार्थसूत्र ५/६-७।
५. वही ५/८, ९, १०, ११।
६. वही ५/११।
७. सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र, पृ. २४७।
१०. ५/५ का भाष्य।
११. ५/६ का भाष्य।
१२. ५/३८ का भाष्य।
१३. प्रशमरति प्रकरण, कारिका २०७ व २१०।
१४. तत्त्वार्थसूत्र २/१ प्रशमरतिप्रकरण १९६ व १९७।

टीकाकार ने १२ कल्पों के १० भेद किये हैं क्योंकि अनन्त-प्राणत तथा आरण-अच्युत इन युगलों का एक-एक इन्द्र होने से एक-एक भेद है। नौ ग्रैवेयकों के अधो, मध्य तथा उपरितन के भेदानुसार तीन भेद, पाँच महाविमानों का एक भेद तथा ईषत्प्राग्भार का एक भेद मिलाकर कुल १५ भेद होते हैं। इस प्रकार, इन दोनों प्रकार की गणनाओं से ऊर्ध्वलोक १५ प्रकार का होता है।

तत्त्वार्थभाष्यकार तो ज्योतिष्क देवों के एक भेद प्रकीर्णक ताराओं की स्थिति ऊर्ध्वलोक में मानते है।

सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तूर्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति।[1]

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार उक्त १५ भेदों के अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक का एक भेद और मान रहे है, जो कि प्रकीर्णक ताराओं का है, जिसका समावेश उक्त १५ भेदो मे सभव नही है।

४. संयम के भेदों में अन्तर :--

यद्यपि प्रशमरति प्रकरण तथा तत्त्वार्थभाष्य दोनो में सयम के १७ भेद प्रदर्शित किये गये है, सख्या मे समानता होने पर नाम अलग अलग है।

प्रशमरतिप्रकरण मे पाँच आस्रवद्वारों से विरति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय तथा तीन दण्ड से उपरति १७ प्रकार का संयम माना गया है।

पञ्चास्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥[2]

तत्त्वार्थभाष्य मे ये भेद इस प्रकार है :—

योगनिग्रहः सयमः। ससप्तदशविधः। तद्यथा पृथिवीकायिकसयमः अप्कायिकसंयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायुकायिकसयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पञ्चेन्द्रियसंयमः, प्रेक्ष्यसंयमः, उपेक्ष्यसंयमः, अपहृत्यसंयमः, प्रमृज्यसंयमः, कायसयमः, वाक्सयमः, मनः संयमः, उपकरणसयमः इति सयमो धर्मः।[3]

तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के साथ प्रशमरतिप्रकरण का उक्त साम्य-वैषम्य इस बात को स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के कर्ता व प्रशमरति के कर्ता एक नहीं हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यकार ने अपने सम्पूर्ण परिचय-परक प्रशस्ति दी है, परन्तु प्रशमरतिकार ने अपना नामोल्लेख भी नहीं किया है। इससे दोनों का रुचि-भेद प्रकट होता है।

इन ग्रन्थों का जो पारस्परिक भावगत साम्य है, उसका कारण तत्त्वज्ञान का एक ही स्रोत से उद्भूत होना है। इसी कारण पारिभाषिक शब्दों में समानता है। शब्दगत साम्य इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थसूत्र व भाष्य प्रशमरतिकार के समक्ष विद्यमान थे और वे जिन पूर्व कवियो द्वारा रचित प्रशमजननशास्त्रपद्धतियों का उल्लेख करते है सभाष्य-तत्त्वार्थसूत्र उनमें से एक हैं।

प्रशमरतिप्रकरणकार स्वय कहते है कि जिनवचनरूप समुद्र के पार को प्राप्त हुए महामति कविवरों ने पहले वैराग्य को उत्पन्न करने वाले अनेक शास्त्र रचे है। उनसे निकले हुए श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशाङ्ग के अर्थ के अनुसार है। परम्परा से वे बहुत थोड़े रह गये है, परन्तु मैंने उन्हे रङ्क के समान एकत्रित किया है। श्रुतवचनरूप धान्य के कणों में मेरी जो भक्ति है, उस भक्ति के सामर्थ्य से मुझे जो अविमल, अल्प बुद्धि प्राप्त हुई है. अपनी उसी बुद्धि के द्वारा वैराग्य के प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्ग की पगडंडीरूप यह रचना की है।[4]

इन कारिकाओं से स्पष्ट है कि उक्त प्रकरण की रचना जिन विभिन्न विशिष्ट ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर उनका सार ग्रहण कर की गई है, उनमे से एक तत्त्वार्थसूत्र व उसका भाष्य भी है। शब्दसाम्य का यही कारण है।

अस्तु, इतना निश्चित है कि प्रशमरतिप्रकरण अन्य-कर्तृक है क्योंकि एक ही व्यक्ति दो ग्रन्थों में दो भिन्न मतों का प्रतिपादन नही कर सकता। प्राचीन (सिद्धसेन-हरिभद्र आदि) तथा नवीन विद्वानों में दोनों के एक-कर्तृत्व की जो भ्रान्ति है, उसका कारण उक्त शब्द साम्य ही है।

आजाद चौक, सदर, नागपुर (महाराष्ट्र)

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ४/१४ का भाष्य।
२. प्रशमरति १७२।
३. तत्त्वार्थसूत्र ९/६ का भाष्य।
४. प्रशमरतिप्रकरण, कारिका ५-७।

(पृष्ठ ५६ का शेषांश)

किया गया है । अतः अलंकारशास्त्र से इस रचना का कोई संबन्ध ही नहीं है । छोटी-सी रचना है, इसलिए मूलरूप में आगे दी जा रही है । यह रचना खरतरगच्छ के आ० जिनसमुद्रसूरि के समय में रची गई, अतः इसका रचनाकाल सं० १५३० से सं० १५५५ के बीच का है । आ० सागरचन्द्र सूरि के शिष्य वाचनाचार्य रत्नकीर्ति, उनके शिष्य समयभक्त के शिष्य पुण्यनन्दि थे । इस हिन्दी भाषा की ३२ पद्यों वाली रचना पर सबसे पहले सं० १५८२ में 'बालावबोध' रत्नरंगोपाध्याय ने लिखा था । इसकी प्रशस्ति इस प्रकार है—

"पुण्यनद्युपाध्यायेन शीलरूपकमालिका,
विहिता भव्यजीवानां चित्त शुद्धविधायिनी ।
नेत्र[२] सिद्धि[८] बाण[५] चन्द्रे[१] वर्षे नभसि मासिना
श्री रत्नरंगोपाध्यायैः कृतावबोधिनी ॥"
इति रूपकमाला बालावबोधः ।

हमारे अभय जैन ग्रंथालय में भी इस बालावबोध की पंद्रह और ग्यारह पत्रों की दो प्रतियां है । मूल रचना की अन्य चार प्रतियां भी हमारे संग्रह में हैं । इनमें से एक प्रति मे कुछ टिप्पण भी लिखे हुए है । कविवर समयसुन्दर ने सं० १६६३ में इस पर संस्कृत टीका लिखी है । उसकी भी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है ।

इसके बाद दूसरी 'रूपकमाला' नामक रचना पार्श्वचन्द्रसूरि की बतलाई गई है । वह भी हिन्दी भाषा के ३० पद्यों की रचना है, जो सं० १५८६ में राणकपुर में रची गई है । इसके आदि और अन्त के चार पद्य 'जैन-गुर्जर कविओ ,भाग १, पृष्ठ १४७ में प्रकाशित है । उन्हे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना भी अलंकार विषयक नहीं है । आदि और अन्त के पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

आदि—

आपिई आप सम्भालिये रे, जिवड़ा विचारि ।
आज्ञा जिननी पालिए, शिवसुखनी दातरी ।
आत्मासार सीख सुणो !

अन्त—

राणिकपुर रलियामणो, आदीश्वर जिनराउ ।
पार्श्वचन्द्र प्रभु करि एह पसाउ ॥ २८ आ० ॥

होज्यो नारि निराशमय, परमानंद उल्लास ।
भक्ति-भाव मुझ मन भमर ने तुम पय-कमलि निवास ॥२९
संवत पनर छयासिऐ, कीनी रूपकमाल ।
उत्तम ते कंठिइ धरै जसु मन सील रसाल ॥३०आ०

जिस तीसरी 'रूपकमाला' का उल्लेख प० अम्बलाल शाह ने किया है, उसके लिए उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया कि वह कहां प्राप्त है । मुझे इसकी कोई सूचना व प्रति नही मिली है, पर मेरा ख्याल है कि वह भी अलंकार विषयक नही होगी ।

अब हम पुण्यनंदि की रूपकमाला का मूल पाठ यहाँ दे रहे है ।

पुण्यनंदिरचित रूपकमाला

आदि जिणेसर आदिसउ । सरसति दसण दाखि ।
शील तणा गुण गाइस्यं । तिहुयण सामंणि साखि ॥१॥
आतमराम शील धार । शीलइ परमाणद आ०
इम अभणइ श्री पुन्यनंदि ॥२॥ आ० आंचलो
सोह शील लाजइ लहइ । भूषण भारिम अंग ।
असाधु वादिनी संस्कृता, किम गिरी गाह दुरंग ॥२॥ आ०
मूस मंजारि मेला वदउ, किहा कुसल तणां ताह ।
वन जिणि दिणि दीसइ नही, उत्तराध्ययन की बाह ॥३॥आ०
किस ऊपरि धोवइ घसइ, मूडी मांडिम अंग ।
मंडण आल अकमिया, दसवीकालिक कुरंग ॥४॥आ०
घीसयणा सण फसणे, जह जयणा गुण गोढ़ ।
आवश्यक इम आइखइ, अठइ कहीयउ कोढ ॥५॥आ०
कहिउँ कपिलइ केवली, राम राखि सी एह ।
पुरुष पलोभ पलोटियइ, दाखि म दाखसी एह ॥६॥आ०
से लग लग जिन रखितउ खूतउ सबल जल पूरि ।
रयण दीव देवी दहयउ, रिर सार सम समूरि ॥७॥ आ०
वाधिणे वीर वेल घडो, भामणि भरवण भूल ।
कंटइ कोथी कामिणी, प्रवचन पर कउ मूल ॥८॥आ०
घरि पूपलि का खाद की, अनइ पूपलिका खाद ।
वरजि वास मुणि मोणिली, दुतीय पढम पद जाद ॥९॥आ०
वय श्रुत जनन प्रमाणियइ, बुदि बलं बहुंकाई ।
खीणा वदका केवली, ललना लिंग लुकाइ ॥१०॥आ०
जे गुरु राग उदीरगा, जे जइ भनव वाडि ।
वयरी वाहर थानक इ, ते पापी हे पाडइ छाडि ॥११॥आ०

तिणि भंजी नव बाडिली, दीघउ मोगर बाउ ।
धी प्रसंग जिणि थापीयउ तिणि मारयउ सजय राऊ।। १२ ।।
खंड मेंमी भर मीडि यइ जइ प्रसंग हुइ नारि ।
ते आलोयण छूटि स्यइ, पुणि थापइ ते भणत संसारि ।।१३।।
सार्मक कायक दोस लज, वाचक व्यापक दोसि ।
जइ न सुकल संविग्रथा, वांइ कृष्ण पाक्षिक होसि ।।१४।।आ०
साधु देखि भणि वीसलइ, मकरि सिवणउ प्रसंग ।
साधु चोर कथइ हुवइ तऊ सुसिल्यइ इस पतंग ।।१५।।आ०
ताते ताल मेला वडउ, भागां एक वटाउ ।
मुंड रंड रह गोठमी, ए मुझ खरी न सुहाई ।।१६।।आ०
सामु है थाए भूकता, ते मुनिवर मनि हालि ।
छांडि छटइ ते जीव ते, ते विरला इणि कालि ।।१७।। आ०
पंचा गाठि गोपालिका, नल दव दति भ्रांति ।
आपो आपे बिलूरियउ, कनकमाला अवदाति ।।१८।।आ०
अमर कंक दोषई लई, रायमई रह नेमि ।
बंधू समणि समाई सउ, अंवर डइ अरहर न एमि ।।१९।।आ०
कूल वालमा गही गह्यउ समण सेकावइ पेट ।
सिंह गुफा वासी करइ, रयण कंवल की भेट ।।२०।।आ०
मासु पवासि मोखी, मू भउ राम राम कहि न दे ।
वल कल करउरिजे घरइ सा, सू सुं चल्यउ अछंद।।२१।।आ०
भूल पयावइ पुत्रिका, भंमर भइणी भूल ।
पोलग भूल भुजाइयां, जालहूज जणणी भूल ।।२२।।आ०
खेली खेली माखी मरइ, कुह्यउ काजी किणी काजी ।
पांमस घसइ इहा जीवीया, मीठी मधू बिंदु रजि ।।२३।।आ०
तेदु छद रजु बेढिला, गज न्हाण सिरि धूलि ।
अरहट मालि विसुगि आ, भगणि जल इतरू मूलि ।।२४।।
वयई चतुर चुय छांहडी, घास पयहउ गोण
जल बलि लीह म खोलइ, पंच मुहि विति दोणि ।।२५।।आ०
हुया हुच्यहं छह बहूं, सील मलील विलास ।
निश्चइ हित जाणी करो, जेपुं करता वेहुउ विणास ।।२६।।
भ्रम भजइ सिग डाली यउ विग्रह वंड जुडेत ।
खेत्रि न खल्यउ सुंर मणऊ, अगो अग भिडत ।।२७।।आ०
रमणे सहस चउरासि पारण पुण्य जु वीर ।
सुकल विसण परिवदयति, भोजनत फल होई ।।२८।।आ०
गुरु गछा काहु करे सही, सीसा काहु करति ।
करण जोग जे आपणा, ते साचा सिव विति ।।२९।।आ०
सबल शील महिमा मिलउ, कुसील सूरि सिरि पार ।
जिनसमुद्र सूरि सोहवइ, खरतर गुरु कऊ पार ।।३०।।आ०
कुसील उछापक सुसील, सत्थापक सागरचंद ।
सूरिराय वाणायरी, रयण-कीरत गणिचंद ।।३१।।आ०
समय भगतवर वाचका वीर विनेयानद ।
रूपकमाला सीलनी, इम प्रमणइ श्रीपुण्यनन्द ।।३२।।आ०

इति श्री रूपकमाला सम्पूर्ण । वाचनाचार्य श्री भुवनकीर्ति गणि विनेय पं० भुवनविजय कृतेमलेखि पं० मानकीर्तिनाम् श्रीऽस्तु शुभ भवतु । □□□

[पृ० ५५ का शेषांश]

१०. निघण्टुशेष—हेमचन्द्र, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९६८

११. देशीनाममाला—हेमचन्द्र, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९३८

१२. प्रमाणमीमांसा—हेमचन्द्र, तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदनगर, १९७०

१३. योगशास्त्र—हेमचन्द्र, ऋषभचन्द्र जौहरी, दिल्ली, १९६३

१४. स्याद्वादमंजरी—मल्लिषेण, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९३५

१५. अर्हन्नीति—हेमचन्द्र, अहमदाबाद, १९०६

१६. वीतरागस्तोत्र—हेमचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९४९

१७. महादेवस्तोत्र—हेमचन्द्र, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३५

१८. द्विजवदनचपेटिका—हेमचन्द्र, हेमचन्द्र सभा, पाटन, १९२२

१९. अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय—हेमचन्द्र, साराभाई नवाब (जैन स्तोत्र संदोह, भाग १, पृ० १-१३), अहमदाबाद १९३२

२०. आचार्य हेमचन्द्र—वि० भा० मुसलगांवकर, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१

२१. हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र—जार्ज बुहलर, हिन्दी अनु०—कस्तूरमल बांठिया, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६७

22. Life of Hemacandracarya—G. Buhler, Singhi Jain Jnanpith, Santiniketan, 1936

23. Studies in Hemacandra's Desinamamala—H. C. Bhayani, P. V. Research Instiute, Varanasi, 1966

□□□

भगवान् महावीर के उपासक राजा

☐ मुनिश्री महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

भगवान् महावीर इस भू-मण्डल पर बहुत्तर वर्ष रहे। वे बारह वर्ष साधना-पर्याय मे एवं अन्तिम तीस वर्ष तक केवली पर्याय में रहे। बारह वर्ष के साधन-काल मे उन्हे जो उपलब्धियां प्राप्त हुई, उन्हें उन्होने तीस वर्षों तक मुक्त रूप से जनता को प्रदान किया। इस अवधि में शूद्र, अन्त्यज, किसान, कुम्भकार, श्रेष्ठी, सामन्त राजकुमार, राजा, महामात्य सेनापति आदि हजारों-लाखो व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क मे आये और वे साधना मे अग्रसर हुए। भगवान् महावीर के उपदेश उस समय व्यापक रूप ले चुके थे। समग्र मगध, सिन्धुसौवीर, अवन्ती, काशी, कोशल, वत्स आदि तत्कालीन राज्यों की जनता एवं राजसत्ताएं पूर्ण रूप से उनके प्रति श्रद्धाशील थी। उस समय के राजनैतिक इतिहास के सन्दर्भ मे यदि धार्मिक परम्पराओं का आकलन किया जाता है, तो ज्ञात होता है कि वर्तमान का पूरा बिहार प्रान्त, उत्तर प्रदेश का अधिकांश भू-भाग, अवन्ती प्रदेश, सिन्ध नदी का तटवर्ती प्रदेश, कर्णाटक आदि के राजा व अनेक राजा, राजकुमार तथा रानियां उनसे श्रमण-धर्म प्राप्त कर साधना मे अग्रणी रहे थे। ईरान के राजकुमार आर्द्रकुमार ने भारत आकर भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार किया था।

शिशुनाग वंश

मगध साम्राज्य पर शिशुनाग वंश का ३३३ वर्ष तक एकछत्र आधिपत्य रहा। परन्तु श्रेणिक और अजातशत्रु कोणिक का राज्य-काल भगवान् महावीर की वर्तमानता में था। दोनों ने ही समीपता से उनके धर्म का गहरा अनुशीलन किया था। अजातशत्रु कोणिक की भगवान महावीर के प्रति गहरी भक्ति की झलक तो इस एक उदाहरण से ही प्राप्त हो जाती है कि वह प्रतिदिन उनके कुशल-संवाद मगवाता था। इस कार्य के लिए उसने एक प्रवृत्ति-वादुक पुरुष के नेतृत्व में अनेक अन्य अनुचरों की नियुक्ति कर रखी थी। भगवान् महावीर जब कभी राजगृह आते थे, श्रेणिक और कोणिक अत्यन्त श्रद्धा के साथ उनकी पर्युपासना करते थे। यह एकमात्र ऐसा नगर था, जहां उन्होंने चौदह चातुर्मास किये थे।

राजा श्रेणिक की भगवान् महावीर के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। एक बार उसने राज-परिवार, सामन्तों तथा मन्त्रियोंके बीच घोषणा की थी। कि कोई भी व्यक्ति भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहे, तो मैं उसमें बाधक नहीं बनूगा, अपितु सहयोग करूंगा। इस उद्घोषणा से प्रेरित होकर जालि, मयालि आदि श्रेणिक के तेईस पुत्र तथा नन्दा, नन्दमती आदि तेरह रानियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर जब सर्वप्रथम भगवान् महावीर राजगृह पधारे तो श्रेणिक ने सम्यक्त्व धर्म तथा महामात्य अभय कुमार ने श्रावक धर्म स्वीकार किया था। महामात्य अभयकुमार, राजकुमार मेघ, नन्दीसेन तथा वारिषेण ने यथासमय दीक्षा ग्रहण कर उच्च साधना की थी।

शिशुनाग वंश में राजा श्रेणिक ही निर्ग्रन्थ (जैन) धर्म का अनुयायी बना हो, इतना ही नहीं है, बल्कि वह वंशानुगत भी निर्ग्रंथ था। उसके पिता राजा प्रसेनजित भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के उपासक सम्यग्दृष्टि श्रावक थे।

दशाश्रुत-स्कन्ध में, राजा श्रेणिक द्वारा अत्यन्त श्रद्धा-भरित हृदय से पूरे परिवार व रानी चेलना के साथ भगवान् महावीर के समवसरण में जाने एव धर्म-देशना सुनने का सुविस्तृत वर्णन है। राजा श्रेणिक का वह अद्वितीय प्रकार था। उसे देखकर बहुत सारे साधु-साध्वियां भी चकित रह गई थीं। 'ज्ञाता धर्मकथांग' के १३वें अध्याय में भी अत्यन्त समारोह के साथ पर्युपासना करने का रोचक वर्णन है।

अजातशत्रु कौणिक भगवान् महावीर के प्रति विशेष श्रद्धावनत था। जब भी उसे ऐसा अवसर प्राप्त होता, वह उसका मुक्त उपयोग करता था। एक बार भगवान् महावीर चम्पा के निकटवर्ती उपनगर में पधारे। प्रवृत्ति-वादुक पुरुष ने कौणिक को सूचित किया। राजा ने तत्काल राज-सिंहासन छोड़ा, पादुकाएं उतारी, खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् और चामर आदि पांचों राज्य चिह्न दूर किये। एकसाटिक उत्तरासग किया। अंजलिबद्ध होकर मस्तक को धरणीतल पर लगाया। अंजलि को मस्तक पर लगाकर 'णमोत्थुणं' से अभिवादन करते हुए बोला—'आदिकर, तीर्थंकर, सिद्ध गति के अभिलाषुक भगवान् महावीर मेरे धर्म गुरु, धर्मोपदेशक और धर्माचार्य हैं। उन्हें मेरा नमस्कार है।' राजा पुन: राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। प्रवृत्ति-वादुक पुरुष को एक लाख अष्ट सहस्र मुद्राओं का प्रीतिदान दिया।

भगवान् महावीर जब चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे, तो प्रवृत्ति-वादुक पुरुष ने पुन: राजा कौणिक को सूचित किया। उस समय कौणिक ने उसे साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राओं का प्रीतिदान किया। राजा के आदेश से हस्तिरत्न सजाया गया, चतुरंगिणी सेना सन्नद्ध हुई, रानियों के लिए रथ तैयार हुए, गलियों और राजमार्गों को सजाया गया। राजा कौणिक सब प्रकार से सुसज्जित होकर अपार वैभव व आडम्बर के साथ चम्पा के मध्य भाग से होता हुआ पूर्णभद्र चैत्य के समीप आया। मन में अत्यन्त उल्लास था। पांच अभिगमन के अनन्तर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया, पर्युपासना की तथा धर्म-देशना सुनी। आनन्दचित्त-कौणिक उठा और अन्त:करण से प्रेरित होकर उसने निवेदन किया--'भन्ते। आपका निर्ग्रन्थ प्रवचन सु-आख्यात है, सुप्रज्ञप्त है, सुभाषित है, सुविनीत है, सुभावित है, अनुत्तर है। आपने धर्म को कहते हुए उपशम को कहा, उपशम को कहते हुए विवेक कहा, विवेक को कहते हुए विरमण को कहा, विरमण को कहते हुए पाप-कर्मो के अकरण को कहा। अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नही है, जो ऐसा धर्म कह सके। इससे अधिक की तो बात ही क्या ?

महामात्य अभयकुमार श्रेणिक का पुत्र था। भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति के प्रति उसका पूर्ण समर्पण था। मगध के साम्राज्य का कुशलतापूर्वक संचालन करता हुआ वह धर्माराधना में भी मनसा, वाचा व कर्मणा लीन था। पारस्य (ईरान) देश के राजकुमार आर्द्रक (अर्देशिर) को निर्ग्रन्थ धर्म की ओर आकर्षित करने का श्रेय अभयकुमार को ही है। आर्द्रक ईरान से चलकर भारत आया और उसने भगवान् महावीर के समवसरण में साधना की। अभयकुमार के समक्ष एक प्रसग उपस्थित हुआ कि वह मगध का राजा बने या श्रमण। उस समय राज्य की ओर से वह मुड गया और श्रमण बन कर भगवान् महावीर द्वारा निरूपित साधना मे प्रवृत्त हो गया।

वज्जी गणराज्य

गंगा के दक्षिण तटवर्ती राज्यों के प्रमुखों की तरह उत्तरीय गणराज्यों के प्रमुख भी भगवान् महावीर के अनन्य श्रावक थे। महाराजा चेटक वज्जी सघ के अध्यक्ष होने के साथ साथ धर्म-क्रियाओ मे भी अग्रणी थे। ७७०७ गणराजाओ के प्रमुख चेटक भगवान् महावीर के दृढ़धर्मी प्रमुख उपासक थे। 'आवश्यकचूर्णि' आदि मे इनको व्रत-धारी श्रावक कहा गया है। अनुश्रुति के अनुसार, वे इतने कट्टर श्रावक थे कि साधर्मिक राजा के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ अपनी पुत्रियो के विवाह न करने का भी उनका प्रण था। श्रमणोपासक के बारह व्रतों की साधना में वे दृढ़मनस्क थे। अहिंसा व्रत मे उनके एक विशेष अभिग्रह था कि एक दिन में एक बाण से अधिक नही चलाऊँगा। वे जो बाण चलाते थे, वह अमोघ होता था। वैशाली में २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का एक स्तूप था। उसके प्रभाव से ही वैशाली सदैव अजेय रहती थी। कुणिक ने जब वैशाली के प्राकार को भग करना चाहा, तो सबसे पहले छद्म से उस स्तूप को ही तुड़वाया, इस प्रकार अनेक प्रमाणों से जाना जा सकता है कि महाराजा चेटक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक, महान् योद्धा तथा अत्यन्त न्यायप्रिय होने के साथ साथ भगवान् महावीर के विख्यात श्रावकों मे से भी थे।

सिंहभद्र आदि राजा चेटक के दश पुत्र थे। वे सभी वीर योद्धा, यशस्वी, दृढ़ धार्मिक और भगवान् महावीर के अनन्य भक्त थे। सिंहभद्र तो वज्जीसंघ के प्रधान सेनापति भी थे। सिंहभद्र का उल्लेख त्रिपिटको मे भी पाया जाता है।

राजा चेटक की सात पुत्रियां थी, जिनका तत्कालीन प्रभावशाली राजाओं के साथ विवाह हुआ था। वे सभी राजा भगवान् महावीर के श्रद्धालु श्रावक थे। प्रभावती वीतभय के राजा उद्रायण, पद्मावती अंग देश के राजा दधिवाहन, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक, शिवा उज्जैन के राजा प्रद्योत, ज्येष्ठा भगवान् महावीर के ज्येष्ठ बन्धु राजा नन्दीवर्धन, चेलणा मगध के राजा श्रेणिक को ब्याही गई थीं। सुज्येष्ठा ने अविवाहित अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इन राजाओं मे से अधिकांश जीवन के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में अवश्य ही भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति मे अनुरक्त हो गये थे। सातों पुत्रियां तो बाल्य-काल से ही निर्ग्रन्थ धर्म की उपासिकाएं थी।

अन्य राजा

भारत के विभिन्न प्रदेशों के अधिशासी अधिकाश राजाओं ने उस समय भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार की थी। भगवान् महावीर के दिव्य उपदेश ने प्रत्येक को प्रभावित किया था। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के माता-पिता श्रावक थे। वह भी निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी बना, किन्तु उस समय जबकि शतानीक की रानी मृगावती तथा प्रद्योत की शिवा आदि आठ रानियां भगवान् महावीर के समवसरण में प्रव्रज्या ग्रहण करती हैं, वह भी उस प्रव्रज्या समारोह में सम्मिलित था। कौशाम्बी का राजा उदयन राजा कुणिक की तरह दृढ़ श्रद्धालु श्रावक था। वीतभयपुर का राजा उद्रायण भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ और केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हुआ। राजा उद्रायण की प्रव्रज्या भावना को जानकर उसको प्रव्रजित करने के लिए भगवान् महावीर भयंकर गर्मी मे उग्र व प्रलम्ब विहार कर सिन्धुसौवीर की राजधानी वीतभय पहुंचे थे। दशार्णपुर के राजा दशार्णभद्र, हस्तिशीर्ष के राजकुमार सुबाहु कुमार, सौगन्धिका के राजा महाचन्द्र, सुघोस नगर के राजा अर्जुन के भद्रनन्दी कुमार, बाराणसी के राजा अलक्ख, पृष्ठचम्पा के राजा गागलि, चम्पा के राजकुमार महाचन्द्र, ऋषभपुर के राजा धनावाह के राजकुमार भद्रनन्दी, पोत्तनपुर के राजा प्रसन्नचन्द्र, कनकपुर के राजा प्रियचन्द के राजकुमार वैश्रमण, महापुर के राजा बल के राजकुमार महाबल, मथुरा के राजा शंख हस्तिनापुर के राजा शिव, बसन्तपुर के राजा समरवीर, पावा के राजा हस्तिपाल एवं पुण्यपाल, पलाशपुर के राजा विजयसेन व राजकुमार एमत्त, वाराणसी की राजकुमारी मुण्डिका पोदनपुर के राजा विद्रराज, कपिलवस्तु के राजा शाक्य बप्प, पांचाल-नरेश जय आदि सैकड़ों राजाओं एवं राजकुमारों ने भगवान् महावीर के निर्देशन मे श्रामण धर्म की साधना की थी।

दक्षिण प्रदेश

भगवान् महावीर की विहार-भूमि यद्यपि भारतीय पूर्वाचल, पश्चिमाचल तथा उत्तराचल ही रही, पर उनकी साधना से दक्षिण प्रदेश के राजा न केवल प्रभावित ही थे, अपितु उन्होंने निर्ग्रन्थ-साधना भी की थी। वर्तमान कर्णाटक का एक भू-भाग हेमांगद देश के नाम से विख्यात था। वहां का राजा सत्यन्धर परम श्रावक था। मन्त्री कुष्टांगार के षड्यंत्र से उसकी मृत्यु हो गई। राजकुमार जीवन्धर पिता की मृत्यु के बहुत वर्षों बाद राजा हुआ। जीवन्धर का रोचक व साहसिक इतिहास तत्कालीन तथा उत्तरवर्ती संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़ तथा तमिल के साहित्यकारों का मुख्य आकर्षण केन्द्र रहा। प्रलम्ब समय तक राज्य का कुशल सचालन करने के अनन्तर उसे भगवान् महावीर की पर्युपासना का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ और उसने श्रमण-साधना आरंभ कर दी।

कोटिवर्ष (लाढ़) के किरातराज चिलात श्रावक जिनदेव से प्रेरित होकर अमूल्य रत्न पाने की अभिलाषा से साकेत आया और वहां भगवान् महावीर से भाव रत्न ग्रहण किये, अर्थात् भागवती निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या स्वीकार की।

ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के विभिन्न अचलों मे जितना व्यापक प्रभाव भगवान् महावीर का था, इतिहास के प्रमाणों से यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि उतना प्रभाव अन्य किसी व्यक्ति का नही था। वह ज्योति बहत्तर वर्ष तक लाखों व्यक्तियों को आलोकित करती रही। कार्तिक अमावस्या की मध्यरात्रि के अनन्तर वह ज्योति देहातीत हो गई। उस समय इन्द्र तथा अन्य देव भूतल पर आये। उस प्रकाश मे भू-मण्डल आलोकित हो गया। अठारह गणराजाओ ने भाव (ज्ञान) ज्योति के अभाव मे द्रव्य ज्योति से प्रकाश किया। तब से उस उपलक्ष से दीपोत्सव की परम्परा चली आ रही है। □□□

पार्श्वनाथचरित में राजनीति और शासन-व्यवस्था

□ श्री जयकुमार जैन

पार्श्वनाथचरित वादिराजसूरि का एक महाकाव्य है। यह राजनीतिशास्त्र नही है। यद्यपि इसमे राजनीति और शासन-व्यवस्था का क्रमबद्ध वर्णन नही हुआ है, तथापि आन्तरिक अनुशीलन से तात्कालिक छिटपुट राजनीतिक स्थिति और शासनव्यवस्था का आभास मिल जाता है।

किसी भी देश में शान्तिव्यवस्था के लिए राज्य-संस्थापना और उसके संचालन की आवश्यकता होती है। सामान्यतः राज्यसंचालन की दो प्रमुख पद्धतियां है—१. राजतन्त्र, और २. प्रजातन्त्र। वैदिक काल से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के कुछ समय को छोड़कर हमारे देश में राजतंत्रीय शासन पद्धति ही रही है। पार्श्वनाथचरित के प्रणयन[1] के समय राजतंत्र ही था। पार्श्वनाथचरित के आन्तरिक विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते है:—

१. राजा

राजा (राजन) शब्द का शाब्दिक अर्थ 'शासक' होता है। लैटिन मे राजा के लिए 'रेक्स' (Rex) शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उसी अर्थ का द्योतक है। भारतीय परम्परा मे राजा की एक विशिष्ट व्याख्या की गई है। शासक को राजा कहने का प्रयोजन यह है कि वह प्रजा का अनुरजन करता है।[2] पालि साहित्य मे भी राजा की यही सैद्धान्तिक व्याख्या उपलब्ध होती है।[3]

पार्श्वनाथचरित के अनुशीलन से पता चलता है कि राजा अरविन्द मे उक्त सैद्धान्तिक व्याख्या पूर्णरूपेण घटित होती है। वह प्रजा का सदैव ध्यान रखता है। राजा अरविन्द बड़ा तेजस्वी था। अपने तेज के कारण उसने अखिल दिङ्मण्डल पर विजय प्राप्त कर ली थी। वह कलाओं से सम्पन्न था। धर्माराधना के साथ ही काम एवं अर्थ पुरुषार्थ का भी भोग करता था। वह धनधान्य-सम्पन्न, गुणवान् तथा कठोर दण्ड का धारक था, दानी था। वह समदर्शी था, परन्तु उन्नत पुरुषों में अधिक सहानुभूति रखता था।[4] इसी प्रकार अन्य राजाओं के प्रसग मे भी उक्त गुणों का वर्णन किया गया है।

२. राजा के कर्तव्य

प्रजा का अनुरंजन करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य है। महाभारत मे भीष्म ने युधिष्ठिर को इसलिए राजा कहा है, क्योंकि वह समस्त प्रजा को प्रसन्न रखता था।[5] राजा अरविन्द भी प्रजानुरंजक था। उसने अपनी भुजाओं से प्रजा को दुखरूपी कूप से निकाला।[6] शत्रुओं को पराक्रम दिखाना, अपराधियों को कठोर दण्ड देना तथा सज्जनो की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।[7] राजा अरविन्द में उक्त सभी गुण दिखाई पड़ते है।[8]

३. राजा का उत्तराधिकार

राजा का उत्तराधिकारी प्रायः उसका ज्येष्ठ पुत्र ही होता था। यही राजतन्त्र की मर्यादा रही है। पार्श्वनाथचरित में भी अरविन्द[9] एवं अन्य सभी राजाओं के उत्तराधिकारी उनके ज्येष्ठ पुत्र ही हुए हैं।

४. मन्त्री

राजतन्त्र मे राजा सर्वोच्च सत्ता है, किन्तु किसी भी महत्त्वपूर्ण निर्णय के पूर्व राजा मंत्रियों से सलाह जरूर लेता है। शुक्रनीति मे कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो, फिर भी उसे बिना मंत्रियों की सहायता के राज्य के किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिए।[10]

---

१. पार्श्वनाथचरित का रचनाकाल ई० सन् १०२५ है।

२. 'राजा प्रकृतिरजनात्।'—रघुवंश, ४.१२

३. 'धम्मेन परे रजेतीति खो वासिट्ठ राजा।'—दीघनिकाय, खण्ड ३, पृ० ९३।

४. पार्श्वनाथचरित, १.६४-७८

५. महाभारत, शांतिपर्व, ५९.१२५।

६. पार्श्वनाथचरित, १.७७

७. नीतिवाक्यामृत, ५.२, ६.३६

८. पार्श्वनाथचरित, १.६४, १.७० ९. वही ३.५८

१०. सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्र नैकोऽर्थं चिन्तयेत् क्वचित्॥
—शुक्रनीतिसार, २.२

पार्श्वनाथचरित में जो गुप्तचर जब कमठ के दुराचार की शिकायत करता है, तो मन्त्री मरुभूति उस शिकायत की सत्यता की जांच के लिए निवेदन करता हुआ कहता है—"हे देव ! यद्यपि तुम्हारे अनुचर असह्य दुःखदायक दण्ड के भय से मिथ्या बातें नहीं कहते हैं, किन्तु घटना का दृढ़ निश्चय अपराध-विशेषज्ञों द्वारा कराया जाये। जब इन्द्रियां भी निकटस्थ वस्तु के सम्बन्ध में धोखा दे देती है तो विषमाभिसन्धि भृत्यों की बात का क्या भरोसा ?"[11]

मंत्री राजा का सद् असद् देखने वाला तीसरे नेत्र के समान माना जाता था।[12] मन्त्री की मन्त्रणा से शत्रुओं तक की सम्पत्तियां राजा को प्राप्त हो जाती थी।[13] पार्श्वनाथचरित से पता चलता है कि मन्त्री प्रायः ब्राह्मण ही होते थे।

५. मन्त्री का उत्तराधिकार

मन्त्री का उत्तराधिकार भी प्रायः वंशानुक्रमिक होता था। यदि कभी बड़े पुत्र मे कोई अयोग्यता हो अथवा छोटा पुत्र अधिक गुणवान् हो तो राजा छोटे पुत्र को भी मन्त्री बना लेता था। कमठ के ज्येष्ठ होने पर भी राजा अरविन्द ने अपना मन्त्री अधिक गुणवान् मरुभूति को ही बनाया।[14] यदि किसी आकस्मिक तथा आवश्यक कार्यवश मन्त्री को राजा के साथ कहीं बाहर जाना पड़े तो राज्य-भार किसी मन्त्री परिवार के सदस्य को भी सौंपा जा सकता था। शत्रु राजा वज्रवीर पर युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय मन्त्री मरुभूति को साथ ले जाने मे राजा अरविन्द ने राज्यभार मन्त्री के अग्रज कमठ को सौंप दिया।[15]

६. युवराज और युवराज्याभिषेक

युवराज शब्द भावी राजा के लिए प्रयुक्त होता था। राजतन्त्र में युवराज का महत्वपूर्ण स्थान होता था। राजा अपने औरस पुत्र को ही युवराज पद अभिषिक्त करते थे। युवराज ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। जब राजा वज्रवीर्य ने अपने पुत्र वज्रनाभ को राज-कीय गुणों से मण्डित देखा, तो मन्त्रियों की सलाहपूर्वक उत्सव के साथ उसे युवराज पद पर अभिषिक्तकर दिया। राजा वज्रवीर्य ने बहुत दिनों से धारण किये हुए पृथिवी के भार को कुछ कम कर सुख से समय बिताया।[16]

७. सामन्त राजा

सामन्त राजा वे शासक कहलाते थे, जिन पर चढ़ाई करके राजा ने विजय प्राप्त कर ली हो, किन्तु राजा की अधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हे पुनः राजपद पर प्रतिष्ठापित कर दिया गया हो। ये राजा एक निश्चित धनराशि कर के रूप मे अपने विजेता राजा को प्रदान करते थे। शुक्रनीति में कहा गया है कि जिसमें प्रतिवर्ष प्रजा को पीड़ित किये बिना एक लाख रजतमुद्राओं से लेकर तीन लाख तक वार्षिक कर मिलता है, उसे सामन्त राजा कहते है।[17] पार्श्वनाथचरित में सामन्त राजाओं का निर्देश मिलता है।[18] वज्रवीर को जीतने के बाद राजा अरविन्द ने कर लगाकर उसे पुनः पद्मपुर का राजा बना दिया। अतएव वज्रवीर भी सामन्त राजा की श्रेणी में आ गया।[19]

८. अधिकारी एवं सेवक

राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी एवं सेवक होते थे। राजा कहीं जाता था तो वरिष्ठ अधि-कारी एवं सेवक उसके साथ जाते थे।[20] मन्त्री और युव-राज राजा की सर्वाधिक सहायता करते थे। यही कारण है कि युवराज और मन्त्री को राजा का क्रमशः दक्षिण और वाम अङ्ग के दोनों बाहु, नेत्र तथा कर्ण माना गया है।[21]

---

११. पार्श्वनाथचरित, २.५५.५७
१२. पार्श्वनाथचरित, १.९७
१३. वही, १.९६
१४. वही, १.९४
१५. वही, १.१००
१६. वही, ५.२४
१७. लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते।
वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडनैः ॥
सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधिः।
शुक्रनीति, १.१८३.८४
१८. पार्श्वनाथचरित, १.१०२
१९. वही, १.११३
२०. वही १.७३
२१. शुक्रनीति, २.१२

९. गुप्तचर

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण मे गुप्तचरों को राजा का चक्षु कहा है। चक्षु तो केवल मुख की शोभा बढ़ाते हैं और वस्तुओं को देखने का कार्य करते है, पर गुप्तचर रहस्यपूर्ण तथ्यों का पता लगाकर राज्यशासन को सुदृढ़ बनाते हैं।[२२] इसी प्रकार, सोमदेव ने गुप्तचरों को देश-विदेश का ज्ञान कराने में राजा का चक्षु कहा है।[२३]

गुप्तचर-विभाग हमेशा ही शासन की सुदृढ़ता और न्याय की सत्यता के लिए कार्यरत रहा है। गुप्तचर प्रजा की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध मे गुप्तवेश मे रहकर जानकारी प्राप्त करते थे और इसकी सूचना राजा को देते थे। पार्श्वनाथचरित में भी गुप्तचरो का निर्देश किया गया है। कमठ के दुराचार की सूचना राजा अरविन्द को एक गुप्तचर ने ही दी थी।[२४]

१०. राजा और प्रजा का सम्बन्ध

पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय राजा और प्रजा के सम्बन्ध बड़े मधुर थे। यद्यपि अपराधियों के प्रति बड़ी ही कठोर दण्डव्यवस्था थी, तथापि सामान्य प्रजा के प्रति राजा का मधुरभाव था। राजस्व के रूप मे जो धन आता था, वह प्रजा की भलाई के कार्यों मे ही खर्च किया जाता था।[२५] उस समय राजा ने साधनविहीन मार्गों मे पानीयशालिका (Water hut) की व्यवस्था कर दी थी।[२६] प्रजा का दुख से उद्धार करना ही राजा का कार्य था।[२७]

११. राजस्व

राज्य के आर्थिक आय के साधनों मे आज की तरह उस समय भी प्रजा से कर वसूल किये जाते थे। ऋग्वेद मे राजा प्रजा से कर लेने का एकमात्र अधिकारी घोषित किया गया है।[२८] पार्श्वनाथचरित में भी राजा की आय के साधनों में प्रजा से कर लेने का उल्लेख किया गया है।[२९] प्रजा के अतिरिक्त विजित राजाओं पर भी कर लगाया जाता था।[३०]

१२. न्याय और दण्डव्यवस्था

अपराधियों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।[३१] पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अपराधियों को दण्ड अत्यन्त कठोर और तिरस्कारपूर्वक दिया जाता था, जिससे भविष्य में ऐसे अपराध की प्रजा पुनरावृत्ति न कर सके। जब तक अपराध की अच्छी तरह छानबीन नहीं कर ली जाती थी, तब तक अपराधी को दण्ड नही दिया जाता था। कमठ के दुराचार का समाचार गुप्तचर द्वारा निवेदित करने पर मन्त्री की सलाह से राजा ने अपराधविशेषज्ञों द्वारा पहले सत्यता की जांच कराई, तदनन्तर कमठ को दण्ड दिया गया। पर स्त्री के साथ दुराचार के अपराध मे कमठ को गधे पर बैठाकर नगर-निष्कासन का दण्ड दिया गया।[३२]

१३. सैन्य-विभाग

देश की रक्षा तथा राष्ट्रविरोधी ताकतों एव दुश्मन दशो के दमन के लिए एक सैन्य-विभाग होता था। इसका प्रमुख अधिकारी सेनापति कहलाता था। जरूरत पड़ने पर कभी-कभी राजा स्वय भी सेना सचालन करता था। पार्श्वनाथचरित मे चतुरगिणी सेना—रथसेना, अश्वसेना, हस्तिसेना और पैदलसेना का उल्लेख हुआ है।[३३]

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित मे राजनीति, उसके विविध अगो एव शासनव्यवस्था का वर्णन मिलता है, जिससे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की स्थिति का दर्शन होता है। □□□

---

२२. चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासोत्कार्यदर्शने।
चक्षुषी पुनरस्यास्य मण्डनं दृश्यदर्शने॥
—आदिपुराण ४.१७०

२३. स्वपरमण्डलकार्याकार्यविलोकने चाराः खलु चक्षूषि क्षितीपतीनाम्।' —नीतिवाक्यामृत, १४.१

२४. पार्श्वनाथचरित, २.४

२५. वही, १.६६

२६. पार्श्वनाथचरित, १.७४ २७. वही १.७७

२८. ध्रुव ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्॥
—ऋग्वेद, १० १७३.६

२९. पार्श्वनाथचरित, १.६६

३०. वही, १.६७, १.११३

३१. नीतिवाक्यामृत, ५.१.२

३२. पार्श्वनाथचरित, २.६०

३३. वही, ७.११, १६१

भगवान महावीर की प्रजातान्त्रिक दृष्टि

☐ डा० निजामुद्दीन

प्रजातन्त्र की सफलता स्वतन्त्रता, समानता, वैचारिक उदारता, सहिष्णुता, सापेक्षता तथा दूसरों को निकट से समझने की मनोवृत्ति के विकास पर अवलम्बित है, जिसके अभाव में गणतन्त्र का अस्तित्व सदैव संदिग्ध ही रहेगा। महावीर गणतन्त्र के प्रबल समर्थक है, उनके उपदेशों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, सामाजिक साम्य, आर्थिक साम्य, धार्मिक साम्य आदि पर विशेष बल दिया गया है और ये ही गणतन्त्र के सुदृढ स्तम्भ है। यदि इनमें से कोई एक दुर्बल या शिथिल हो गया तो समझिये गणतन्त्र का भवन चरमराकर गिर जाएगा। महावीर ने एक गणतन्त्र राज्य में जन्म लिया था परन्तु वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सर्वथा लोप था; दास-प्रथा इतनी व्यापक तथा दयनीय थी कि मनुष्य मनुष्य का क्रीत दास बना हुआ था, एक व्यक्ति दूसरे के अधीन था, स्वामी का सेवक पर सम्पूर्ण अधिकार था। दास, दासी, नारी सभी का उसी प्रकार परिग्रह किया जाता था जैसे वस्तुओं, पदार्थों और पशुओं का परिग्रह करते है। उस युग मे जातीय भेदभाव की कृत्रिम खाईं बहुत चौड़ी थी। सामाजिक और आर्थिक वैषम्य के कारण चतुर्दिक् अशान्ति और कलह का वातावरण था, मताग्रह की प्रचण्ड आंधी ने सम्यक् दृष्टि को धुंधला कर दिया था। यही सब कुछ देखकर महावीर ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य का उपदेश किया।

स्वतन्त्रता की सिद्धि के लिए अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य की त्रिवेणी में अवगाहन करना पड़ता है। अहिंसा के द्वारा हम सभी के साथ मैत्री-भाव रखते हैं और इस मैत्री में ही समानता की मनोवृत्ति विद्यमान है। महावीर ने सभी प्राणियों के साथ मैत्री रखने का प्रतिपादन और किसी का वध या अनिष्ट करने का निषेध किया है। यहाँ आकर हम अपने दुःख के समान दूसरों के दुःख का समान स्तर पर अनुभव करते है, यानी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का चिरादर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रजातन्त्र में भी अपने समान दूसरों की स्वतन्त्रता का आदर किया जाता है तथा 'स्व' की संकीर्ण नली छोड़कर 'पर' के राजमार्ग पर साथ-साथ चलते हैं— दूसरों के महत्व को स्वीकार करते हैं। आज यदि बंधकों को मुक्त किया गया हैं, भूमिहीनों को भूमि प्रदान की गयी है, बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था की जा रही है—बैंकों से आसान सूद पर ऋण की व्यवस्था की जा रही है तो यह दूसरों की स्वतन्त्रता की ही स्वीकृति है।

यह मान्य है कि पराधीनता में सुख-सुविधाओं का मार्ग खुला रहता है, लेकिन ऐसी सुख-सुविधाएं अधिकतर शारीरिक आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र की उपलब्धियों तक ही परिसीमित रहती है, जबकि स्वतन्त्रता का मार्ग कष्ट और असुविधाओं से आपूर्ण रहता है। कष्ट और असुविधाओं के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर ही स्वतन्त्रता का, मुक्ति का परम सुख शान्तिमय गन्तव्य हाथ आता है। परतन्त्रता में हमें घर मिलता है--आवास सुख मिलता है लेकिन स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए घर से बेघर होना पड़ता है। घर व्यक्ति को बन्धन मे रखता है, स्वतन्त्रता मे हम घर का त्याग कर प्रशस्त चौराहे पर आकर खड़े हो जाते है—दूसरों के साथ रहते है, दूसरो को अपने साथ रखते है। जब देश स्वतन्त्रता के लिए जी-जान की बाजी लगाकर संघर्ष कर रहा था, तो लोगो ने घरो का परित्याग कर दिया था—नौकरियाँ तक छोड़ दी थी। घर से बाहर आना—घर और परिवार के प्रति ममत्व के विसर्जन करना है—और सभी मनुष्यों को अपने परिवार में शामिल करना है। यही है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उच्चादर्श की प्राप्ति। महावीर की अहिंसा इसी स्वतन्त्रता—प्राणिजगत् की स्वतन्त्रता—का कल्याणप्रद आदर्श प्रस्तुत करती है—

"अहिंसा निवणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।"

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति जो संयम है, वही पूर्ण अहिंसा है और जब तक जीवन मे असंयम रहेगा तब

तक हिंसा व परतन्त्रता रहेंगी। संयम से पराङ्मुख रहना जीवन की स्वतन्त्रता-सुख शान्ति से हाथ धोना है। महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत में संयम को ही स्पृहणीय माना है। ब्रह्मचर्य अस्वाद का शाश्वत व्रत है। अच्छा-बुरा, खट्टा-मीठा, नीरस-सरस, आकर्षण विकर्षण के मध्य संयम-रेखा खींचना ब्रह्मचर्य है। यहाँ शरीर का ममत्व स्वतः विसर्जित हो जाता है। फिर अपरिग्रह की मंजिल भी हाथ आ जाती है। जब तक वैभव का खोखला कृत्रिम प्रदर्शन किया जाएगा तब तक समाज मे ऊँच-नीच की दीवारें ऊँची ही रहेंगी और व्यक्ति व्यक्ति के बीच दूरी बनी रहेगी। उन ऊँची-नीची दीवारो को गिराये बिना मानव-समाज में शान्ति कहाँ, एकता कहाँ, स्वाधीनता कहाँ ? जहाँ एक ओर अपार वैभव होगा और दूसरी ओर घोर विपन्नता होगी तो समाज मे विसंगतियो तथा विषमताओं के विषधर लोगों को डसते ही रहेंगे, सकल वातावरण प्रदूषित और कलंकित ही रहेगा। वैभव का विसर्जन समाज मे, जाति मे ऐक्य स्थापित करता है। प्रजातन्त्र में इसी का विसर्जन आवश्यक है। जब तक विसर्जन नहीं होगा, त्याग-वृत्ति नही आयेगी और न ही सब मिलकर एक साथ चल सकेंगे। साधना या तप के मार्ग पर व्यक्ति अकेला चल सकता है ; लेकिन धर्म का मार्ग व्यक्तिगत नही, समाजगत तथा समूहगत मार्ग है। धर्म सबको साथ लेकर चलता है। जब तक विसर्जन न होगा, त्यागवृत्ति न होगी, तब तक हम दूसरों को अपने साथ नही ले चल सकते। त्याग-भाव ही से तो हम दूसरो को अपने साथ लेकर चल सकते हैं, दूसरो से तादात्म्य स्थापित कर सकते है, उनके प्रति संवेदनशील हो सकते है। महावीर का अपरिग्रह असमानता और तज्जनित विसंगतियों का निरसन कर समाजवाद के आदर्श की प्राप्ति मे सहयोग देता है। प्रजातन्त्र समाजवादी भावना को आत्मसात् किये है, इसलिए संग्रहवृत्ति के स्थान पर त्यागवृत्ति को महत्व देना ही पड़ेगा। संग्रहवृत्ति वैभव-प्रदर्शन, अहंकार और ममकार के साक्षात् रूप हैं जो प्रजातन्त्र में, समानता मे, स्वतन्त्रता मे, समाजवाद मे भारी बाधा बन कर खड़े हो जाते हैं। प्रजातन्त्र मे जहाँ अहंकार-वृत्ति के पंजे मजबूत हुए वहीं तानाशाही का भयावह रूप परिलक्षित होने लगेगा। जहाँ ममत्व है, आसक्ति है, अहंकार है, मूर्च्छा है वही अधर्म है, वहीं तानाशाही है, वही परतन्त्रता है।

प्रजातन्त्र में सामाजिक ऐक्य को प्राथमिकता दी जाती है; मानव-जाति में ऐक्य की प्रतिष्ठापना प्रजातन्त्र है। यहाँ स्वामी-सेवक, स्त्री पुरुष को पृथक्-पृथक् कर्तव्य या अधिकार नही दिये जाते, भेद दृष्टि का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार की भेद-दृष्टि का निराकरण महावीर के उपदेशों का मेरुदण्ड है। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्वार्थसूत्र' मे सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के समन्वय पर विशेष बल दिया है। महावीर ने जब यह कहा कि 'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है' (आचारांग सूत्र १–५–५), तो वह समत्व का ही उच्चादर्श प्रस्तुत करता है—आत्मा के एकत्व पर ही बल दिया गया है। प्रजातन्त्र में जातीय भेद या वर्गभेद के लिए कोई स्थान नहीं ; रगोनस्ल की वरिष्ठता निरर्थक है। जहाँ रगोनस्ल की वरिष्ठता की आकाश-बेल फैलने लगेगी, वहां जातीय स्वतन्त्रता का विटप सूखता चला जाएगा तथा ऊपर से साम्प्रदायिकता की आंधी उसे समूल उखाड़ फेंकेगी—समाज की प्रगति एकदम से ठप हो जाएगी, कहीं शक्ति का नामोनिशान तक न रहेगा। महावीर ने अपने समवसरण मे किसी भी सम्प्रदाय या वर्ग के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया था। उनका धर्म मानवजाति का धर्म है, किसी सम्प्रदाय या जाति-विशेष का धर्म नही। वह आत्मा की पवित्र गंगा है, जिसमें सब साथ मिलकर निमज्जन कर सकते है—वह सभी के पाप-कलुष को धोनेवाला निर्मल जल है। महावीर सम्प्रदायातीत है और प्रजातन्त्र भी सम्प्रदायातीत है। यहां सभी को अपने मतो-विचारो को अभिव्यक्ति देने का समान अधिकार है तथा सभी को अपनी कुशलता-योग्यता के अनुकूल उन्नति के समान अवसर प्राप्त है। महावीर ने व्यक्ति में इस प्रकार के आत्मस्वातन्त्र्य को हजारों वर्ष पूर्व जागृत किया था।

प्रजातन्त्र में हम अपने मत को, मान्यता को जितना महत्व देते है उतना ही दूसरों के मत की—मान्यता को महत्व देते है। यदि इसके विपरीत आचरण करेंगे तो

प्रजातन्त्र का गला घुट जाएगा—उसकी हत्या हो जाएगी। यहाँ सभी को समान स्तर पर एक ही मंच पर खड़े होकर अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है, सभी को अपनी निष्ठानुसार धर्माचरण करने की स्वतन्त्रता है। इसी को हम महावीर के अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। सत्य किसी एक व्यक्ति या सम्प्रदाय की बपौती नही है, वह तो सबका है और सभी के पास सत्यांश हो सकता है। हमे दुराग्रह को त्यागकर सम्यक् दृष्टित्व अपना कर सत्य का रूप जहा भी प्राप्त हो अंगीकृत करना चाहिए। मताग्रही सत्य के द्वार तक नही जा सकता। सत्य का मार्ग प्रशस्त है, उसमे संकीर्णता नही, विस्तार और व्यापकता है। हमें अपना मत जितना प्रिय है, दूसरे को भी अपना मत उतना ही प्रिय है; फिर हमे क्या अधिकार है कि दूसरे के मत का खण्डन करें। महावीर ने अनेकान्त द्वारा एक वैचारिक क्रांति उत्पन्न की, उन्होंने वैचारिक सहिष्णुता का परिचय बुलन्द करके सभी को उसके नीचे खड़े होने और अपना अभिमत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। उन्होंने बतलाया वस्तु या पदार्थ अनेक धर्म अथवा गुण विशेषता सम्पन्न होता है, उसमें एक ही गुण या विशेषता का प्राधान्य नहीं रहता। पत्नी केवल पत्नी ही नही होती वह पत्नी के साथ-साथ एक ममतामयी माँ, प्यारी सहेली, विश्वसनीय मित्र, लाड़ली बेटी, प्रिय भाभी भी होती है, अर्थात् वह विविधरूपा है। इसी प्रकार, अनेक धर्मों के कारण प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप मे विद्यमान है, उसके नानाविध रूप होते है—'अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् सः अनेकान्तः'। उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—'सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नही करता, वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण को इसी प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को। माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है।' जब विचारों में इस प्रकार माध्यस्थ भाव रहेगा या हम दूसरों के विचारों और मतों को सहिष्णुता से सुनेंगे, समझेंगे, हृदयंगम करेंगे तो सभी प्रकार के वैचारिक संघर्ष नष्ट हो जाएँगे। फिर राजनैतिक मानचित्र पर बड़े-बड़े मतवाद युद्धोन्मुखी संघर्षों को जन्म न दे सकेंगे। यदि ऐसा होता तो वियतनाम या इस्राइल-अरब की रक्तरंजित समस्याओं का उपसंहार असंख्य लोगों के रक्त से न लिखा जाता। इस प्रकार की विकट समस्याओं का निदान सहज ही एक सद्भावपूर्ण समझौते के द्वारा सम्भव हो सकता था। प्रजातन्त्र में वाद-विवाद के द्वारा सर्वमान्य सत्य की खोज की जाती है। संसद् या विधान-मण्डल मे विपक्षीदल के मत को भी मान्यता दी जाती है। विपक्ष की धारणाओं मे भी सत्यता का कोई-न-कोई अंश विद्यमान रहता है। एक जैनाचार्य का मत है—

> पक्षपातो न मे वीरो न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अर्थात् मुझे न तो महावीर के प्रति कोई पक्षपात है और न कपिलादि मुनिवृन्द के प्रति कोई ईर्ष्या-द्वेष है जो। वचन तर्कसम्मत हो उसे ग्रहण करना श्रेयस्कर है। महावीर ने 'यही है' को मान्यता नही दी, उन्होंने 'यह भी है' को मान्यता प्रदान कर पारम्परिक विरोधों तथा मताग्रहों की लोह शृंखला को एक ही झटके मे विच्छिन्न कर दिया। उन्होंने सत्य को सापेक्षता मे देखा, एकांगीपन मे नही और उसे शब्द दिये स्याद्वाद की शैली में। प्रजातन्त्र की पूर्ण सफलता और उसकी उपादेयता अनेकान्तदृष्टि में ही सन्निहित है, जिसे आज की भाषा मे 'सर्वधर्म-समभाव' कहा जा सकता है। आज का युग मतवादी होकर भी मताग्रही नहीं है, वह वैचारिक सहिष्णुता एवं उदारता का युग है, दुराग्रह का नही है।

प्रजातन्त्र मे लोकव्यवहृत भाषा को महत्व दिया जाता है, उसे ही राष्ट्रभाषा या राजभाषा का रूप दिया जा सकता है। किसी एक सीमित या विशिष्ट सम्प्रदाय की भाषा को बहुसंख्यक भाषाभाषियों पर थोपा नहीं जा सकता। एक सार्वजनिक सभा मे कोई संस्कृत में भाषण देने लगे तो उससे कितने लोग लाभान्वित होंगे? मुट्ठीभर ही न। महावीर ने अपने उपदेशों को मुट्ठी भर लोगों तक नहीं पहुँचाना चाहा वरन् असंख्य लोगों तक, मानव-जाति तक पहुंचाना चाहा और उसे सम्बोधित किया असंख्य लोगों की भाषा मे-लोकभाषा अर्धमागधी मे। आज किसी भी प्रजातन्त्र देश मे जाकर देखिए, वहाँ शासन का सर्वाधिक कार्य उसकी अपने देश की बहुसंख्यक लोगों

[शेष पृष्ठ ८६]

जैन-कला विषयक साहित्य

□ डा० जे० पी० जैन

धर्म और संस्कृति की भांति 'कला' शब्द भी बहु-परिचित, बहुप्रचलित और बहुचर्चित रहा है। कला की अनेकविध परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ की गई है। 'कल' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण 'कला' शब्द का अर्थ होता है 'करना, सृजन, रचना, निर्माण या निष्पन्न करना' और 'कं लातीति कला' सूत्र के अनुसार 'जो आनन्द दे वह कला है।' शैवागम में उसे 'किंचित्कर्तृत्वलक्षण' अर्थात् संकुचित कर्तृत्वशक्ति माना है, और क्षेमराज के अनुसार 'कला आत्मा की वह कर्तृत्वशक्ति है जो वस्तुओ व प्रमाता के स्व को परिमित रूप मे व्यक्त करे। वात्स्यायन ने कला का सम्बन्ध कामपुरुषार्थ के साथ जोड़ा है और उसके ६४ मुख्य भेद तथा ५१८ अवान्तर भेद किये है। आचार्य जिनसेन के अनुसार, आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव ने पुरुषों की ७२ और स्त्रियो की ६४ कलाओं की शिक्षा युगारंभ मे ही दी थी। इनमें समस्त लौकिक ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, हस्तशिल्प, मनोरजन के साधन आदि समाविष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त समस्त कलाएँ मुख्यतया दो वर्गों में विभाजित की जाती है—उपयोगी कला और ललित कला। उपयोगी कलाओ मे निर्मित वस्तु की उपयोगिता की दृष्टि का प्राधान्य रहता है, जबकि काव्य-संगीत-चित्र-मूर्ति-स्थापत्य नामक पाँचो ललितकलाओ मे आनन्द प्रदान करने की दृष्टि का प्राधान्य एवं महत्त्व रहना है। किसी देश, जाति या परम्परा की सास्कृतिक बपौती या समृद्धि का मूल्याङ्कन उसकी ललित कलाकृतियो के आधार पर ही बहुधा किया जाता है। वे संस्कृति विशेष के प्रति-बिम्ब एवं मानदण्ड, दोनों ही होती है। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, 'कला नागर-जीवन की समृद्धि का प्रमुख उपकरण है और उसके द्वारा सुख-सौभाग्य की सिद्धि के साथ-साथ व्यक्तित्व का परिष्कार भी होता है, अर्थात् जीवन में सौंदर्य तथा समृद्धि का संचार, व्यक्तित्व का संस्कार और चित्त-प्रसादन होता है।' इस प्रकार, सक्षेप में कलाकार की निज की सौन्दर्यानुभूति की लोकोत्तर आनन्द-प्रदायिनी रसात्मक अभिव्यक्ति को 'कला' कह सकते है।

सुदूर अतीत से चली आई तथा प्राय: सम्पूर्ण भारत-वर्ष मे अत्याधिक व्याप्त जैन संस्कृति का विभिन्नयुगीन कलावैभव अतिश्रेष्ठ, विपुल एवं विविध है। अपने विविध रूपों को लिये हुए काव्य और सगीत को छोड़ भी दे और केवल चित्र, मूर्ति एव स्थापत्यशिल्प को ही ले, जैसा कि कलाविषयक आधुनिक ग्रन्थों मे प्राय: किया जाता है, तो भी इन तीनों ही से सम्बन्धित कलाकृतियों मे, बाहुल्य एव विविधता की दृष्टि से जैन परम्परा किसी अन्य परम्परा से पीछे नही रही है। अतएव भारतीय कला-साहित्य मे भी जैनकला का अपना प्रतिष्ठित स्थान रहा है।

कला साहित्य दो प्रकार का होता है—एक तो तकनीकी, जिसमे कलाविशेष की कृतियों के निर्माण के सिद्धान्त, विधि, सामग्री आदि का वैज्ञानिक विवेचन होता है; दूसरा वह जिसमे विशेष कलाकृतियों का विवरण या वर्णन होता है, तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षण और मूल्याङ्कन भी होता है। प्राचीन साहित्य में मानसार, समरांगणसूत्रधार, वास्तुसार जैसे ग्रन्थो मे प्रथम प्रकार का कलासाहित्य मिलता है। मानसार को कई विद्वान् जैनकृति मानते है, ठक्करफेरु का वास्तुसार तथा मण्डन-मन्त्री के ग्रन्थ तो जैन रचनाएँ है ही। रायपसेणइय आदि कतिपय आगमसूत्रों मे भी इस प्रकार की क्वचित् सामग्री प्राप्त होती है। प्रतिष्ठापाठों में जिनमूर्तियों एवं अन्य जैन देवी-देवताओं का प्रतिमाविधान वर्णित है। जैन पुराण एवं कथासाहित्य में अनेक स्थलों पर विविध

चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य कलाकृतियों के सुन्दर वर्णन या विवरण उपलब्ध हैं।

आधुनिकयुगीन कला-साहित्य में : (१) प्रथम तो पुरातात्विक सर्वेक्षण, उत्खनन, शोध-खोज द्वारा विभिन्न प्रदेशों या प्राप्त पुरावशेषों, कलाकृतियों आदि के विवरण हैं। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में जनरल अलेक्जेण्डर कनिंघम व उसके प्रायः समकालीन अन्य सर्वेक्षकों की बृहत्काय रिपोर्टों में भारतवर्ष के विभिन्न भागों में बिखरी कलाकृतियों का आकलन हुआ। फुहरर ने १८९१ में तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) क पुरावशेषों का जिलेवार विवरण दिया था। अन्य कई विद्वानो ने उसी प्रकार अन्य कई प्रदेशों का विवरण दिया। तदनन्तर भी पुरातत्व विभाग की रिपोर्टों, बुलेटिनो आदि में नवीन जानकारी में आयी सामग्री दी जाती रही है। स्वभावत. इन समस्त विवरणों मे तत्तत् प्रदेशों मे प्राप्त जैन कलावशेष भी समाविष्ट हुए। स्व० ब्र० शीतल-प्रसादजी ने वैसी रिपोर्टों के आधार से ही मद्रास, मैसूर, बम्बई, सयुक्त प्रान्त (उ० प्र०) आदि कई प्रान्तो के प्राचीन जैन स्मारकों पर पुस्तकें लिखी थी व प्रकाशित की थी।

(२) दूसरे, भारतीय इतिहास सम्बन्धी विविध आधुनिक ग्रन्थो में विभिन्न युगों की सांस्कृतिक झलक प्रस्तुत करने के निमित्त तत्सम्बन्धित कलावैभव की समीक्षा व उल्लेख भी रहता है, और उनमें भी जैन-कलाकृतियाँ अल्पाधिक सम्मिलित की ही जाती है। इस प्रकार इंडियन एन्टीक्वेरी, रायल एशियाटिक सोसाइटी की विभिन्न शाखाओ के जर्नल, अन्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक शोधपत्रिकाओं मे भी प्रसगवश जैनकला का विवेचन होता रहा है।

(३) तीसरे, कई प्रौढ़ कलामर्मज्ञों ने भारतीय कला पर बृहत्काय विवेचनात्मक ग्रंथ रचे है, यथा बर्गेस, फर्गुसन, हैवेल, स्मिथ, कुमारस्वामी, पर्सी ब्राउन, स्टेला क्रैमरिश, बाखोफैर, फ्रैंकफोर्ट, हैनरिख जिमर, बैनजमिन रोडेफ, लुइसफ्रेडरिक आदि ने। इन सभी विद्वानों ने ब्राह्मण और बौद्ध के साथ ही साथ जैन-कलाकृतियों पर भी प्रकाश डाला समीक्षा की, तुलनात्मक अध्ययन किया और मूल्यांकन भी किया।

(४) अनेक जैनेतर एवं जैन कलामर्मज्ञों एवं विद्वानों ने विभिन्न स्थानीय जैन-कलाकृतियों पर अथवा विविध या विशिष्ट जैन-कलाकृतियों पर अनगिनत लेख लिखे है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय नाम हैं—बोगेल, व्हूलर, बर्गेस, कनिन्स, क्लाउज ब्रून, काशीप्रसाद जायसवाल, आर० डी० बनर्जी, ए० बनर्जी शास्त्री, भगवानलाल इन्द्रजी, बी० एम० बरुआ, डी० आर० भंडारकर, रामप्रसाद चंदा, वासुदेवशरण अग्रवाल, दयाराम साहनी, मोतीचन्द्र, एच० डी० सांकलिया, कृष्णदत्त बाजपेयी, नी० पु० जोशी, एम० ए० ढांकी, आर० सी० अग्रवाल, बी० एन० श्रीवास्तव, देवला मित्रा, आर० सेनगुप्ता, रमेशचन्द्र शर्मा, शैलेन्द्र रस्तोगी, उ० प्र० शाह, मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, शिव कुमार नामदेव, विजय शंकर श्रीवास्तव, ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, तेजसिंह गौड़ प्रभृति जैनेतर विद्वान् तथा बाबू छोटेलाल जैन, कामताप्रसाद जैन, विशम्भरदास गार्गीय, नीरज जैन, गोपीलाल अमर, अगरचन्द नाहटा, के० भुजबलि शास्त्री, बालचन्द्र जैन, भूरचन्द जैन आदि जैन लेखक उल्लेखनीय है। स्वय हमारे दर्जनों लेख विभिन्व पत्र-पत्रिकाओं, स्मारिकाओं, ग्रन्थों आदि में जैनकला पर प्रकाशित हो चुके हैं। जैन पत्रिकाओं में से जैन सिद्धान्त भास्कर, जैन एन्टीक्वेरी, अनेकान्त, अहिंसा-वाणी, वायस आफ अहिंसा, शोधाङ्क, श्रमण, जैन जर्नल में विभिन्न लेखकों के जैन कलाविषयक लेख, कभी-कभी सचित्र भी, बहुधा निकलते रहें है।

(५) जैनकला विषयक विशिष्ट एव उल्लेखनीय ग्रन्थों में निम्नोक्त गिनाये जा सकते है—

१. विन्सेण्ट स्मिथ—जैन स्तूप एड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा (इलाहाबाद, १९०१)
२. ए० एच० ल गहर्स्ट—हम्पी रूइन्स (मद्रास १९१७)
३. एम० एम० गांगुली—उड़ीसा एण्ड हर रिमेन्स, एन्शेण्ट एण्ड मेडिवल (कलकत्ता १९१२)
४. नार्मन ब्राउन—१९१८ और १९४१ के बीच प्रकाशित जैन चित्रकला पर पांच पुस्तकें।
५. साराभाई नवाब—जैन चित्र-कल्पद्रुम, २ भाग

(अहमदाबाद १९३५) तथा जैन तीर्थाज इन इंडिया एण्ड देयर आर्किटेक्चर (अहमदाबाद १९४४)

६. डा० मोतीचन्द्र—जैन मिनियेचर पेन्टिग्स फ्राम वेस्टर्न इण्डिया (अहमदाबाद १९४९)

७. मुनि पुण्यविजय—जेसलमेर चित्रावली (अहमदाबाद १९५१)

८. मुनि जयन्तविजय—आबू पर्वत एवं उसके जैन मन्दिरों पर कई पुस्तके।

९. मुनि कान्तिसागर—खोज की पगडंडियाँ और खंडहरों का वैभव, (दोनो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित।)

१०. टी० एन० रामचन्द्रन्—जैन मोनूमेण्ट्स आफ इण्डिया (कलकत्ता १९४४)

११. यू० पी० शाह—स्टडीज इन जैन आर्ट (वाराणसी १९५५)

१२. क्लास फिशर—केव्ज एण्ड टेम्पल्स आफ दी जैन्स (जैन मिशन, अलीगंज १९५६)

१३. डा० भागचन्द्र जैन—देवगढ़ की जैन कला (भारतीय ज्ञानपीठ १९७५)

१४. शोधाङ्क ३१ (२९ दिस० १९७२) में राज्य संग्रहालय, लखनऊ द्वारा आयोजित जैन कला संगोष्ठी का विवरण तथा जैन कला पर विभिन्न विद्वानों द्वारा पठित निबन्धों का सार संकलित है।

१५. जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, ३ खण्ड (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७५)—जैनकला के विषय में प्रकाशित अब तक के ग्रन्थो में यह महाग्रन्थ सर्वाधिक विशाल, सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक है। ग्रन्थ सचित्र है और अंग्रेजी एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार, जैन कला-साहित्य का यह संक्षेप में प्रायः सांकेतिक परिचय है। इस साहित्य की विद्यमानता मे जैन कला के किसी भी अंग या पक्ष पर शोध करने वाले छात्र को सामग्री का अभाव नही है। कलामर्मज्ञों के लिए जैन कला के किसी भी अंग का तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षा एव मूल्यांकन करना अपेक्षाकृत सुगम हो गया है। जो कलारसिक अथवा सामान्य जिज्ञासु है, वे भी उपर्युक्त साहित्य से जैन कला विषयक सम्यक् जानकारी प्राप्त कर सकते है। इतना सब होने पर भी यह मान बैठना उचित नही होगा कि इस क्षेत्र मे अब और कुछ करना शेष नहीं है। अभी बहुत-कुछ किया जा सकता है, करने की आवश्यकता है।

□□□

[पृष्ठ ८३ का शेषांश]

की भाषा में होता है। यदि नही होता तो वहाँ प्रजातन्त्र के होते हुए भी पराधीनता है, परभाषा की पराधीनता।

आज का युग समानता का युग है, स्त्रियाँ भी तो पुरुषों के समान अधिकारों की माँग कर रही है और उनकी माँगें पूर्ण भी हो रही है, न हों तो फिर प्रजातन्त्र का आदर्श-आदर्श मात्र ही रह जाएगा। शोषित वर्ग को भी समाज में बराबरी के हक दिये जाते हैं। महावीर ने हजारों वर्ष पूर्व स्त्रियों को दीक्षा देकर उनका आदर और सम्मान ही नही बढ़ाया, अपितु उन्हेंसमानता के अधिकार से सुशोभित किया। उनका अपरिग्रहवाद आर्थिक समानता का आदर्श प्रस्तुत कर समाजवाद की जड़ों को ही मजबूत बनाता है। □□□

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, इस्लामिया कालेज,
श्रीनगर (काश्मीर)

मेघविजय के समस्यापूर्ति काव्य

☐ श्री श्रेयांसकुमार जैन

प्राचीन ऋषियों, मनीषियों, आचार्यों तथा कवियों ने अपना परिचय देश, काल, कुल आदि की दृष्टि से अनावश्यक समझ कर नहीं दिया या अस्पष्ट रूप में अत्यल्प प्रमाण में दिया है। उनका एकमात्र लक्ष्य था कि लोग गुणों को ग्रहण करें। इस कारण वे न तो अपनी प्रशस्ति पसन्द करते थे और न अपने वैशिष्ट्यबोध के ही भूखे थे। इसी परम्परा मे बहुश्रुत, बहुमुखी प्रतिभा के धनी, गम्भीर साहित्य-साधक, अनेक शास्त्रो के प्राज्ञ पण्डित, ज्योतिष-व्याकरण-दर्शन आदि परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों के वेत्ता महोपाध्याय मेघविजयगणि भी आते है, क्योंकि इन्होंने अपने वंश, समय तथा स्थान आदि का परिचय देने में संकोच किया। अपनी शिष्य-परम्परा को भी ऐसा नही करने दिया।

मेघविजयगणि तपागच्छ के आचार्य श्री हीरविजय-सूरि की परम्परा मे अन्तिम गणमान्य प्रतिभासम्पन्न आचार्य हुए है। यह परम्परा-क्रम इस प्रकार है—

विजयप्रभसूरि ने इन्हें 'वाचक'[2] (उपाध्याय) पद से समलंकृत किया था। इनकी न्याय[3], व्याकरण[4], साहित्य[5], ज्योतिष[6], अध्यात्म[7] आदि से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ सम्प्रति समुपलब्ध हैं। उपाध्यायजी ने साहित्य-साधना का प्रारम्भ वि० सं० १७०६ में 'विजयदेवमाहात्म्यविवरण' नामक टीका से किया और उनकी अन्तिम रचना है पाण्डित्यपूर्ण शब्दवैचित्र्य-युक्त प्रत्येक पद के सात-सात अर्थ निष्पन्न करनेवाली समलकृत सप्तसन्धान महाकाव्य जो वि० स० १७६० मे पूरी हुई।[8]

मेघविजयगणि की प्रतिभा और पाण्डित्य आदि का विशेष परिचय उनके द्वारा प्रणीत समस्यापूर्ति काव्यों से मिलता है, क्योंकि कवि की मौलिकता नूतन काव्य-सृष्टि मे उतनी नही निखरी, जितनी पुरानी काव्यसृष्टि को नूतन चमत्कार प्रदान करने मे। कवि प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी अत्यन्त विनम्र है। यह अभ्युत्थान युग के प्रतिनिधि कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष जैसे कवियो की कृतियों को समस्या बनाकर उनके भावों में स्व-भावो का साम्य स्थापित कर नवीन काव्यो का निर्माण करता है। ऐसी महती प्रतिभा से सम्पन्न होते हुए भी विनयावनत होकर माघ आदि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए वह कहता है कि—

> नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्धा न साम्यस्पृहा,
> श्रीमन्माघवेस्तथापि कृगुरोर्मे भक्तिरेव प्रिया।
> तस्यां निश्चरतेः सुतेव सुभगा जज्ञे समस्याऽद्भुता,
> सेयं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्याद् दृगामुत्सवम्॥

---

१. शान्तिनाथचरित्र के अनुसार।

२. सत्सेवासक्तचेता अनवरततथा प्राप्त लक्ष्मीर्विशिष्य। शिष्यः श्रीमत्कृपादेर्विजयपदभृतः सत्कवेर्वाचक श्रीः॥
—देवानन्द महाकाव्य प्रशस्ति

३. (क) युक्तिप्रबोध नाटक, (ख) मणिपरीक्षा (ग) धर्ममंजूषा।

४. चन्द्रप्रभा, हैमशब्दचन्द्रिका, हैमशब्दप्रक्रिया।

५. दिग्विजय महाकाव्य, लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, सप्तसन्धान, भविष्यदत्तकथा, पञ्चाख्यान आदि।

६. वर्षप्रबोध, रमलशास्त्र, हस्तसञ्जीवन, उदयदीपिका, प्रश्नसुन्दरी, बीसायन्त्र आदि।

७. मातृकाप्रसाद, ब्रह्मबोध, अर्हद्गीता आदि।

८. वियद्रसमुनीन्दूना (१७६०) प्रमाणात् परिवत्सरे। कृतोऽयमुद्यमः पूर्वाचार्यचर्या प्रतिष्ठितः॥
—सप्तसन्धान महाकाव्य, प्रशस्ति

माघः सान्निध्यकृद् भूयाद् मल्लिनाथैस्तथैक्ष्यताम् ।
हास्येन मम दास्येऽस्मिन् यथाशक्त्युपजीविते ॥
अस्या न मधुरा वाचो नालंकारा रसावहाः ।
पूर्वसंगतिरेवास्तु सतांपाणिग्रहश्रिये ॥[९]

मेघविजयगणि ने महाकवि कालिदास विरचित मेघदूतम् के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण को समस्या-रूप में स्वीकार करके 'मेघदूतसमस्यालेख', भारवि के किरातार्जुनीयम् को समस्या बनाकर 'किरातसमस्यालेख', महाकवि माघ के शिशुपालवध के सात सर्गों के प्रायः अन्तिम चरण को समस्या बनाकर 'देवानन्द महाकाव्य' तथा श्रीहर्ष के नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों के प्रतिचरण को समस्या मानकर शान्तिनाथचरित नामक काव्य की रचना की।

समस्यापूर्ति शब्द समस्या और पूर्ति का सयोग है। इसमें पूर्ति शब्द का अर्थ पूर्णता है। समस्या का अर्थ कठिनाई या परेशानी है। यह परेशानी भी व्यक्ति के लिए परीक्षा होती है। वैसे ही काव्य क्षेत्र मे किसी सार्थक शब्द, पद अथवा पाद को समस्या के रूप मे कवि की शक्ति-परीक्षणार्थ अर्थसंगत रीति से पूरा करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कवि अपने मनोगत अर्थ व भावों की उस पाद अथवा पद के साथ सगति बैठाकर पद्य की पूर्ति करता है। इसी को समस्यापूर्ति कहते है। अमरकोश में भी कहा गया है कि—

"या समासार्था पूरणीयार्था कविशक्तिपरीक्षणार्थम् अपूर्णतयैव पठ्यमानार्था वा सा समस्या।"[१०]

एक स्थिति और है जब कवि भिन्न अभिप्राय वाले अधूरे पद्य की भिन्न अभिप्राय वाले अपने भावो के साथ संगति बैठाकर अर्थपूर्ति करता है। यह भी समस्यापूर्ति है।[११]

समस्यापूर्ति मे पूरणीय चरण के शब्दों को परिवर्तित न कर अर्थ की पूर्ति करनी होती है, अतएव इसमे कवि परतन्त्र रहता है। भावों की स्पष्टता कम होती है। इस कार्य में स्वतन्त्र काव्य-निर्माण की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य एवं प्रौढ़ पाण्डित्य की अपेक्षा होती है। बन्धन के कारण कवि अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का उपयोग कम कर पाता है। कुछ ही विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न कवि दूसरों के काव्यों के पदों तथा भावों का अपने भावों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर पाते है। उन्हीं में मेघविजयगणि आते हैं। इनके समस्यापूर्ति काव्य इसके प्रमाण है।

मेघदूतसमस्यालेख

'मेघदूतसमस्यालेख' विज्ञप्ति-पत्र के रूप में लिखा गया है। इस काव्य की रचना महाकवि कालिदास विरचित 'मेघदूतम्' के प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण को समस्या मानकर की गयी है।

कालिदास ने रामगिरि आश्रम में स्थित किसी विरही यक्ष का सन्देश आषाढ़ मास के प्रारम्भ मे मेघ को दूत बनाकर उसकी कान्ता के पास अलकापुरी भेजने की कल्पना मे मेघदूत की रचना की। उसी प्रकार मेघविजय ने चातुर्मास के प्रथम आषाढ़ मास में अपना सन्देश श्री विजयप्रभसूरि के पास देवपाटण भेजने के लिए मेघदूतसमस्यालेख की रचना की है। कवि ने नव्यरंगपुरी[१२] (औरङ्गाबाद) से देवपाटण सन्देश भेजा था। मेघदूत में रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग मे विविध नगर, पर्वत, नदी, आदि रम्य स्थानों का वर्णन है और फिर अलकापुरी में स्थित यक्षिणी आदि का वर्णन किया है। इसी प्रकार इस काव्य मे नव्यरगपुरी से देवपाटण के मार्ग के मध्य देवपर्वत तथा नगरी, एलौर पर्वत, तुंगिला पर्वत[१३], तापी नदी, नर्मदा, मही आदि नदियों, शत्रुञ्जय पर्वत, सिद्धशैल, जैनमन्दिरों, द्वीपपुरी (देवपाटण) में स्थित विजयप्रभसूरि[१४] गुरु का तथा साथ में उस नगरी का भी वर्णन किया है।

---

९. देवानन्द महाकाव्य प्रशस्ति.
१०. अमरकोश, टीका १.६७.
११. शब्दकल्पद्रुम, पञ्चमकाण्ड, पृ० २७०.
१२. मेघदूतसमस्यालेख, १
१३. वही, ३४
१४. वही, ६२

किरातसमस्यालेख

इस काव्य का उल्लेख विद्वानों[15] ने अपने निबन्धों में किया है। यह जगत्प्रसिद्ध भारवि के काव्य किरातार्जुनीयम् की समस्यापूर्ति है। इसकी एक प्रति आचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि के पास थी। उन्होंने प्रेस कापी भी तैयार की थी, किन्तु मिली नहीं। वह भी एकसर्गात्मक थी, पूरी नहीं।[16]

देवानन्द महाकाव्य

देवानन्द महाकाव्य कवि का अनुपम समस्यापूर्ति काव्य है। माघ कवि के शिशुपालवध की समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गये इस काव्य में श्री विजयदेव सूरि का चरित्र वर्णित है, आनुषङ्गिक रूप से विजयप्रभसूरिजी का वृत्तान्त निबद्ध है। यह काव्य सं० १७२७ में मारवाड़ के सादड़ी नगर में विजयादशमी के दिन पूरा हुआ था।[17] सप्तसर्गात्मक इस काव्य मे कुल ७१९ पद्य है। यद्यपि काव्य मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से चरित वर्णित है तथापि इसमें काव्यत्व प्रधान है। इस काव्य में माघ के शिशुपालवध काव्य से साम्य है– माघ कवि का मुख्य विषय कृष्ण-वासुदेव द्वारा शिशुपालवध है। मेघविजय ने भी अपने काव्य का नायक वासुदेवकुमार[18] को चुना जो बाद मे विजयदेवसूरि आचार्य बनते हैं। कृष्ण को दिल्ली जाना पड़ा था, इसके नायक को भी दिल्ली के जहाँगीर बादशाह के पास जाना पड़ा था। रैवतक गिरि का दोनों काव्यों में समान वर्णन है। काव्य में शिशुपालवध काव्य के मात्र सात सर्गों[19] के श्लोकों के अन्तिम पाद को समस्या बनाकर पूर्ति की गई है।

शान्तिनाथचरित

मेघविजय समस्यापूर्ति काव्यों में इसका विशेष स्थान है, क्योंकि प्रथम सर्ग के प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण को समस्या बनाकर पूर्ति की गई है और नैषध का जो चरण ग्रहण किया गया उसे प्रस्तुत काव्य में उसी चरण के रूप में भावों की संगति के साथ बैठाया गया है। इस काव्य की पूर्ति छः सर्गों मे की गयी है एवं अपरनाम 'नैषधीय समस्या'[20] भी है। इसमें शान्तिनाथ प्रभु का चरित वर्णित है, आनुषङ्गिक रूप मे विजयप्रभ[21] का वर्णन है। इसमें ५९० श्लोक है।

यह काव्य काव्यत्व प्रधान है और भाव-साम्य नैषधीयचरित जैसा है।[22] श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपना वंशगत परिचय दिया है। प्रस्तुत काव्य मे कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन किया है।[23]

संयोग है कि श्रीहर्ष के पिता का नाम हीरा और काव्यकार की परम्परा के आद्य-संस्थापक का नाम भी हीरविजय था। अतएव काव्य मे नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग का आद्यन्त समस्या-रूप मे निर्वाह हुआ है। □□□

---

१५. श्री अगरचन्द नाहटा, जैन पादपूर्ति साहित्य।

१६. दिग्विजय महाकाव्य की हिन्दी भूमिका।

१७. मुनिनयन-अश्व-इन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादड़ी नगरे।
ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः॥
—देवानन्द म० प्रशस्ति

१८. वही, १.७१

१९. वही, १.१२ तथा ७.७८

२०. इतिश्री नैषधीय महाकाव्य समस्यायां महामहोपाध्याय मेघविजयगणि पूरितायां षष्ठः सर्गः।
—शान्तिनाथचरित, प्र० सर्ग समाप्ति

२१. यदीयपादाम्बुजभक्तिनिर्भरात्,
प्रभावतस्तुल्यतया प्रभावतः।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः,
क्षमापतिः प्रायशः प्रणम्यताम्॥
—वही, १.३३

२२. अयं दरिद्रो भवितेति वैधसी,
क्रियां परामृश्य विशिष्य जापतः।
विधेः प्रसत्त्यास्ववदान्यताकृते,
नृपः सदार्थो भवितेत्यवीलखत्॥
—वही, १.५०

२३. वही, ६ ६५

जैन ध्वज : स्वरूप और परम्परा

□ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

[यह शोधपूर्ण लेख, गवेषणा एवं सत्यानुसंधान की दृष्टि से, जैन ध्वज के वास्तविक स्वरूप परम्परा के विषय में सप्रमाण तर्क और सुसंगत आधार सामग्री प्रस्तुत करता है। अतः इस पर इसी दृष्टि से विचार किया जाना अभीष्ट है। —सम्पादक[

तीर्थंकर महावीर के २५०० वें निर्वाण के उपलक्ष्य में उपलब्ध-उपलब्धियों में पंच-वर्ण के सामाजिक ध्वज की उपलब्धि युगान्त तक स्मरणीय रहेगी और ध्वज के निर्माण व प्रचार में सहायक --अथक-यत्न करने वाली महाशक्तियों को भुलाया नहीं जा सकेगा। सभी धन्यवादार्ह रहेंगे।

भगवान महावीर के निर्वाण-पश्चात्, जैसे धार्मिक मान्यताओं में दृष्टि-भेद हुए—अनेक पथ बने, वैसे ही उसके पंथ-गत-ध्वज भी भिन्न-भिन्न रूपों में निर्मित होने लगे। यहाँ तक कि किसी पथ के ध्वज का कोई निश्चित एक-रूप भी नही रह गया। जिसने जैसा चाहा, तब वैसा ही ध्वज, धर्म-ध्वज के नाम से फहरा दिया। और यह सब हुआ तब, जब लोगों की दृष्टि से धर्म-ध्वज का मूल-महत्व तिरोहित हो गया या लोगो ने धर्म ध्वज को अपनी-अपनी मान्यताओं और पथ-विशेषों का ध्वज स्वीकार करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी या देवी-देवताओं की उपासना का बाहुल्य हो गया।

यदि किसी एक रूप मे निश्चित मान्य हो तो पथ-विशेष का निश्चित एक ध्वज होना कोई बुरी बात नहीं। पर, यहाँ तो एक ही पथ के लोग कभी इकरंगा तो कभी दुरंगा-तिरगा या कई-कई रग का ध्वज फहराने लग गये थे। इससे जहां किसी पंथ-विशेष में ध्वज-संबन्धी अस्थिरता रही वहाँ किसी निश्चित ध्वज के अभाव में वह पंथ-सप्रदाय दूसरो की दृष्टि में अपने व्यावहारिक रूप का बोध कराने मे भी असमर्थ हो गया। अर्थात् ध्वज को देखकर कोई नही पहिचान सकता था कि ये अमुक समाज-पथ या सम्प्रदाय के लोग हैं या यह उनका ध्वज है। यदि ध्वज का एक ही निश्चित रूप मान्य होता तो ध्वज देखकर सहज ही ज्ञान हो जाता कि यह अमुक पंथ का ध्वज है। उदाहरणार्थ—जैसे चक्रयुक्त तिरगा भारत का और चर्खे वाला तिरंगा कांग्रेस पार्टी का सहज-बोध करा देते हैं। हमारे ध्वज के विषय में ऐसा कुछ नहीं रह गया था।

सामाजिक नवीन ध्वज की निश्चिति के संबन्ध मे मैं स्व० साहु श्री शान्तिप्रसाद जी जैन के इस कथन से पूर्ण-सहमत हूँ कि—

'मुझे इस बात की बहुत प्रसन्नता है कि सभी के आशीर्वाद से समग्र **जैन समाज के एक ध्वज** एवं एक प्रतीक का निर्णय हो गया।"

—महावीर स्मारिका (अप्रैल ७४) पृ० २५

ध्वज के पाँच रगों को अणुव्रत-महाव्रत आदि का द्योतक मानना जैसी नई दिशाओं की कल्पनाएं भी सुखद और प्रशस्त हैं इनसे सदाचार प्रचार को बल ही मिलेगा। ऐसी नवीन कल्पनायें होती रहना, मानव के सद्भावों को जाग्रत करने में पूर्ण सहायक होती है। मैं इनका स्वागत करता हूँ और निश्चित किए गए पंच-वर्ण-ध्वज का सामाजिक दृष्टि से सम्मान करता हूँ। जैनों के सब पंथों ने मिलकर ध्वज का एक रूप (पंचवर्णवाला) स्वीकार कर प्रशस्त प्रयास ही किया है।

अब रही बात—पंचरंगे ध्वज को जैन धर्म की प्राचीनता से जोडने और इसे पूर्व से प्रचलित जैन-धर्म का ध्वज सिद्ध करने की। सो, इसके लिए शास्त्रों के प्रमाणों को एकत्रित करने में श्रम की आवश्यकता है। यह खोजना भी यत्न-साध्य है कि—जिनधर्म के ध्वज का प्राचीन रूप क्या है? मुझे अभी तक एक-दो सज्जनों

के विचार जानने को मिले। उनमें तर्कसंगत और तथ्य-पूर्ण दृष्टि नहीं मिली। अपितु यह तो अवश्य प्रतीत हुआ कि प्रस्तुत किए गए प्रमाणों के साथ अन्याय किया गया है और उन्हें बलात् प्राचीन जैन ध्वज के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। यतः—वे प्रमाण देवी-देवताओं के ध्वज-प्रसंगों से संबन्धित है। ध्वज के पचरंगा होने में पहली बात जो कही जा रही वह है "विजया पंच-वर्णाभा पंचवर्णमिदं—ध्वजम्।"

पर-उक्त उद्धरण जैन-ध्वज से सबन्धित नहीं अपितु विजयादेवी के निजी ध्वज से संबन्धित है। यतः—नीचे दिए गए पूर्ण प्रसंग से विविध-देवियों और उनकी ध्वजाओं के स्वरूपों का यथावत् निश्चय हो जाता है। तथाहि—

'पीतप्रभाह्वयादेवी पीतवर्णमिदंध्वजम्।'
'पद्माख्यदेवी पद्माभा पद्मवर्णमिदं ध्वजम्।'
'सा मेघमालिनीकृष्णा कृष्णवर्णमिदंध्वजम्।'
'हरिन्मनोहरादेवी हरिद्वर्णमिदं ध्वजम्।'
'श्वेताभा चन्द्रमालेयं श्वेतवर्णमिदंध्वजम्।'
'नीलाभासुप्रभादेवी नीलवर्णमिद ध्वजम्।'
'श्यामप्रभा जयादेवी श्यामवर्णमिदंध्वजम्।'
'विजया पंचवर्णाभा पंचवर्णमिद ध्वजम्।'

—प्रतिष्ठा तिलक ५।१–१०

उक्त प्रसंग से देवियों के पृथक्-पृथक् रंगों और तदनुसार उनके ध्वज-रंगों की पुष्टि हो जाती है। जैसे—

	देवी का नाम	देवी का वर्ण	देवी के ध्वज का वर्ण	ध्वज की दिशा
१	पीतप्रभा	पीत	पीत	पूर्व
२	पद्मा	पद्म	पद्म	आग्नेय
३	मेघमालिनी	कृष्ण	कृष्ण	अवाची
४	मनोहरा	हरित्	हरित्	नैऋत्य
५	चन्द्रमाला	श्वेत	श्वेत	प्रतीची
६	सुप्रभा	नील	नील	वायव्य
७	जया	श्याम	श्याम	उदीची
८	विजया	पंचवर्ण	पंचवर्ण	अधः, ऊर्ध्व, ईशान

जैन-ध्वज के प्रसंग में प्रतिष्ठातिलक में जो स्पष्ट उल्लेख हैं उनके अनुसार जैन-ध्वज सर्वथा श्वेत ही सिद्ध होता है और उस पर छत्र, पद्मवाहन, पूर्णकलश, स्वस्तिक आदि चिह्न होते हैं। तथाहि—

'सुधौतसुश्लिष्टश्वेतनूतनवासः परिकल्पितस्यास्य-ध्वजस्य।'—

'ध्वजमस्तकास्याधः प्रथमे पदे छत्रत्रयं, द्वितीयपदे·· पद्म-वाहन, तृतीये पूर्णकलशं तत्पार्श्वयो स्वस्तिकं·· यथाशोभं शिल्पिनाविलिख्य तदेतन्महाध्वजं तद्यागमण्डलस्याग्रतो वेदिकातले पूर्वस्यां दिशि समवस्थाप्य दिक्पालकेतुन्··· दिक्कन्यकाकेतुन् · तद्ध्वजपार्श्वयोरवस्थाप्य···सम्महाध्वज-आप्तः·······।'

— प्रतिष्ठातिलक, पृ० १८५–१८६

उक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि ध्वज धुले-सुश्लिष्ट, श्वेत नूतन वस्त्र से बना होता है और छत्र, कलश, स्वस्तिक आदि चिह्नों से चिह्नित होता है। यही मुख्य-ध्वज, महाध्वज नाम से भी कहा गया है। प्रतिष्ठा आदि के अवसरों पर इस महाध्वज को प्रमुखरूप में स्थापित किया जाता है और अन्य रंग-विरंगे (देवी-देवताओं के) ध्वज—जो क्षुद्र-ध्वज के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। उन्हे इस महाध्वज के चारों ओर (उनके लिए ऊपर निर्दिष्ट दिशाओं के क्रम मे) स्थापित किया जाता है। इन क्षुद्र-ध्वजाओं को झंडियों के नाम से भी जाना जा सकता है। यतः इनका परिमाण मुख्य-ध्वज से पर्याप्त छोटा होता है। महाध्वज की लम्बाई ५ से १० बालिस्त और चौड़ाई १९ से २४ अंगुल तक की कही गई है।

'पंचदशाद्यन्तवितस्तिरूपषड्विधदैर्घ्यान्यितमदैर्घ्यस्य, एकोनविंशत्यंगुलादिचतुर्विंशत्यंगुलांतषड्विधव्यासरन्यतम-व्यासस्य।—(वही)।

आचार्य उमास्वामिकृत जैनियो के प्रामाणिक आगम-सूत्र तत्त्वार्थसूत्र से कौन परिचित नही है? यह सूत्र परममान्य है और सभी विषयों मे स्पष्ट निर्णायक है। उससे ध्वज के श्वेत होने के प्रमाण—उसकी प्रामाणिक टीकाओं से उपलब्ध होते है। तथाहि—'अवग्रहेणग्रहीतो-योऽर्थस्तस्यविशेषपरिज्ञानाकांक्षणमीहा कथ्यते। यथा

यच्छुक्लंरूपं मया दृष्टं तत्किं बलाका—बकभार्या आहोस्वित् पताका—ध्वजा वर्तते।'

—तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर सूरि) १।१५

—अर्थात् जो शुक्लरूप मैंने देखा वह बगुली है या ध्वजा, ऐसी जानने की इच्छारूप-ज्ञान ईहा है। इसी प्रसंग में पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिद्धि मे निम्न प्रकाश देते हैं—'यथा शुक्लं रूपं किं बलाका पताकेति वा।'—इसी प्रसंग को श्रीमदभयदेव सूरि ज्ञान मार्गणा मे मतिज्ञान के व्याख्यानावसर पर इस भांति निबद्ध करते है—'अवग्रहेण इदं श्वेतमिति ज्ञातेऽर्थे विशेषस्य बलाका रूपस्य पताकारूपस्य वा यथावस्थितस्य आकांक्षा।'

उक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि उन दिनों ध्वज का श्वेतरूप ही प्रचलित रहा है, जो सहज-स्वभावतः आचार्यों के कथन मे आया और ध्वज की समता श्वेत—बगुली से की गई। यदि ध्वज का रूप श्वेत न होता और पंचरंगा होता तो न तो शुक्ल शब्द दिया जाता और ना ही बगुली से उसकी समता की जाती।

आचार्य जिनसेन ने ध्वज के श्वेत होने का बारम्बार उल्लेख किया है। जैसे—'यस्याः सौधावलीश्रृङ्गसंगिनी केतुमालिका। कैलाशकूटनिपतद्धंसमालां बिलंघते॥'—महापुराण ४।११०॥ तथा 'सितपयोधरा नीलैः करीन्द्रैः सितकेतनैः। सबलाकैर्विनीलाभ्रैः संगता इव रेजिरे॥'

—वही १३।५२

उस नगरी के बड़े-बड़े पक्के मकानों के शिखरों पर फहराती हुई पताकाएँ कैलाश शिखर पर उतरती हुई हंसमाला को तिरस्कृत करती है। सफेद बादल सफेद पताकाओं सहित हाथियों से मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो बगुला पक्षी सहित काले बादलों से मिल रहे हों।

उक्त उद्धरणों से सहज ही जाना जाता है कि ध्वज श्वेत होते रहे हैं। केतुमालिका, हंसमाला, सित-पयोधर, सित-केतन और बलाका सफेद हैं इसे सहज ही जाना जा सकता है।

इसी महापुराण में समवसरण के वर्णन के प्रसंग में जो उपमाएँ ध्वज के लिए दी गई हैं या जो उत्प्रेक्षायें की गई हैं; वे सब प्रायः श्वेत रंग की वस्तुओं या प्राणियों से की गई हैं। इससे भी ध्वज का श्वेत होना सिद्ध होता है। तथाहि—

'श्लक्ष्णांशुकध्वजा रेजुः पवनान्दोलितोत्थिताः। व्योमांबुनिधेरिवोद्भूता तरंगास्तुंगमूर्तयः॥२२३॥

'बर्हिध्वजेषुबर्हालिलीलयोत्क्षिप्तबर्हिणः। रेजुर्ग्रस्तांशुकाः सर्पबुद्धयेव ग्रस्तकुक्षयः॥ २२४॥

'हंसध्वजे ध्वभुर्हंसाश्चञ्चवा ग्रसितवाससः। निजां प्रसारयन्तो या द्रव्यलेश्यां तदात्मना॥२२८॥

'मृगेन्द्रकेतनाग्रेषु मृगेन्द्राः क्रमदित्सया। कृतयत्नाविरेजुस्ते जेतुं वा सुरसागजान्॥२३१॥

'स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखलम्बीनिरेजिरे। गजेन्द्रकुंभसंभेदात् संचितानि यशांसि वा॥२३२॥

'उक्षा शृंगाग्रसंसक्त लंबमानध्वजांशुकाः। रेजुर्विपक्षजित्येव संलब्धजयकेतनाः॥२३३॥

'उत्पुष्करैः करैरूढाध्वजारेजुर्गजाधिपाः। गिरीन्द्र इव कूटाग्रनिपतत्पृथु निर्झराः॥२३४॥

'चक्रध्वजासहस्रारैः चक्रैरुत्सर्पदंशुभिः। बभुर्भानुमता सार्धं स्पर्धां कर्तुमिवोद्यताः॥२३५॥

—महापुराण (जिनसेनाचार्य) पर्व २२

—उक्त श्लोकों मे ध्वज की समता या उत्प्रेक्षा जिनमे की गई है वे सभी श्वेत वर्ण है। यथा—तरंग, केंचुली, हंसों की द्रव्यलेश्या, ऐरावत या देव-गज, यश, जय-विजय, निर्झर, और सूर्यकिरण आदि। यदि मूल—मुख्य-ध्वज अन्य किन्हीं रंगो का होता तो आचार्य श्वेत वर्ण की समता न दिखाते।

महापुराण पर्व २२ श्लोक २२३ के अर्थ में श्री पंडित पन्नालाल साहित्याचार्य ने लिखा है—'ध्वजाएँ सफेद वस्त्रों की बनी हुई थी।'—उसी प्रकार पर्व १९ के ३८ वें श्लोक मे भी श्वेत ध्वज का स्पष्ट उल्लेख है—'श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिराततैः॥'

इस विषय में अन्य उद्धरण भी दर्शनीय हैं। यथा—

१. 'तुंग-भवण-मणि-तोरणाबद्ध-धवल-धय वड्ढुब्भमाण ।'
—कुवलयमाला (उद्योतनसूरि) पृ० ७

२. 'रवि-तुरय-गमण-संताव-वाय मुह-फेण-पुंज धवलइए ।
कोडि-पडागा-णिवहे जा मरुय-चंचले वहई ॥'
—वही पृ० ३१

३. 'जाव सुक्किल्ल चामरज्झया अच्छा सण्हा रूप्पयपट्टा वइरामयदण्डा ।'—जम्बूदीवपण्णत्ति, सूत्र ७४ पृ० २८६

४. 'ते च सर्वेऽपि कथंभूता इत्याह—अच्छा आकाश स्फटिकवदति निर्मला:, श्लक्ष्णपुद्गलस्कधनिर्मापिता; रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येषा ते तथा । वज्रमयो दण्डो रूप्यपट्ट मध्यवर्ती येषांते तथा ।'
—वही, (टीका-वाचकेन्द्र श्री मच्छातिचन्द्र पृ० २९२

'त्रिलोकसार' जी में ध्वजा के लिए अन्य वर्णों का संकेत नहीं मिलता: अपितु यह अवश्य मिलता है कि—तत्कालीन नगरों मे एक नगर 'श्वेत-ध्वज' नाम का था। अन्य बहुत से नगरों के नाम तो है—जो संभवत: उनके स्वामियों के चिन्ह से चिन्हित ध्वज का संकेत देते है। जैसे—सिंहध्वज नगर, गरुणध्वज नगर आदि। पर, पीत-ध्वज रक्त-ध्वज नील-ध्वज आदि ध्वज जैसे नाम वाले नगर नहीं है। देखें गाथा ६९७। इसी ग्रन्थ की गाथा १०१० से ये भी स्पष्ट होता है कि—ध्वजों की दो श्रेणियां हैं—मुख्यध्वज और क्षुल्लक ध्वज [इसके संबन्ध मे ऊपर लिखा जा चुका है] मनीषी विचार करें।

ध्वज के पंचरंगा होने में दूसरी बात कही जा रही है तीर्थंकरों के शरीर के वर्ण के प्रतिनिधित्व की। यत:—

'पउमप्पह वसुपुज्जा रत्ता धवला हु चंदपह सुविही ।
णीला सुपास पासा णेमी मुणिसुब्बया किण्हा ॥
सेसा सोलह हेमा...' ......त्रिलोक सार ८४७

—पद्मप्रभ, वासु पूज्य लाल वर्ण, चन्द्रप्रभ, सुविधि धवलवर्ण, सुपार्श्व, पार्श्व नीलवर्ण, नेमि, मुनिसुव्रत कृष्णवर्ण और शेष सोलह तीर्थंकरपीतवर्ण के हैं।

इसी प्रकार इस संबन्ध में अन्य प्रमाण भी हैं—

द्वौ कुन्देन्दु तुषार हार धवलौ द्वाविन्दनीलप्रभौ ।
द्वौ बन्धूक सम प्रभौ जिन वृषौ द्वौच प्रयंगुप्रभौ ॥
शेषा षोडश जन्म मृत्यु रहिता संतप्त हेमप्रभा—।
स्ते सज्ञान दिवाकरा सुरनुता सिद्धिं प्रयच्छन्तु न: ॥
'वे रत्ता वे सांवला वे निलुप्पल वण्ण ।
मरगज वण्णा वेवि जिण सेसा कंचनवण्ण ॥' आदि

यदि उक्त आधार को ठीक मान लिया जाय तब प्रचलित किए हुए पंचरंगा ध्वज में काला-नीला दोनों ही रंग मानने पड़ेंगे और प्रचलित ध्वज विसंगति में पड़ जाएगा क्योंकि उसमें इन दोनों रंगों में से एक का ही ग्रहण है। फिर रंगों के विषय में हरा रंग भी विवाद का विषय है, जब कि एक स्थान पर हरे के उद्धरण को स्वीकार किया गया है और एक स्थान पर नहीं। इसके सिवाय ध्वज का प्राचीन प्रचलित एक रूप भी स्थिर न हो सकेगा—वह सदा अस्थिर परिवर्तनशील ही रहेगा अर्थात् तीर्थंकरों की वृद्धि के साथ ही ध्वज के रंग में वृद्धि माननी पड़ेगी और पंचरंगी ध्वज की प्राथमिक प्राचीनता सिद्ध न हो सकेगी। यथा—प्रथम पांच तीर्थंकरों के युग तक पीत ध्वज, छठवें के युग में पीत-रक्त ध्वज, सातवें के युग में पीत-रक्त-नील ध्वज, आठवें के युग मे पीत-रक्त-नील-श्वेत ध्वज और बीसवें के युग से पीत-रक्त-नील-श्वेत-कृष्ण ध्वज। यदि हरा भी लिया जाय (जैसा कि उल्लेख मिलता है) तो ध्वज पंचरंगा के स्थान में छह रंगा ठहरेगा। इस प्रकार परिवर्तनशील ध्वज की जैन धर्म जैसी स्थिर प्राचीन एक रूपता नहीं मिलेगी और यह प्राचीन—जैनधर्म जैसा प्राचीन, ध्वज नहीं ठहरेगा अपितु परिवर्तनशील सामाजिक-ध्वज ही ठहरेगा।

ध्वज के पंचरंगा होने में तीसरी बात पंच-परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के रंगों की दृष्टि से कही जा रही है। श्वेताम्बर ग्रंथ 'मानसार' में लिखा है कि—पांचों परमेष्ठियों की पांच प्रतिमाएँ यथाक्रम से इन वर्णों की होती हैं—१ स्फटिक (धवल) २ अरुणाभ, ३ पीताभ, ४ हरिताभ, ५ नीलाभ। तथाहि—

'स्फटिक श्वेत रक्तं च पीत श्यामनिभं तथा।
एतत्पंचपरमेष्ठि पंचवर्ण यथा क्रमम् ॥'

उक्त मान्यता श्वेताम्बर रीति में है। दिगम्बर मान्यतानुसार तो सिद्ध अशरीरी हैं अतः यदि उनकी प्रतिमाओं की कल्पना भी की जाएगी—(जैसा कि प्रचलन भी है) तो वह भी निराकार—अशरीरी रूप में ही की जाएगी और कोई भी रंग न होगा। ऐसे में उनका रग लाल मान लेना सिद्धान्त का व्याघात करना होगा। इसके सिवाय—आचार्य, उपाध्याय और साधु की प्रतिमाओं के रंगों को क्रमशः पीताभ, हरिताभ और नीलाभ मानना भी दिगम्बर आम्नाय के विरुद्ध है जब कि सिद्धान्ततः और आगमों व प्राचीनतमत्व की अपेक्षा इनकी मूर्तियों का विधान ही सिद्ध नहीं होता। दिगम्बर परम्परा में पूर्ण वीतरागता की पूजा के उद्देश्य से अर्हन्तों की प्रतिमाओं का विधान है और वीरागता के कारण सिद्धों का भी समावेश किया गया है। जहां तिल-तुष मात्र भी अन्तरंग बहिरंग परिग्रह है वहां जिन-रूप की कल्पना नहीं है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही श्रेणियां साधक की श्रेणियां है—पूर्ण वीतरागत्व की श्रेणियां नहीं। यही कारण है कि लोक मे जितने अकृत्रिम चैत्यालय है उनमें इनके बिम्बों के होने का उल्लेख नहीं है। शास्त्रों और लोक में भी जिन-मंदिरों का चलन है, आचार्य, उपाध्याय या साधु के मन्दिरों का विधान नहीं। गौतम, सुधर्मा जैसे गणधरों और जम्बू स्वामी तक के भी चरण ही पूजे जाते रहे हैं। यद्यपि केवली होने के बाद इनकी प्रतिमाएं बनाने में कोई आपत्ति नहीं। पूर्ण वीतरागी होने से सिद्ध परमेष्ठी को मन्दिरों में स्थान दिया गया है—उनकी निराकार स्थापना की जाती है। आगमों में असंख्यात अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन है वहाँ भो अरहन्तों की मूर्तियों का ही विधान है—आचार्य उपाध्याय और साधुओं की मूर्तियों का नहीं। त्रिलोकसार में भी मात्र अरहंतों व सिद्धों की प्रतिमाओं के होने का उल्लेख हैं—आचार्य उपाध्याय और साधु की प्रतिमाओं का नहीं। तथाहि—

'जिन सिद्धाणं पडिमा अकिट्टिया किट्टिमा दु अदिसोहा।
रयणमया हेममया रुप्पमया ताणि वंदामि ॥१०१५॥'

इतने पर भी यदि कहीं कुछ प्रतिमाएँ आचार्य, उपाध्याय या साधुओं की मिलती हों तो उन्हें नवीन के संदर्भ में ही लिया जायगा। ऐसी अवस्था में ध्वज में इन तीन परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के रंगों की कल्पना, कोरी कल्पना मात्र ही है—तथ्य नहीं।

कुछ ऐसे प्रमाण भी है जिनसे गुरुओं की मूर्ति के न होने की बात और इनकी (छतरी) तथा चरण-स्थापना और पूजा की परम्परा सिद्ध होती है। तथाहि—

'आचार्यादि गुणान् शस्य सतां वीक्ष्य यथायुगम्।
गुर्वादिः पादुके भक्त्या तन्न्यास विधिना न्यसेत् ॥'—
—प्रति०सारोद्धार ६।३६

घटयित्वा जिनगृहे तत्प्रतिष्ठा महोत्सवे।
निषेधिकां प्रतिष्ठाय रक्षकांगो जनावनो ॥६।३७
'ध्वात्वा यथास्वं गुर्वादीन्न्यस्येत्तत्पादुका युगे।
निषेधिकायां सन्यास समाधिमरणादि च ॥
—वही १।८१

तेषां पदाब्जानि जगद्धितानां वचो मनोमूर्धसु धारयामः ।१।
(प्रति० सा० सं०)

'तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलत्थि मे णिच्चं।'—आचार्यभक्ति
न्तेषां समेषां पदपंकजानि ······ ॥ प्रति० तिलक ॥
'ऊँ ह्रीं सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र पवित्रतरगात्रचतुर
शीतिलक्षगुणगणधरचरण आगच्छत २...............।,
प्रतिष्ठा तिलक ॥

इसके अतिरिक्त प्रतिष्ठासारोद्धार के निम्न पाठ भी चरण पूजा में स्पष्ट प्रमाण हैं। इसका निष्कर्ष ये हैं कि प्राचीनतम युग मे मुनि की मूर्तियां नहीं होती थीं अपितु उनके चरणों की ही स्थापना का विधान था। तथाहि—(गुरुपूजा से—)

'तेषामिह गुणभृतां भानुचरणाः ॥'—
'क्रम भुवि गुरुणा प्रणिदधे ॥'—
'भवांभोधेसेतून्नृषिवृषभपादान् ॥'—
'आचार्यचरणानुपस्कुर्मो ॥,—

'मुनिपरिवृढ़ांश्रीनघहृत: ॥'—
चरणकमलान्यार्यमहताम् ॥'—
चरणधरधौरेयचरणान् ॥'
गणिचरणापीठाग्रचरणीम् ॥'—
'सूरिक्रमसरसिजोत्तारुचिम् ॥'—
'विधिकृताराधना: पादपद्मा: ॥'—

गुरु की मूर्ति के निर्माण के संबंध में श्वेताम्बर विद्वानों के जो विचार हैं उनसे यह आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं जाती। और यदि उत्खनन में कोई प्राचीन मूर्ति मिलती भी हों तो भी उन्हें हम जैन-ध्वज के समान प्राचीनत्व नहीं दे सकते—यत:धर्म का ध्वज तो सदा से ही रहा है जबकि आचार्यादि की मूर्तियों की उपलब्धि किसी बँधे निश्चित काल से ही हो रही है।

'ग्यारहवीं शताब्दि के बाद तो आचार्य व मुनियों की स्वतन्त्र मूर्तियां बनने लगी थी। उपर्युक्त पंक्ति सूचक काल के बाद जिन जैनाश्रित मूर्तिकला विषयक ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें आचार्य मूर्ति निर्माण करके किंचित प्रकाश डाला गया है।'—'गुरु मूर्ति का शास्त्रीयरूप निर्धारित न होने के कारण उनके निर्माण में एकरूपता नहीं रह सकी है।'—खंडहरों का वैभव (मुनि कान्ति सागर) पृ० ४८-५०।

'आठवी शताब्दी से गुरु मूर्तियां मिलने लग गई है। ११वी के बाद अधिक मिलती हैं। पहिले गणधरों आदि के स्तूप बनते ही थे। स्तूप ही मूर्ति में विकसित हो गए।'
अगर चन्द जी नाहटा (१७-१२-७७)

इसके अतिरिक्त दिनांक १२-१-७७ के जैन संदेश में श्री नानक चन्द खातोली का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें कुछ अंश निम्न प्रकार है—

'हमें प्रतिमा का उल्लेख दो रूपों में मिलता है अकृत्रिम और कृत्रिम—नीचेभूलोक में, यहाँ मध्य लोक में, ऊपर देव लोक में। जितने भी अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सब में अकृत्रिम प्रतिमायें ही विराजमान हैं। ति० म० से ज्ञात होता है कि ये सब प्रतिमायें अष्ट प्रातिहार्य सहित अरहंतों की होती हैं—इस युग की आदि में सौधर्मेन्द्र ने अयोध्या में मंदिर बनाए (आदि ०१६—१५०) इनमे अकृत्रिम प्रतिमाएँ हो विराजमान की। भरत जी ने २४ मंदिर बनवाये (पदम०) उनमें ७२ प्रतिमाएँ निर्माण करवाई (उत्तर० ४८-७७) ये सब अरहंतों का थी—प्रतिमा तीर्थंकरों की बनाई जाती हैं (डा० पन्नालाल) प्रारंभ में तीर्थंकरों की मूर्तियां बनती थी (देवगढ़ की जैन कला ७१) मूर्तियां देवों की बनतीं हैं देव होते है अरहत और सिद्ध। अंकित लेख में उल्लिखित नाम से ही तीर्थंकर की पहचान होती थी (जैन सदेश—शोधांक) आचार्य उपाध्याय और मुनियों को मूर्तरूप देने का विधान जैन प्रतिमा शास्त्र मे नहीं मिलता है।'—

'मुनि अवस्था की मूर्ति बनती नहीं है।'—

ऊपर दिए गए सभी प्रसंगों से पंचरंगे ध्वज का रूप जैन-धर्म जैसा प्राचीन नही ठहरता। अत: यह मानना ही श्रेयस्कर है कि यह पंचरंगा ध्वज जैनधर्म का प्राचीन ध्वज नहीं, अपितु सर्वसम्मत सामाजिक ध्वज है जो वीर निर्वाण के २५००वें वर्षोत्सव प्रकाश में आया। □□□

वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

तीर्थंकरों की प्राचीन रत्नमयी प्रतिमायें : विविध सन्दर्भ

☐ श्री दिगम्बरदास जैन, एडवोकेट, सहारनपुर

जैन वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थरत्नों में जैन तीर्थंकरों की अनेकानेक कृत्रिम और अकृत्रिम रत्नमयी बहुमूल्य प्रतिमाओं के विविध सन्दर्भोल्लेख प्राप्त होते हैं। जिनमें कतिपय विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. नंदीश्वर द्वीप मे अरहंतों के बावन अकृत्रिम चैत्यालय हैं। प्रत्येक में विशाल रत्नमयी अकृत्रिम अरहंत भगवान की प्रतिमायें अनादिकाल से ऐसी मनोज्ञ हैं कि जिनकी वन्दना का गौरव केवल स्वर्ग के सम्यग्दृष्टि देव ही कर सकते हैं। यदि उनके साथ कोई मिथ्यादृष्टि देव चला जावे तो वह भी सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इतनी अतिशयपूर्ण है।

—जयमाल नन्दीश्वर दीपपूजा

२. पंचमेरु पर ५२ अकृत्रिम चैत्तालय हैं जिनमें रत्नमयी अत्यन्त मनोज्ञ अरहन्तों की अकृत्रिम प्रतिमायें हैं, जिनकी वंदना केवल स्वर्ग के देव, चारण मुनि व आकाशगामिनी विद्या के धारी विद्याधर तथा वे धर्मात्मा मनुष्य जो उनके साथ जाने का अवसर प्राप्त कर लेते हैं, कर पाते हैं।

—जयमालपंचमेरु पूजा

३. प्रारम्भिक कृषिकाल में स्वर्ग के इन्द्र ने चार अयोध्या जी के चारों कोनों पर और एक बीच में अरहन्तों के पाँच जैन मन्दिर निर्माण किए और उनमें रत्नों की अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमायें स्थापित की।

—हरीवंश पुराण

४. भरत चक्रवर्ती ने कृषिकाल मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से चौबीस तीर्थंकरों के गुण सुनने से प्रभावित होकर ऋषभदेव की निर्वाणभूमि कैलाश पर्वत पर २४ तीर्थंकरो के अलग अलग रत्नमयी मन्दिर बनवाये और उनमे रत्नों की चौबीस तीर्थंकर प्रतिमायें स्थापित की।

५. दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के तीर्थकाल में विश्व सम्राट् सगर ने अपनी राजधानी मे तीर्थंकरों के सोने के मन्दिर बनवाकर हीरों की प्रतिमायें विराजमान की।

६. रावण ने लका मे अपने महल में तीर्थंकर शान्तिनाथ

---

१ (क) On Asta Pada (Kailash) mountain Risabha attained Nirvan. Near His cremation ground Bharat (Universal King at whose name our country is called Bharat) created temples of Jewelled slabs with statues of 24 Jinas (Tirthankaras). Dr. U. P. Shah : Studies in Jaina Art. P. 216.

१ (ख) The first universal monarch Bharat after ascertaining accounts of 24 Tirthankaras from the ominiscient Tirthankaras Risabha constructed 24 Jaina temples, one of each 24 Tirthankaras with their Jewel made images and used to warship them and the 2nd universal monarch Sagar also warshipped these 24 Tirthankaras.

—Maha Puran.

१ (ग) All knowing Risabha predicated birth of 24 Tirthankaras before their advent centuries before. Consequently, Bharat the paramount monarch first got constructed images of all the 24 Tirthankaras on the summit of Mount Kailas in Hamalaya—V.O.A. Vol.X, Vol.X (1960) P. 305.

वस्तु क्या है ?

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है अथवा द्रव्य-पर्याय रूप होती है। वस्तु का एक सामान्य स्वरूप होता है जो त्रिकाल होता है, ध्रुव होता है। वस्तु किसी अवस्था मे, किसी रूप मे, किसी सयोग मे क्यों न रहे वह सामान्य स्वरूप बराबर, हरदम एकरूप रहता है। उसी से उस वस्तु की पहचान होती है। उसे सामान्य स्वरूप या त्रैकालिक स्वरूप कहते है। इसी से वस्तु का वस्तुत्व कायम होता है। दूसरी उस वस्तु की समय-समयवर्ती अवस्था होती है। वह अनित्य होती है। 'पर' से सबन्धित होती है। यद्यपि वह भी वस्तु की अवस्था है, परन्तु उससे वस्तु का निर्णय नहीं होता। वह परिवर्तनशील है। जैसे मनुष्य में एक मनुष्यत्व सामान्य धर्म है। वह सभी मनुष्यों मे मिलता है। उससे यह पहचान होती है कि वह मनुष्य है। परन्तु वह मनुष्य बालक, जवान, वृद्ध आदि अनेक परिवर्तित अवस्थाओ मे रहता है। सुन्दर, कुरूप, पागल, अपाहिज आदि अनेक अवस्थायें होते हुए भी हर अवस्था में अगर खोजा जाए तो मनुष्यपना दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य मनुष्यपने को कायम रखते हुए बालक से जवान और वृद्ध हो रहा है परन्तु हर अवस्था में मनुष्यपना कायम है। उसको छोड़कर बालक-वृद्धपना नही। मनुष्यत्व अगर मिलेगा तो इन अवस्थाओं मे ही मिलेगा। इस प्रकार से यह बात बनी कि अनेक प्रकार की अवस्थायें अवस्थावान् के बिना नही और अवस्थावान् अवस्थाओं के बिना नही। दोनों बातें एक ही समय मे है, आगे पीछे नही। कहने में शब्दो में आगे पीछे कही जा सकती है। पूरी वस्तु को समझने के लिए अवस्थावान् और अवस्थायें दोनों को जानना जरूरी है। अगर हम एक को मुख्य करके कथन कर रहे है तो समझना चाहिए कि दूसरा विषय है जरूर, परन्तु कहने वाले का प्रयोजन अभी उससे नही है।

अवस्थावान् तो किसी से भी प्रभावित नहीं है और संयोगी भी नही है। वह तो हर हालत मे एक है, अकेला है, सबसे भिन्न है अपने मे है, 'पर' रूप नही है। जैसे सोने का बना हुआ जेवर है। सोना जेवर रूप है। जेवर सोने को छोड़ कर नही है। जहाँ जेवरपना है वहाँ स्वर्णपना है। एक समय मे है, फिर भी दोनों का लक्षण अलग-अलग है। स्वर्णपना अपने स्वर्णत्व को लिए हुए है, हमेशा स्वर्णपने मे है। अगर वह चाँदी से मिला है तो भी स्वर्णपना स्वर्णमात्र मे है, चाँदी मे स्वर्णपना नही है। जेवर को देखे तो वह चादी के सयोग से बना है। बदल कर अन्य रूप हार या कड का रूप भी हो सकता है। सुनार का सबन्ध भी है। सुनार का सम्बन्ध जेवर के साथ है। वह जेवर बनाने मे सहायक बना है परन्तु स्वर्ण के स्वर्णपने मे वह सहायक नही है। जब जेवर बेचने को जाते है तो लेने वाले की दृष्टि सोने पर है और सोने के दाम देता है। परन्तु अगर पहनने वाले के पास जाये तो उसकी दृष्टि जेवर पर है। वह उसकी सुन्दरता, असुन्दरता को देखता है। जेवर को सामने रखने पर दो दृष्टिया बनती है—एक जेवर की सुन्दरता की ओर दूसरी स्वर्ण के स्वर्णपने की। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु एक दृष्टि का विषय नही, पूरी वस्तु को समझने के लिए दोनों दृष्टियों की जरूरत है, अथवा यह कहना चाहिए कि एक दृष्टि दूसरी दृष्टि की पूरक है, निषेधक नही। इसलिए वस्तु को मात्र एक दृष्टि रूप ही मानने वाले ने पूरी वस्तु का पूरा स्वरूप नही समझा।

इसी प्रकार से आत्मा के बारे मे विचार किया जा सकता है। एक तो आत्मा का त्रैकालिक स्वरूप है जो, आत्मा चाहे किसी अवस्था मे क्यो न रहे, हमेशा, सभी अवस्थाओं में कायम रहना और जो हमेशा, एकरूप, अकेला, 'पर' से रहित, त्रिकाल, ध्रौव्य वस्तु स्वरूप को दिखाने वाला स्वरूप है। वह उस आत्मा का चैतन्यपना है, ज्ञायकपना है अथवा ज्ञातादृष्टापना है। चैतन्य अनेक

प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त हो रहा है। जैसे नाटक में काम करने वाला अपने एकपने को कायम रखते हुए अनेक स्वांगों को प्राप्त होता रहता है। स्वांग बदलते हैं और वह वहीं एकरूप से, सब स्वांगों में उपलब्ध होता रहता है। वहां दो रूपता का ज्ञान होता है—एक तो यह वही है जो पहले स्वांग में था और दूसरा, यह स्वांग दूसरा है और पहला स्वांग दूसरा था। सर्व प्रकार के स्वांगों में जो वही-वही का ज्ञान हो रहा है। वह वस्तु के सामान्य धर्म का अथवा वस्तु के वस्तुत्व का अथवा वस्तु के द्रव्यत्व का बोधक है, और यह वह नहीं, यह अन्य है, पहले अन्य था। यह अन्य-अन्यपने का जो ज्ञान हो रहा है वह वस्तु के पर्याय-धर्मत्व का अथवा विशेष स्वरूप का बोधक है। यह दो रूपपने का ज्ञान होना ही साबित कर रहा है कि उसमे दो प्रकार का धर्म है : एक द्रव्यरूप और एक पर्याय रूप। पर्याय माने जो समय-समय पर परिवर्तनशील हो—चाहे अन्य रूप हो, चाहे उसी रूप हो। जैसे बिजली का बल्ब जल रहा है, हमें मालूम होता है कि वह एक रूप से जल रहा है परन्तु हर समय के बिजली के यूनिट भिन्न-भिन्न है। पहले समय के यूनिट दूसरे से, दूसरे समय के तीसरे समय से अन्य है। इसलिए भिन्नता होने पर भी एक रूपता मालूम हो रही है। अगर बीच में ज्यादा और कम प्रकाश हो जाए तो पहले और दूसरे समय मे भिन्नता पकड़ मे आ जायेगी। इसी प्रकार, यह आत्मा भी एक वस्तु है और वह भी अपने वस्तुत्व को कायम रखते हुए अनेक अवस्थाओं को प्राप्त हो रही है। अगर उन अवस्थाओं मे उस एक को खोजें तो वह एक-रूप से सब अवस्थाओं में मिल रहा है और अवस्थाओं को देखे तो सब भिन्न-भिन्न मालूम हो रही है। अगर अगले समय की अवस्था पहले समय जैसी मालूम हो रही है तो या तो मोटे ज्ञान की वजह से है अथवा पहले समय से समानता लिए हुए है इसलिए मालूम हो रही है। परन्तु है पहले समय से भिन्न।

हरेक वस्तु मे अनेक गुण होते है। असल मे गुणों के पिण्ड का नाम ही वस्तु है। ऐसा न समझना कि वस्तु कोई थैले के समान है और गुण उस थैले मे भरे हुए है, परन्तु ऐसा समझना जैसे अनेक दवाइयों को कूट-पीस कर एक गोली बनाई गई है। वह गोली क्या है? गोली का अलग अस्तित्व नहीं, उन अनेक दवाइयों के समुदाय का नाम ही गोली है। ऐसे ही आत्मा अनेक गुणों का समुदाय रूप है और हर एक गुण अपना कोई न कोई गुणत्व कायम रखते हुए किसी अवस्था को प्राप्त हो रहा है। वे अवस्थाएं उस गुण की अपने गुणपने को बिना छोड़े हुए है : वे उस गुण से अन्य गुणरूप नहीं हो सकतीं। कोई गुण कम विकसित है, कोई पूरा विकसित है; जैसे कल्पना करें कि आम नाम की वस्तु है, उसमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुण है। वह आम उन स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणों का पिण्ड है। इनको छोड़कर आम कुछ अन्य नही है। अब आम का स्पर्श गुण कठोर अवस्था को प्राप्त हो रहा है, फिर बदली होते-होते वही स्पर्श गुण, अपने स्पर्शपने को कायम रखते हुए, स्पर्शपने के अन्तर्गत, कठोर से नम्र अवस्था को बदल रहा है। रस गुण भी अपनी अवस्था मे विद्यमान रहते हुए खट्टी से मीठी अवस्था को प्राप्त हो रहा है। गंध गुण भी इसी प्रकार से एक-एक अवस्था से अन्य अवस्था रूप परिवर्तित हो रहा है। वर्ण गुण भी हरेपने से पीलेपन को प्राप्त हो रहा है। यह हरे से पीलापन एक रोज मे नहीं हुआ, परन्तु हर समय मे हरापना भी परिवर्तित होता जा रहा है। सूक्ष्म परिवर्तन हमे दिखाई नहीं देता, जब बड़ा परिवर्तन हो जाता है तो वह पकड़ में आने लगता है। परन्तु वह हुआ है क्रमशः हर एक समय ही। इस प्रकार, जो आम के गुणों का अवस्थान्तर हो रहा है, उन अवस्थाओं को उन-उन गुणों की पर्याय कहते है। पर गुण कोई न कोई अवस्था लिए हुए ही मिलेगा और किसी वस्तु के किसी गुण का कभी अभाव नहीं हो सकता। अगर गुणो का अभाव होने लगे तो वस्तु का ही अभाव हो जाएगा। यह तो गुणों की अवस्थाओ में परिवर्तन हुआ। एक परिवर्तन होता है पूरी वस्तु मे, जैसे आम का छोटे आकार से बड़ा आकार का होना, वह पूरे आम मे हुआ है। इससे यह साबित हुआ कि हरेक वस्तु अनत गुणों का पिण्ड है और हरेक गुण, हर समय किसी न किसी अवस्था को प्राप्त हो रहा है और उन अवस्थाओं और सारे गुणों के पिण्ड का नाम वस्तु है और वह भी एक अवस्था से अन्य अवस्था को

प्राप्त हो रही है।

आम के स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि सब गुणों का कार्य भिन्न है इसलिए वे गुण भी भिन्न-भिन्न है। परन्तु अगर हम चाहें कि किसी गुण को आम से अलग कर लें तो वह अलग नहीं हो सकता। अलग जाना जा सकता है। उसी प्रकार से किसी भी वस्तु का कोई गुण उससे अलग नहीं किया जा सकता, परन्तु अलग-अलग जाना जा सकता है। आम के एक इंच के टुकड़े मे भी स्पर्श-रस-गंध-वर्ण सब उपलब्ध होते है, यद्यपि आम एक अखण्ड वस्तु है। वह तो अंततः पुद्गलों का पिण्ड है। इसी प्रकार से वस्तु में भी वस्तु के एक छोटे से छोटे अश की अलग कल्पना की जावे तो उसमे भी वस्तु के सर्वगुण उपलब्ध होगे, यद्यपि वस्तु का एक अश अलग नही किया जा सकता है क्योंकि वस्तु अखण्डरूप है। यह बात चैतन्य और पुद्गल दोनों मे लागू होती है।

आत्मा भी अनन्त गुणों का पिण्ड है—उन्हे गुण कहो या धर्म कहो। उनमे कुछ गुण सामान्य है जो जीव मे भी मिलते है और अजीव में भी मिलते है। कुछ गुण विशेष हैं जो खास उसी जाति की वस्तु में मिलते है। आत्मा मे दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि विशेष गुण है। वह उसी में उपलब्ध है और द्रव्यत्व-प्रेमवत्व-वस्तुत्व आदि जो सामान्य गुण है वे अन्य वस्तुओं मे भी है। इसी प्रकार से यह आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड रूप एक अखण्ड द्रव्य है और हर समय उसके हर गुण में परिणमन हो रहा है। पहली अवस्था का व्यय होता है, दूसरी अवस्था का उत्पाद होता है और वस्तु, वस्तु रूप से ध्रुव रहती है।

आत्मा के गुणों का दो प्रकार का परिणमन होता है, एक—स्वाभाविक और दूसरा—विकारी। यद्यपि परिणमन करने की शक्ति वस्तु की अपनी है परन्तु स्वाभाविक परिणमन 'पर' निरपेक्ष होता है और विकारी परिणमन 'पर' सापेक्ष होता है। आत्मा में राग-द्वेश, क्रोध-मान-माया-लोभ रूप जो परिणमन है वह विकारी है और उससे आत्मा दुःखी है। आत्मा का केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप जो पमिणमन है वह स्वाभाविक है, क्योंकि विकारी परिणमन होने पर आत्मा दुःखी होती है इसलिए विकार का अभाव करना इष्ट है। संसारी आत्मा मे विकारी परिणमन रहता है और शुद्ध आत्मा याने परमात्मा मे स्वाभाविक परिणमन होता है।

अभी संसार में हम विभाव रूप परिणमन कर रहे है जिससे हम दुःखी है। इसका कारण यह है कि हमने सामान्य स्वरूप को भूलकर परापेक्ष पर्याय स्वरूप में अपना निजपना माना हैं। अगर हम निज द्रव्य स्वभाव का, सामान्य स्वरूप का, आश्रय ले, उसमे अपनापन निश्चित कर, उसका निजरूप अनुभव करे तो पर्याय का विकार दूर हो कर स्वभाव रूप परिणमन होने लगे और जीव शुद्ध होकर क्रम से परमात्मा अवस्था को प्राप्त हो। अशुद्ध विकारी पर्याय का आश्रय लेने से, उसमे अहम् बुद्धि रखने से उसको अपने रूप अनुभव करने से विकार बढ़ेगा और गुणों का विकास कम होने लगेगा। द्रव्य स्वभाव का अथवा अपने स्व का आश्रय लेने से पर्याय का विकार दूर होगा और गुणों का पूर्ण विकास होगा। पर्याय रूपता भी हमारे पास है द्रव्य स्वरूप भी हमारे पास है और हमें ही अपने द्रव्य स्वभाव रूप अपने को देखना है। हम चाहे तो अपने को अपने द्रव्य स्वभाव रूप देख सकते है हम चाहे तो अपने को विकारी पर्याय रूप देख सकते है। दोनों रूप देखने मे हम स्वतत्र है, यह हमारी पूर्ण स्वाधीनता है। अपने को विकारी पर्याय रूप अथवा पर रूप तो देख ही रहे हैं और उसका फल संसार है, दुःख है। अगर अपने को निज स्वभाव रूप देखे व अनुभव करे तो पर्याय की अशुद्धता मिटकर गुणों का पूर्ण विकास हो जावे। जब हम अपने को पर रूप देख सकते है तो निज रूप देखना क्यों मुश्किल हो रहा है। परन्तु हम निज रूप देखना नही चाहते। आजतक निज रूप देखने का कभी पुरुषार्थ ही नही किया। इससे मालूम होता है कि हमने ससार का और दुःख का चुनाव किया है, हम परमात्मा बनना नही चाहाते। अपने को पर रूप देखना यही ससार है। अपने को अपने रूप देखना यह मोक्ष का मार्ग है, यही आनन्द का मार्ग है। □□□

सन्मति- विहार, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

धर्मचक्र

□ नु।० गोपीलाल ग्रमर

धर्म एक भाव है। चक्र उसका दृश्य प्रतीक है। मनुष्य का यंत्र-कौशल चक्र से ग्रारम्भ होता है। चक्र स्वयं गतिमान् है ग्रौर गतिदायक भी। वह प्रकृति के निकट भी है ग्रौर कला का प्रेरक भी। उसमें ग्रलंकरण फबता है। उसके रूप भी ग्रनेक हो सकते है। इसीलिए उसे धर्म का प्रतीक बनाया गया होगा।

तीर्थंकर के ग्राठ महा-प्रातिहार्यों मे धर्मचक्र पांचवां है। यह विहार के समय तीर्थंकर के ग्रागे-ग्रागे चलता है।

तरु ग्रसोक के निकट मे, सिंहासन छविदार।
तीन छत्र सिर पै लसैं, भामंडल पिछवार॥
धर्मचक्र ग्रागे चले, पुष्पबृष्टि सुर होय।
ढोरै चौसठ चमर जख, बाजे दुदुंभि जोय॥

तीर्थंकर समवसरण मे एक पीठिका पर ग्राठ मंगल द्रव्य स्थापित होते है। इनमे एक धर्मचक्र भी होता है। इसे यक्ष जाति का देव ग्रपने मस्तक पर धारण किये खड़ा रहता है। इसके एक हजार ग्रारे होते हैं। उनमें रत्न जड़े रहते है।

चक्रवर्ती के चौदह रत्नो मे सुदर्शन-चक्र प्रथम है। इस ग्रायुध से शत्रुग्रों का संहार किया जाता है। शस्त्ररूपी चक्र यदि एक छोर पर है तो मानवता के कल्याण का प्रतीक धर्मचक्र दूसरे छोर पर है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की शासनदेवी या यक्षी चक्रेश्वरी है। यह गरुड़-वाहिनी गौरांगी देवी ग्राठ हाथो में ग्राठ चक्र धारण करती है।

तीर्थंकर-मूर्ति के सिंहासन पर मध्य मे धर्मचक्र ग्रंकित किया जाता है। यह प्रथा ईसा से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व मथुरा की कला में भी प्रचलित थी। पटना के समीप चौसा से प्राप्त कांस्य प्रतिमाग्रों में एक चक्र भी है। इसके साथ एक ग्रशोक वृक्ष भी प्राप्त हुग्रा है। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों ग्रष्ट-महाप्रातिहार्यों के प्रतीकों में से हैं।

धर्मचक्र नाम का एक व्रत भी होता है। इसके एक हजार ग्रारों के नाम पर, एक-एक दिन छोड़कर एक हजार उपवास करने होते हैं। इससे यह व्रत २००४ दिन ग्रर्थात् साढ़े पाँच बर्ष में पूरा होता है।

धार्मिक ग्रनुष्ठानों में जो यंत्र स्थापित किये जाते हैं उनमे ये भी होते हैं : दशलाक्षणिक धर्मचक्रोद्धार, रत्नत्रय चक्र, शान्तिचक्र यंत्रोद्धार, षोडशकारण धर्मचक्रोद्धार, लघु सिद्धचक्र, बृहत् सिद्धचक्र, सुरेन्द्रचक्र।

धर्मचक्र के ग्रारों की सख्या भिन्न-भिन्न मिलती है। ग्राठ ग्रारे श्रावक के, ग्राठ मूलगुणों के, या ग्रष्ट कर्मों के, या ग्राठ दिशाग्रों के प्रतीक हो सकते हैं। सोलह ग्रारे षोडशकारण भावनाग्रों के प्रतीक हो सकते है जिनसे तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है। चौबीस ग्रारे चौबीस तीर्थंकरों के सूचक माने जा सकते हैं। ग्रारो की संख्या बारह, बत्तीस ग्रादि भी हो सकती है।

विष्णु के हाथो मे शख, गदा ग्रौर कमल के साथ चक्र भी होता है। बुद्ध के पश्चात् पाच सौ वर्ष तक उनकी मूर्ति नही बनी, तब चक्र भी उनके प्रतीकों के रूप मे पूजा जाता था। उनकी मूर्तियों पर भी धर्मचक्र बनाया गया। तीसरी शताब्दी ई० पू० मे मौर्य सम्राट् ग्रशोक ने सारनाथ के स्तम्भ पर धर्मचक्र स्थापित किया था। यही धर्मचक्र ग्राज भारत सरकार का राष्ट्रीय प्रतीक बनाया गया है। भारत के बाहर भी प्राचीन कला मे चक्र का ग्रकन मिलता है।

चक्र धर्म का प्रतीक है, ग्रात्म-साधन का माध्यम है, किन्तु वह मानव-कल्याण का प्रतीक भी बन चुका है। धर्मचक्र का प्रवर्तन मानवता के लिए सुख ग्रौर शान्ति का सन्देश है, तभी तो कहा गया है :

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग् वर्णतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि॥

□□□

का स्वर्णमयी मन्दिर बनवाकर शांतिनाथ की रत्न-मयी प्रतिमा विराजमान कर रखी थी।

—आचार्य रविसेन : पद्मपुराण

७. महाराजा श्रेणिक—बिम्बसार की पट्टरानी चेलना ने रत्नों की मूर्तियां स्थापित करायी।

— श्रेणिक चारित्र

८. चन्द्रगुप्त मौर्य ने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति रत्न की बनवाई।

—जैन मूर्तियों का प्राचीन इतिहास

९. सोलंकीवंशी सम्राट् कुमारपाल ने अनेक जैन मन्दिर बनवाकर उनमे हीरे-पन्ने आदि की मूर्तिया स्थापित की। यथापूर्वोक्त

१०. मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने अपने राज्य मे अनेक जैन मन्दिर बनवाकर हीरे-पुखराज, रत्न और स्वर्ण की प्रतिमायें विराजमान की। —यथापूर्वोक्त

११. दक्षिणीय चालुक्य वंश के महाराजा तेलप के सेना-पति मल्लप की पुत्री अतिमव्वे ने तीर्थकरों की सोने-चांदी की हजारो मूर्तियां बनवाकर स्थापित की।

—संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग ३, खण्ड ३, पृष्ठ १५७-५८

१२. मूडबद्री (मैसूर) के जैन मन्दिर मे आज भी एक चांदी की, तीन स्वर्ण की, ६ स्फटिक की, ७ पन्ने की, १ लकड़ी की, एक रत्न की, १ पुखराज की, ४ नीलम की, २ मोतियो की, ३ मूगे की और ३ माणक एवं ३ हीरे की इस प्रकार ३५ बहुमूल्य प्रतिमायें है।

— रहनमा-ए-जैन यात्रा, पृ० १६०

१३. कारंजा (अमरावती) मे रत्नों, हीरे, पन्ने, नीलम की अनेक दर्शनीय मूर्तिया १५२० ई० की लोदी राज की है।

अहिंसावाणी १९७०, पृ० ८०।

१४. इसी अमरावती मन्दिर में मूंगे की ४, चादी की ३ स्वर्ण की १, गरुणमणि की १, स्फटिक की ४, नीलमणि की १—इस प्रकार १४ प्रतिमायें है।

— देहली जैन डायरेक्टरी २४५

१५. अमरावती के एक मन्दिर में १५ स्फटिक, १ पुखराज की ६ चांदी की, १ मूगे की, १ हीरे की और कई रत्नों की मूर्तियां है।

—देहली जैन डायरेक्टरी, पृ०, २४१

१६. अमरावती के सोमेश्वर चौक के जैन मन्दिर मे रत्नों की प्रतिमा है।

अहिंसावाणी, मार्च १९७०, पृ० ८०

१७. देहली दि० जैन नये मन्दिर, धर्मपुरा मे स्फटिक, नीलम मरकत, रत्नो आदि की १०५२ ई० ही यसल वंशी सम्राट् विनयदित्य के राजकाल की प्रतिष्ठित प्रतिमायें है।

—देहली जैन डायरेक्टरी पृ० २८

१८. देहली दि० जैन बड़ा मन्दिर कूंचा सेठ मे ऋषभदेव, मल्लिनाथ, वासपूज्य, शातिनाथ, कुंथनाथ, अरहनाथ स्फटिक आदि बहुमूल्य पाषाण की कई प्रतिमायें हैं।

— देहली जैन डायरेक्टरी पृ० ३०।

१९. देहली की मस्जिद खजूर गली का जैन मन्दिर मुगल सम्राट् मोहम्मद शाह के सेनापति का बनवाया हुआ है जिसमे कई प्रतिमायें रत्नों की है।

—देहली जैन डायरेक्टरी २७

२०. देहली मोडल बस्ती जैन मन्दिर मे अष्टधातु मूर्ति है जिसमें स्वर्ण ही अधिक मात्रा मे है।

— देहली जैन डायरेक्टरी पृ० ३३

२१ अचलगढ (आबु, राजस्थान) में ११४० मन की १२० पंचधातु की प्रतिमायें है जिसमें अधिक मात्रा में स्वर्ण ही है। — होली आबु

२२. श्रवणबेलगोल (मैसूर) मन्दिर मे मूगा, मोती, नीलम, मणी, स्फटिक, हीरे और रत्न की प्रतिमायें हैं।

—रहनुमाए जैन यात्रा, पृ० १६०

२३. लुधियाना मे ६ इच ऊँची हरे रग की जमुरद की एक बहुमूल्य मूर्ति पार्श्वनाथ की है।

२४. वाराणसी के भाट मोहल्ले में सेठ धर्मचन्द जौहरी के चैत्यालय में पार्श्वनाथ की हीरे की दर्शनीय प्रतिमा है।

२५. गोबिन्दपुर मोहल्ले में सेठ सूरजमल के चैत्यालय मे पार्श्वनाथ की बड़ी मनोज्ञ स्फटिक की प्रतिमा है।

—देहली जैन डायरेक्टरी पृ० २२६

२६. मिदनापुर जिला तामलुक (बंगाल) के चैत्यालय में पार्श्वनाथ की रत्नमयी मूर्ति है।

—सन्मतिसन्देश, सितम्बर १९६३, पृ० १५

□□□

नोहर जैन देवालय की आदिनाथ प्रतिमा

□ श्री देवेन्द्र हाण्डा, सरदार शहर

उत्तर रेलवे के सादुलपुर-हनुमानगढ़ खण्ड पर अवरोल स्थान से ७५ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व मे स्थित नोहर राजस्थान के गंगानगर जिले का तहसील मुख्यालय है तथा भारत के प्राचीनतम नगरो में से है। वर्तमान नगर घग्घर नदी (प्राचीन दृषद्वती ?) के शुष्क तल पर बसा हुआ है। एक ऊँचे टीले पर बनी जलदाय विभाग, नोहर की पानी की टंकी के पास खड़े होकर देखने से पता चलता है कि यह नदी किसी समय नोहर तथा इसके दक्षिणस्थ जोगी आसन चक के बीच में से होकर बहती थी। नोहर के चारों ओर पुराने पेड़ है जो सम्भवत: नदी मे बाढ़ आने से तटवर्ती वस्तियों के ध्वंसावशेष है या फिर नदी के प्रवाह क इवर-उवर होने के परिणाम-स्वरूप तटवर्ती नगर के नदी के साथ-साथ स्थानान्तरित होने के प्रतीक हैं।

नोहर से सिन्धु सभ्यता के अवशेष --मृद्भाण्ड, मृण्मय पश्वाकृतियां, मिट्टी और शंख के वलय-खण्ड, मृगक्षेप गोले, चर्ट फलकादि—मिले है जिन पर पूर्ववर्ती सोथी सस्कृति[1] का प्रभाव भी परिलक्षित होना है। ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पूर्वार्ध मे सम्भवत: सिन्धु सभ्यता के विनाश के उपरान्त पर्याप्त समय तक नोहर गैर-आबाद रहा। पुन ईसा से कुछ पूर्व यहां बस्ती प्रारम्भ हुई, जैसा कि यहां से प्राप्त ऐतिहासिक मृद्भाण्ड-खण्डों, इण्डो-ग्रीक राजा अपालोडोटस की रजत, मथुरा-शासक सूर्यमित्र एवं आर्जुनायन जनपद की ताम्र-मुद्राओं से पता चलता है।[2] यहां से प्राप्त कुषाण, हूण, चौहान, दिल्ली सुल्तानों, मुगलों आदि की मुद्राओं[3] से ऐसा प्रतीत होता है कि यह बस्ती कुषाण काल मे भी बनी रही और तत्पश्चात् समय के उतार-चढ़ाव के साथ अब तक विद्यमान है।

हरमन गोएट्ज़ ने नोहर का समीकरण फारसी ग्रंथ छाछनामा मे उल्लिखित कानुविहार नामक स्थान से किया है[4]। जिनपालोपाध्याय कृत खरतरगच्छ-बृहद्गुर्वावलि में इसका नाम 'नवहर ग्राम' मिलता है[5]। 'नवहर' शब्द ही कालान्तर में 'नोहर' हो गया। खरतरगच्छ-बृहद्गुर्वावलि मे 'नवहर' के उल्लेख से इसका जैन-सम्बन्ध स्पष्ट है। इस सम्बन्ध की पुष्टि नोहर के जैन देवालय मे रखी पाषाण एवं धातुओ प्रतिमाओ से होती है। इन प्रतिमाओं मे सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है काले पत्थर की आदि तीर्थंकर[6] ऋषभनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा जिसका वर्णन निम्न पंक्तियो मे किया जा रहा है।

$२७ \times १६\frac{३}{४}$ इंच आकार की इस प्रतिमा मे जिन सिंहासन पर पद्मासन मे बैठे दिखाए गए हैं, जिनके सिर पर बालों के छोटे २ घूंघरों का उष्णीष है

---

१. पाषाण-युग के पश्चात् सोथी सस्कृति भारत की प्राचीनतम आद्यैतिहासिक सस्कृति है जिसके अवशेष कालीबगा मे सिन्धु सभ्यता के स्तरों के नीचे मिले हैं। विस्तृत विवरण के लिए देखें Indian Archaeology,1960 61— A Review, p. 31 ; 1961-62 p.p. 39-44, 62-63, p p. 20-31 आदि।

२. Devendra Handa, 'A New Type of Arjunayana Coins', Journal of the Numismatic Society of India, Vol. XXXVII, Pt i. p p 1—5.

३. ये सभी मुद्रायें नोहर के पुरातत्व-प्रेमी श्री मोजी राम भारद्वाज के सौजन्य से ज्ञात हुई है।

४. Hermann Goetz, The Art and Architecture of Bikner State, Oxford, 1950, p. 31

५. जिनपालोपाध्यायकृत खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, सं० मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४२, बम्बई वि० सं० २०१३, पृ० १६।

६. प्रथम जैन तीर्थंकर को आदिनाथ, ऋषभनाथ तथा वृषभनाथ के नाम से जाना जाता है।

जिसपर शिखर-ग्रंथि बनी है। मुख मण्डल शान्त है तथा नेत्र ध्यान-मुद्रा मे नासिकाग्र पर केन्द्रित हैं। लम्बे-लम्बे कान जिनके साथ लटकती हुई अलकें दोनों कन्धों पर आ टिकी हैं। कन्धे मजबूत हैं तथा बाहें लम्बी। वक्ष पर करती है; जिसके पीछे प्रभा-मण्डल अस्पष्ट है परन्तु सिर पर छत्र-त्रय बहुत ही स्पष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह प्रतिमा प्रतिष्ठासारोद्धार (१, ६२) के निम्नांकित विवरण से मेल खाती हुई सी प्रतीत होती है—
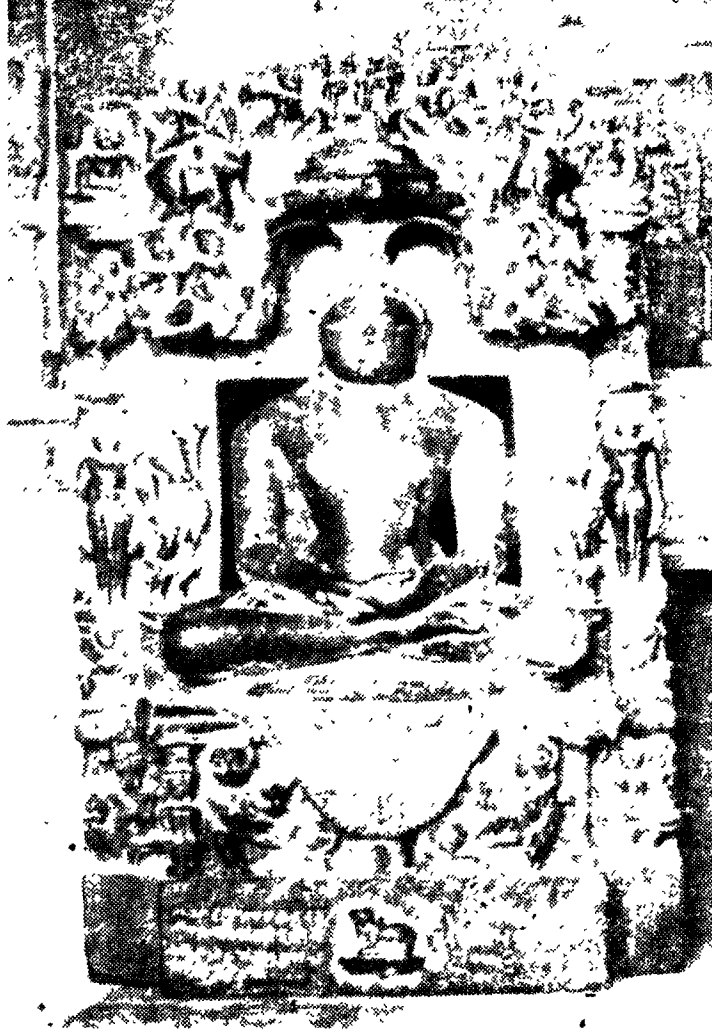
श्रीवत्सांक शोभायमान हो रहा है जिनके बाएँ जानु तथा स्कन्ध पर धोती की सिलवट सी दिखाई दे रही है जो प्रतिमा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्ध का संकेत

शान्तप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थविकारदृक ।
संपूर्णभावारूढानुविद्धांगं लक्षणान्वितम् ॥[७]

सिंहासन के दोनों छोरों पर सिंह अंकित किए गए है

७. तुलना करें—आजानुलम्बबाहुः श्रीवात्सांगः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासस्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥बृ—हत्संहिता ५७, ४५ ।

जिनकी पीठें एक दूसरे की ओर हैं। बीच में धर्मचक्र उत्कीर्ण है जिसकी नाभि से फुंदना निकल रहा है। धर्म-चक्र के ऊपर सिंहासन-पीठ पर बिछे आस्तरण का लटकता हुआ भाग दिखाया गया है जिस पर लहरदार अभिकल्पना के साथ-साथ तरंगित माल्यों सहित कीर्ति-मुखों से निकलते हुए प्रलम्बित लटकन है। चरण चौकी के बाएं उपान्त पर सुखासन में वृषभ-मुखी यक्ष गोमुख का अंकन है जिसके दक्षिण जानु पर स्थित हस्त में बिजौरा फल बहुत ही स्पष्ट है[८]। पीठिका के दाएं उपान्त पर नृ-रूप गरुड़ पर सुखासन में आसीन चतुर्हस्ता चक्रेश्वरी यक्षिणी है जिसके पिछले हाथों में चक्र है और वामहस्त में बीजपूर है[९]।

यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं के ऊपर उपान्त रथिकाओं पर दोनों ओर क्रमशः पूर्णघट लिए उड्डीयमान मुद्रा में किन्नरियाँ, उनके ऊपर छत्रावली एवं केवल-वृक्षों के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े जिन, उनपर नृत्य तथा उड़न मुद्रा में पुनः किन्नरियां तथा सर्वोपरि पद्मासनस्थ लघु जिन प्रतिमाएँ हैं। मुख्य प्रतिमा के बाहुओं के साथ दोनों ओर एक-एक परिचारक (चामरधर ?) दिखाया गया है। ये परिचारक कर्णकुण्डल, हार, भुजबन्ध, कंकण, नूपुर आदि आभूषणों से विभूषित हैं तथा क्रमशः दक्षिण तथा वाम हस्त को तत्तत् जंघा पर टिकाए सुन्दर द्विभंग मुद्रा में खड़े जिन को निहार रहे हैं। दोनों के अधोवस्त्रों की मध्यवर्ती लटकन जानु-पर्यन्त बीचोंबीच अवलम्बित है। दोनों ने वैजयन्ती माला पहन रखी है जो पीछे से उनके बाहुओं पर आकर फिर भुजाओं के पीछे से नीचे आती हुई घुटनों के कुछ नीचे स्पष्ट दिखाई देती है। सम्भवतः ये परिचारक भरत एवं बाहुबलि हैं[१०]। जिनके दोनों ओर कर्णों के ऊपर उड़न-मुद्रा में माल्य-हस्त विद्याधर-युग्म प्रदर्शित हैं तथा उसके ऊपर दोनों ओर गजारूढ़ शंख एवं भेरी (?) वादक दर्शाए गए हैं। छत्रावली के दोनों ओर पुनः एक २ माल्य धारी गन्धर्व प्रदर्शित हैं। छत्र के ऊपर की आकृति कुछ अस्पष्ट है।

प्रतिमा में चरण-पीठिका के निचले भाग के मध्य में वामाभिमुख नन्दी का अंकन है जिसके दोनों ओर अभिलेख है जो इस प्रकार है—

पंक्ति १ ७॥ संवत् १०८४ फाल्गुन सुदि १३ रवौसयंथू वाहडकेन
२. करापितः ॥ सूत्रधार गोहर वलाइच सुतेन ॥११
३. सवद १६६० वैशाख सुदि ५ ⋯ वई कुहाड़ वस(-ं-)
४. तराय रै बेटै बिठो च [-ं-] द प्र [ति] ष्ठा कराई नोहर मध्ये[१२]

विषय तथा लिपि की दृष्टि से ये दो पंक्तियों के दो अलग-अलग अभिलेख हैं। मूर्ति की स्थापना संवत् १०८४ फाल्गुण सुदि १३ रविवार को सूत्रधार गोहर वलाइच (?) के पुत्र वाहड के द्वारा कराई गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कारण से जिस मन्दिर में यह मूर्ति थी वह नष्ट हो गया या मूर्ति पूजित नहीं हो पाती थी। अतः कालान्तर में संवत् १६६० वैशाख सुदि ५ को कुहाड (?) बसन्त राय के बेटे वृद्धिचन्द्र ने नोहर के वर्तमान जैन देवालय में या अन्यत्र इसे पुनः प्रतिष्ठित करवाया।[१३]

जो भी हो, लाञ्छन, प्रतिहार्यादि से युक्त यह प्रतिमा[१४] ग्यारवीं शताब्दी में नोहर क्षेत्र में जैन धर्म की लोकप्रियता की प्रतीक है तथा जैन प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। □□□

बी० टी० टी० कालेज, सरदार शहर (राज०)

८. तुलना कर—
(i) ऋषभे गोमुखो यक्षो हेमवर्णो गजाननः।
वराक्षसूत्रापाशञ्च बीजपूरं करेषु च ॥
सूत्रधार मण्डनकृत-वास्तु-शास्त्र
(ii) चतुर्भुजः सुवर्णाभो गोमुखे वृषवाहनः।
हस्तेन, परशू धत्ते बीजपूराक्षसूत्रकम्।
वरदानपरः सम्यक् धर्मचक्रञ्च मस्तके।
वसुनन्दि कृत प्रतिष्ठा सारोद्धार।

९. देखें—वामे चक्रेश्वरीदेवीस्थाप्याद्वादशपड्भुजा।
धत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणि च तथाष्टसु॥
एकेन बीजपूरं तु वरदा कमलासना।
चतुर्भुजाऽथवा चक्रं द्वयोर्गरुडवाहना॥
—प्रतिष्ठासार संग्रह।

१०. पार्श्वयोर्भरतबाहुबलिभ्यामुपसेवितः।
राथोभ्यः (?) मिव पाथोविर्बभासे वृषभध्वजः॥
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, आदिश्वर, *I-3, 58-v.*

११. सिद्धि तथा मंगल सूचक यह चिन्ह प्रायः अभिलेखों के प्रारम्भ में मिलता है। इसे 'भले' की संज्ञा दी जाती है।

१२. इस अभिलेख के प्रारम्भ में 'भले' तथा अन्त में विरामादि चिन्हों का अभाव है। इसमें त के स्थान पर द (सवद), अनुस्वार के प्रयोग का अभाव, ब के स्थान पर व (वेटै) आदि बातें ध्यानीय हैं।

१३. वर्तमान देवालय भवन बहुत पुराना नहीं है। इस देवालय में यह जिन प्रतिमा अभी तक अलगन पड़ी है। देवालय की ड्योढ़ी में दूसरे स्थान से लाकर कुछ मूर्तियां दीवार में जड़ दी गई हैं। अतः सम्भव है कि यह प्रतिमा भी किसी दूसरे मन्दिर या स्थान से लाकर यहाँ रखी गई हो।

१४. इस प्रतिमा से ग्यारवीं शती में इस क्षेत्र में लाञ्छन, प्रातिहार्यादियुक्त प्रतिमाओं के प्रचलन का पता चलता है।

ग्रन्थ-समीक्षा

१. सचित्र भक्तामर रहस्य—पं० कमलकुमार जैन शास्त्री एवं आशुकवि फूलचन्द पुष्पेन्दु। प्रकाशक : भीकमसेन रतनलाल जैन कालका वाले, १२८६, वकील पुरा, दिल्ली-११०००६; मूल्य १५ रुपये; पृष्ठ ४४७; डिमाई आकार; १९७७।

आचार्य मानतुंग विरचित भक्तामर स्तोत्र का यह बृहत् संस्करण पांच खण्डों मे विभक्त है। इनमे से प्रथम खण्ड मे भक्तामर सार्थक चित्रालोक, द्वितीय खण्ड में तत्सम्बन्धी सत्य कथाएं, तृतीय खण्ड में दिव्य मंत्र तथा चतुर्थ खण्ड में दिव्य यन्त्र समाविष्ट है। पचम खण्ड का विषय भक्तामर सरस अर्चनालोक है। सत्यकथालोक के अन्तर्गत पौराणिक कथाओं को नवीन औपन्यासिक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे ४८ प्रामाणिक यन्त्राकृतियां, श्री सोमसेनाचार्यकृत भक्तामर मंडल विधान, भक्तामर महिमा आदि यथास्थान निबद्ध हैं।

यह ग्रन्थ भक्तामर-स्तोत्र पर अब तक समय-समय पर रचित शताधिक व्याख्या-ग्रन्थों मे सर्वाधिक व्यापक और सर्वांगीण है।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने जैन भक्ति, जैन स्तोत्र साहित्य, भक्तामर और उसके रचयिता आचार्य मानतुंग, भक्ति परक साहित्य आदि का संक्षिप्त विवेचन किया है। यह ग्रन्थ सर्वोपयोगी, स्वाध्येय एवं सग्रहणीय है। —**गोकुलप्रसाद जैन, सम्पादक**

२. आराधना सुमन—सम्पादक : प० हीरालाल जी जैन 'कौशल'; संकलनकर्ता एवं प्रकाशक : श्री श्रीकृष्ण जैन, मंत्री; श्री शास्त्र-स्वाध्याय-शाला, श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर, बाबा जी की बगीची (बर्फखाने के पीछे), सब्जी मंडी, दिल्ली-६; पृष्ठ सख्या १९२; मूल्य २ रु० ५० पैसे १९७७।

प्रस्तुत ग्रंथ में जैन भजनों, स्तुतियों, भावनाओं, आरतियो, चालीसा, जाप्यमंत्रों, उपयोगी विचारों आदि का सुन्दर संकलन है जो आध्यात्मिकता के प्रति प्रेरित करते है। ये विविध अवसरों एव विविध प्रसगो के लिए उद्दिष्ट है। पुस्तक को सर्वोपयोगी बनाने के लिए ही इसमे विविध प्रकार की सामग्री संकलित की गई है जिसके लिए सकलनकर्ता एवं सम्पादक दोनों साधुवाद के पात्र है।

पुस्तक सर्वथा उपयोगी एवं उपादेय है।

—**गोकुलप्रसाद जैन, सम्पादक**

श्रमण (जैन) के पर्यायवाची शब्द

प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक कोशकारो, वैयाकरणों एवं साहित्यकारो ने 'श्रमण' के पर्यायवाची शब्द दिये है जो अपने-अपने युग मे जैनवाची रहे हैं एवं जैनवाची शब्दों की सुव्यापक एवं अविरल परम्परा के द्योतक है। ये पर्यायवाची शब्द इस प्रकार है—

वैदिक— (ऋग्वेद–१०-३५-२)–मुनिः, वातरशनः, पिशङ्गः।

प्राकृत—(स्थानाङ्गसूत्र–३)—समणो, (पाइयलच्छीनाममाला, ३२)–जइणो, तवस्सिणो, तावसा, रिसी, भिक्खुणो, मुणी, समणा।

पालि —(दीघनिकाय–३) —अचेलनो, अचेलको। (सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, महासिहनाद सुत्त)–नग्गो। (अगुत्तर-चतुक्कनिपात ४।५)—निग्गठो।

संस्कृत — (श्रीमद् भागवत–११.६.४७)—वातरशनः, ऋषि, ऊर्ध्वमन्थी। (जिनसेन का महापुराण) – दिग्वासः, निर्ग्रन्थेशः, निरम्बरः। (शाङ्करभाष्य)— परिव्राट् व (निघण्टु) — वातवसनः। (सूत्रार्थमुक्तावलिः— ५१-५२) —ब्राह्मणः, भिक्षुः। (महाभारत-पौष्यपर्व ३।१२६)— क्षपणकः। (शाश्वतकोष)—क्षपगः, निष्परिच्छदः। (कोषकल्पतरुः–५२-५३)—सर्वार्थसिद्ध, साद्यन्तः, भदन्तः, नग्नाटः, दिगम्बरः, आजीवः, मलधारी, जीवकः, जैनः, श्रामणेयः, चेलुकः। (रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड–२४।३१)— मधुव्रतः। (पञ्चतन्त्र १।१३)—पाणिपात्रः। (पद्मपुराण–१३।३३) —योगी, मुण्डः, बर्हिपिच्छधरः, द्विजः। (जिनदत्तसूरिः)—लुञ्चितः, पिच्छिकाहस्तः। (काव्यशिक्षा–१४७) —मायूरलिङ्गी, केशविलुञ्चकः। (जिन सहस्रनाम)— निष्किञ्चनः, निराशंसः, ज्ञानचक्षुः, अमोमुहः। (मेदिनीकोश 'न' १३)—नग्नः, विवासाः। (स्कन्दपुराण–५६-३५-३६)— मुण्डी, मयूरपिच्छधारी, महाव्रतः। (हर्षचरित)–नग्नाटकः, शिखिपिच्छलाञ्छनः।

अपभ्रंश — (परमात्मप्रकाश—१।८२) — खवणउ (क्षपणकः), सेयडउ (श्वेतपटः), बन्दउ (बन्दकः)। (राजसिंह विरचित जिनदत्त-चरित— ५० तथा ३६६) सवणु (श्रमणउ), श्रमण (श्रमणः)।

हिन्दी—(मलिक मोहम्मद जायसी—पद्मावत सिं० द्वीपवर्णन–पृ० ३२)—खेवरा (क्षपणकः)।

श्रमण का स्त्रीलिङ्ग—(प्राकृत मे—कल्पसूत्र)— समणी। सस्कृत मे—वाल्मीकि रामायण–३.७४.७ तथा क्षत्रचूडामणि ११.१६)—श्रमणी, श्रमणा। (अभिधानचिन्तामणि मर्त्य' ३।१९६)— श्रवणा, भिक्षुकी, मुण्डा। श्रमणा– कुमारी साध्वी। श्रमणी–सुहागन स्त्री साध्वी।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि मे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १ ५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन १-२५

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी मे अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।